प्रकाशक—

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र शिताबराय,
जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय
अमरावती (बरार)

मुद्रक—

टी. एम. पाटील,
मैनेजर
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, अमरावती

THE

ṢAṬKHAṆḌĀGAMA

OF

PUSPADANTA AND BHŪTABALI

WITH

THE COMMENTARY [illegible] OF [illegible]

VOL I

SATPRARŪPANĀ

[illegible]

[illegible]

[illegible]

HIRALAL JAIN, M A [illegible]

[illegible] King [illegible] Amraoti

[illegible]

Pandit Phoolchandra [illegible] ✿ Pandit Hiralal [illegible] Shastri Nyayatirtha

[illegible]

Pandit Devakinandan [illegible] ✿ Dr A N Upadhye, M A D Litt

[illegible]

Shrimant Seth Laxmichandra Shitabrai

[illegible]

AMRAOTI ([illegible])

1939

Price rupees ten only

Published by—
...rimant Seth Laxmichandra Shitabrai,
Jain Sāhitya Uddhāraka Fund Karyalaya
AMRAOTI (Berar)

Printed by—
T. M. Patil, *Manager*
Saraswati Printing Press
AMRAOTI (Berar).

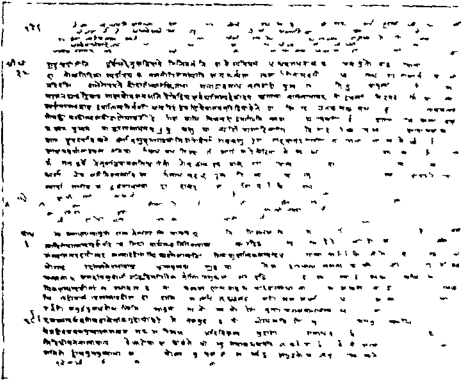

अ अमरावतीकी प्रति। इसमें छूट हुए पत्र व सम्पादन लश्करपुरकी प्रति से किए गए हैं।

अ आदर्श प्रति । नवमें चौथा पत्रमें पाठ पूरा हुआ है ।

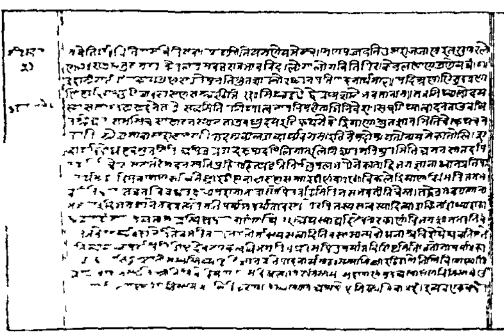

[illegible] प्रति । दसवें पत्रमें पाठ पूरा हुआ है ।

स्व० सेठ हीराचन्द नेमचन्द

स्व० सेठ माणिकचन्द हीराचन्द जे० पी०

बैरिस्टर जमनाप्रसादजी

श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचन्दजी

सेठ [illegible] बड़जात्या

स्व० सेठ रावजी सखाराम दोशी

[illegible]

चित्र-परिचय

१ स्व० सेठ हीराचन्द नेमीचन्द, सोलापुर, जिन्होंने मूडबिद्रीमें सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी सर्व प्रथम व्यवस्था की।

२ स्व० दानवीर सेठ माणिकचन्द हीराचन्द जौहरी बम्बई, जिन्होंने सिद्धान्त ग्रंथोंके उद्धारका सर्व प्रथम प्रयत्न किया।

३ श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र सिताबरायजी, भेलसा, संस्थापक जैन साहित्य उद्धारक फंड।

४ श्रीयुत बैरिस्टर जमनाप्रसादजी सब जज, जिन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको प्रोत्साहित करके उद्धारक फंडकी स्थापना कराई।

५ श्रीयुत सेठ राजमलजी बड़जात्या, भेलसा, जिन्होंने उद्धारक फंडद्वारा सिद्धान्त ग्रंथोंके प्रकाशनकी प्रेरणा की।

६ स्व० सेठ रावजी सखारामजी दोसी, सोलापुर, जो अभी अभी तक श्री महाधवल सिद्धान्तके उद्धारके लिये प्रयत्नशील थे।

७ श्रीमान् सिंघई पन्नालाल बंसीलालजी, अमरावती जिन्होंने धवल जयधवलकी प्रतिलिपियाँ कराकर मँगाई और संशोधन सम्पादन निमित्त संस्थाके सुपुर्द की।

प्राक् कथन

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

सन् १९२४ में मैंने कारंजाके शास्त्रभंडारोंका अवलोकन किया और वहांके ग्रंथोंकी सूची बनाई। यहां अपभ्रंश भाषाका बहुतसा अश्रुतपूर्व साहित्य मेरे दृष्टिगोचर हुआ। उसको प्रकाशमें लानेकी उत्कंठा मेरे तथा संसारके अनेक भाषा कोविदोंके हृदयमें उठने लगी। ठीक उसी समय मेरी कारंजाके समीप ही अमरावती किंग एडवर्ड कालेजमें नियुक्ति हो गई और मेरे सद्भाग्यसे सहयोगी सिद्धान्तशास्त्री पं. देवकीनन्दनजीके सुप्रयत्नसे व श्रीमान सेठ गोपाल साव्जी चवरे व बलात्कारगण मन्दिरके अधिकारियोंके सदुत्साहसे उन ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनका कार्य चल पड़ा, जिसके फलस्वरूप पांच छह अपभ्रंश काव्योंका अब तक प्रकाशन हो चुका है।

मूडबिद्रीके धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी ख्याति मैं बचपनसे ही सुनता आ रहा हूं। सन् १९[illegible] में मैंने जैनसाहित्यका विशेषरूपसे अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसी समयके लगभग इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी हस्तलिखित प्रतियोंके कुछ कुछ प्रचारकी चर्चा सुनाई पड़ने लगी। किन्तु उनके दर्शनोंका सौभाग्य मुझे पहले पहले तभी प्राप्त हुआ जब हमारे नगरके अत्यन्त धर्मानुरागी साहित्यप्रेमी श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने धवल और जयधवलकी प्रतिलिपियां कराकर यहांके जैनमन्दिरमें विराजमान कर दीं। अब हृदयमें चुपचाप आशा होने लगी कि कभी न कभी इन ग्रंथोंके प्रकाशमें लानेका अवश्य सुअवसर मिलेगा।

सन् १९३३ के दिसम्बर मासमें अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्का वार्षिक अधिवेशन इटारसीमें हुआ और उसके सभापति हुए मेरे परमप्रिय मित्र बैरिस्टर जमनाप्रसादजी सबजज। पहले दिनके जलसेके पश्चात् रात्रिके समय हम लोग एक कमरेमें बैठे हुए जैन साहित्यके उद्धारके विषयमें चर्चा कर रहे थे। जजसाहब दिनभरकी धूमधाम व दौड़ धूपसे थककर [illegible] हुए थे। इसी बीच [illegible] अधिवेशनमें आये हुए हैं और वे किसी धार्मिक कार्यमें [illegible] चाहते हैं। इस अवसरसे जजसाहबकी [illegible] और उनसे [illegible] जैन साहित्योद्धारके लिये हम लोगोंने [illegible] पुत्र सेठ [illegible] दिया। इस दानके उपलक्ष्यमें उपस्थित समाजने सन्माननीय श्रीमन्त सेठजीको पदवीसे विभूषित किया।

आगामी गर्मीकी छुट्टियोंमें अलीसाहब मुझे लेकर भेलसा पहुंचे और वहां सेठ राजमलजी बड़जात्या व श्रीमान् तखतमलजी वकीलके सहयोगसे सेठजीके उक्त दानका ट्रस्ट रजिस्ट्री करा लिया गया और यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्यसे श्री धवलादि सिद्धान्तोंके सशोधन प्रकाशनका कार्य किया जाय।

गर्मीके पश्चात् अमरावती लौटने पर मुझे श्रीमन्त सेठजीके दानपत्रकी सद्भावनाको क्रियात्मक रूप देनेकी चिन्ता हुई। पहली चिन्ता धवल जयधवलकी प्रतिलिपि प्राप्त करनेकी हुई। उस समय इन ग्रंथोंको प्रकाशित करनेके नामसे ही धार्मिक लोग चौकन्ने हो जाते थे और उस कार्यके लिये कोई प्रतिलिपि देनेके लिये तयार नहीं थे। ऐसे समयमें श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने व अमरावती पंचायतने सत्साहस करके अपने यहांकी प्रतियोंका सदुपयोग करनेकी अनुमति दे दी।

इन प्रतियोंके सूक्ष्मावलोकनसे मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य है क्योंकि ग्रंथोंका परिमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और दुरूह, भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत, और प्राप्य प्रति बहुत अशुद्ध व स्खलन प्रचुर ज्ञात हुई। हमारे सन्मुख जो धवल और जयधवलकी प्रतियां थीं उनमेंसे जयधवलकी प्रति सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई थी और दूसरीकी अपेक्षा कम अशुद्ध जान पड़ी। अतः मैंने इसके प्रारम्भका कुछ अंश संस्कृत रूपान्तर और हिन्दी भाषान्तर सहित छपाकर चुने हुए विद्वानोंके पास इस हेतु भेजा कि वे उसके आधारसे उक्त ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनादिके सम्बन्धमें उचित परामर्श दे सकें। इस प्रकार मुझे जो सम्मतियां प्राप्त हो सकीं उनपरसे मैंने सम्पादन कार्यके विषयमें निम्न निर्णय किये—

१ सम्पादन कार्य धवलासे ही प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि, रचना क्रमकी दृष्टिसे तथा प्रचलित परपरामें इसीका नाम पहले आता है।

२ मूलपाठ एक ही प्रतिके भरोसे न रखा जाय। समस्त प्रचलित प्रतियां एक ही आधुनिक प्रतिकी प्राय एक ही हाथकी नकलें होते हुए भी उनमेंसे जितनी मिल सकें उनका उपयोग किया जाय तथा मूडबिद्रीकी ताड़पत्रकी प्रतिसे मिलान करानेका प्रयत्न किया जाय, और उसके अभावमें सहारनपुरकी प्रतिसे मिलानका उद्योग किया जाय।

मूलके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके बिना सब स्वाध्याय प्रेमियोंको ग्रंथराजसे लाभ उठाना कठिन है। संस्कृत छाया न दी जाय क्योंकि एक तो उससे ग्रंथका कलेवर बहुत बढ़ता है, दूसरे उससे प्राकृतके पठन पाठनका प्रचार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छायाका ही आश्रय लेकर पढ़ रहे हैं और प्राकृतकी ओर ध्यान नहीं देते, और तीसरे जिन्हें संस्कृतका अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवादकी सहायतासे प्राकृत समझनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी।

४ संस्कृत छाया न देनेसे जो भारकी बचत होगी उससे अन्य प्राचीन जैन ग्रंथोंसे तुलनात्मक टिप्पण दिये जाय।

ऐसे ग्रंथोंका सम्पादन प्रकाशन बारबार नहीं होता अतएव इस कार्य ...
ऐसी उतावल न की जाय जिससे ग्रंथकी प्रामाणिकता व शुद्धतामें क्षति पहुंचे।
... उस कार्यमें जितना ही लगे उतना अन्य विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया जाय ...

इन निर्णयोंको सम्मुख रखकर मैंने सम्पादन कार्यकी रूपरेखा प्रस्तुत किया ...
पास था अपने कालेजके दैनिक अध्यापन तथा गृहस्थीकी अनेक चिन्ताओं ...
बाधाओंसे घिरा हुआ ही समय था जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगतिसे ...
था। अतएव एक सहायक रखना आवश्यक जान पड़ा। ... प्रकाशक प्राप्त हुए। सन् १९...
बीनानिवासी पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्यको मैंने चुना किया किन्तु ...
करनेके पश्चात् ही कुछ पारिवारिक परिस्थितिके कारण उन्हें ... छोड़ कर जाना पड़ा ...
तत्पश्चात् साहुमल (झांसी) के निवासी व ... शास्त्री न्यायतीर्थ ...
हुई। व प्रथम भाग पर उपक्रम ... प्रतियोंकी ...
रहे। किन्तु इस अवसरसे वे यहां ... किये गये और ... हुए हैं। ...
रहे हैं। उसी समयसे बीना निवासी पं. ... शास्त्री भी नियुक्त ...
हैं और वे भी अब इसी कार्यमें मेरे साथ ... सम्पादन ... है। ... कार्यमें ...
न्य विद्वानोंका भी परामर्श लिया गया है।

भारतवर्ष सम्पादनकार्यका नियम इतना ... पूरा सहयोग ...
कोल्हापुरके अर्धमागधीके प्राध्यापक, हमारे सहयोगी प्रो. ...
सम्पादन करनेका ... व इस उपायोंके साथ ... लिखित किये। तथा ...
संशोधनमें अंतमके प्रकाण्ड विद्वान् ...
साहाय्य किया गया। इन दोनों सहयोगियोंका ... समय समय पर
है। ... समस्त सम्पादन ... कार्य ...
शास्त्री व पं. ... शास्त्रीने ... हुआ है जिसके ...
इतना है। यदि इस ...

अब जिनके पूर्ण ... सहायता और सहयोगसे ... सदा ही ...
है उनका हम उपकार ...
ग्रंथोंका ...
भवन ...
हमारे महान ...
करनेवाले ...
होगा ...

प्रयत्नका सुफल है कि आज हम इन महान सिद्धान्तोंके एक अंशको सर्वसुलभ बनानेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। स्व. लाला जम्बूप्रसादजी रईसकी भी स्मृति स्मरणीय है जो उन्होंने इन ग्रंथोंकी एक प्रतिलिपिको अपने यहां सुरक्षित रखनेकी उदारता दिखाई और इस प्रकार उनके प्रकट होनेमें निमित्त कारण हुए। हमारे विशेष धन्यवादके पात्र स्व. पं. गजपतिजी उपाध्याय और उनकी स्व. भार्या विदुषी लक्ष्मीबाई तथा पं. सीतारामजी शास्त्री हैं जिन्होंने इन ग्रंथोंकी प्रतिलिपियोंके प्रचारका कठिन कार्य किया और उस कारण उन भाइयोंके क्रोध और विक्षेपको सहन किया जो इन ग्रंथोंके प्रकट होनेमें अपने धर्मकी हानि समझते हैं। श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने जिस धार्मिकभाव और उत्साहसे बहुत धन व्यय करके इन ग्रंथोंकी प्रतियां अमरावतीमें मंगाईं और उन्हें संशोधन व प्रकाशनके लिये हमें प्रदान कीं उसका ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। इस कार्यके लिये उनका जितना उपकार माना जावे सब थोड़ा है। प्रिय सुहृत् वकील जमनाप्रसादजी सबजजका भारी उपकार है जो उन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको इस साहित्योद्धार कार्यके लिये प्रेरित किया। वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक कार्योंमें सदैव कल्याणका कार्य किया करते हैं। श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी तो इस समस्त व्यवस्थाके आधार स्तम्भ ही हैं। आर्थिक संकटमय वर्तमान कालमें उनके हायस्कूल, छात्रवृत्ति, व साहित्योद्धार निमित्त दिये हुए अनेक बड़े बड़े दानोंद्वारा धर्म और समाजका जो उपकार हो रहा है उसका पूरा मूल्य अभी आंका नहीं जा सकता। यह कार्य कदाचित् हमारी भावी पीढ़ीद्वारा ही सुचारुरूपसे किया जा सकेगा। सेठजीको उनके इन उदार कार्योंमें प्रवृत्त कराने और उनका निर्वाह करानेवाले भेलसानिवासी सेठ राजमलजी बड़जात्या और श्रीमान् तखतमलजी वकील हैं जिन्होंने इस योजनामें भी बड़ी रुचि दिखाई और हमें हर प्रकारसे सहायता पहुंचाकर उपकृत किया। साहित्योद्धारकी ट्रस्ट कमेटीमें सिं. पन्नालालजी व देवकीनन्दनजी व सेठ राजमलजीके अतिरिक्त भेलसाके श्रीयुत मिश्रीलालजी व सरसावा निवासी पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार भी हैं। इन्होंने प्रस्तुत कार्यको सफल बनानेमें सदैव अपना पूरा योग दिया है। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारसे हमें सम्पादन कार्यमें विशेष साहाय्य मिलनेकी आशा थी किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे इसी बीच उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और हम उनके साहाय्यसे विशेष वंचित रहे। किन्तु आगे संशोधन कार्यमें उनसे सहायता मिलनेकी हमें पूरी आशा है। जबसे इन ग्रंथोंके प्रकाशनका निश्चय हुआ है तबसे शायद ही कोई माह ऐसा गया हो जब हमारे समाजके एकनिष्ठ कार्यकर्ता श्रीयुत ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने हमें इस कार्यको शीघ्र चलाने और पूरा करनेकी प्रेरणा न की हो। धर्मप्रभावनाके ऐसे कार्योंको सफल देखनेके लिये ब्रह्मचारीजीका हृदय ऐसा तड़पता है जैसे कोई शिशु अपनी माताके स्तनके लिये तड़पे। उनकी इस निरंतर प्रेरणाके लिये हम उनके बहुत उपकृत हैं। हम जानते हैं कि इतने कार्यको सफल देख पानेसे उन्हें प्रसन्नता होगी। सम्पादन व प्रकाशन सम्बन्धी नाना व्यवहारिक कठिनाइयोंको सुलझानेमें निरंतर साहाय्य हमें अपने समाजके सदाशय, साहित्य-प्रेमी विद्वान् बन्धु पं. नाथूरामजी प्रेमीसे मिला है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रेमीजी जैन समाजमें वर्तमान युगके साहित्यिकोंके प्रमुख

स्फूर्तिदाता है। जिन जिन कार्योंमें जिस जिस प्रकार हमने प्रेमीजीकी सहायता ली है और उन्हें उनकी वृद्धावस्थामें कष्ट पहुंचाया है उसका यहां विवरण न देकर इतना ही कहना बस है कि हमारी इस कृतिके कलेवरमें जो कुछ उत्तम और सुन्दर है उसमें हमारे प्रेमीजीका अनुभवी और कुशल हाथ प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपसे विद्यमान है। बिना उनके तात्कालिक सत्परामर्श, सदुपदेश और सत्साहाय्यके न जाने हमारे इस कार्यकी क्या गति होती।

जैसा भूमिकासे ज्ञात होगा, प्रस्तुत ग्रंथके संशोधनमें हमें सिद्धान्तभवन, आरा, व महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा, की प्रतियोंसे बड़ी सहायता मिली है, इस हेतु हम इन दोनों संस्थाओंके अधिकारियोंके व प्रतिका प्राप्तिमें सहायक पं. के. भुजबली शास्त्री व पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री के बहुत कृतज्ञ हैं। जिन्होंने हमारा प्रश्नावलीका उत्तर देकर हमें मूडबिद्रीसे व तत्पश्चात् सहारनपुरसे प्रतिलिपि बाहर आनेका इतिहास लिखनेमें सहायता दी उनका हम बहुत उपकार मानते हैं। उनका नामवर्णन अन्यत्र प्रकाशित है। इनमें श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी,* सोलापुर, पं. लोकनाथजी शास्त्री, मूडबिद्री व श्रीयुत नेमिचन्द्रजी वकील, उसमानाबादका नाम विशेष उल्लेखनीय है। अमरावतीके सुप्रसिद्ध वकील ज्योतिर्विद् श्रीयुक्त प्रेमशंकरजी दवेकी सहायतासे ही हम धवलाकी प्रशस्तिके ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेखोंकी छानबीन और संशोधन करनेमें समर्थ हुए हैं। इस हेतु हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। इस ग्रंथका मुद्रण स्थानीय 'सरस्वती प्रेस'में हुआ है। यह कठिन ही होता है कि सम्पादकको प्रेसके कार्य और विशेषतः उसकी मुद्रणकी गति और वेगसे सन्तोष हो। किन्तु इस प्रेसके मैनेजर मि. टी. एम्. पाटीलको हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमारे कार्यमें कभी असन्तोषका कारण उत्पन्न नहीं होने दिया और अल्प समयमें ही इस ग्रंथका मुद्रण पूरा करनेमें उन्होंने व उनके कर्मचारियोंने बेहद परिश्रम किया है।

इस वक्तव्यको पूरा करते समय हृदय [illegible] और [illegible] लिये हमारा ध्यान पुनः हमारे तीर्थंकर भगवान् महावीर व उनकी [illegible] पुष्पदन्त और भूतबलि [illegible] आचार्य परम्पराकी ओर जाता है जिनके प्रसाद-स्वरूप हम यह साहित्य प्राप्त हुआ है। तीर्थंकरों और केवलज्ञानियोंका ज्ञा [illegible] साहित्य [illegible] साथ सम्बन्ध [illegible] केवल इतना ही साहित्य बचा है [illegible] व महाधवल [illegible] में निबद्ध है [illegible] गया। किन्तु जितना भी शेष बचा है वह भी विषय [illegible] महोदधि जैसा गम्भीर है। उसके विषय [illegible]

[illegible]

देखनेमें हम जैसे अल्प मतियोंकी बुद्धि चकरा जाती है और अच्छे अच्छे विद्वानोंका गर्व दूर होने लगता है। हम ऐसी उच्च और विपुल साहित्यिक सम्पत्तिके उत्तराधि[illegible] इसका हमें भारी गौरव है।

इस गौरवकी वस्तुके एक अंशको प्रस्तुत रूपमें पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। इसके तैयार करनेमें हमें जो अनुभव मिला है उससे हमारा हृदय भीतर ही भीतर [illegible] और विषादके आवेगसे भर रहा है। इन सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जो अपार ज्ञाननिधि भरी हु[illegible] उसका गत कई शताब्दियोंमें हमारे साहित्यको कोई लाभ नहीं मिल सका, क्योंकि, इ[illegible] एकमात्र प्रति किसीप्रकार तालोंके भीतर बन्द होगई और अध्ययनकी वस्तु न रह[illegible] पूजाकी वस्तु बन गई। यदि ये ग्रन्थ साहित्य क्षेत्रमें प्रस्तुत रहते तो उनके आधारसे अब[illegible] न जाने कितना किस कोटिका साहित्य निर्माण हो गया होता और हमारे साहित्यको कौनस[illegible] दिशा व गति मिल गई होती। कितनी ही सैद्धान्तिक गुत्थियां जिनमें विद्वत्समाजके सम[illegible] और शक्तिका न जाने कितना ह्रास होता रहता है, यहां सुलझी हुई पड़ी है। ऐसी विशाल सम्पत्ति पाकर भी हम दरिद्री ही बने रहे और इस दरिद्रताका सबसे अधिक सन्ताप और दुःख हमें इनके संशोधन करते समय हुआ। जिन प्रतियोंको लेकर हम संशोधन करने बैठे वे [illegible] भ्रष्ट स्खलित व अपूर्ण हैं। हम उनके एक एक शब्दके संशोधनार्थ न जाने कितनी [illegible] पड़ी है और कितने दिनोंतक रातके दो दो बजे तक बैठकर अपने [illegible] पड़ा है। फिर भी हमने जो संशोधन किया उसका सौन्दर्य आगे यह भी [illegible] नहीं कि वही भ्रष्टाचार रहित शुद्ध है। और यह सब करना पड़ा, जब कि मूडबिद्रीकी आदर्श प्रतियोंसे [illegible] मात्रसे समस्त उन कठिन स्थलोंका निर्विवाद रूपसे निर्णय हो सकता था। हम उन मनुष्यके जीवन जैसा अनुभव हुआ जिसके पिताकी अपार धनराशि [illegible] पर एक एक टुकड़ेके लिये दर दर भीख मांगता फिरे। [illegible] कितना समय और परिश्रम इनके संशोधनमें लग [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

जानेपर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है। क्या लाखों करोड़ों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुतका उद्धार किया जा सकता है ? कभी नहीं। इसी कारण सजग देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्यके एक एक टुकड़ेपर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं। यह ख्याल रहे कि जिन उपायोंसे अभीतक ग्रंथ रक्षा होती रही वे उपाय अब कार्यकारी नहीं। संहारक शक्तिने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है। आजकल साहित्य रक्षाका इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रंथोंकी हजारों प्रतियां छपाकर सर्वत्र फैला दी जाय ताकि किसी भी अवस्थामें कहीं न कहीं उनका अस्तित्व बना ही रहेगा। यह हमारी श्रुत भक्तिका अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है जो हम ज्ञानके इन उत्तम भण्डारोंकी ओर इतने उदासीन हैं और उनके सर्वथा विनाशकी जोखम लिये चुपचाप बैठे हैं। यह प्रश्न समस्त जैन समाजके लिये विचारणीय है। इसमें उदासीनता घातक है। हृदयके इन उद्गारोंके साथ अब मैं अपने प्राक्कथनको समाप्त करता हूं और इस ग्रंथको पाठकोंके हाथोंमें सौंपता हूं।

किंग एडवर्ड कालेज
अमरावती
१—११—३०

हीरालाल जैन

विषय सूची

१ आदर्श प्रतियोंके चित्र (मुख पृष्ठ पश्चात्)
२ ग्रंथोद्धारमें सहायक महानुभावोंके चित्र व चित्र परिचय
३ प्राक् कथन

प्रस्तावना

षट्खंडागम परिचय (अंग्रेजीमें) १-११
१ श्री धवलादि सिद्धान्तोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास
२ हमारी आदर्श प्रतियां
३ पाठसंशोधनके नियम ६
४ षट्खंडागमके रचयिता १०
५ आचार्य परम्परा ३
६ वीर-निर्वाण-काल
७ षट्खंडागमकी टीका धवलाके रचयिता ३
८ धवलासे पूर्वके टीकाकार ३
९ धवलाकारके सम्मुख उपस्थित साहित्य
१० षट्खंडागमका परिचय

सत्प्ररूपणाके ...
१२ प्रथकी भाषा ...
उपसंहार
टिप्पणियोंमें उ...
ग्रंथोंकी संकेत ...
सत्प्ररूपणाका वि...
शुद्धिपत्र
मंगलाचरण

सत्प्ररूपणा (मू... और टिप्पण)

परिशिष्ट

सत्प्ररूपणा सूत्राणि
अवतरण गाथा सूची
३ ऐतिहासिक नाम सूची
४ भौगोलिक नाम सूची
ग्रंथ नामावली
६ वंश नामावली
७ प्रतियोंके पाठ भेद
८ प्रतियोंमें छूटे हुए पाठ विशेष टिप्पण

प्रस्तावना

INTRODUCTION TO SATKHANDĀGAMA

The only surviving pieces of the original Jain Canon of twelve Angas according to Digambara tradition preserved in what are

Dhavala Jaidhavala and Mahadhavala

larly known as Dhavala Jaidhavala and Mahadhavala siddhāntas. Manuscripts of these were preserved only at Jain pontifical seat of Mudbidri in South Kanara. It is during the last twenty years that copies of the first two have become available w... last still remains inaccessible.

The story of the composition of Satkhandāgama is told in the introduction

How Shatkhandagama was reduced to writing

part of the Dhavala which is the commentary. The teachings of Lord Mahāvira were arranged into Twelve Angas by his pupil Indrabhuti Gautama and they were handed down from preceptor to pupil by word of mouth till gradually they fell into oblivion. Only fractions of them were known to Dharasena who practised penances in the Chandra Guphā of Girinagara in the country of Saurāṣtra (modern Kathiawar). He felt the necessity of preserving the knowledge and so he called two sages who afterwards became famous as Puṣpadanta and Bhutabali and taught to them portions of the fifth Anga Vyākhyāpannatti and of the twelfth Anga Dittivāda. These were subsequently reduced to writing in Sutra form by the two eminent pupils. Puṣpadanta composed the first 177 Sutras which are all embodied in the present edition of satprarupana and his colleague Bhutabali wrote the rest the total being 6000 Sutras.

As regards the time of this composition we are told definitely that Dharasena

Date of Shatkhandagama

lived after Lohārya the 28th in succession after Mahāvira but how long afterwards is left uncertain. Most of the succession lists available show that the time that elapsed from the Nirvāṇa of Mahāvira up to Lohārya was 683 years. But the Prakrit Pattavali of Nandi sangha carries on the list of succession from Lohārya ... which are Dharasena Puṣpadant ... Bh... ... the 683 years after Vira N... ... last three of predecessor M... ... According ... all fall within by itself ... after Vira Ni... ... D... succeeded ... and many ... ... famous account ... which att... ... way supported by ... stands years ... Joni pahuda to D... ... mments ... the stat... ... The reliability of this tippana ... Brihad tippanika to Jonipahuda ... the fact that in the Dhavala ... Mantra shāstra and with ... ... Dharasena ... been associated There is thus ... reference ... our Dharasena with the author of the Jonipāhuda and the ...

of the Brihat tippana and the **Prakrit Pattavali** would make the c[illegible] Satkhandāgama fall between 614 and 683 years after Vira Nirvana i e [illegible] 1st and 2nd centuries of the Christian Era

This inference about the period of the composition of Satkhandāgama [illegible]

Commentaries of Shatkhandagama

borated by the account of its commentaries as given [illegible] nandi in his Srutāvatāra which work I have now [illegible] regard as authentically preserving old traditions Acc[illegible] Indranandi six commentaries were written on Satkhandagams in succe[illegible] last being the Dhavalā The first of these commentaries was **Parikarma** w[illegible] **Kundakunda** References to Parikarma are many and various in the [illegible] itself and a careful examination of them has led me to believe that it was [illegible] commentary by Kundakunda on this work The time of Kundakunda is app[illegible] tely the 2nd century A. D and so the Shatkhandāgama has to be assigned to [illegible] before that Other commentators mentioned by Indranandi are **Shamak**[illegible] **Tumbulura, Samantabhadra and Bappadeva** before we come to Virase[illegible] author of Dhavalā and we would not be far wrong in separating them e[illegible] succession by about a century and assign them to 3rd 4th 5th and 6th ce[illegible] respectively None of these commentaries have so far been discovered but trac[illegible] most of them may be found in the existing literature

Dhavala its date & author

As regards the time of the commentary Dhavalā there is no uncertainty [illegible] author Virasena has recorded many astronomical detail[illegible] the time of his composition in the ending verses [illegible] unfortunately the available text of those verses is very corru[illegible] After a careful scrutiny of the text and its contents however I have been able [illegible] interpret it correctly and it yields the result that the Dhavalā was completed by Virase[illegible] on the 13th day of the bright fortnight of Karttika in the year 738 of the Saka era [illegible] when Jagattunga (i e Govinda III of the Rashtrakuta dynasty) had then left th[illegible] throne and [illegible] (probably Amoghavarsha I) was ruling I have worke[illegible] out the astronomical data and found them correct and the date corresponds [illegible] [illegible] the 8th October 816 A D

In the [illegible] Jayadhavalā [illegible] that Virasena [illegible] [illegible]

gigantic writer Jinasena his pupil who wrote the 40 thousand ślokas
Jayadhavalā the beautiful little poem Pārśvābhyudaya and the magnifi-
kṛit Ādipurāṇa before he died What a bewildering amount of literary effort
The various mentions found in the Dhavalā reveal to us that there was

Literature before Vīrasena

deal of manuscript material before Vīrasena and he u
very judiciously and cautiously He had to deal with
recensions of the Sūtras which did not always agree
statements. Vīrasena satisfied himself by giving their alternative vie
the question of right and wrong between them to those who might know
than himself He also had to deal with opposite opinions of earlier commenta
teachers and here he boldly criticizes their views in offering his own exp
On certain points he mentions two different schools of thought which he c
Northern and the Southern At present I am examining these v
closely They may ultimately turn out to be the Śvetāmbara and Digambara
Works mentioned and quoted from are (1) Santa kamma Pāhuḍa (2)
Pāhuḍa (3) Sammaisutta (4) Tiloya pannatti Sutta (5) Pañcatthi
(6) Tattvārtha Sūtra of Gṛiddhapiccha (7) Ācārāṅga (8) Sārasaṃg
Pūjyapāda (9) Tattvārtha Bhāṣya of Akalaṅka (10) Jīvasamāsa (11) Cha
(12) Kammapayaḍi and (13) Dīvākaraṇa saṃgraha while authors menti
the name of their works are Ārya maṅkṣu Nāgahasti Elācārya and

Besides these there are numerous quotations both prose and verse with
mention of their source In the Satprarūpaṇā alone there are eighty
I have been able to trace many in the Ācārāṅga Bṛihatkalpa Sūtra Da
Sūtra Sthānāṅga ṭīkā Anuyogadvāra and Āvaśyaka Niryukti of the Śvet
canon besides quite a large number of them in the Digambara literature
mentions give us an insight into the comparative and critical faculties
coordinating power of Vīrasena

acquired the hardy title of **Shatkhandagama**. Its six subdivisions are **Jivatthana, Khudda Bandha, Bandha Samitta-Vichaya, Vedana, Vaggana** and **Mahabandha**.

Subject matter of the present work

The whole work deals with the karma philosophy, the first three divisions from the point of view of the soul which is the agent of the bondage and the last three from the point of view of the objective karmas, their nature and extent. The portion now published is the first part of the **Jivatthana** and it deals with the quest of the soul qualities and the stages of spiritual advancement through some expressed characteristics such as conditions of existence, sense, bodies, vibratory activities and the like. I propose to deal with the subject in some detail in the next volume when Satprarupana will be completed.

Language

The present work consists of the original Sutras, the commentary of Virasena called Dhavalā and the various quotations given by the commentator from the writings of his predecessors. The language of the Sutras is Prakrit and so also of the most of the quoted Gathās. The prose of Virasena is Prakrit alternating with Sanskrit. In the present portion Sanskrit predominates being three times as much as Prakrit. This condition of the whole text clearly reflects the comparative position of Prakrit and Sanskrit in the Digambara Jain literature of the South. The most ancient literature was all in Prakrit as shown by the Sutras and their first reputed commentary Parikarma as well as all the other works of Kundakunda and also by the preponderance of Prakrit verses quoted in the Dhavala. But about the time of Virasena the tables had turned against Prakrit and Sanskrit had got the upperhand as revealed by the present portion of Dhavala as well as its contemporary literature.

The Prakrit of the Sutras, the Gathas as well as of the commentary is Sauraseni influenced by the older Ardha Māgadhi on the one hand and the Maharashtri on the other and this is exactly the nature of the language called Jain Sauraseni by Dr. Pischel and subsequent writers. It is however only a very small fraction of the whole text that has now been edited critically so far as was possible with the available material. Final conclusions on this subject as well as on all others pertaining to this work must wait till the whole or at least a good deal of it has been so edited.

I have avoided details in this survey of **Shatkhandagama** because I have discussed all these topics fully in my introduction in Hindi to which my learned readers are referred for details. The available manuscripts of the work are all very corrupt and full of lacunae, being very recent copies of a transcript which so to say had to be stolen from Mudbidri. My great regret is that inspite of all efforts I could not get at the only old manuscript preserved there. So the text had to be constituted from the available copies as critically as was possible according to the principles which I have explained in full in my Hindi introduction. Inspite of all these difficulties however I hope my readers will not find the text as unsatisfactory as it might have been expected under the circumstances.

---

१ श्री धवलादि सिद्धान्तोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास

सुना जाता है कि श्री धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंको प्रकाशमें लाने और उनका उत्तर भारतमें पठनपाठनद्वारा प्रचार करनेका विचार पंडित टोडरमलजीके समयमें जयपुर और अजमेरकी ओरसे प्रारंभ हुआ था। किंतु कोई भी महान् कार्य सुसम्पादित होनेके लिये किसी महान् आत्माकी बाट जोहता रहता है। बम्बईके दानवीर, परोपकारी स्व. सेठ माणिकचन्द्रजी जे. पी. का नाम किसने न सुना होगा? आजसे छप्पन वर्ष पहले वि. सं. १९४० (सन् १८८३ ई.) की बात है। सेठजी संघ लेकर मूडबिद्रीकी यात्राको गये थे। वहां उन्होंने रत्नमयी प्रतिमाओं और धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतियोंके दर्शन किये। सेठजीका ध्यान जितना उन बहुमूल्य प्रतिमाओंकी ओर गया, उससे कहीं अधिक उन प्रतियोंकी ओर आकर्षित हुआ। उनकी सूक्ष्म धर्मग्राहक दृष्टिसे यह बात छुपी नहीं रही कि उन प्रतियोंके ताडपत्र जीर्ण हो रहे हैं। उन्होंने उस समयके भट्टारकजी तथा वहांके पंचोंका ध्यान भी उस ओर दिलाया और इस बातकी पूछताछ की कि क्या कोई उन ग्रंथोंको पढ़ समझ भी सकता है या नहीं? पंचोंने उत्तर दिया 'हम लोग तो इनका दर्शन पूजन करके ही अपना अहोभाग्य समझते हैं। हां, जैनबिद्री (श्रवणबेल्गुल) में ब्रह्मसूरि शास्त्री हैं, वे इनको पढ़ना जानते हैं'। यह सुनकर सेठजी गंभीर विचारमें पड़ गये। उस समय इससे अधिक कुछ न कर सके, किन्तु उनके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता स्थान कर गई।

यात्रासे लौटकर सेठजीने अपने परम सहयोगी मित्र, सोलापुर निवासी श्री सेठ हीराचन्द नेमचन्दजीको पत्र लिखा और उसमें श्री धवलादि ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता प्रगट की, तथा स्वयं भी जाकर उक्त ग्रंथोंके दर्शन करने और फिर उद्धारके उपाय सोचनेकी प्रेरणा की। सेठ माणिकचन्द्रजीकी इस प्रेरणाको मान देकर सेठ हीराचन्द्रजी दूसरे ही वर्ष, अर्थात् वि. सं. १९४१ (सन् १८८४) में स्वयं मूडबिद्री यात्राको गये। वे अपने साथ श्रवणबेल्गुलसे पंडित ब्रह्मसूरि शास्त्रीको भी लेते गये। ब्रह्मसूरिजीने उन्हें वहां उपस्थित पंचोंके बीच उक्त सिद्धान्तग्रंथोंका मंगलाचरण पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर वे सब बड़े प्रसन्न हुए। सेठ हीराचन्द्रजीने इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी चर्चा की और उन्होंने ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे यह कार्य अपने हाथमें लेनेका आग्रह किया। वहांसे लौटकर सेठ हीराचन्द्रजीने बम्बई आकर सेठ माणिकचन्द्रजीसे मिलकर सम्पूर्ण ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेका निश्चय किया।

वहांसे लौटनेपर वे तथा सेठ माणिकचंदजी अपने अपने व्यावसायिक कार्यमें जुट गये और कोई दस वर्षतक प्रतिलिपि करानेकी बात उनके मनमें ही रह गई ।

इसी बीचमें अजमेरनिवासी श्रीयुक्त सेठ मूलचंदजी सोनी श्रीयुक्त व गोपालदासजी वगैरहके साथ मूडबिद्रीकी यात्राको गये । उस समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रंथोंके दर्शनकर वहांके पंचों और ब्रह्मसूरि शास्त्रीके साथ यह बात निश्चित की कि उन ग्रंथोंकी प्रतिलिपियां की जाय । तदनुसार लेखनकार्य भी प्रारंभ हो गया । यात्रासे लौटते समय सेठ मूलचंदजी सोनी सोलापुर और बम्बई भी गये और उन्होंने सेठ हीराचंदजी व माणिकचंदजीको भी अपने उक्त कार्यकी सूचना दी, जिसका उन्होंने अनुमोदन किया । श्रीमान् सिं. पन्नालालजी अमरावतीवालोंसे ज्ञात हुआ है कि जब उनके पिता स्व० सिंघई वृषभलालजी सं० १९४७ (सन १८९०) में लगभग मूडबिद्रीकी यात्राको गये थे तब ब्रह्मसूरि शास्त्री द्वारा लेखनकार्य प्रारंभ हो गया था । किंतु लगभग तीनसौ श्लोक प्रमाण प्रतिलिपि होनेके पश्चात् ही वह कार्य बंद पड गया, क्योंकि, सेठजी यह प्रतिलिपि अजमेरके लिए चाहते थे और यह बात मूडबिद्रीके भट्टारकजी व पंचोंको इष्ट नहीं थी ।

इसी विषयको लेकर सं० १९५२ (सन १८९५) में सेठ माणिकचंदजी और सेठ हीराचंदजी के बीच कुछ पत्रव्यवहार हुआ, जिसके फलस्वरूप सेठ हीराचंदजीने प्रतिलिपि करानेका प्रयत्न फिर से शुरू करनेका भार उठाया । उन्होंने अपने पत्र जैनबोधकमें सौ सौ रुपयोंके सहायक बनानेके लिये अपील निकालना प्रारंभ कर दिया । फिर एक वर्षके भीतर थोड़ासा रुपया इकट्ठा होनेसे उत्साहित होकर [illegible] तब सेठ हीराचंदजीने सेठ माणिकचंदजीको सोलापुर बुलाया और [illegible] ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे पचास (५०) रुपया मासिक वृत्तिपर प्रतिलिपि करानेका [illegible] । [illegible]

[illegible]

कराई। यह कार्य सन् १९१६ से १९२३ तक सम्पन्न हुआ। सन् १९२४ में सहारनपुरवालोंने मूडबिद्रीसे पं. लोकनाथ जी शास्त्रीको बुलाकर उनसे कनाड़ी और नागरी लिपियोंका मिलान करा लिया।

सहारनपुरकी कनाड़ी प्रतिकी नागरी लिपि करते समय पं. सीताराम शास्त्रीने एक और कापी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया, यह लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचनासे ज्ञात हुआ है। पर यह भी सुना जाता है कि जिस समय पं. विजयचंद्रय्या और पं. सीताराम शास्त्री कनाड़ीकी नागरी प्रतिलिपि करने बैठे उस समय पं. विजयचंद्रय्या पढ़ते जाते थे और पं. सीताराम शास्त्री सुनिया और [illegible] कागजके मसौदा नागरीमें लिखते जाते थे। इन्हीं मसौदोंसे उन्होंने पीछे शास्त्राकार प्रति सावधानीसे लिखकर लालाजीको दे दी, किन्तु उन मसौदोंको अपने पास ही रख लिया, और उन्हीं मसौदोंसे पीछे सीताराम शास्त्रीने अनेक स्थानोंको धवल जयधवलकी प्रतियां करके दीं। ऐसी तथा उनसे की हुई प्रतियां अब अमरावती, आरा, कारंजा, दिल्ली, बम्बई, नागपुर, सागर, झालरापाटन, इन्दौर, सिवनी, ब्यावर, और अजमेरमें विराजमान हैं।

पं. गजपतिजी उपाध्याय तथा पं. सीताराम शास्त्रीने चाहे जिस भावनासे उक्त कार्य किया हो और भले ही नीतिकी कसौटी पर यह कार्य ठीक न उतरता हो, किन्तु इन महान् सिद्धान्त ग्रंथोंको शताब्दियोंकी कैदसे मुक्त करके विद्वत् और जिज्ञासु समाजका महान् उपकार करनेका श्रेय उन्हींको है। इस प्रसंगमें मुझे गुमानी कविका निम्न पद्य याद आता है—

पूर्वमुक्तिविदा मुनि [illegible] प्रतिभावान् स समालभूत ।
[illegible] गर्जन है सबका उपकारी ॥

सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतियोंका इतिहास संग्रह करनेके लिये हमने जो प्रश्नावली प्रकाशित की थी उसका जिन अनेक महानुभावोंने सूचनात्मक उत्तर भेजनेकी कृपा की। हम उन्हीं उत्तरोंके आधारसे पूर्वोक्त इतिहास प्रस्तुत करनेमें समर्थ हुए, इस हेतु हम इन सज्जनोंका आभार मानते हैं।

धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रति उद्धारसंबंधी प्रश्नावलीका उत्तर भेजनेवाले सज्जनोंकी नामावली—

१ श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी, सोलापुर
२ ,, लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर
३ ,, पंडित नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई
४ ,, पं. लोकनाथजी शास्त्री, मंत्री, वीरवाणी सिद्धान्त भवन, मूडबिद्री
५ ,, ब्र. शीतलप्रसादजी
६ ,, पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, कारंजा
७ ,, सिंघई पन्नालालजी बन्सीलालजी, अमरावती
८ ,, पं. मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना
९ ,, पं. रामप्रसादजी शास्त्री, श्री ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन, बम्बई
१० ,, पं. के. भुजबलीजी शास्त्री, जैन सिद्धान्त भवन, आरा
११ ,, पं. दयाचन्दजी न्यायतीर्थ, सतर्कसुधातरंगिणी पाठशाला, सागर
१२ ,, सेठ वीरचंद कोदरजी गांधी, फलटन
१३ ,, सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जव्हेरी, बम्बई
१४ ,, सेठ मूलचन्द किसनदास जी कापडिया, सूरत
१५ ,, सेठ राजमल जी बडजात्या, भेलसा
१६ ,, गांधी नेमचंद बालचंदजी, वकील, उस्मानाबाद
१७ ,, बाबू कामताप्रसादजी, सम्पादक वीर, अलीगंज

२. हमारी आदर्श प्रतियां

१ धवलादि सिद्धान्तग्रंथोंकी एकमात्र प्राचीन प्रति दक्षिण कर्नाटक देशके मूडबिद्री नगरके गुरुबसदि नामक जैन मंदिरमें वहांके भट्टारक श्रीचारुकीर्तिजी महाराज तथा जैन पंचोंके अधिकारमें है। तीनों ग्रंथोंकी प्रतियां ताडपत्र पर कनाडी लिपिमें हैं। धवलाके ताडपत्रोंकी लम्बाई लगभग २॥ फुट, चौड़ाई ३ इंच, और कुलसंख्या ५९२ है। यह प्रति कबकी लिखी हुई है इसका ठीक ज्ञान प्राप्त प्रतियों पर से नहीं होता है। किन्तु लिपि प्राचीन कनाडी है जो पांच छैसौ वर्षोंसे कम प्राचीन नहीं अनुमान की जाती। कहा जाता है कि ये सिद्धान्त ग्रंथ पहले जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेलगोल नगर के एक मंदिरजी में विराजमान थे। इसी कारण उस मंदिरकी अभी तक 'सिद्धान्त बस्ती' नामसे प्रसिद्धि है। वहां से किसी समय ये ग्रंथ मूडबिद्री पहुंचे। (एपीग्राफिआ कर्नाटिका, जिल्द २, भूमिका पृ. २८)

२ इसी प्रतिकी धवलाकी कनाडी प्रतिलिपि पं० देवराज सेठी, शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मय्य इन्द्र द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच पूर्ण की गयी थी। यह लगभग १ फुट २ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े काश्मीरी कागज के २८०० पत्रों पर है। यह भी मूडबिद्री के गुरुबसदि मंदिर में सुरक्षित है।

३ धवलाके ताडपत्रोंकी नागरी प्रतिलिपि पं० गजपति उपाध्याय द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच की गई थी। यह प्रति १ फुट ३ इंच लम्बे, १० इंच चौड़े काश्मीरी कागज के १३२३ पत्रों पर है। यह भी मूडबिद्री के गुरुबसदि मंदिरमें सुरक्षित है।

४ मूडबिद्रीके ताडपत्रों परसे सन् १८९६ और १९१६ के बीच पं. गजपति उपाध्यायने उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई की सहायतासे जो प्रति गुप्त रीतिसे की थी वह आधुनिक कनाडी लिपिमें कागजपर है। यह प्रति अब सहारनपुरमें लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईसके अधिकारमें है।

५ पूर्वोक्त नं. ४ की प्रति की नागरी प्रतिलिपि सहारनपुर में पं. विजयचंद्रैया और पं. सीताराम शास्त्री द्वारा सन् १९१६ और १९२४ के बीच की गई थी। यह प्रति १ फुट लम्बे ८ इंच चौड़े कागज पर १६५० पत्रों पर हुई है। इसका नं. ४ की कनाडी प्रति से मिलान मूडबिद्री के पं. लोकनाथजी शास्त्री द्वारा सन् १९२४ में किया गया था। यह प्रति भी उक्त लालाजी के अधिकारमें है।

६ प्रति नं ५ की प्रति प्रतिलिपि, पत्र समय पं सीताराम शास्त्री एक और नागरी प्रतिलिपि, पत्र भरत पाल ने की थी। इसी प्रकार नाना प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचना से जाना जाता है। यह प्रति अब भी पं सीताराम शास्त्रीके अधिकारमें है।

७ प्रति नं ६ की प्रतिलिपि पं सीताराम शास्त्री व अनेक प्रतियां की है जो अब प्रायः भारत भरके अनेक स्थानों में विराजमान हैं। सागर की प्रति १३॥ इंच लम्बी ७॥ इंच चौड़े कागज पर १५०६ पत्रोंपर है। यह प्रति सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशाला, सागर, के चैत्यालयमें विराजमान है और इसका पं. न्यायप्रसादजी वर्णीके अधिकारमें है।

८ नं ७ पर से धमारवर्णीकी धवला प्रति १७ इंच लम्बी, ७ इंच चौड़े कागजपर १४६५ पत्रोंपर बड़ुप्रसादजीनामक कायस्थ द्वारा संवत् १९८५ के माघकृष्णा ८ शनि० को लिखी गई है। यह प्रति अब भी नातिकर उदासीन धवडक रहती धर्मोंकी किं पक्षापात वर्धीलालजी के अधिकारमें है और अमरावतीके परवार दि. जैन मन्दिरमें विराजमान है। इसके ३७५ पत्रोंका संशोधन सहारनपुरवाली नं ५ की प्रतिपरसे १९३८ में कर लिया गया था।

प्रस्तुत ग्रंथ की प्रथम प्रेसकापी इसी प्रतिपरसे की गई थी। इसका उल्लेख प्रस्तुत प्रथकी टिप्पणियों में 'अ' संकेत द्वारा किया गया है।

९ दूसरी प्रति जिसका हमने पाठ संशोधनमें उपयोग किया है, आगरा जैनसिद्धांत भवन में विराजमान है, और लाला निर्मलकुमारजी चक्रेश्वरकुमारजीके अधिकारमें है। यह उपर्युक्त प्रति नं ६ पर से स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा वि. सं. १९८३ माघ शुक्ला ५ रविवार को लिखकर समाप्त की हुई है। इसके कागज १४॥ इंच लम्बे और ६॥ इंच चौड़े हैं, तथा पत्रसंख्या ११२७ है। यह हमारी टिप्पणियों आदि की 'आ' प्रति है।

१० हमारेद्वारा उपयोगमें ली गई तीसरी प्रति कारंजाके श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमकी है और हमें पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा प्राप्त हुई। यह भी उपर्युक्त नं. ६ परसे स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा १३॥ इंच लम्बे ८ इंच चौड़े कागजपर १४१२ पत्रोंपर श्रावण शुक्ला १५ सं. १९८८ में लिखी गई है। इस प्रतिका उल्लेख टिप्पणियां आदि में 'क' संकेत द्वारा किया गया है।

सहारनपुर की प्रतिसे लिए गए संशोधनोंका संकेत 'स' प्रति के नामसे किया गया है।

[illegible] अतिरिक्त, [illegible] हमें ज्ञात है, निम्नलिखित स्थानोंकी प्रतियाँ [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अजमेर [illegible] और सिवनीमें भी हैं। इनमेंसे [illegible] [illegible] कि जैन [illegible] भवन की प्रति का परिचय हमारी प्रार्थनापर उसमें वहाँ के मैनेजर श्रीयुत [illegible] [illegible] [illegible] कृपा की जिससे ज्ञात हुआ कि वह प्रति आगरेकी उपर्युक्त [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] संवत् १०८० में लिखी गई है, और उसी परसे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कि जैन [illegible] भवन के लिए प्रति [illegible] गई है। सागरकी सत्तरूपणा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वर्तमान प्रधानाध्यापक प दयाचन्द्रजी शास्त्रीने भेजने [illegible] [illegible] [illegible] ज्ञात हुआ है कि सिवनी की प्रति सागरकी प्रतिपरसे ही की गई है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कोई परिचय भी नहीं मिल सका।

[illegible] [illegible] है कि [illegible] [illegible] [illegible] हाथकी लिखी हुई जो तीन प्रतियें [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुई [illegible] तो हमने सीधा उपयोग किया है और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतियोंसे [illegible] लाभ लिया है।

[illegible] [illegible] प्रतियोंकी [illegible] परम्पराका निदर्शक

वंशवृक्ष

१ [illegible] प्रति (मूडबिद्री)

४ [illegible] ([illegible]) १० [illegible] — ४ [illegible] ([illegible]पुर) १० [illegible] — ३ [illegible] (मूडबिद्री) १९[illegible]

५ [illegible] ([illegible]पुर) १० [illegible]

६ [illegible] ([illegible]) १० [illegible]

[illegible] [illegible] १० [illegible] — ७ [illegible] ([illegible]) १०[illegible] — १० प्रति ([illegible]) १०[illegible]

८ [illegible] [illegible] १०[illegible]

[illegible] [illegible]
([illegible])

इस विवरण और वंशवृक्षसे स्पष्ट है कि यथार्थमें प्राचीन प्रति एक ही है किंतु खेद है कि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी हमें मूडबिद्रीकी प्रतिके मिलानका लाभ नहीं मिल सका। यही नहीं, जिस प्रति परसे हमारी प्रथम प्रेस कापी तैयार हुई वह उस प्रतिकी छठवीं पीढ़ीकी है। उसके संशोधनके लिये हम दूसरी दो चौथी पांचवी पीढ़ीकी प्रतियोंका लाभ पा सके। तीसरी पीढ़ीकी सहारनपुरवाली प्रति अन्तिम संशोधनके समय हमारे सामने नहीं थी। उसके जो पाठभेद अमरावतीकी प्रतिपर अंकित कर लिये गये थे उन्हींसे लाभ उठाया गया है। इस परंपरामें भी दो पीढ़ियोंकी प्रतियां गुप्त रीतिसे की गई थीं। ऐसी अवस्थामें पाठ-संशोधनका कार्य कितना कठिन हुआ है यह वे पाठक विशेषरूपसे समझ सकेंगे जिन्हें प्राचीन ग्रंथोंके संशोधनका कार्य पड़ा है। भाषाके प्राकृत होने और विषयकी अत्यन्त गहनता और दुरूहताने संशोधन कार्य और भी जटिल बना दिया था।

यह सब होते हुए भी हम प्रस्तुत ग्रंथ पाठकोंके हाथमें कुछ दृढ़ता और विश्वासके साथ दे रहे हैं। उपर्युक्त अवस्थामें जो कुछ सामग्री हमें उपलब्ध हो सकी उसका पूरा लाभ लेनेमें कसर नहीं रखी गई। सभी प्रतियोंमें कहीं कहीं लिपिकारके प्रमादसे एक शब्दसे लेकर कोई सौ शब्दतक छूट गये हैं। इनकी पूर्ति एक दूसरी प्रतिसे कर ली गई है। प्रतियोंमें वाक्य-समाप्ति-सूचक विराम-चिह्न नहीं हैं। कारंजाकी प्रतिमें लाल स्याहीके दण्डक लगे हुए हैं, जो वाक्यसमाप्तिके समझनेमें सहायक होनेकी अपेक्षा भ्रामक ही अधिक हैं। ये दण्डक किसप्रकार लगाये गये थे इसका इतिहास श्रीमान् पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री सुनाते थे। जब पं. सीतारामजी शास्त्री ग्रंथोंको लेकर कारंजा पहुंचे तब पंडितजीने ग्रंथोंको देखकर कहा कि उनमें विराम-चिह्नोंकी कमी है। पं. सीतारामजी शास्त्रीने इस कमीकी वहीं पूर्ति कर देनेका वचन दिया और लाल स्याही लेकर कलमसे लगातार दण्डक लगाना प्रारंभ कर दिया। जब पंडितजीने उन दण्डकोंको जाकर देखा और उन्हें अनुचित स्थानोंपर भी लगा पाया तब उन्होंने मना कर दिया। पं. सीतारामजीने कहा 'जहां प्रतिमें स्थान मिला, वहां फिर कहीं तो दण्डक लगाये जा सकते हैं।' पंडितजी इस अनर्थको देखकर अपनी कृतिपर पछताये। अतएव वाक्यका निर्णय करनेमें ऐसे विराम-चिह्नोंका ख्याल बिलकुल ही छोड़कर विषयके तारतम्यद्वारा ही हमें वाक्य-समाप्तिका निर्णय करना पड़ा है। इसप्रकार तथा अन्यत्र दिये हुए संशोधनके नियमोंद्वारा अब जो पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है वह समुचित साधनोंकी अप्राप्तिको देखते हुए असंतोषजनक नहीं कहा जा सकता। हमें तो बहुत थोड़े स्थानोंपर शुद्ध पाठमें संदेह रहा है। हमें [illegible] इस बातका नहीं है कि वे थोड़े स्थल

[illegible] हं रहे, किन्तु [illegible] इस बातका है कि प्रतियोंको पूर्ण भरसक होते हुए भी उन [illegible] इतना शुद्ध [illegible] प्रस्तुत किया न सका। इस सम्बन्धमें हमने [illegible] यह बात लिखा नहीं रह [illegible] कि [illegible] [illegible] [illegible] मेंही किसी प्रकारका नहीं भी हैं, किन्तु [illegible] [illegible] [illegible] इसके लिए उनके प्रति, और [illegible] [illegible] प्रति हमारी कृतज्ञता कम नहीं है।

---

३. पाठ संशोधनके नियम

१ [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] प्रतियोंमें ही
[illegible] [illegible]
[illegible] बहुत सहायता मिली है।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

…शून्य बिन्दु (○) होता है। फिर अनुस्वार का बिन्दु वर्णके पश्चात् और द्वित्वका वर्णसे पूर्व लगा जाता है। अतएव लिपिकार द्वित्वको अनुस्वार और अनुस्वारको द्वित्व भी पढ़ सकता है। उदाहरणार्थ, प्रो० पाठकने अपने एक लेख* में जेसलमेरकी कनाड़ी ताडपत्र प्रति परसे कुछ नागरीमें गाथाएं उद्धृत की हैं जिनमेंसे एक यहां देते हैं—

> सो उंमंगाहिमुहो चउंमुहो सदरि वास परमाऊ।
> चालीस र जओ जिदभूमि पुंछइ सम्मति गण॥

इसका शुद्धरूप है—

> सो उम्मग्गाहिमुहो चउम्मुहो सत्तरि-वास-परमाऊ।
> चालीस-रज्जओ जिदभूमि पुच्छइ समंति-गण॥

ऐसे अक्षरोंकी समरूपता ध्यानमें रखकर निम्न प्रकारके पाठ सुधार किये गये हैं—

(१) अनुस्वारके स्थान पर अगले वर्णका द्वित्व—
अग गिम्हा–अग्गिम्हा (पृ ६), उक्खण खइणा–उक्कण्णक्खइणो (पृ १५) सवर–सव्वद्ध (पृ २५, २९२,) घस–घस्स (पृ ११०) आदि।

(२) द्वित्वके स्थानपर अनुस्वार—

भग्ग–भंग (पृ ४०) अक्कुस्सर–अंकुस्सर (पृ ७१) पत्तणा–पंणा (पृ ७३) समिद्धरसया दत–समिदंसया दत (पृ ७) सव्वेयणी–संवयणी (पृ १०४) ओराडिय त्ति ओराडियं ति (पृ २९१) पारुग्गालिय–पारुंगलिय (पृ ४८) पडिमव्वा–पडिमं वा (पृ ५८) इत्यादि।

(आ) कनाड़ीमें द और ध प्रायः एकसे ही लिखे जाते हैं जिससे एक दूसरेमें भ्रम हो सकता है।

> द–ध, दरिद–धरिद (पृ २९) ल–ध, हरि–धरि (पृ [illegible]) [illegible]– [illegible] (पृ २७३) इत्यादि।

(इ) कनाड़ीमें प और व में अन्तर बहुत कम है, मात्र एक बिंदुका [illegible]

* Bhandarkar commemoration Vol., 1917, P. 221

है, अतएव इनके लिखने पढ़नेमें भ्रान्ति हो सकती है। अतः कथ के स्थानपर कध और इसको तथा पूर्वोक्त अनुस्वार द्वित्व विभ्रमको ध्यानमें रखकर सवयोगा के स्थान पर सञ्जयोगा कर दिये गये हैं।

यद्यपि शौरसेनीके नियमानुसार कथ आदिमें थ के स्थान पर ध ही रक्खा है, किंतु जहां ध करनेसे किसी अन्य शब्दसे भ्रम होनेकी संभावना हुई वहां थ ही रहने दिया। उदाहरणार्थ– किसी किसी प्रतिमें 'गथो' के स्थान पर 'गधो' भी है किंतु हमने 'गथो' ही रक्खा है।

(२) ह्रस्व और दीर्घ स्वरोंमें बहुत व्यत्यय पाया जाता है, विशेषतः प्राकृत रूपोंमें। इसका कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीन कनाडी लिपिमें ह्रस्व और दीर्घका कोई भेद ही नहीं किया जाता। अतः संशोधनमें ह्रस्वत्व और दीर्घत्व व्याकरणके नियमानुसार रक्खा गया है।

(३) प्राचीन कनाडी प्रतियोंमें बहुधा आदि ठ के स्थान पर अ लिखा मिलता है जैसा कि प्रो० [illegible] भूमिकामें (पृ० ८३ पर) कहा है। हमें भी पृ० ३२८ की अवतरण [illegible] नं० १६० में 'अ[illegible]' के स्थान पर 'टह[illegible]' करना पड़ा।

४ [illegible] प्रतियोंमें [illegible] पञ्चमाक्षरोंमें [illegible] नहीं पाये [illegible]। [illegible] संस्कृतमें पञ्चम [illegible] यथास्थान रक्खे गये हैं।

४ [illegible] में [illegible] तथा [illegible] नागरी लिपिमें बहुधा [illegible] पाया जाता है। [illegible] प्रतियोंमें [illegible]। अतः संशोधनमें वे दोनों यथास्थान रक्खे गये हैं।

५ प्रतियोंमें [illegible] का भेद नहीं [illegible] देता, [illegible] दिखाई देता है। [illegible] हैं। प्राकृतमें व या ब संस्कृत [illegible] वर्णानुसार रक्खा गया है।

६ [illegible] प्रति [illegible] है। हमने [illegible] है। ([illegible] व्याकरण [illegible])

७ [illegible] हुए हैं, [illegible] हैं। [illegible]।

८ प्रतियोंमें अवतरण गाथाएं प्रायः अनियमितरूपसे उक्तं च या उत्तं च कहकर उद्धृत की गई हैं। नियमके लिये हमने सर्वत्र संस्कृत पाठके पश्चात् उक्तं च और प्राकृत पाठके पश्चात् उत्तं च रक्खा है।

९ प्रतियोंमें संधिके संबंधमें भी बहुत अनियम पाया जाता है। हमने व्याकरणके संधिसंबंधी नियमोंको ध्यानमें रखकर यथाशक्ति मूलके अनुसार ही पाठ रखनेका प्रयत्न किया है, किंतु जहां विराम चिह्न आगया है वहां संधि अवश्य ही तोड़ दी गई है।

१० प्रतियोंमें प्राकृत शब्दोंमें लुप्त व्यंजनोंके स्थानोंमें कहीं य श्रुति पाई जाती है और कहीं नहीं। हमने यह नियम पालनेका प्रयत्न किया है कि जहां आदर्श प्रतियोंमें अवशिष्ट स्वर ही हो वहां यदि संयोगी स्वर अ या आ हो तो य श्रुतिका उपयोग करना, नहीं तो य श्रुतिका उपयोग नहीं करना। प्रतियोंमें अधिकांश स्थानोंपर इसी नियमका प्रभाव पाया जाता है। पर ओ के साथ भी बहुत स्थानों पर य श्रुति मिलती है और ऊ अथवा ए के साथ क्वचित् ही, अन्य स्वरोंके साथ नहीं।

(१) ओ के साथ य श्रुतिके उदाहरण—
भणियो, जाणयो, विसारयो, पावयो, आदि।

(२) ऊ के साथ—वज्जियूण

(३) ए के साथ—परिणयेण (परिणिनेन) एक्कारसीये, आदीये, इत्यादि।

---

४ षट्खंडागमके रचयिता

आचार्य धरसेन

प्रस्तुत ग्रंथके अनुसार (पृ. ६७) षट्खंडागमके विषयके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे, जो सोरठ देशके गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें ध्यान करते थे। नंदिसंघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वे आचारांगके पूर्ण ज्ञाता थे किन्तु 'धवला' के शब्दोंमें वे अंगों और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता थे। कुछ भी हो वे थे भारी विद्वान् और श्रुत-वत्सल। उन्हें इस बातकी चिन्ता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञानका लोप हो जायगा, अतः उन्होंने महिमा नगरीके मुनिसम्मेलनको पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहांसे दो मुनि उनके पास पहुंचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त पढ़ाया। ये दोनों मुनि पुष्पदन्त और भूतबलि थे। धरसेनाचार्यने इन्हें सिखाया तो उत्तम

तासे किंतु ज्यों ही आषाढ शुक्ला एकादशीको अध्ययन पूरा हुआ त्यों ही वर्षाकालके बहुत समीप होते हुए भी उन्हें उसी दिन अपने पाससे विदा कर दिया। दोनों शिष्योंने गुरुकी बात अनुल्लंघनीय मानकर उसका पालन किया और वहांसे चलकर अंकुलेश्वरमें चातुर्मास किया। धरसेनाचार्यने इन्हें वहांसे तत्क्षण क्यों रवाना कर दिया यह प्रस्तुत ग्रंथमें नहीं बतलाया गया है। किंतु इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार तथा विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारमें लिखा है कि धरसेनाचार्यको ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है, अतएव इन्हें उस कारण क्लेश न हो इससे उन्होंने उन मुनियोंको तत्काल अपने पाससे विदा कर दिया। संभव है उनके वहां रहनेसे आचार्यके ध्यान और तपमें विघ्न होता, विशेषतः जब कि वे श्रुतज्ञानकी रक्षासंबन्धी अपना कर्तव्य पूरा कर चुके थे। वे संभवतः यह भी चाहते होंगे कि उनके वे शिष्य वहांसे जल्दी निकल कर उस श्रुतज्ञानका प्रचार करें। जो भी हो, धरसेनाचार्यकी हमें फिर कोई छटा देखनेको नहीं मिलती, वे सदाके लिये हमारी आंखोंसे ओझल हो गये।

आचार्य अर्हद्बलि और माघनन्दि

धवलाकारने धरसेनाचार्यके गुरुका नाम नहीं दिया। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें लोहार्यतककी गुरुपरम्पराके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्योंका उल्लेख किया गया है। ये सब अंगों और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता थे। इनके पश्चात् अर्हद्बलिका उल्लेख आया है। अर्हद्बलि बड़े भारी संघनायक थे। वे पूर्वदेशमें पुंड्रवर्धनपुरके कहे गये हैं। उन्होंने पंचवर्षीय युग-प्रतिक्रमणके समय बड़ा भारी यति-सम्मेलन किया जिसमें सौ योजनके यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं परसे उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपातका जमाना आगया है। अब उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामोंसे भिन्न भिन्न संघ स्थापित किये जिससे एकत्व और अपनत्वकी भावनासे धर्म वात्सल्य और धर्म प्रभावना बढ़े।

श्रुतावतारके अनुसार अर्हद्बलिके अनन्तर माघनन्दि हुए जो मुनियोंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने अंगों और पूर्वोंका एकदेश प्रकाश फैलाया और पश्चात् समाधिमरण किया। उनके पश्चात् ही

१ इन्द्रनन्दिके अनुसार धरसेनाचार्यने दूसरे दिन विदा किया।

२ इन्द्रनन्दिने इस पत्तनका नाम कुरीश्वर दिया है। वहां वे नौ दिनमें पहुंचे।

३ [illegible] ज्ञात्वा मा [illegible] | [illegible] तदन्तेन। [illegible], [illegible] मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तु मुनी विसर्जन करिष्यति।

विबुधश्रीधर श्रुतावतार मा. दि. जै. ग्रं. २१, पृ. ३१७

सौराष्ट्र देशके गिरिनगरके समीप ऊर्जयन्त पर्वतकी चन्द्रगुफामें निवासी धरसेनाचार्यका नाम आया है।

इन चार आचार्यों मेंसे अर्हद्बलि, माघनन्दि व धरसेन आचार्योंकी इन्द्रनन्दिने कोई गुरु-शिष्य-परम्पराका उल्लेख नहीं किया। केवल अर्हद्बलि आदि तीन आचार्योंका एक पश्चात् दूसरेका होनेका स्मरण मात्र किया है। पर इन तीनोंका गुरु-शिष्य-सम्बन्ध मानने में भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। यही नहीं, प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि—

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥

अर्थात् गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि, उसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगममें मिला और न किसी मुनिने ही बतलाया।

किन्तु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन तथा उनके पश्चात् पुष्पदन्त और भूतबलिको एक दूसरेके उत्तराधिकारी बतलाया है, जिससे ज्ञात होता है कि धरसेनके दादागुरु अर्हद्बलि और गुरु माघनन्दि थे।

नन्दिसंघकी संस्कृत गुर्वावलीमें भी माघनन्दिका नाम आया है। इस गुर्वावलीमें इन्हें भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तके पश्चात् रखा है, किन्तु उनके [illegible] आदिका उल्लेख नहीं किया गया है। उनकी व [illegible] उन्नत होनेके साथ ही माघनन्दिका उल्लेख किया गया है। [illegible] कि [illegible] अर्हद्बलि आचार्य [illegible] [illegible] [illegible] होता है। यथा—

श्रीमानशेषनरनायकवन्दिताङ्घ्रिः **श्रीगुप्तिगुप्त** इति विश्रुतनामधेयः।
यो **भद्रबाहुमुनिपुङ्गवपट्टपद्मः** सूर्यः स वो दिशतु निर्मलसङ्घवृद्धिम् ॥ १ ॥
श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी **श्रीमाघनन्दी** नरदेववन्द्यः ॥ २ ॥

[illegible]

[illegible]

नहीं। किन्तु उनके 'पुव्वपण्णाणगामी' अर्थात् पूर्वोंके एकदेशका जानकार, इस विशेषणसे पता चलता है कि ये ज्ञानी थे। धवलामें उनके शिष्य धरसेनका उल्लेख न आनेसे माना जा सकता है कि धरसेन विद्यानुरागी थे और वे सबसे अलग रहकर शास्त्राभ्यास किया करते थे। अतः उनकी अनुपस्थितिमें संघका नायकत्व माघनन्दिके अन्य शिष्य जिनचन्द्रपर पड़ा हो। उधर धरसेनाचार्यने अपनी विद्याद्वारा शिष्यपरम्परा पुष्पदन्त और भूतबलिद्वारा चलाई।

माघनन्दिका उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' के कर्ता पद्मनन्दिने भी किया है और उन्हें, राग, द्वेष और मोहसे रहित, श्रुतसागरके पारगामी, मति-प्रगल्भ, तप और संयममें सम्पन्न तथा विख्यात कहा है। इनके शिष्य सकलचन्द्र गुरु थे जिन्होंने सिद्धान्तमहोदधिमें अपने पापरूपी मैल धो डाले थे। उनके शिष्य श्रीनन्दि गुरु हुए जिनके निमित्त जम्बूदीवपण्णत्ति लिखी गई। यथा—

गय-राय-दोस-मोहो सुद-सायर पारओ मइ-पगब्भो।
तव संजम-संपण्णो विक्खाओ माघनंदि गुरू ॥ १५४ ॥
तस्सेव य वरसिस्सो सिद्धंत-महोदहिम्मि धुय कलुसो।
णय-णियम-सील कलिदो गुणउत्तो सयलचंद-गुरू ॥ १५५ ॥
तस्सेव य वर सिस्सो णिम्मल-वर-णाण-चरण संजुत्तो।
सम्मद्दंसण-सुद्धो सिरिणंदि गुरु त्ति विक्खाओ ॥ १५६ ॥
तस्स णिमित्तं लिहियं जंबूदीवस्स तह य पण्णत्ती।
जो पढइ सुणइ एदं सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥ १५७ ॥

(जैन साहित्य संशोधक, खं० १ जंबूदीवपण्णत्ति लेखक पं० नाथूरामजी प्रेमी)

जंबूदीवपण्णत्तिका रचनाकाल निश्चित नहीं है। किन्तु यहां माघनन्दिको श्रुतसागर पारगामी कहा है जिससे जान पड़ता है कि सम्भवतः यहां हमारे माघनन्दिसे ही तात्पर्य है।

माघनन्दि सिद्धान्तदेवके सम्बन्धमें एक कथानक भी प्रचलित है। कहा जाता है कि माघनन्दि मुनि एकबार चर्याके लिये नगरमें गये थे। वहां एक कुम्हारकी कन्याने इनसे प्रेम प्रगट किया और ये उसीके साथ रहने लगे। कालान्तरमें एकबार संघमें किसी सैद्धान्तिक विषयपर मतभेद उपस्थित हुआ और जब किसीसे उसका समाधान नहीं हो सका तब संघनायकने आज्ञा दी कि इसका समाधान माघनन्दिके पास जाकर किया जाय। अतः साधु माघनन्दिके पास पहुंचे और उनसे ज्ञानकी व्यवस्था मांगी। माघनन्दिने पूछा 'क्या संघ मुझे अब भी यह सत्कार देता है?' मुनियोंने उत्तर दिया 'आपके श्रुतज्ञानका सदैव आदर होगा।' यह सुनकर माघनन्दिको पुन

प्रमाद हो गया था और वे सदा गुरुविरहित रह गए। पीछे यथासमय होकर पुन संघमें आ मिले। जैन सिद्धान्तभास्कर, सन् १९१३, अंक ४, पृ० १५१ पर 'एक ऐतिहासिक स्तुति' शीर्षकसे इसी घटनात्मक एक श्लोक छपा है और उसके साथ सोलह श्लोकोंकी एक स्तुति छपी है जिसे कहा है कि माघनन्दिने अपने गुरुदेव गौराके समय यहाँ पर शाप देते समय गाते गाते बनाया था।

यदि इस कथानकमें कुछ तथ्यांश हो भी तो संभवत वह उन माघनन्दि नामके आचार्योंमेंसे किसी एकसे सम्बन्ध रखता हो सकता है जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है। (देखो जैनशिलालेखसंग्रह) इनमेंसे नं. ४७१ के शिलालेखमें शुभचन्द्र त्रैविद्यदेवके गुरु माघनन्दि सिद्धान्तदेव कहे गये हैं। शिलालेख नं. १२९ में बिना किसी गुरुशिष्य सम्बन्धके माघनन्दिको जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्तवेत्ता कहा है। यथा—

नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने माघनन्दिने।
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तवेदिने चित्तमोदिने ॥ ४ ॥

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि

ये दोनों आचार्य हमारे षट्खण्डागमके सच्चे रचयिता हैं। प्रस्तुत ग्रंथमें इनके प्रारम्भिक नाम, धाम व गुरु परम्पराका कोई परिचय नहीं पाया जाता। धवलाकारने उनके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा है कि जब महिमा नगरीमें सम्मिलित यतिसंघको धरसेनाचार्यका पत्र मिला तब उन्होंने धरसेनाचार्यके अभिप्रायको समझकर अपने संघमेंसे दो साधु चुने जो विद्याग्रहण करने और स्मरण रखनेमें समर्थ थे, जो अत्यन्त विनयशील थे, शीलवान् थे, जिनका देश, कुल और जाति शुद्ध था और जो समस्त कलाओंमें पारंगत थे। उन दोनोंको धरसेनाचार्यके पास गिरिनगर (गिरनार) भेज दिया। धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षा की। एकको अधिकाक्षरी और दूसरेको हीनाक्षरी विद्या बताकर उनसे उन्हें षष्ठोपवाससे सिद्ध करनेको कहा। जब विद्याएं सिद्ध हुईं तो एक बड़े बड़े दांतोंवाली और दूसरी कानी देवीके रूपमें प्रगट हुई। इन्हें देखकर चतुर साधकोंने जान लिया कि उनके मंत्रोंमें कुछ त्रुटि है। उन्होंने विचारपूर्वक उनके अधिक और हीन अक्षरोंकी कमी बेशी करके पुनः साधना की, जिससे देवियां अपने स्वाभाविक सौम्यरूपमें प्रकट हुईं। उनकी इस कुशलतासे गुरुने जान लिया कि ये सिद्धान्त सिखानेके योग्य पात्र हैं। फिर उन्हें क्रमसे सब सिद्धान्त पढ़ा दिया। यह श्रुताभ्यास आषाढ़ शुक्ला एकादशीको समाप्त हुआ और उसी समय भूतोंने पुष्पावलियोंसे तथा तूर्य और शंखोंके शब्दसे एककी बड़ी पूजा की। इससे आचार्यश्रीने उनका नाम भूतबलि रक्खा। दूसरेकी अस्तव्यस्त दंतपंक्ति थी, उसे भूतोंने ठीक कर दी, इससे उनका नाम पुष्पदन्त रक्खा गया। ये ही दो आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि षट्खण्डागमके रचयिता हुए।

इन दोनोंने धरसेनाचार्यसे सिद्धान्त सीखकर ग्रंथ रचना की, अतः धरसेनाचार्य उ
शिक्षागुरु थे। पर उनके दीक्षागुरु कौन थे इसका कोई उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथमें नहीं मिल
ब्रह्म नेमिदत्तने अपने आराधना कथाकोषमें भी धरसेनाचार्यकी कथा दी है। उसमें कहा है
धरसेनाचार्यने जिस मुनिसंघको पत्र भेजा था उसके संघाधिपति महासेनाचार्य थे और उ
अपने संघमेंसे पुष्पदन्त और भूतबलिको उनके पास भेजा। यह कहना कठिन है कि
नेमिदत्तने संघाधिपतिका नाम कथानकके लिये कल्पित कर लिया है या वे किसी आधार परसे
लिख रहे हैं।

विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें भविष्यवाणीके रूपमें एक भिन्न ही कथानक
है जो इस प्रकार है—

इसी भरतक्षेत्रके वामिदेश (ब्रह्मदेश?) में वसुधरा नामकी नगरी होगी। वहांके
नरवाहन और रानी सुरूपाको पुत्र न होनेसे राजा खेदखिन्न होगा। तब सुबुद्धि नामके सेठ
पद्मावतीकी पूजा करनेका उपदेश देंगे। राजाके तदनुसार देवीकी पूजा करनेपर पुत्र
होगी और वे उस पुत्रका नाम पद्म रक्खेंगे। फिर राजा सहस्रकूट चैत्यालय बनवायेंगे और प्र
यात्रा करेंगे। सेठजी भी राजप्रसादसे पद पदपर पृथ्वीको जिनमंदिरोंसे मंडित करेंगे। इसी
वसन्त ऋतुमें समस्त संघ वहां एकत्र होगा और राजा सेठजीके साथ जिनपूजा करके रथ चला
उसी समय राजा अपने मित्र मगधस्वामीको मुनींद्र हुआ देख सुबुद्धि सेठके साथ वैराग्यसे
दीक्षा धारण करेंगे। इसी समय एक लेखवाहक वहां आवेगा। वह जिन देवोंको नमस्कार करे
मुनियोंकी तथा (लेखमें) धरसेन गुरुकी वन्दना करके लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे बांच
गिरिनगरके समीप गुफावासी धरसेन मुनीश्वर आग्रायणीय पूर्वकी पंचम वस्तुके चौथे प्राभृतशा
व्याख्यान प्रारम्भ करनेवाले हैं। धरसेन भट्टारक कुछ दिनोंमें नरवाहन और सुबुद्धि नामके मु
को [illegible], श्रावण [illegible] विधिपूर्वक [illegible] शुक्ला एकादशीको शास्त्र समाप्त करें
[illegible] एककी भूत [illegible] करेंगे और दूसरेके चार दांतोंको सुंदर बना देंगे। अ
भूतबलिके प्रभावसे नरवाहन मुनिका नाम भूतबलि और चार दांत समान हो जानेसे सु
बुद्धिका नाम पुष्पदन्त हुआ। [illegible] कथाका समय आदि अज्ञात है और यह कथा
कल्पित जान पड़ता है। अतएव इसमें कहीं [illegible] कोई आधार नहीं दिया जासकता।

[illegible] (नं. १०५) में पुष्पदन्त और भूतबलिका [illegible]
[illegible] अर्हद्बलिके [illegible] कहा है। यथा —

१ [illegible] ([illegible] ११६)

य पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वयेन ...।
... जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव ...भूत ॥ २५ ॥

अर्हद्वलिस्सङ्घचतुर्विधं स ... दयत्...म् ।
...भावादिह ... ॥ २६ ॥

यद्यपि यह लेख बहुत पीछे अर्थात् शक सं. १३२० का है, तथापि ... किसी आधार पर से ही इन्हें अर्हद्वलिके शिष्य कहा होगा। यदि ... हो तो यह भी ... है कि ये इन दोनोंके दीक्षा गुरु हों और धरसेनाचार्य जिस मुनिसम्मेलनसे ... वह अर्हद्वलिद्वारा युग प्रतिक्रमणके समय एकत्र किया हुआ समाज ही हो, ... अपने ... बुद्धि शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि ... हो। ... अनुसार अर्हद्वलिके अंतिम समय और पुष्पदन्तके प्रारम्भ ... में २१ + १९ = ४० वर्षका अंतर पड़ता है जिससे उनका समसामयिक होना असंभव नहीं है। केवल ... है कि इस अवस्थामें, ऐसा गिनने समय धरसेनाचार्यकी आयु ... ।

प्रस्तुत ग्रंथ पुष्पदन्तका ... [illegible]

पुष्पदन्त और जिनपालित

[illegible]

[illegible]

'बीसदि सूत्रों ' की रचना करके उन्हें पढ़ाया, और फिर उन्हें भूतबलिके पास भेज दि
भूतबलिने उन्हें अल्पायु जान, महाकर्मप्रकृति पाहुडका विच्छेद भयसे द्रव्यप्रमाणसे लगाकर श
ग्रंथ-रचना की। इसप्रकार पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों इस सिद्धान्त ग्रंथके रचयिता ह
जिनपालित उस रचनाके निमित्त कारण हुए।

पुष्पदन्त और भूतबलिके बीच आयुमें पुष्पदन्त ही जेठे प्रतीत होते हैं। धवलाक

पुष्पदन्त भूतबलिसे जेठे थे

अपनी टीकाके मंगलाचरणमें उन्हें ही पहले नमस्कार किया है और
' इसि-समिइ-वइ ' (ऋषिसमिति-पति) अर्थात् ऋषियों व मुनियोंके सं
नायक कहा है। उनकी ग्रंथ-रचना भी आदिमें हुई और भूतबलिने अ
रचना अनन्तर उन्हींके पास भेजी जिसे देख वे प्रसन्न हुए। इन बा
उनका ज्येष्ठत्व पाया जाता है। नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें व स्पष्टतः भूतबलिसे पूर्व पट्टासि
हुए बतलाये गये हैं।

वर्तमान ग्रंथमें पुष्पदन्तकी रचना कितनी है और भूतबलिकी कितनी, इसका स

पुष्पदन्त और भूतबलिके बीच किसने कितना ग्रंथ रचा

उल्लेख पाया जाता है। पुष्पदन्तने आदिके प्रथम ' बीसदि सूत्र ' रचे।
इन बीस सूत्रोंसे वस्तुतः सत्प्ररूपणाके बीस अधिकारोंसे ता
है, न कि आदिके २० नम्बर तकके सूत्रोंसे, क्योंकि, उन्होंने स्पष्ट कह
कि भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगमसे ऊपर रचना की (पृ. ७१)। जहांसे द्र
प्रमाणानुगम अर्थात् संख्याप्ररूपणा प्रारंभ होता है वहांपर भी कहा
है कि—

संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणं पडिबो
भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।

अर्थात्—' अब चौदह जीवसमासोंके अस्तित्वको जान लेनेवाले शिष्योंको उ
जीवसमासोंके परिमाणके ज्ञानार्थ भूतबलि आचार्य सूत्र कहते हैं '।

इसप्रकार सत्प्ररूपणाके अधिकारके कर्ता पुष्पदन्त और शेष समस्त ग्रंथके कर्ता भूत
ठहरते हैं।

धवलामें ग्रंथकी रचनाका इतना ही विवरण पाया जाता है। इससे आग

श्रुतपंचमीका प्रचार

वृत्तान्त इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें मिलता है। उसके अनुसार भूतबलि आचा
षट्खण्डागमकी रचना पुस्तकारूढ़ करके ज्येष्ठ शुक्ल ५ को चतुर्विध संघके स
उन पुस्तकोंकी उपकरणपूर्वक श्रुतज्ञानकी पूजा की जिससे श्रुतपंचमी तिथि

प्रख्याति इनमेंमें आजतक चली आती है और उस तिथिसे वे श्रुतकी पूजा करते हैं*। फिर भूतबलिने उन षट्खण्डागम पुस्तकोंको जिनपालितके हाथ पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा। पुष्पदन्त इन्हें देखकर और अपने चिंतित कार्यको सफल जान अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी चातुर्वर्ण संघसहित सिद्धान्तकी पूजा की।

५ आचार्य-परम्परा

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धरसेनाचार्य और उनसे सिद्धान्त सीखकर ग्रंथ रचना करनेवाले पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य कब हुए? प्रस्तुत ग्रंथ में इस सम्बन्धकी कुछ सूचना महावीर स्वामीसे लगाकर लोहाचार्य तककी परम्परासे मिलती है।

धरसेनाचार्य से पूर्वकी गुरु परम्परा

वह परम्परा इस प्रकार है, महावीर भगवान्के पश्चात् क्रमशः गौतम, लोहार्य और जम्बूस्वामी सकल श्रुतके ज्ञायक और अन्तमें केवलज्ञानी हुए। उनके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु, ये पांच श्रुतकेवली हुए। उनके पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव, और धर्मसेन, ये ग्यारह एकादश अंग और दशपूर्वके पारगामी हुए। तत्पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस, ये पांच एकादश अंगोंके धारक हुए, और इनके पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य, ये चार आचार्य एक आचारांगके धारक और शेष श्रुतके एकदेश ज्ञाता हुए। इसके पश्चात् समस्त अंगों और पूर्वोंका एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परासे आकर धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ (६५–६६)। वह परम्परा इस प्रकार है—

* ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥ १४३ ॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप ।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥ १४४ ॥

इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार

महावीर की शिष्य-परम्परा

१ गौतम २ लोहार्य ३ जम्बू	३ केवली		
४ विष्णु ५ नन्दिमित्र ६ अपराजित ७ गोवर्धन ८ भद्रबाहु	५ श्रुतकेवली		
९ विशाखाचार्य १० प्रोष्ठिल ११ क्षत्रिय १२ जय १३ नाग १४ सिद्धार्थ १५ धृतिसेन १६ विजय १७ बुद्धिल १८ गंगदेव १९ धर्मसेन	११ दशपूर्वी		
		२० नक्षत्र २१ जयपाल २२ पाण्डु २३ ध्रुवसेन २४ कंस	५ एकादशांगधारी
		२५ सुभद्र २६ यशोभद्र २७ यशोबाहु २८ लोहार्य	४ आचारांगधारी

आचार्य परम्परा में नाम भेद

यही पूरी परम्परा धवलामें आगे पुनः जैसी की तैसी आदिमें मिलती है। इन दोनों स्थानोंपर तथा जैन शिलालेख नं. १ में नं. २ के आचार्य का नाम लोहार्य ही पाया जाता है, किन्तु हरिवंशपुराण, श्रुतावतार व ब्रह्म हेमचन्द्र श्रुतस्कंध व शिलालेख नं. १०५ (२५४) में इस स्थान पर सुधर्मका नाम मिलता है। यही नहीं, स्वयं धवलाकारद्वारा ही रची हुई 'जयधवला' में भी उस स्थानपर लोहार्य नहीं सुधर्मका नाम है। इस उलझनका सुलझानेवाला उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' में पाया जाता है। वहां यह स्पष्ट कहा गया है कि लोहार्यका ही दूसरा नाम सुधर्म था। यथा —

'तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणधर सुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं ॥ १० ॥
(जं. दी. प. १, १४९)

नं. ४ पर विष्णु स्थानमें भी नामभेद पाया जाता है। जंबूदीवपण्णत्ति, आदिपुराण व श्रुतस्कंधमें उस स्थानपर नन्दि या नन्दिमित्र नाम मिलता है। यह भी लोहार्य और सुधर्मके समान एक ही आचार्यके दो नाम प्रतीत होते हैं। इस भेदका कारण यह प्रतीत होता है कि इन आचार्यका पूरा नाम विष्णुनन्दि होगा और उसीका एकदेश नाम सम्भवतः लिया और

दूसरे स्थानपर नहि नामसे निर्देश किये गये हैं। यहां [illegible] १८ [illegible] पाई जाती है।

न ५ और ६ के आचार्यका [illegible] न १०५ [illegible] गया है, अर्थात् वहां अपराजित [illegible] नाम [illegible] [illegible]। [illegible] यह [illegible] [illegible] है, [illegible] नहीं।

[illegible] आचार्य [illegible] न १०६ [illegible] जिसका कारण भी [illegible] हो जाता है और [illegible] प्रमाण [illegible] दिया गया है।

उसी प्रकार न ११ और १४ [illegible] [illegible] और [illegible] नाम [illegible] गया है। [illegible] [illegible] नाम है [illegible] अनुमान [illegible] है। [illegible] न १७ [illegible] [illegible] नाम है।

न २१ [illegible]

वर्षमें पांच श्रुतकेवली, १८३ वर्षमें ग्यारह दशपूर्वी, २२० वर्षमें पांच एकादशांगधारी और ११८ वर्षमें चार एकांगधारी आचार्य हुए। इसप्रकार महावीर निर्वाणसे लोहाचार्य (द्वि.) तक ६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३ वर्ष व्यतीत हुए और इसके पश्चात् किसी समय धरसेनाचार्य हुए।

अब प्रश्न यह है कि लोहाचार्यसे कितने समय पश्चात् धरसेनाचार्य हुए। प्रस्तुत ग्रंथमें तो इसके संबंधमें इतना ही कहा गया है कि इसके पश्चात् की आचार्य परम्परामें धरसेनाचार्य हुए (पृष्ठ ६७)। अन्यत्र जहां पर आचार्य-परम्परा दी जाती है वहां सर्वत्र वह परम्परा लोहाचार्य पर ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें प्रस्तुत ग्रंथोंके निर्माणका वृत्तान्त विस्तारसे दिया है। किंतु लोहार्यके पश्चात् आचार्योंका क्रम स्पष्टतः सूचित नहीं किया। प्रत्युत जैसा ऊपर बता आये हैं, उन्होंने कहा है कि इन आचार्योंकी गुरु-परम्पराका कोई निश्चय नहीं क्योंकि, इसके पोषक प्रमाण नहीं मिलते हैं। उन्होंने लोहार्यके पश्चात् चार और आचार्योंके नाम गिनाये हैं, विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त, और अर्हद्दत्त। और उन्हें आरातीय तथा अंगों और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता कहा है।

[illegible] पश्चात् [illegible] आरातीय यतियोंका किसप्रकार इन्द्रनन्दिने [illegible] कि [illegible] ये सब एक ही कालमें हुए थे। इसपर श्रीयुत [illegible] इन आचार्योंका एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है। उनके पश्चात् [illegible] अर्हद्बलि और [illegible] २० वर्ष अनुमान करते हैं (समन्तभद्र पृ. [illegible])। [illegible] धरसेनाचार्यका समय वीरनिर्वाणसे ६८३+२०+१०+१०=७२३ [illegible] आता है।

[illegible]

नन्दि-आम्नायकी पट्टावली

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

श्रीमूलसंघप्रवर नन्द्याम्नाये मनोहरे ।
बलात्कारगणोत्तंस गच्छे सारस्वतीयके ॥ २ ॥
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्पन्न श्रीगणाधिपम् ।
तमेवात्र प्रवक्ष्यामि श्रूयतां सज्जना जना ॥ ३ ॥

पट्टावली

अंतिम-जिण-णिव्वाणे केवलणाणी य गोयम-मुणिंदो ।
बारह-वासे य गये सुधम्म-सामी य संजादो ॥ १ ॥
तह बारह-वास पुण संजादा जम्बु-सामि मुणिणाहो ।
अठतीस-वास रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो ॥ २ ॥
बासट्ठि केवल वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जंबू य ।
बारह बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीसं ॥ ३ ॥
सुयकेवलि पंच जणा बासट्ठि-वासे गये सुसंजादा
पढम चउदह-वास विण्हुकुमार मुणेयव्व ॥ ४ ॥
नंदिमित्त वास सोलह तिय अपराजिय वास बावीस ॥
इग-हीण वीस वास गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीस ॥ ५ ॥
सद सुयकेवलणाणी पंच जणा विण्हु नंदिमित्तो य ॥
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य संजादा ॥ ६ ॥
सद-वासम्मि सुवासे गए सु-उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा ॥
सद तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥
आयरिय विसाख पोट्ठल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी ॥
सिद्धत्थ धित्ति विजय बुद्धिलिंग देव धमसेण ॥ ८ ॥
दह उगणीस य सतर इक्कवीस अट्ठारह सत्तर ॥
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेणेय ॥ ९ ॥
अंतिम जिण-णिव्वाणे तियसय पण-चाउवास जादसु ।
एगादहंगधारिय पंच जणा मुणिवरा जादा ॥ १० ॥
नक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेन कंस आयरिया ।
अठारह वीस-वास गुणचाल चोद बत्तीस ॥ ११ ॥
सद तेवीस वासे एगादह अंगधरा जादा ।

[illegible] सुवण्णगिरिय दमग नव अग [illegible]धरा ॥ १२ ॥

सुभद्द च जसोभद्द भद्दबाहु [illegible] च ।
लोहाचय्य [illegible] म च कहिय च [illegible] ॥ १३ ॥

[illegible] अट्ठारह वासे तेवीस [illegible] (पणास) वास मुणिणाह ।
दस [illegible] अट्ठारसा वास दुसदवीस सधेसु ॥ १४ ॥

[illegible] पणसट्ठे अतिम जिण-समय-जादेसु ।
[illegible] दस [illegible] मुणेयव्वा ॥ १५ ॥

[illegible] माघनदि य धरसेण पुप्फयत भूदबली ।
[illegible] उगणीस तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥

[illegible] मुणिवरा जादा ।
[illegible] कहिय जिण ॥ १७ ॥

[illegible] पुणो [illegible] जणो ।
[illegible] देस ॥ १८ ॥

[illegible] मिच्छत्त [illegible] ।
[illegible] ॥ १९ ॥

[illegible]

वीर निर्वाण [illegible] पश्चात्

१ [illegible]	[illegible]	[illegible]	४ [illegible]	दशपूर्वधारी	१०
२ [illegible]		[illegible]	१० [illegible]	”	[illegible]
३ [illegible]		[illegible]	११ [illegible]	”	[illegible]
		[illegible]	१२ [illegible]	”	[illegible]
			१३ [illegible]	”	[illegible]
			१४ [illegible]	”	[illegible]
४ [illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	”	[illegible]
५ [illegible]	”	[illegible]	१६ [illegible]	”	[illegible]
६ [illegible]			१७ [illegible]	”	[illegible]
७ [illegible]	”	[illegible]	१८ [illegible]	”	[illegible]
८ [illegible]		[illegible]	१९ [illegible]	”	[illegible]
		[illegible]			[illegible]

२० नक्षत्र	ग्यारह अंगधारी	१८
२१ जयपाल	"	२०
२२ पाण्डव	"	३९
२३ ध्रुवसेन	"	१४
२४ कंस	"	३२
		१२३
२५ सुभद्र	दश नव व आठ	६
२६ यशोभद्र	अंगधारी	१८
२७ भद्रबाहु	"	२३
२८ लोहाचार्य	"	५२ (५०)
		९९ (९७)
२९ अर्हद्बलि	एक अंगधारी	२८
३० माघनन्दि	"	२१
३१ धरसेन	"	१९
३२ पुष्पदन्त	"	३०
३३ भूतबलि	"	२०
		११८
	कुलजोड़	६८३

नन्दि-आम्नायकी पट्टावलीकी विशेषता

इस पट्टावलीमें प्रत्येक आचार्यका समय अलग अलग निर्दिष्ट किया गया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता, और गणितरूपमें भी वर्ष संख्यायें दी गई हैं। प्रथम तीन केवलियों, पांच श्रुतकेवलियों और ग्यारह दशपूर्वियोंका समय क्रमशः यहां ६२, १००, और १८३ वर्ष बतलाया गया है और इसका योग ३४५ वर्ष कहा है। किन्तु दशपूर्वधारी एक एक आचार्यका जो काल दिया है उसका योग १८१ वर्ष आता है। अतएव स्पष्टतः यहां दो वर्ष की भूल ज्ञात होती है, क्योंकि, नहीं तो यहां सबका योग ३४५ वर्ष नहीं आसकता। इसके आगे जिन पांच एकादशांगधारियोंका समय अन्यत्र २२० वर्ष बतलाया गया है उनका समय यहां १२३ वर्ष दिया है। इनके पश्चात् आगेके जिन चार आचार्योंको अन्यत्र एकांगधारी कह कर श्रुतज्ञानकी परंपरा पूरी कर दी गई है उन्हें यहां क्रमशः दश, नव और आठ अंगके धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि कौन कितने अंगोंका ज्ञाता था। इससे दश अंगोंका अचानक लोप नहीं पाया जाता, जैसा कि अन्यत्र। इनका समय ११८ वर्ष के स्थानपर ९७ वर्ष बतलाया गया है। पर आचार्योंका समय जोड़नेसे ९९ आता है अतः दो वर्ष की यहां भी भूल है। तथा इनसे आगे पांच और आचार्योंके नाम गिनाये गये हैं जो एकांगधारी कहे गये हैं। उनके नाम अहिवलि (अर्हद्वलि) माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। इनका समय क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया गया है जिसका योग ११८ वर्ष होता है। इससे पूर्व श्रुतावतारमें विनयधर आदि जिन चार आचार्योंके नाम दिये गये हैं वे यहां नहीं पाये जाते। इसप्रकार इस पट्टावलीके अनुसार भी अंग-परंपराका कुल काल ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + ११८ = ६८३ वर्ष ही आता है जितना कि अन्यत्र बतलाया गया है। परन्तु भेद यह है कि अन्यत्र यह काल लोहाचार्य तक ही पूरा कर दिया गया है और यहांपर उसके अन्तर्गत वे पांच

आचार्य भी हो जाते हैं जिनके भीतर हमारे ग्रंथकर्ता धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी सम्मिलित हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जो एकादशांगधारियों और उनके पश्चात्के आचार्योंके समयोंमें अन्तर पडता है वह क्यों और किसप्रकार ?

कालसंबंधी अंकोंपर विचार करनेसे ही स्पष्ट हो जाता है कि जहां पर अन्यत्र पांच एकादशांगधारियों और चार एकांगधारियोंका समय अलग अलग २२० और ११८ वर्ष बतलाया गया है वहां इस पट्टावलीमें उनका समय क्रमशः १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है अर्थात् २२० वर्षके भीतर नौ ही आचार्य आ जाते हैं और आगे ११८ वर्षमें अन्य पांच आचार्य गिनाये गये हैं जिनके अन्तर्गत धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी हैं।

जहां अनेक क्रमागत व्यक्तियोंका समय समष्टिरूपसे दिया जाता है वहां बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है। किंतु जहां एक एक व्यक्तिका काल निर्दिष्ट किया जाता है वहां ऐसी भूलकी संभावना बहुत कम हो जाती है। हिन्दू पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर दो राजवंशोंका काल एक ही वंशके साथ दे दिया गया है। स्वयं महावीर तीर्थंकरके निर्वाणसे पश्चात्के राजवंशोंका जो समय जैन ग्रंथोंमें पाया जाता है उसमें भी इसप्रकारकी एक भूल हुई है, जिसके कारण वीरनिर्वाणके समयके सम्बन्धमें दो मान्यताएं हो गई हैं जिनमें परस्पर ६० वर्षका अन्तर पड गया है। (देखो आगे वीरनिर्वाण संवत्)। प्रस्तुत पट्टावलीके इन २२० वर्षोंके कालमें भी ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।

यह भी प्रश्न उठता है कि यदि अर्हद्बलि आदि आचार्य अंगज्ञानाओंकी परम्परामें थे तो उनके नाम सर्वत्र परम्पराओंमें क्यों नहीं आये, इसका कारण अर्हद्बलि द्वारा स्थापित किया गया संघभेद प्रतीत होता है। उसके पश्चात् प्रत्येक संघ अपनी अपनी परम्परा अलग मानने लगा, जिसमें स्वभावतः संघभेदके पश्चात्के [illegible]। आचार्योंके नाम [illegible] सबके हों या न संघभेदसे पूर्वके हों। अतः [illegible] परम्परा सर्वमान्य रही। सम्भव है कि इसी कारण [illegible]। आगे [illegible] तथापि अंगज्ञानाओंकी पट्टावली [illegible] ६८३ वर्ष ही [illegible] अर्हद्बलि [illegible] आचार्य भी [illegible]।

[illegible]

किंतु यहांसे पं. जुगलकिशोरजी [illegible] सूचित करते हैं कि बहुत खोज करने पर भी उस पट्टावलीकी मूल प्रति मिल नहीं रही है। ऐसी अवस्थामें हमें उसकी जांच मुद्रित पाठ परसे ही करनी पड़ती है। यह पट्टावली प्राकृतमें है और संभवतः एक प्रतिपरसे बिना कुछ संशोधनके छपाई गई होनेसे उसमें अनेक भाषादि-दोष हैं। इसलिये उस परसे उसकी रचनाके समयके संबंधमें कुछ कहना असंभव है। पट्टावलीके ऊपर जो तीन संस्कृत श्लोक हैं उनकी रचना बहुत शिथिल है। तीनों श्लोक सदोष हैं। पर उन पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता स्वयं पट्टावलीकी रचना नहीं कर रहा, किंतु वह अपने उक्त प्रस्तावनाके साथ एक प्राचीन पट्टावलीको प्रस्तुत कर रहा है। पट्टावलीका नंदि आम्नाय, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ व कुंदकुंदान्वयसे [illegible] यह तो तात्पर्य हो ही नहीं सकता कि उसमें उल्लिखित आचार्य सब आचार्य कुंदकुंदके पश्चात् हुए हैं, किंतु उसका अभिप्राय यही है कि [illegible] उक्त अन्वयका [illegible] आचार्य उक्त अन्वयमें माने जाते थे। इस पट्टावलीमें जो अर्हद्बलि [illegible] और उनकी [illegible] गणना पाई जाती है वह अन्यत्र [illegible] विरुद्ध जाती है। किंतु उसमें [illegible] संबंधी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पांच आचार्योंका २२० वर्षका काल असंभव नहीं तो दुःशक्य जचता है उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक है तो कहना पड़ेगा कि श्रुत परम्पराके संबंधमें हरिवंशपुराण [illegible] श्रुतावतार तक [illegible] सब आचार्योंने धोखा खाया है और उन्हें वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावलीके कर्ताको थे। साधनाभावके कारण इस समय हम इसकी और अधिक जांच पड़ताल नहीं कर सकते। किंतु साधक बाधक प्रमाणोंकी खोज करके इसका निर्णय किया जाना अत्यावश्यक है।

यदि यह पट्टावली ठीक प्रमाणित हो जाय तो हमारे आचार्योंका समय वीर निर्वाणके पश्चात् ६२ + १०० [illegible] + [illegible] + २८ + २१ [illegible] के भीतर पड़ता है।

[illegible]

धरसेनकृत [illegible]

जोणिपाहुड [illegible]

[illegible]

आधारपर से धरसेनद्वारा वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् बना हुआ माना गया है। इस ग्रंथकी एक प्रति भांडारकर इन्स्टीट्यूट पूनामें है, जिसे देखकर पं. बेचरदासजीने जो नोट्स लिये थे उन्हीं परसे मुख्तारजीने उक्त परिचय लिखा है। इस प्रतिमें ग्रंथका नाम तो योनिप्राभृत ही है किंतु उसके कर्ताका नाम पण्हसवण मुनि पाया जाता है। इन महामुनिने उसे कूष्माण्डिनी महादेवीसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदंत और भूतबलिके लिये लिखा था। इन दो नामोंके कथनसे इस ग्रंथका धरसेनकृत होना बहुत संभव जंचता है। प्रज्ञाश्रमण एक ऋद्धिका नाम है और उसके धारण करनेवाले मुनि प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे। जोणिपाहुडकी इस प्रतिका लेखन-काल संवत् १५८२ है, अर्थात् वह चारसौ वर्षसे भी अधिक प्राचीन है। 'जोणिपाहुड' नामक ग्रंथका उल्लेख धवलामें भी आया है। जो इस प्रकार है—

'जोणिपाहुडे भणिद-मंत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो'

(धवला अ. प्रति पत्र ११९८)

इससे स्पष्ट है कि योनिप्राभृत नामका मंत्रशास्त्रसंबंधी कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ अवश्य है। उपर्युक्त अवस्थामें आचार्य धरसेननिर्मित योनिप्राभृत ग्रंथके होनेमें अविश्वासका कोई कारण नहीं है। तथा बृहट्टिप्पणिकामें जो उसका रचनाकाल वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् सूचित किया है वह भी गलत सिद्ध नहीं होता। अभी अभी अनेकान्त (वर्ष २, किरण १२, पृ. ६६६) में श्रीमान् पं. नाथूरामजी प्रेमीका 'योनिप्राभृत और प्रयोगमाला' शीर्षक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने प्रमाण देकर बतलाया है कि भांडारकर इंस्टीट्यूटवाला 'योनिप्राभृत' और उसीके साथ जुड़ा हुआ 'जगत्सुंदरी योगमाला' संभवतः हरिषेणकृत है, किंतु हरिषेणके समयमें एक और प्राचीन योनिप्राभृत विद्यमान था। बृहट्टिप्पणिकाकी प्रामाणिकताके विषयमें प्रेमीजीने कहा है कि

* योनिप्राभृतं वीरात् [illegible] धारसेनम् (बृहट्टिप्पणिका जै. सा. सं. [illegible] परिशिष्ट)

* [illegible] लिया है यथा—

[illegible]

(धवला अ. प्रति [illegible])

[illegible]

[illegible]

'यह सूची एक प्राचीन विज्ञप्ति प्रतिके आधारसे देखकर तैयार की थी और अभी तक वह बहुत ही प्रामाणिक समझी जाती है'। नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार धरसेनका काल वीर निर्वाणसे ६२+१०० +१८३+१२३+९७+२८+२१=६१४ वर्ष पश्चात् पड़ता है, अतः उनसे पट्-खण्डागम १४ वर्ष पूर्व ही होने वह ग्रंथ रचा होगा। इन सब प्रमाणसे प्राकृत पट्टावली और बृहट्टिप्पणिकाके संकेत, इन दोनोंकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि, ये दोनों एक दूसरेसे स्वतंत्र आधारपर लिखे हुए प्रतीत होते हैं।

कुन्दकुन्दकृत परिकर्म

षट्खण्डागमके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्यके संबंधसे भी पड़ता है। इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों पुस्तकारूढ़ हो चुके तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिने, जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे मिला था, उन छह खण्डोंमेंसे प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका-ग्रंथ रचा। पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यका भी नाम था और श्रुतावतारमें कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख आनेसे इसमें संदेह नहीं रहता कि यहां उन्हींसे अभिप्राय है। यद्यपि प्रो. उपाध्ये कुन्दकुन्दके ऐसे किसी ग्रंथकी रचनाकी वार्ताको प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि उन्हें धवला व जयधवलामें इसका कोई संकेत नहीं मिला। किंतु कुन्दकुन्दके सिद्धान्त ग्रंथोंपर टीका बनानेकी बात सर्वथा निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि, जैसा कि हम अन्यत्र बता रहे हैं, परिकर्म नामक ग्रन्थके उल्लेख धवला व जयधवलामें अनेक जगह पाये जाते हैं।

प्रो. उपाध्येने कुन्दकुन्दके लिये इस्वीका प्रारम्भ काल, लगभग प्रथम दो शताब्दियोंके भीतरका समय, अनुमान किया है उससे भी षट्खण्डागमका रचनाकाल समय उपरोक्त ठीक जचता है।

मंगालिर उग्र

धरसेनाचार्य गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें रहते थे। यह स्थान काठियावाड़के अन्तर्गत है। यह बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथकी निर्वाणभूमि होनेसे जैनियोंके लिये बहुत प्राचीन कालसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मौर्य राजाओंके समयसे लेकर गुप्त काल अर्थात् ४ थी ५ वीं शताब्दी तक इसका भारी महत्व रहा [illegible] कि यहांपर [illegible] हैं। यहांसे पाये गये अशोक [illegible] समयके [illegible] पाये जाते हैं।

धरसेनाचार्यने 'महिमा' [illegible] जिससे महिमा किसी नगर या स्थानका नाम ज्ञात होता है, [illegible] नगर था। सतारा जिलेमें [illegible] नामक एक गांव भी है जो हमारी महिमा नगरी हो सकता है। इससे अनुमान [illegible] जिसमें वह

जैन मुनियोंका सम्मेलन हुआ था। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि सतारा जि
भाग उस समय आंध्र देशके अंतर्गत था। आंध्रोंका राज्य पुराणों व शिलादि लेखोंपरसे
पूर्व २३२ से ई० सन् २२५ तक पाया जाता है। इसके पश्चात् कमसे कम इस भागपर आ
अधिकार नहीं रहा। अतएव इस देशको आंध्र विषयान्तर्गत कहना इसी समयके भीतर मान
सकता है। गिरिनगरसे लौटते हुए पुष्पदंत और भूतबलिने जिस अंकुलेश्वर स्थानमें वर्षा
व्यतीत किया था वह निःसंदेह गुजरातमें भड़ोंच जिलेका प्रसिद्ध नगर अंकलेश्वर ही
चाहिये। वहांसे पुष्पदंत जिस वनवास देशको गये वह उत्तर कर्नाटकका ही प्राचीन नाम है
तुंगभद्रा और वरदा नदियोंके बीच बसा हुआ है। प्राचीन कालमें यहां कदम्ब वंशका राज्य
जहां इसकी राजधानी 'वनवासि' थी वहां अब भी उस नामका एक ग्राम विद्यमान है।
भूतबलि जिस द्रमिल देशको गये वह दक्षिण भारतका वह भाग है जो मद्राससे सेरिंगपट्टम
कामोरिन तक फैला हुआ है और जिसकी प्राचीन राजधानी कांचीपुरी थी। प्रस्तुत ग्र
रचना-सम्बन्धी इन भौगोलिक सीमाओंसे स्पष्ट जाना जाता है कि उस प्राचीन कालमें काठियाव
लगाकर देशके दक्षिणतम भाग तक जैन मुनियोंका प्रचुरतासे विहार होता था और उनके
पारम्परिक धार्मिक व साहित्यिक आदान प्रदान सुचारुरूपसे चलता था। यह परिस्थिति विक्र
दूसरी शताब्दितक के समयका संकेत करती है।

६ वीर निर्वाण-काल

पूर्वोक्त प्रकार से षट्खंडागमकी रचनाका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् सा
शताब्दिके अंतिम या आठवीं शताब्दिके प्रारम्भिक भागमें पड़ता है। अब प्रश्न यह उप
होता है कि महावीर भगवान्का निर्वाणकाल क्या है?

जैनियोंमें एक वीरनिर्वाण संवत् प्रचलित है जिसका इस समय २४६५ वां वर्ष च
है। इस लेखके समय मेरे सन्मुख 'जैनमित्र' का ता. १४ सितम्बर १९३९ का अंक प्र
है जिसपर वीर सं. २४६५ भादों सुदी १, दिया हुआ है। यह संवत् वीरनिर्वाण दिवस अ
दीपमालिका-अनुसार कार्तिक कृष्ण पक्ष १४ के पश्चात् बदलता है। अतः आग
नवम्बर ११ सन् १९३९ से निर्वाण संवत् २४६६ प्रारम्भ हो जायगा। इस समय वि
संवत् १९९६ प्रचलित है और यह चैत्र शुक्ल पक्षसे प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार नि
संवत् और विक्रम संवत् में २४६६-१९९६=४७० वर्ष का अंतर है। दोनों संवतोंके प्रा
समयमें भेद होनेसे कुछ मासोंमें यह अन्तर ४६९ वर्ष आता है जैसा कि वर्तमान में। अ
इस गणनाके अनुसार महावीरका निर्वाण विक्रम संवत्से कुछ मास कम ४७० वर्ष पूर्व हुआ।

किन्तु विक्रम संवत्‌के प्रारम्भके सम्बन्धमें प्राचीन कालसे बहुत मतभेद चला आ रहा है जिसके कारण वीरनिर्वाण कालके सम्बन्धमें भी कुछ गड़बड़ी और मतभेद उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ, जो नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली ऊपर उद्धृत की गई है उसमें वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ, ऐसा कहा गया है, और चूंकि ४७० वर्षका ही अन्तर प्रचलित निर्वाण संवत् और विक्रम संवत्‌में पाया जाता है, इससे प्रतीत होता है कि विक्रम संवत् विक्रमके जन्मसे ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु मेरुतुंगकृत स्थविरावली[1] तपागच्छ पट्टावली,[2] जिनप्रभसूरिकृत पावापुरीकल्प,[3] प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित[4] आदि ग्रंथोंमें उल्लेख हैं कि विक्रम संवत्‌का प्रारम्भ विक्रम राजाके राज्यकालसे या उससे भी कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ।

श्रीयुत बैरिस्टर काशीप्रसादजी जायसवालने इसी मतको मान देकर निश्चित किया कि चूंकि जैन ग्रंथोंमें ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ कहा गया है और चूंकि विक्रमका राज्यारम्भ उनकी १८ वर्षकी आयुमें होना पाया जाता है, अतः वीर निर्वाणका ठीक समय जाननेके लिये ४७० वर्षमें १८ वर्ष और जोड़ना चाहिये अर्थात् प्रचलित विक्रम संवत्‌से ४८८ वर्ष पूर्व महावीरका निर्वाण हुआ[5]।

एक और तीसरा मत हेमचन्द्राचार्यके उल्लेखपरसे प्रारम्भ हो गया है। हेमचन्द्रने अपने परिशिष्ट पर्वमें कहा है कि महावीरकी मुक्तिसे १५५ वर्ष जाने पर चन्द्रगुप्त राजा हुआ[6]। यहां उनका तात्पर्य स्पष्टतः चन्द्रगुप्त मौर्यसे है। और चूंकि चन्द्रगुप्तसे लगाकर विक्रमतकका काल लगभग २५५ वर्ष पाया जाता है, अतः वीर निर्वाणका समय विक्रमसे २५५ + १५५ = ४१० वर्ष पूर्व ठहरा। इस मतके अनुसार ४७० मेंसे ६० वर्ष घटा देनेसे ठीक विक्रम पूर्व वीर निर्वाण काल ठहरता है। पाश्चिमिक विद्वानों, जैसे डॉ. याकोबी[7] डॉ. चार्पेटियर[8] आदिने इसी मतका प्रतिपादन किया है और इधर मुनि कल्याणविजयजीने[9] भी इसी मतकी पुष्टि की है।

१ विक्रम रज्जारम्भा पुरओ सिरि वीर णिव्वुई भणिया। सुन्न मुणि वेय जुत्तो विक्कम कालाउ जिणकालो ॥
(मेरुतुंग स्थविरावली)

२ तन्नाय तु श्रीवीरात् सप्तति वर्ष शत चतुष्टये ४७० संजातम्। (तपागच्छ पट्टावली)

३ मह मुक्खगमणाओ पालय नंद चंदगुत्ताइ राईसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं वासेहिं विक्कमाइच्चो राया होही। (जिनप्रभसूरि पावापुरीकल्प)

४ इत श्रीविक्रमादित्य शास्त्यवन्तीं नराधिप। अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम् ॥
(प्रभाचन्द्रसूरि प्रभावकचरित)

Bihar and Orissa Resear h Society Journal 1915

६ एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते। पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृप ॥
(परिशिष्ट-पर्व)

७ Sacred books of the East \\II

८ Indian Antiquary XLIII

९ वीर निर्वाण संवत् और जैनकालगणना संवत् १९८७

किंतु दिगम्बर सम्प्रदायमें जो उल्लेख मिलते हैं वे इस उलझनको सुलझा देते हैं। इन उल्लेखोंके अनुसार शक संवत्‌की उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे छह मास अधिक ६०५ पश्चात्‌ हुई तथा जो विक्रम संवत्‌ प्रचलित है और जिसका अन्तर वीरनिर्वाण कालसे ४७० पड़ता है उसका प्रारम्भ विक्रमके जन्म या राज्यकालसे नहीं किंतु विक्रमकी मृत्युसे हुआ। ये उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन भी हैं। उनमें पूर्व प्रचलित और वीर निर्वाण संवत्‌ मृत्युकालसेही सम्बद्ध पाये जाते हैं।

इन उल्लेखोंसे पूर्वोक्त उलझन इसप्रकार सुलझती है। प्रथम शक संवत्‌ को लीजिये। यह वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष पश्चात्‌ चला। प्रचलित विक्रम संवत और शक संवत्‌ में १३ का अन्तर पाया जाता है। अतः इस मतके अनुसार विक्रम संवत्‌ का प्रारम्भ वीरनि ६०५–१३५=४७० वर्ष पश्चात्‌ हुआ। अब विक्रम संवत्‌ पर विचार कीजिये जो वि मृत्युसे प्रारम्भ हुआ। मेरुतुंगाचार्यने विक्रमका राज्यकाल ६० वर्ष कहा है[3], अतएव वर्षोंमेंसे ये ६० वर्ष निकाल देनेसे विक्रम के राज्यका प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष सिद्ध होता है। इसप्रकार हेमचन्द्रके उल्लेखानुसार जो वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात्‌ वि

१ णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु। पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥
(तिलोयपण्णत्ति)

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्‌। मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्‌ ॥
(जिनसेन हरिवंशपुराण)

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो। सगराजो ॥ ८५० ॥
(नेमिचन्द्र त्रिलोकसार)

एसो वीरजिणिंद-णिव्वाण-गद-दिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि। तावदिय-कालो कदो ? एदम्हि काले सग णरिंद कालम्मि पक्खित्ते वड्ढमाणजिण णिव्वुदि कालागमणादो। वुत्तं च—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया। सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी

२ छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥
पंच-सए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिण महुरा जादो दाविडसंघो महामोहो
सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥
(देवसेन-दर्शनसार)

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ। सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥
(अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह)

मृते विक्रम भूपाले सप्तविंशति संयुते। दशपंचशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥ १५७ ॥
(रत्ननंदि-भद्रबाहुचरित)

३ विक्रमस्य राज्यं ६० वर्षाणि। (मेरुतुंग विचारश्रेणी पत्र ३ जैन सा. संशोधक २)

राज्य प्रारम्भ माना गया है वह काल बढ़ जाता है, किन्तु उसे विक्रम संवत्का प्रारम्भ नहीं समझना चाहिये। जिन मतानुसार विक्रमका राज्यकाल पूर्व या [illegible] वर्ष ४७० वर्ष बतलाया गया है उनमें विक्रमके जन्म, राज्यकाल व मृत्युके समयका संवत्प्रारम्भसे सम्बन्ध [illegible] भ्रान्ति उत्पन्न होती है। भ्रान्तिका एक दूसरा भी कारण हुआ है। हेमचन्द्र परिशिष्टपर्वमें नन्द राज्यका ६० वर्षका अन्तर बतलाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य तक १५० वर्षका। इसप्रकार चन्द्रगुप्तका राज्यकाल १५५ वर्ष पड़ता है। किन्तु अन्य लेखकोंने चन्द्रगुप्तका राज्यकाल [illegible] बाद नन्दवंशका ही काल मान लिया है और उससे पूर्व ६० वर्षोंका पालकका काल भी [illegible] है। इसप्रकार जो ६० वर्ष बढ़ गये उन्हें उन्होंने अन्तिम विक्रमराज्यमें घटाकर [illegible] से ही संवत्का प्रारम्भ मान लिया और इसप्रकार ४७० वर्षकी संख्या कायम [illegible] प्रतिपादन व गुत्थियोंका सुलझाव किया है।

इस मतका वीरनिर्वाण व आचार्य परम्पराकी गणना [illegible] यह पूरा विवादास्पद विषय है जिसका स्वतन्त्रतासे विचार करना आवश्यक है। [illegible] प्रस्तुत प्रमाणों परसे यह मान लेनेमें आपत्ति नहीं कि [illegible] ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमकी मृत्युके साथ प्रचलित विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। अतः प्रस्तुत [illegible] विक्रम संवत् ६१४ − ४७० = १४४, शक संवत् ६१४ − ६०५ = [illegible] ६१४ − ५२७ = ८७ व पश्चात् पड़ता है।

७. षट्खण्डागमकी टीका धवलाके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवलाके अन्तमें [illegible]

प्रशस्ति है —

धवलाकी अन्तिम प्रशस्ति

[illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

अज्जणदिसिस्सेण उज्जुकम्मस्स चंदसेणस्स ।
तह णत्तुवेण पंचत्थूहण्णयभाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥

सिद्धंत छंद-जोइस वायरण पमाण सत्थ णिवुणेण ।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥ ५ ॥

अट्ठतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एसु संगरमो । (?)
पासे सुतेरसीए भाव-विलग्गे धवल पक्खे ॥ ६ ॥

जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोण ।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥

चावम्हि तरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि णेमिचंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

वोद्दणराय-णरिंदे णरिंद-चूडामणिम्हि भुंजंते ।
सिद्धंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

दुर्भाग्यवश इस प्रशस्तिका पाठ अनेक जगह अशुद्ध है जिसे उपलब्ध अनेक प्रतियोंके मिलानसे भी अभीतक हम पूरी तरह शुद्ध नहीं कर सके। तो भी इस प्रशस्तिसे टीकाकारके विषयमें हमें बहुतसी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं। पहली गाथामें स्पष्ट है कि इस टीकाके रचयिताका नाम वीरसेन है और उनके गुरुका नाम एलाचार्य।

टीकाकार वीरसेनाचार्य

फिर चौथी गाथामें वीरसेनके गुरुका नाम आर्यनन्दि और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन कहा गया है। समवतः एलाचार्य उनके विद्यागुरु और आर्यनन्दि दीक्षागुरु थे। इसी गाथामें उनका शाखाका नाम भी पंचस्तूपान्वय दिया है। पांचवा गाथामें कहा गया है कि इस टीकाके कर्ता वीरसेन सिद्धांत, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अर्थात् न्याय, इन शास्त्रोंमें निपुण थे और भट्टारक पदसे विभूषित थे। आगेकी तीन अर्थात् ६ से ८ वीं तककी गाथाओंमें इस टीकाका नाम 'धवला' दिया गया है और उसके समाप्त होनेका समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य ज्योतिषसंबंधी योगोंके सहित दिया है और जगतुंगदेव के राज्यका भी उल्लेख किया है। अन्तिम अर्थात् ९ वीं गाथामें पुनः राजाका नाम दिया है जो प्रतियोंमें 'वोद्दणराय' पढ़ा जाता है। वे नरेन्द्रचूडामणि थे। उन्हींके राज्यमें सिद्धान्त ग्रन्थके ऊपर गुरुके प्रसादसे लेखकने इस टीकाकी रचना की।

द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्राभृतकी टीका 'जयधवला' का भी एक भाग इन्हीं वीरसेनाचार्यका लिखा हुआ है। शेष भाग उनके शिष्य जिनसेनने पूरा किया था। उसकी प्रश

रिमें भी वीरसेनके सम्बन्धमें प्राय ये ही बातें कही गई हैं। चूंकि यह प्रशस्ति[1] उनके शिष्यद्वारा लिखी गई है अतएव उसमें उनकी भक्ति विशेष रूपसे वर्णित पाई जाती है। वहाँ उन्हें साक्षात् केवलीके समान समस्त विश्वके पारदर्शी कहा है। उनकी वाणी षट्खण्ड आगममें अस्खलित रूपसे प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर सर्वज्ञकी सत्तामें किसी मनीषीको शंका नहीं रही थी। विद्वान् लोग उनकी ज्ञानरूपी किरणोंके प्रसारको देखकर उन्हें प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेवली कहते थे। सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे उनकी बुद्धि शुद्ध हुई थी जिससे वे तीव्रबुद्धि प्रत्येकबुद्धोंसे भी स्पर्धा करते थे। उनके विषयमें एक मार्मिक बात यह कही गई है कि उन्होंने चिरन्तन कालकी पुस्तकोंकी (अर्थात् पुस्तकारूढ सिद्धान्तों) की खूब पुष्टि की और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक पाठियोंसे बढ़ गये। इसमें सन्देह नहीं कि वीरसेनकी इस टीकाने इन आगम-सूत्रोंको चमका दिया और अपनेसे पूर्वकी अनेक टीकाओंको अस्तमित कर दिया।

जिनसेनने अपने आदिपुराणमें भी गुरु वीरसेनकी स्तुति की है और उनकी भट्टारक[2] पदका उल्लेख किया है। उन्हें वादिवृन्दारक मुनि कहा है, उनकी लोकविज्ञता, कवित्वशक्ति और वाचस्पतिके समान वाग्मिताकी प्रशंसा की है, उन्हें सिद्धान्तोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी 'धवला' भारतीको भुवनव्यापिनी कहा है।

१ भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् । शासनं वीरसेनस्य वीरसेनकुशेशयम् ॥ १७ ॥
आसीदासीदसन्नभव्यसत्त्वकुमुद्वतीम् । मुद्वतीं कर्तुमीशो यः शशाङ्क इव पुष्कलः ॥ १८ ॥
श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः । पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥ १९ ॥
प्रीणितप्राणिसम्पत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा । भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ २ ॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् । जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥ २१ ॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम् । श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥ २२ ॥
प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवाधौतशुद्धधीः । सार्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः ॥ २३ ॥
पुस्तकानां चिरन्तानां गुरुत्वमिह कुर्वता । येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥ २४ ॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन् । व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पञ्चस्तूपान्वयाम्बरे ॥ २ ॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् । कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥ २ ॥
तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः । (जयधवला प्रशस्ति)

२ श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः । स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥ ॥
लोकवित्त्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम् । वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥ ॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् । मन्मनःसरसि स्थेयात् मृदुपादकुशेशयम् ॥ ॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचिनिर्मलाम् । धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ८ ॥

आदिपुराण उत्थानिका

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें वीरसेनद्वारा धवला और जयधवला टीका लिखे जानेका इसप्रकार वृत्तान्त दिया है। बप्पदेव गुरुद्वारा सिद्धान्त ग्रंथोंकी टीका लिखे जानेके कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्तोंके तत्त्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूटपुरमें निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरुने सकल सिद्धान्तका अध्ययन किया और ऊपरके निबन्धनादि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरुकी अनुज्ञा पाकर वे वाटग्राममें आये और वहांके आनतेन्द्रद्वारा बनवाये हुए जिनालयमें ठहरे। वहां उन्हें व्याख्याप्रज्ञप्ति (बप्पदेव गुरुकी बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होंने ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकार पूरे करके सत्कर्म नामका छठवां खण्ड संक्षेपमें तैयार किया और इसप्रकार छह खण्डोंकी ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृतकी चार विभक्तियोंकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके पश्चात् ही वे स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरुने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इसप्रकार जयधवला ६० हजार श्लोक प्रमाण तैयार हुई।

वीरसेन स्वामीकी अन्य कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हुई और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनका समस्त समय अवस्थाका जीवन निश्चयतः इन सिद्धान्त ग्रंथोंके अध्ययन, संकलन और टीका-लेखनमें ही व्यतीत हुआ होगा। उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्यने उन्हें जिन विशेषणों और उपाधियोंसे अलंकृत किया है उन सबकी पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयधवला टीकामें प्रचुरतासे पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुद्धि, अपार पाण्डित्य, विशाल स्मृति और अनुपम व्यासंग उनकी रचनाके पृष्ठ पृष्ठ पर पाये जाते हैं। उनकी उपलभ्य रचना ७२ + २० = ९२ हजार श्लोक प्रमाण है। महाभारत शतसहस्री अर्थात् एक लाख श्लोक प्रमाण होनेसे संसारका सबसे बड़ा काव्य समझा जाता है। पर वह सब एक व्यक्तिकी रचना नहीं है। वीरसेनकी रचना प्रमाणमें महाभारतसे थोड़ी ही कम है, पर वह उन्हीं एक व्यक्तिके परिश्रमका फल

[illegible] ॥ १७७ ॥
[illegible] ॥ १७८ ॥
[illegible] ॥ १७९ ॥
[illegible] ॥ १८० ॥
[illegible] ॥ १८१ ॥
[illegible] ॥ १८२ ॥
[illegible] (जिनसेन) — [illegible] ॥ १८३ ॥
[illegible] ॥ १८४ ॥

है। धवल व वीरसेन स्वामी। उनकी प्रज्ञा और अनुपम साहित्य पर सब हो। उनके शिष्य [illegible] मुनि धविक [illegible] पाद भरते थे

दशस्योऽपि मन योऽपि समानयमा,
[illegible] निरवशितगुणा च [illegible]।

वीरसेनाचार्यका रचनाकाल

वीरसेनाचार्यका समय निश्चित है। उनकी अपूर्ण टीका जयधवलाको उनके शिष्य जिनसेनने शक सं० ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्षका राज्य था। मान्यखेटके राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षके उल्लेख उनके समयके ताम्रपत्रोंमें शक सं. ७३७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् उनके राज्यके ५२ वें वर्ष तकके मिलते हैं। अतः जयधवला टीका अमोघवर्षके राज्यके २३ वें वर्षमें समाप्त हुई सिद्ध होती है। स्पष्टतः इससे पूर्व ही धवला टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनाचार्य स्वर्गवासी हो चुके थे।

धवला टीकाके अन्तकी जो प्रशस्ति स्वयं वीरसेनाचार्यकी लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं उसकी छठवीं गाथामें उस टीकाकी समाप्तिके सूचक कालका निर्देश है। किन्तु दुर्भाग्यतः हमारी उपलब्ध प्रतियोंमें उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहां अंकित वर्षका ठीक निश्चय नहीं होता। किन्तु उसमें जगतुंगदेवके राज्यका स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशोंमें जगतुंग उपाधि अनेक राजाओंकी पाई जाती है। इनमेंसे प्रथम जगतुंग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपत्र शक संवत् ७१६ से ७३५ तकके मिलते हैं। इनके पुत्र अमोघवर्ष प्रथम थे जिनके राज्यमें जयधवला टीका जिनसेन द्वारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि धवलाकी प्रशस्तिमें इन्हीं गोविन्दराज जगतुंगका उल्लेख होना चाहिए।

अब कुछ प्रशस्तिकी उन शंकास्पद गाथाओंपर विचार कीजिये । गाथा नं. ६ में ' अट्ठतीसम्हि ' और ' विक्कमरायम्हि ' सुस्पष्ट हैं । शताब्दिकी सूचनाके अभावमें अड़तीसवां वर्ष हम जगतुंगदेवके राज्यका ले सकते थे । किंतु न तो उसका विक्रमराजसे कुछ संबंध दिखता और न जगतुंगका राज्य ही ३८ वर्ष रहा । जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं उनका राज्य केवल २० वर्षके लगभग रहा था । अतएव इस ३८ वर्ष का संबंध विक्रमसे ही होना चाहिये । गाथामें शतसूचक शब्द गड़बड़में है । किंतु जान पड़ता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम संवत्के कहनेका है । किंतु विक्रम संवत्के अनुसार जगतुंगका राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है । अतः उसके अनुसार ३८ के अंककी कुछ सार्थकता नहीं बटती । यह भी कुछ साधारण नहीं जान पड़ता कि वीरसेनने यहां विक्रम संवत्का उल्लेख किया हो । उन्होंने जहां जहां वीर निर्वाणकी कालगणना दी है वहां शककालका ही उल्लेख किया है । उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शक गणनानुसार ही सूचित किया है । दक्षिणके प्राय समस्त जैन लेखकोंने शककालका ही उल्लेख किया है । ऐसी अवस्थामें आश्चर्य नहीं जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शक कालसे हो । यदि हम उक्त संख्या ३८ के साथ सातसौ और मिला दें और ७३८ शक संवत्के लें तो यह काल जगतुंगके ज्ञात काल अर्थात् शक संवत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है ।

अब प्रश्न यह है कि जब गाथामें विक्रमराजका स्पष्ट उल्लेख है तब हम उसे शक संवत् अनुमान कैसे कर सकते हैं ? पर खोज करनेसे जान पड़ता है कि अनेक जैन लेखकोंने प्राचीन कालसे शक कालके साथ भी विक्रमका नाम जोड़ रक्खा है । अकलंकचरितमें अकलंकके बौद्धोंके साथ शास्त्रार्थका समय इसप्रकार बतलाया है ।

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि ।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

यद्यपि इस विषयमें मतभेद है कि यहां लेखकका अभिप्राय विक्रम संवत् से है या शकसे, किंतु यह तो स्पष्ट है कि विक्रम और शकका संबंध एक ही काल गणनामें जोड़ा गया है । यह भ्रमवश हो और चाहे किसी मान्यतानुसार । यह भी बात नहीं है कि अकेला ही इस प्रकारका उदाहरण हो । त्रिलोकसारकी गाथा नं. ८५० की टीका करते हुए टीकाकार श्री माधवचंद्र त्रैविद्य लिखते हैं—

' श्रीवीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाङ्कशकराजो जायते । तत उपरि चतुर्णवत्युत्तरत्रिशत (३९४) वर्षाणि सप्तमासाधिकानि गत्वा पश्चात् कल्की जायते ' ।

1 Inscriptions at Sravana Belgola Intro p. 84 and न्यायकु. च. भूमिका पृ. १ २

यहां विक्रमांक शकराजका उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्टतः शकसंवत्के संस्थापक नरेशसे है । उक्त अवतरणपर डा. पाठकने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटिपूर्ण है । उन्होंने ऐसा समझकर यह कहा ज्ञात होता है कि उस शब्दका तात्पर्य विक्रम संवत्से ही हो सकता है । किंतु ऐसा नहीं है । शक संवत्का सूचनामें ही लेखकने विक्रमका नाम जोड़ा है, और उसे शकराजकी उपाधि कहा है जो सर्वथा संभव है । शक और विक्रम संवत्की गणनाओंके विषयमें जैन लेखकोंमें कुछ भ्रम रहा है यह तो अवश्य है । त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जो शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्पसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है[१] उसमें यही भ्रम या मान्यता कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि. से ४६१ वां वर्ष विक्रमके राज्यमें पड़ता है और ६०५ वर्ष पश्चात् प्रारंभ होता है । ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत गाथामें यदि 'विक्कमरायम्हि' से शकसंवत्की सूचना दी हो तो हम यह समझते हैं कि उस गाथाके शुद्ध पाठमें धवलाके समाप्त होनेका समय शक संवत् ७३८ दिया रहा है ।

इस निर्णयमें एक कठिनाई उपस्थित होती है । शक संवत् ७३८ में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगतुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है । यही नहीं, किंतु शक संवत् ७८८ के सिरूरसे मिले हुए ताम्रपटमें अमोघवर्षके राज्यके ५२ वें वर्षका उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७ से प्रारंभ हो गया था । तब फिर शक ७३८ में जगतुंगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है ? इस प्रश्नपर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गाथा नं. ७ में 'जगतुंगदेवरज्जे' के अनन्तर आये हुए 'रियम्हि' शब्दपर जाती है जिसका अर्थ होता है 'ऋते' या 'रिक्ते' । संभवतः उससे कुछ पूर्व जगतुंगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ़ हुए थे । इस कल्पनासे आगे गाथा नं. ० में जो बोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है । बोद्दणराय संभवतः अमोघवर्षका ही उपनाम होगा । या यह वद्दिगका ही रूप हो और वद्दिग अमोघवर्षका उपनाम हो । अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वद्दिग या वद्दिगका तो उल्लेख मिलता ही है । यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक संवत् ७३८ में समाप्त की जब जगतुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और बोद्दणराय (अमोघवर्ष) राजगद्दीपर बैठ चुके थे । 'जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि' और 'बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते' पाठोंपर ध्यान देनेसे यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है ।

१ वीरजिणे सिद्धिगदे चउसद इगसट्ठि वासपरिमाणे । कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥ ८६ ॥
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु । पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥ ८९ ॥
तिलोयपण्णत्ति

[illegible]
गोविन्दराजने अपने जीवन कालमें ही अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्षको राजतिलक कर दिया था और उनके संरक्षक भी नियुक्त कर दिये थे, और आप राज्यभारसे मुक्त होकर, आश्चर्य नहीं, धर्मध्यान करने लगे हों। तत्पश्चात् शक ७३८ के ताम्रपटोंमें अमोघवर्षके राज्यमें किसी प्रकारकी गड़बड़ीकी सूचना नहीं है, किन्तु सूरतमें मिले हुए शक संवत् ७४३ के ताम्रपटोंमें एक विप्लवके शमनके पश्चात् अमोघवर्षके पुनः राज्यग्रहणका उल्लेख है। इस विप्लवका वृत्तान्त बड़ौदामें मिले हुए शक संवत् ७५७ के ताम्रपटोंमें भी पाया जाता है। अनुमान होता है कि गोविन्दराजके जीवन कालमें तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई किन्तु उनकी मृत्युके पश्चात् राज्यसिंहासनके लिये विप्लव मचा जो शक संवत् ७४३ के पूर्व शमन हो गया। अतएव शक ७३८ में जगत्तुंग (गोविन्दराज) जीवित थे इस कारण उनका उल्लेख किया और उनके पुत्र सिंहासनारूढ़ हो चुके थे इससे उनका भी कथन किया, यह उचित जान पड़ता है।

यदि यह कालसम्बन्धी निर्णय ठीक हो तो उस परसे वीरसेनस्वामीके कुछ रचनाकाल व धवलाके प्रारम्भकालका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। धवला टीका ७३८ शकमें समाप्त हुई और जयधवला उसके पश्चात् ७५९ शक में। तात्पर्य यह कि कोई २० वर्षमें जयधवलाके ४० हजार श्लोक रचे गये जिसकी औसत एक वर्षमें ३ हजार आती है। इस अनुपातसे धवलाके ७२ हजार श्लोक रचनेमें २४ वर्ष लगना चाहिये। अतः उसकी रचना ७३८ − २४ = ७१४ शकमें प्रारम्भ हुई होगी, और चूंकि जयधवलाके २० हजार श्लोक रचे जानेके पश्चात् वीरसेन स्वामीकी मृत्यु हुई और उतने भागकी रचनामें लगभग ७ वर्ष लगे होंगे, अतः वीरसेन स्वामीके स्वर्गवासका समय ७३८ + ७ = ७४५ शकके लगभग आता है। तथा उनका कुल रचनाकाल शक ७१४ से ७४५ अर्थात् ३१ वर्ष पड़ता है[२]।

* Altekar, The Rashtrakutas and their times p 71 ff

२ [illegible] जिनसेनकृत [illegible] शक ८६ [illegible] हैं। [illegible]

अब हम प्र[illegible] [illegible] विचार कर सकते हैं। सूर्यकी स्थिति तुला रा[illegible] [illegible] पूर्ण हो जाता है। चन्द्रकी [illegible] अनुकूल है। [illegible] सूर्य [illegible] भादर हो होता [illegible] हो सकता है। अतएव 'पादिपश्चिम' [illegible] 'पौष पश्चिम' [illegible] जाता है जिससे चन्द्रकी स्थिति [illegible] हो जाता है। गुरुकी [illegible] ठीक बैठती है।

[illegible] ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनिकी स्थिति [illegible] प्रशस्तिमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। [illegible] उनकी स्थितिका निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं होता। [illegible] प्रशस्तिमें उल्लिखित ग्रहोंका निर्णय करना आवश्यक [illegible] हुआ। [illegible] सन् १८६१, आश्विन शुक्ला ५, मंगलवार, है और इस [illegible] राहु तुलामें [illegible] शनि मेषमें है। गुरुकी एक परिक्रमा बारह वर्षमें होती है, अतः शक ७३८ से १८६१ अर्थात् ११२३ वर्षमें उसकी ९३ परिक्रमाएं पूरी हुईं और [illegible]। इस प्रकार शक ७३८ में गुरुकी स्थिति कन्या या तुला राशिमें होना चाहिये। अब प्रशस्तिमें गुरुका [illegible] तुला राशिमें ले सकते हैं।

राहुकी परिक्रमा अठारह वर्षमें पूरी होती है और [illegible] ११२३ वर्षमें उसकी ६२ परिक्रमाएं पूरी हुईं और शेष सात वर्षमें वह लगभग पांच राशि आगे बढ़ा। राहुकी गति सदैव वक्री होती है। तदनुसार शक ७३८ में राहुकी स्थिति तुलासे पांचवीं राशि अर्थात् कुंभमें होना चाहिये। अतएव प्रशस्तिमें हम राहुका [illegible] कुंभमें [illegible] सकते हैं। राहु यहां तृतीयान्त [illegible] क्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनिकी परिक्रमा तीस वर्षमें पूरी होती है। तदनुसार गत ११२३ वर्षमें उसकी ३७ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष १३ वर्षमें वह करीब पांच राशि आगे बढ़ा। अतः शक ७३८ में शनि धनु राशिमें होना चाहिये। जब ग्रन्थकारने [illegible] ग्रहोंकी स्थितियां दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रहको भूल जाय यह सम्भव [illegible] हमारी दृष्टि प्रशस्तिके चापस्थिते वरुणिसुते पाठपर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु वरुणिसुत से शनिका अर्थ नहीं निकल सका। पर साथ ही यह ध्यानमें [illegible] कि सम्भवतः शुद्ध पाठ तरणि-सुते (तरणिसुत) है। तरणि सूर्यका पर्यायवाची है और शनि सूर्यपुत्र कहलाता है। इसप्रकार प्रशस्तिमें शनिका भी उल्लेख मिल गया और इन तीन ग्रहोंकी स्थितिसे हमारे अनुमान किए हुए ग्रन्थके समाप्तिकाल शक संवत् ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहोंका इन्हीं राशियोंमें योग शक ७३८ के अतिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९१८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ में ही पाया जाता है, और ये कोईभी संवत् धवलाके रचनाकालके लिये उपयुक्त नहीं हो सकते ।

अब ग्रहोंमेंसे केवल तीन अर्थात् केतु, मंगल और बुध ही ऐसे रह गये जिनका नामोल्लेख प्रशस्तिमें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ । केतुकी स्थिति सदैव राहुसे सप्तम राशिपर रहती है, अतः राहुकी स्थिति बतला देने पर उसकी स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केतु सिंह राशिमें था । प्रशस्तिके शेष शब्दोंपर विचार करनेसे हमें मंगल और बुधका भी पता लग जाता है । प्रशस्तिमें ' कोणे ' शब्द आया है । कोण शब्द कोषके अनुसार मंगलका भी पर्यायवाची है[1] । जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, कुंडली-चक्रमें मंगलकी स्थिति कोणमें आती है, इसीसे संभवतः मंगलका यह पर्याय कुशल कविको यहां उपयुक्त प्रतीत हुआ । अतः मंगलकी स्थिति राहुके साथ कुंभ राशिमें थी । राहु पदकी तृतीया विभक्ति इसी साथको व्यक्त करनेके लिये रखी गई जान पड़ती है । अब केवल ' भावविलग्गे ' और ' कुलविल्लए ' शब्द प्रशस्तिमें ऐसे बच रहे हैं जिनका अभीतक उपयोग नहीं हुआ । कुल का अर्थ कोषानुसार बुध भी होता है,[2] और बुध सूर्यकी आजू बाजूकी राशियोंसे बाहर नहीं जा सकता । जान पड़ता है यहां कुलविल्लए का अर्थ ' कुलविलये ' है । अर्थात् बुधकी सूर्यकी ही राशिमें स्थिति होनेसे उसका विलय था । गाथामें मात्रापूर्तिके लिये विलए का विल्लए कर दिया प्रतीत होता है ।

जब तक लग्नका समय नहीं दिया जाता तब तक ज्योतिष कुंडली पूरी नहीं कही जा सकती । इस कमी की पूर्ति ' भावविलग्गे ' पद से होती है । ' भावविलग्गे ' का कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता । पर यदि हम उसकी जगह ' भाणुविलग्गे ' पाठ ले लें तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्नकी राशिमें था, और क्योंकि सूर्यकी राशि अन्यत्र तुला बतला दी है, अतः ज्ञात हुआ कि धवला टीका को वीरसेन स्वामीने प्रातःकालके समय पूरा किया थी जब तुला राशिके साथ सूर्यदेव उदय हो रहे थे ।

इस विवेचनद्वारा उक्त प्रशस्तिके समयसूचक पद्योंका पूरा संशोधन हो जाता है, और उससे धवलाकी समाप्तिका काल निर्विवाद रूपसे शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८१६, दिन बुधवार का प्रातःकाल, सिद्ध हो जाता है । उससे वीरसेन स्वामीके सूक्ष्म ज्योतिष ज्ञानका भी पता चल जाता है ।

१ Apte Sanskrit English Dictionary

२ " " "

अब हम उन तीन पद्यों को गुरुतान इसप्रकार देते हैं

अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायङ्किए सु सगणामे ।
वासे सुतेरसीए भाणु विलग्गे धवल पक्खे ॥ ६ ॥
जगतुंगदेव-रज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोण ।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि तरणि वुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि ।
कत्तिय-मासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

इस धवला की समाप्ति के समय का लग्न इस प्रकार था

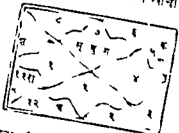

[illegible] अपना [illegible] नाम [illegible] [illegible]

धवला नामकी सार्थकता

[illegible] नहीं हुआ । [illegible] अंतिम [illegible]
भी होता है । [illegible] है अन्य [illegible]
[illegible] नाम [illegible] है । [illegible]
[illegible]

८ धवलासे पूर्वके टीकाकार

ऊपर कह आये हैं कि श्रुतावतारकी प्रशस्तिके अनुसार वीरसेनाचार्यने अपनी टीका सिद्धान्त ग्रंथोंकी बहुत पुष्टि की, जिससे वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तकशिष्यकोंसे बढ़ गये थी।' इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वीरसेनसे भी पूर्व इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी अन्य टीकाएं लिखी गई थीं? इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दोनों सिद्धान्त ग्रंथोंपर लिखी गई अनेक टीकाओंका उल्लेख किया है जिसके आधारसे षट्खण्डागमकी धवलासे पूर्व रची गई टीकाओंका यहां परिचय दिया जाता है।

परिकर्म और उसके रचयिता कुन्दकुन्द

कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत इन दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरु परिपाटीसे कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ, और उन्होंने सबसे पहले षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोक प्रमाण एक टीका ग्रंथ रचा जिसका नाम परिकर्म था।' हम ऊपर बतला आये हैं कि इन्द्रनन्दिका कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दिसे हमारे उन्हीं प्रातःस्मरणीय कुन्दकुन्दाचार्यका ही अभिप्राय हो सकता है जो दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें सबसे बड़े आचार्य गिने गये हैं और जिनके प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रंथ जैन सिद्धान्तके सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं। दुर्भाग्यतः उनकी बनाई यह टीका प्राप्य नहीं है और न किन्हीं अन्य लेखकोंने उसके कोई उद्धरणादि दिये। किंतु स्वयं धवला टीकामें परिकर्म नामक ग्रंथका अनेक बार उल्लेख आया है। धवलाकारने वहां 'परिकर्म' से उद्धृत किया है,[२] वहां कहा है कि यह बात परिकर्म के कथनसे जानी जाती है[३] और कहीं अपने कथनका परिकर्मके कथनसे विरोध आनेकी शंका उठाकर उसका समाधान किया है। एक स्थानपर उन्होंने परिकर्मके कथनके विरुद्ध अपने कथनकी पुष्टि भी की है और

[१] पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता। येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥ २८ ॥

(जयधवलाप्रशस्ति)

[२] एवं । द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् । गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥

श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः । ग्रंथपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥

(श्रुतावतार)

... परियम्मे वुत्त ... धवला अ. १४१ ... परियम्मेण सह ... (धवला अ. ...)

परियम्मम्मि वुत्त ... (... १००) ... परियम्मवयणेण सह ... सुत्त ...

परियम्मवयणादो णव्वदे (... ११७) विरोहादि ति ण ...

... परियम्मवयणादो (... २०१)

गया है कि उदाहरण नामवनको ग्रहण करना चाहिए, परिकर्म व्याख्याको नहीं व्याख्यान सूत्रके विरुद्ध जाता है। इससे इतना तो ज्ञात होता है कि 'परिकर्म' ग्रन्थ कार्य धवलाकारके समक्ष था। इसकी पुष्टि एक और उल्लेखसे होती है जहां ऐसा ही विरोध उत्पन्न होता है कि यह कथन व्याख्यान नहीं है, क्योंकि, स्वयं 'परिकर्म' प्रभृति इसी सूत्रके है। इन उल्लेखोंसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि 'परिकर्म' नामका ग्रन्थ इसी आगम का व्याख्यान था और वह ग्रन्थ धवलाकारके समक्ष विद्यमान उल्लेख द्वारा धवलाकारने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'परिकर्म' ग्रन्थको सभी आचार्य मानते थे'।

उक्त उल्लेखोंसे प्राय सभीका सम्बन्ध षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंके है जिससे इन्द्रनन्दिके इस कथनकी पुष्टि होती है कि वह ग्रन्थ प्रथम तीन खण्डों लिखा गया था। उक्त उल्लेखोंसे 'परिकर्म' कर्ताके नामादिकका कुछ पता नहीं लग किन्तु ऐसी भी कोई बात उनमें नहीं है कि जिससे वह ग्रन्थ कुन्दकुन्दकृत न कहा जा स धवलाकारने कुन्दकुन्दके अन्य सुविख्यात ग्रन्थोंका भी कर्ताका नाम दिये बिना ही उल्लेख किया गया, जैसे पंचत्थिपाहुड (धवला अ पृ २८०)

इन्द्रनन्दिने तो इस टीकाको सब प्रथम बतलाया है और धवलाकारने उस आचार्य-सम्मत कहा है, तथा उसका स्थान स्थानपर उल्लेख किया है, इससे इस ग्रन्थके कुन्दकुन्दाचार्यकृत माननेमें कोई आपत्ति नहीं दिखती। यद्यपि इन्द्रनन्दिने यह नहीं कहा है कि यह ग्रन्थ भाषामें लिखा गया था किन्तु उसके जो 'अवतरण' धवलामें आये हैं वे सब प्राकृतमें हैं जिससे जान पड़ता है कि यह टीका प्राकृतमें ही लिखी गई होगी। कुन्दकुन्दके अन्य सब ग्रन्थ भी प्राकृतमें ही हैं।

धवलामें परिकर्मका एक सूत्र इसप्रकार से आया है

अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि (१ १११

१ परियम्मेण ... वक्खाणेण ... (...) तेण इदम्स वक्खाणस्स गहणं कायव्वं। परियम्मस्स ... (...) किंतु ... धवला ...

परियम्मादो अमरा ... परियम्मेण णादो। (धवला अ ...)

सव्वाइरियस म्मदपरियम्मसिद्धत्तादो।

[illegible] कुन्दकुन्दके नियमसारकी इस गाथासे [illegible] कीजिये—

[illegible] अण्णं [illegible] इंदिए [illegible] ।
[illegible] परमाणू [illegible] ॥ २६ ॥

[illegible] नियमसार [illegible] है कि [illegible] आया हुआ उल्लेख नियमसार [illegible] है फिर भी [illegible] रचनामें [illegible] ही [illegible] दिखाई देता है । इन सब प्रमाणोंसे कुन्दकुन्दकृत परिकर्म के [illegible] बहुत कम संदेह रह जाता है ।

[illegible] 'परिकम्म' का सूत्र [illegible] उल्लेख किया है । यथा— '[illegible] परियम्मसुत्तेण [illegible]' ([illegible] पृ १४३) । [illegible] सूत्र भी [illegible] है । [illegible] यतिवृषभाचार्यने 'कसायपाहुड' [illegible] है । यथा—

'[illegible] ([illegible] ८)

[illegible] परिकम्म [illegible] । [illegible] परिकम्म [illegible] है । यथा— [illegible]

[illegible]

([illegible] ५२)

[illegible]

इस समस्त टीकाका परिमाण भी बारह हजार श्लोक था और उसकी भाषा प्राकृत संस्कृत और कनाड़ी तीनों मिश्रित थी। यह टीका परिकर्मसे जितने ही वर्ष पश्चात् लिखी गई थी। इस टीकाके कोई उल्लेख आदि अवतरण व नामकरणमें अभीतक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए।

इन्द्रनन्दिद्वारा उल्लिखित तीसरी सिद्धान्तटीका तुम्बुलूर नामक आचार्यद्वारा लिखी गई।

३ चूडामणिकर्ता तुम्बुलूराचार्य

ये आचार्य 'तुम्बुलूर' नामक एक सुन्दर ग्राममें रहते थे, इसीसे वे तुम्बुलूराचार्य कहलाये, जैसे कुण्डकुन्दपुरमें रहनेके कारण पद्मनन्दि आचार्यकी कुन्दकुन्द नामसे प्रसिद्धि हुई। इनका असली नाम क्या था यह ज्ञात नहीं होता। इन्होंने छठवें खंडको छोड़ शेष दोनों सिद्धान्तोंपर एक बड़ी भारी व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'चूडामणि' था और परिमाण चौरासी हजार। इस महती व्याख्याकी भाषा कनाड़ी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने छठवें खंडपर सात हजार प्रमाण 'पंजिका' लिखी। इस प्रकार इनकी कुल रचनाका प्रमाण ९१ हजार श्लोक हो जाता है। इन रचनाओंका भी कोई उल्लेख अवतरण व नामकरणमें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किन्तु महाधवलका जो परिचय 'धवल सिद्धान्त ग्रंथोंके प्रशस्तिसंग्रह' में दिया गया है उसमें पंचिकारूप विवरणका उल्लेख पाया जाता है। यथा—

वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं ॥ पुणो तेहितो सेसट्ठारसण्हं अणियोगद्दाराणि संतकम्म सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो।

ज्ञात पड़ता है यही तुम्बुलूराचार्यकृत षष्ठम खंडकी वह पंचिका है जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि चूडामणि व्याख्याकी भाषा कनाड़ी थी, किन्तु इस पंचिकाकी [illegible] प्राकृत [illegible]।

महाकलंक देव [illegible] कर्णाटक शब्दानुशासन बनाते समय [illegible] चूडामणि नामक [illegible] महाशास्त्र [illegible] उल्लेख किया है [illegible] ९६ हजार [illegible] बतलाया है [illegible]
'चूडामणि [illegible]

[illegible]

तथा जिनके उक्त रचना बतलाया था। श्रुतसागर 'आप्त वा परिदे' पाठमें समन्त अनुपलब्ध टीकाका संकेत है, किन्तु इस अनुश्रुतिका समर्थन कहीं नहीं होता।

विक्रान्त नाटक हरिवंशपुराणमें समन्तभद्रनिर्मित 'जीवसिद्धि' का उल्लेख आया है, किन्तु वह ग्रन्थ अभीतक मिला नहीं है। यहाँ पर समन्तभद्रकृत 'जीवसिद्धि' की टीकाका ... 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' भी उल्लेख मिलते हैं जिनमें उसे तत्त्वार्थ या तत्त्वार्थसूत्रका व्याख्यान कहा है। इस परसे माना जाता है कि समन्तभद्रने यह भाष्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र पर लिखा होगा। किन्तु यह भी सम्भव है कि उन उल्लेखोंका अभिप्राय समन्तभद्रकी किसी दूसरी टीकासे हो। इन उल्लेखोंमें भी 'तत्त्वार्थमहाशास्त्र' ... है क्योंकि जैसा हम ऊपर कह आए हैं कुन्दकुन्दाचार्यने इसी प्रकारकी 'चूडामणि' नामकी ... तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यान कहा है।

इन्द्रनन्दिका कहना है कि समन्तभद्र इसपर द्वितीय सिद्धान्तकी भी टीका लिखनेवाले थे, किन्तु उनके एक सधर्मने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया। उनके ऐसा करनेका कारण द्रव्यादि-शुद्धिकरण प्रयत्नका अभाव बतलाया गया है। सम्भव है कि यहाँ समन्तभद्रकी उस भस्मक व्याधिका और संकेत हो, जिसके कारण कहा गया है कि उन्हें कुछ काल अपने मुनि आचारका परित्याग करना पड़ा था। उनके इन्हीं भावों और शरीरकी अवस्थाको उनके सहधर्मीने द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थकी टीका लिखनेमें अनुकूल न देख उन्हें रोक दिया हो।

यदि समन्तभद्रकृत टीका संस्कृतमें लिखी गई थी और वीरसेनाचार्यके समय तक विद्यमान थी तो उसका धवला जयधवलामें उल्लेख न पाया जाना बड़े आश्चर्यकी बात होगी।

सिद्धान्त ग्रन्थोंका व्याख्यानक्रम गुरु परम्परासे चलता रहा। इसी परम्परामें शुभनन्दि

[illegible]

आचरित ... समन्तभद्रस्य ... ॥

हरिवंशपुराण ... ।

... समन्तभद्र ... [illegible]

तत्त्वार्थ व्याख्यान ... [illegible]

... तत्त्वार्थशास्त्र ... [illegible]

... [illegible]

५ बप्पदेव गुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति

और रविनन्दि नामके दो मुनि हुए, जो अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि थे। उनसे बप्पदेवगुरुने वह समस्त सिद्धान्त विशेषरूपसे सीखा। वह अध्ययन भीमरथि और कृष्णमेख नदियोंके बीचके प्रदेशमें उत्कलिका ग्रामके समीप मगणवल्ली ग्राममें हुआ था। भीमरथि कृष्णा नदीकी शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अब बेलगांव व धारवाड कहलाता है। वहीं पर बप्पदेव गुरुका सिद्धान्त-अध्ययन हुआ होगा। इस अध्ययनके पश्चात् उन्होंने महाबन्धको छोड़ शेष पांच खण्डोंपर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नामकी टीका लिखी। तत्पश्चात् उन्होंने छठे खण्डकी संक्षेपमें व्याख्या लिखी। इस प्रकार छहों खण्डोंके निष्पन्न हो जानेके पश्चात् उन्होंने कषायप्राभृतकी भी टीका रची। उक्त पांच खण्डों और कषायप्राभृतकी टीकाका परिमाण साठ हजार, और महाबन्धकी टीकाका 'पांच अधिक आठ हजार' था, और इन सब रचनाओंकी भाषा प्राकृत थी[1]।

धवलामें व्याख्याप्रज्ञप्तिके दो उल्लेख हमारी दृष्टिमें आये हैं। एक स्थानपर उससे अवतरण द्वारा टीकाकारने अपने मतकी पुष्टि की है। यथा-

लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो। (ध. १४३)

दूसरे स्थानपर उससे अपने मतका विरोध दिखाया है और कहा है कि आचार्य-भेदसे वह भिन्न-मान्यताको लिये हुए है और इसलिये उसका हमारे मतसे ऐक्य नहीं है। यथा-

'एदेण वियाहपण्णत्तिसुत्तेण सह कधं ण विरोहो? ण, एदम्हादो तस्स पुधभूदस्स आइरियभेदेण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो। (ध० ८०८)

इस प्रकारके स्पष्ट मतभेदसे तथा उसके [illegible] नामसे इस व्याख्याप्रज्ञप्तिको इन सिद्धान्त ग्रन्थोंकी टीका माननेमें आशंका उत्पन्न हो सकती है। किन्तु जयधवलामें एक स्थानपर लेखकने बप्पदेवका नाम लेकर उनके और अपने बीचके मतभेदको बतलाया है। यथा-

चुण्णिसुत्तम्मि बप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जह० एगसमओ, उक्क० संखेज्जा समया त्ति परूविदो। (जयध० १८५)

१ [illegible] ॥ १७१ ॥
[illegible] ॥ १७२ ॥
[illegible] ॥ १७३ ॥
[illegible] ॥ १७४ ॥
[illegible] ॥ १७५ ॥
[illegible] ॥ १७६ ॥
[illegible]

इन अवतरणोंसे वप्पदेव और उनकी टीका 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का अस्तित्व सिद्ध होता है। धवलाकार वीरसेनाचार्यके परिचयमें हम कह ही आये हैं कि इन्द्रनन्दिके अनुसार उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्तिको पाकर ही अपनी टीका लिखना प्रारम्भ किया था।

उक्त पांच टीकाएं षट्खंडागमके पुस्तकारूढ होनेके बाद (विक्रमकी २ री शताब्दि) से धवलाकी रचना काल (विक्रमकी ९ वीं शताब्दि) तक रची गईं जिनके अनुसार स्थूल मानसे कुन्दकुन्द दूसरी शताब्दिमें, शामकुंड तीसरीमें, तुम्बुलूर चौथीमें, समन्तभद्र पांचवींमें और बप्पदेव छठवीं और आठवीं शताब्दिके बीच अनुमान किये जा सकते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ये सब टीकाएं कहां गईं और उनका पठन पाठन एक दम प्रचारसे विच्छिन्न हो गया? हम धवलाकारके परिचयमें ऊपर कह ही आये हैं कि उन्होंने, उनके शिष्य जिनसेनके शब्दोंमें, चिरकालीन पुस्तकोंका गौरव बढ़ाया और इस कार्यमें वे अपने पूर्वके समस्त पुस्तक-शिष्योंसे बढ़ गये। जान पड़ता है कि इसी गौरवके प्रभावमें उक्त सब प्राचीन टीकाओंका प्रचार रुक गया। वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाके विस्तार व विषयके पूर्ण परिचय तथा पूर्वमान्यताओं व मतभेदोंके संग्रह, आलोचन व मथनद्वारा उन पूर्ववर्ती टीकाओंको पाठकोंकी दृष्टिसे ओझल कर दिया। किन्तु स्वयं यह वीरसेनीया टीका भी उसी प्रकारके अभ्यासमें दीर्घकाल अपनेको नहीं बचा सकी। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इसका पूरा सार लेकर संक्षेपमें सरल और सुगमरूपसे गोम्मटसारकी रचना कर दी, जिससे इस टीकाका भी पठन पाठन प्रचार रुक गया। यह बात इसीसे सिद्ध है कि गत सात-आठ शताब्दियोंमें इसका कोई साहित्यिक उपयोग हुआ नहीं जान पड़ता और इसकी एकमात्र प्रति पूजाकी वस्तु बनकर तालेमें बन्द रही। किन्तु यह असंभव नहीं है कि पूर्वकी टीकाओंकी प्रतियां अब भी दक्षिणके किसी शास्त्रभंडारमें पड़ी हुई प्रकाशकी बाट जोह रही हों। दक्षिणमें पुस्तकें ताडपत्रोंपर लिखी जाती थीं और ताडपत्र जल्दी क्षीण नहीं होते। साहित्यप्रेमियोंको दक्षिणप्रान्तके भंडारोंकी इस दृष्टिसे खोजबीन करते रहना चाहिए।

९ धवलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य

सत्प्ररूपणामें उल्लिखित साहित्य

धवला और जयधवलाका अवलोकन करनेसे पता चलता है कि उनके रचयिताके [illegible] सन्मुख बहुत विस्तृत जैन साहित्य प्रस्तुत था। [illegible] प्रदर्शित हो रहा है उसमें उन्होंने [illegible] प्राभृत व [illegible] प्राभृत [illegible] व उनकी विविध आचार्यकृत टीकाओं [illegible] अन्य [illegible]। [illegible] सिद्धसेन दिवाकरकृत [illegible] 'सम्मइसुत्त' [illegible]

१ पृ. ५ ८ १११ २२६ आदि

५ बप्पदेव गुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति

और रविनन्दि नामके दो मुनि हुए, जो अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि थे। उनसे बप्पदेवगुरुने वह समस्त सिद्धान्त विशेषरूपसे सीखा। वह व्याख्यान भीमरथि और कृष्णमेख नदियोंके बीचके प्रदेशमें उत्कलिका ग्रामके समीप मगणवल्ली ग्राममें हुआ था। भीमरथि कृष्णा नदीकी शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अब बेलगांव व धारवाड़ कहलाता है। वहीं यह बप्पदेव गुरुका सिद्धान्त अध्ययन हुआ होगा। इस अध्ययनके पश्चात् उन्होंने महाबन्धको छोड़ शेष पांच खंडोंपर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नामकी टीका लिखी। तत्पश्चात् उन्होंने छठे खण्डकी संक्षेपमें व्याख्या लिखी। इस प्रकार छहों खंडोंके निष्पन्न हो जानेके पश्चात् उन्होंने कषायप्राभृतकी भी टीका रची। उक्त पांच खंडों और कषायप्राभृतकी टीकाका परिमाण साठ हजार, और महाबन्धकी टीकाका 'पांच अधिक आठ हजार' था, और इस सब रचनाकी भाषा प्राकृत थी।

धवलामें व्याख्याप्रज्ञप्तिके दो उल्लेख हमारी दृष्टिमें आये हैं। एक स्थानपर उसका अवतरण द्वारा टीकाकारने अपने मतकी पुष्टि की है। यथा-

लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो (ध. १४३)

दूसरे स्थानपर उससे अपने मतका विरोध दिखाया है और कहा है कि आचार्य-भेदसे वह भिन्न मान्यताको लिये हुए है और इसलिये उसका हमारे मतसे ऐक्य नहीं है। यथा-

'एदेण वियाहपण्णत्तिसुत्तेण सह कथं ण विरोहो? ण, एदम्हादो तस्स पुधभूदस्स आयरियभेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो (ध० ८०८)

इस प्रकारके स्पष्ट मतभेदसे तथा उसके सूत्र कहे जानेसे इस व्याख्याप्रज्ञप्तिको इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी टीका माननेमें आशंका उत्पन्न हो सकती है। किंतु जयधवलामें एक स्थानपर लेखकने बप्पदेवका नाम लेकर उनके और अपने बीचके मतभेदको बतलाया है। यथा-

चुण्णिसुत्तम्मि बप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जह० एगसमओ, उक्क० संखेज्जा समया त्ति परूविदो (जयध० १८५)

१ एवं व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया। आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिभ्याम् ॥ १७१ ॥
शुभरविनन्दिमुनिभ्यां भीमरथि-कृष्णमेखयोः सरितोः। मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम् ॥ १७२ ॥
विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण। श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं बप्पदेवगुरुः ॥ १७३ ॥
अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपञ्चखण्डे तु। व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च ततः संक्षिप्य ॥ १७४ ॥
षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्यप्राभृतकस्य च षष्टिसहस्रग्रन्थपरिमाणयुताम् ॥ १७५ ॥
व्यलिखत्प्राकृतभाषारूपां सम्यक्पुरातनव्याख्याम्। अष्टसहस्रग्रन्थां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे ॥ १७६ ॥
इन्द्र श्रुतावतार

इन अवतरणोंसे स्पष्ट है और उनसे तथा 'धवल-जयधवल' का अस्तित्व सिद्ध होता है। धवलाकार वीरसेन स्वामीके शिष्योंमें हम यह ही अर्थ है कि उन्होंके अनुसार उन्होंने एक ग्रंथ रचकर ही अपनी टीका लिखना प्रारम्भ किया था।

इस लेखक टीकाका धवल-जयधवल पुस्तकरूप होना शक (विक्रमकी ९ वीं शताब्दि) से पश्चात् स्थापना काल (विक्रमकी १० वीं शताब्दि) तक रची गई जिनके अनुसार स्पष्ट मालूम होता है कि इनकी स्थानभूत कुमुदचन्द्र आदि पूर्व समस्त टीकाओंका और टीकाएं अप्राप्य हो गई हैं।

प्रश्न हो सकता है कि वे सब टीकाएं कहां गई और उनका पठन-पाठनरूपसे प्रचार क्यों विच्छिन्न हो गया? हम ग्रंथकारके परिचयमें ऊपर कह ही आये हैं कि उन्होंने, उनके शिष्य जिनसेनने, चिरकालीन पुस्तकोंका गौरव बढ़ाया और इस कार्यमें उन्होंने अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-श्रेणियोंका उपयोग किया। ज्ञात होता है कि इन्हीं टीकाओंके प्रभावमें उन सब प्राचीन टीकाओंका प्रचार रुक गया। वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाके विस्तार व विषयके पूर्ण परिचय तथा पूर्ववर्ती टीकाओंके मतोंके संग्रह, आलोचन व मनन द्वारा उन पूर्ववर्ती टीकाओंको पाठकोंकी दृष्टिसे ओझल कर दिया। किन्तु स्वयं यह वीरसेनीया टीका भी उसी प्रकारसे अपने विस्तारके कारण पढ़नेसे अरोचक रही, बचा नहीं। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इसका पूरा सार लेकर संक्षेपमें सरल और सुगमरूपसे गोम्मटसारकी रचना कर दी, जिससे इस टीकाका भी पठन-पाठन प्रचार रुक गया। यह बात इससे सिद्ध है कि गत सात-आठ शताब्दियोंमें इसका कोई साहित्यिक उपयोग हुआ नहीं जान पड़ता और इसकी एकमात्र प्रति पूजाकी वस्तु बनकर तालेमें बन्द पड़ी रही। किन्तु यह असंभव नहीं है कि पूर्वकी टीकाओंकी प्रतियां अभी भी दक्षिणके किसी शास्त्रभंडारमें पड़ी हुई प्रकाशकी बाट जोह रही हों। दक्षिणमें पुस्तकें ताड़पत्रोंपर लिखी जाती थीं और ताड़पत्र जल्दी नष्ट नहीं होते। साहित्यप्रेमियोंको दक्षिणप्रान्तके भंडारोंकी इस दृष्टिसे भी खोजबीन करते रहना चाहिए।

१ धवलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य

सत्प्ररूपणामें उल्लिखित साहित्य

धवला और जयधवलाके अवलोकनसे पता चलता है कि उनके रचयिता वीरसेन आचार्यके समक्ष बहुत विशाल जैन साहित्य प्रस्तुत था। सत्प्ररूपणाकी टीकामें जो ग्रंथ अब प्रकाशित हो रहे हैं उनमें उन्होंने **सत्कर्मप्राभृत** व **कषायप्राभृत**के नामोल्लेख व उनके विविध अधिकारोंके उल्लेख व अवतरण आदि दिये हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मतितर्कका '**सम्मइसुत्त**' नामोल्लेख करके

१ ... २१, २२ आदि

[illegible] उत्तर [illegible] उनका समाधान किया [illegible] उन्होंने [illegible] उन्होंने अनेक [illegible] [illegible] है और [illegible] अनेक [illegible] कहीं [illegible] और कहीं [illegible] उन्होंने [illegible] उल्लेख किये हैं उनमेंसे हमें [illegible] प्रवचनसार पञ्चास्तिकाय [illegible] त्रिलोयपण्णत्तिमें, [illegible] मूलाराधनामें, [illegible] वसुनन्दिश्रावकाचारमें, [illegible] नयचक्र, [illegible] गोम्मटसार जीवप्रबोधनी टीकामें [illegible] है। [illegible] पत्रिचयमाचार्य [illegible] साहित्यमें भी [illegible] है। [illegible] दर्शनप्राभृतमें, [illegible] अनुयोग [illegible]

था। पर इसमें भी यह बात उल्लेखनीय है कि इन सूत्र ग्रंथोंके अनेक संस्करण और नाना पाठभेदोंको रखते हुए उनके सन्मुख विद्यमान थे। उन्होंने अनेक जगह सूत्र पुस्तकोंके भिन्न भिन्न पाठों व तज्जन्य मतभेदोंका उल्लेख व यथाशक्ति समाधान किया है[1]।

कहीं कहीं सूत्रोंमें परस्पर विरोध पाया जाता था। ऐसे स्थलोंपर टीकाकारने निर्णय करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की है और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र है और कौन असूत्र है इसका निर्णय आगममें निपुण आचार्य करें। हम इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि, हमें इसका उपदेश कुछ नहीं मिला[2]। कहीं उन्होंने दोनों विरोधी सूत्रोंका व्याख्यान कर दिया है, यह कह कर कि 'इसका निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी व केवलज्ञानी ही कर सकते हैं, किंतु वर्तमान कालमें वे हैं नहीं, और अब उनके पाससे सुनकर आये हुए भी कोई नहीं पाये जाते। अतः सूत्रोंकी प्रमाणिकता नष्ट करनेसे डरनेवाले आचार्योंको तो दोनों सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिये[3]'। कहीं कहीं तो सूत्रोंपर उठाई गई शंका पर टीकाकारने यहांतक कह दिया है कि 'इस विषयकी पूछताछ गौतमसे करना चाहिये, हमने तो यहां उनका अभिप्राय कहा है[4]'।

सूत्रविरोधका कहीं कहीं ऐसा कहकर भी उन्होंने समाधान किया है कि 'यह विरोध तो सत्य है किंतु एकांतग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, यह विरोध सूत्रोंका नहीं है किंतु इन सूत्रोंके उपसंहारकर्ता आचार्य सकल श्रुतके ज्ञाता न होनेसे उनके द्वारा विरोध आ जाना संभव है[5]'। इससे वीरसेन स्वामीका यह मत जाना जाता है कि सूत्रोंमें पाठभेदादि परम्परा

१ केसु वि सुत्तपोत्थएसु पुरिसवेदस्सुवरि छण्णोकसाया। धवला अ. १४५
केसु वि सुत्तपोत्थएसु [illegible] तदा एस [illegible]। धवला अ. ५ १
केसु वि सुत्तपोत्थएसु विदियमद्धमस्सिदूण परूविद अप्पाबहुअभावा। धवला अ. १२ १
केसु वि सुत्तपोत्थएसु [illegible]। धवला अ. ११४१

२ तदो तेहि सुत्तेहि एदेसि सुत्ताणं विरोहो होदि त्ति भणिदे जदि एवं [illegible] इदं सुत्तं इदं वासुत्तमिदि आगमणिउणा भणंतु [illegible] ण च अम्हे एत्थ वोत्तुं समत्था अलद्धोवदेसत्तादो। धवला अ. ५१२

३ होदु णाम तुम्हेहि वुत्तत्थस्स सच्चत्तं [illegible] ४४ [illegible] तदो वज्जभीरुहि आइरिएहि दोण्हं पि सुत्ताणं वक्खाणं कायव्वं। धवला अ. ५६०

४ एवं [illegible] गोदमो पुच्छेयव्वो [illegible] अम्हेहि [illegible] अहिप्पाओ कहिओ। धवला अ. ५६०

५ कसायपाहुडसुत्तेण [illegible] कधं सुत्ताणं विरोहो? [illegible] अ.

आचार्योंद्वारा भी हो चुके थे। और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि, उनके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि सूत्रोंका अध्ययन कई प्रकारसे चला करता था जिसके अनुसार कोई सूत्राचार्य थे,[1] कोई उच्चारणाचार्य[2], कोई निक्षेपाचार्य[3] और कोई व्याख्यानाचार्य[4]। इनमें भी ऊपर 'महावाचकों'[5] का पद ज्ञात होता है। कषायप्राभृतके प्रकाण्ड ज्ञाता आर्यमंक्षु और नागहस्तिको अनेक जगह महावाचक कहा है। आर्यनन्दिको भी महावाचकरूपसे एक जगह उल्लेख है। संभवतः ये स्वयं वीरसेनके गुरु थे जिनका उल्लेख धवलाकी प्रशस्तिमें भी किया गया है।

धवलाकारने कई जगह ऐसे प्रसंग भी उठाये हैं जहां सूत्रोंसे इन आचार्योंका कोई मत उपलब्ध नहीं था। इनका निर्णय उन्होंने अपने गुरुके उपदेशके बल पर[6] व परम्परागत उपदेशद्वारा[7] तथा सूत्रोंसे अविरुद्ध अन्य आचार्योंके वचनोंद्वारा[8] किया है।

धवला पत्र १०३६ पर तथा जयधवलाके मंगलाचरणमें कहा गया है कि गुणधराचार्य विरचित कषायप्राभृत आचार्यपरंपरासे आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्योंको प्राप्त हुआ और उनसे सीखकर यतिवृषभने उनपर वृत्तिसूत्र रचे। वीरसेन और जिनसेनके सन्मुख, जान पड़ता है, उन दोनों आचार्योंके अलग अलग व्याख्यान प्रस्तुत थे क्योंकि उन्होंने अनेक जगह उन दोनोंके

१ **सुत्ताइरिय** वक्खाण-पसिद्धो उवलब्भदे। तम्हा तेसु **सुत्ताइरिय** वक्खाण-पसिद्धेण ध. २९४

२ एसो **उच्चारणाइरिय** अभिप्पाओ। धवला अ. ७६४ एदम्मि अणियोगद्दारम्मि **उच्चारणाइरियो** वएसबलेण परूवणं वत्तइस्सामो। जयध. अ. ८४२

३ **णिक्खेवाइरिय** परूविद गाहाणमत्थं भणिस्सामो। धवला अ. ८५३

४ **वक्खाणाइरिय** परूविदं वत्तइस्सामो। धवला अ. १०२
वक्खाणाइरियाणमभावादो। धवला अ. ३४८

५ **महावाचया**णमज्जमखुसमणाणमुवदेसेण **महावाचया**णमज्जणंदीणं उवदेसेण। धवला अ. १४५७ **महावाचया** अज्जखमणदिणा संतकम्मं करेंति। ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति। धवला अ. १४ अज्जमंखु णागहत्थि **महावाचय** मुहकमल-विणिग्गएण सम्मत्तस्स। जयध. अ. ९७३

६ कधमेदं णव्वदे? **गुरूवदेसादो**। धवला अ. २१४

७ सुत्ताभावे संत चदु खंडाणि कादूण किं कधं णव्वदे? ण, **आइरियपरंपरा**गदुवदेसादो। धवला अ. ५२

८ कुदो णव्वदे? अविरुद्धाइरियवयणादो सुत्तसमाणादो। धवला अ. १२७ सुत्तेण विणा कुदो णव्वदे? **सुत्ताविरुद्धाइरियवयणा**दो। धवला अ. १२३७

स्मरण किया है¹ तथा उन्हें महावाचकके अतिरिक्त 'क्षमाश्रमण' भी कहा है। यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंकी पुस्तक भी उनके सामने थी और उसके सूत्र संख्या क्रमका भी वीरसेनने बराबर ध्यान रक्खा है।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति

गुरु और उनके व्याख्यानोंमें विशेषतः अतिरिक्त एक और विशेषका उल्लेख मिलता है जिसे धवलाकार उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति कहते हैं। ये दो भिन्न मान्यताएं थीं जिनमेंसे टीकाकार स्वयं दक्षिण प्रतिपत्तिको स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह ऋजु अर्थात् सरल, सुस्पष्ट और आचार्य परंपरागत है तथा उत्तर प्रतिपत्ति अनृजु है और आचार्य परंपरागत नहीं है। धवलामें इस प्रकारके तीन मत भेद हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। प्रथम द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारमें उपशामक जीवोंकी संख्या ३०४ बतलाकर कहा है—

'केवि पुव्वुत्तपमाणं पंचूणं करंति। एदं पंचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिणमाइरियपरंपरागदमिदि जं वुत्तं होइ। पुव्वुत्तवक्खाणमपवाइज्जमाणं वाउं आइरियपरंपरअणागदमिदि णायव्वं।'

अर्थात् कोई कोई पूर्वोक्त प्रमाणमें पांचकी कमी करते हैं। यह पांचकी कमीका व्याख्यान प्रवचन प्राप्त है, दक्षिण है और आचार्य परम्परागत है। पूर्वोक्त व्याख्यान प्रवचन प्राप्त नहीं है, वाम है और आचार्यपरंपरागत आया हुआ भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

इसीके आगे क्षपकश्रेणीकी संख्या ६०५ बतलाकर कहा गया है—
एसा उत्तर पडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिण पडिवत्ती हवदि।

अर्थात् यह (६०५ की संख्यासंबंधी) उत्तर प्रतिपत्ति है। इसमेंसे दश निकाल देने पर दक्षिण प्रतिपत्ति हो जाती है।

आगे चलकर द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारमें ही संयतोंकी संख्या ८९००९९९७ बतलाकर कहा है 'एसा दक्खिण-पडिवत्ती'। इसके अन्तर्गत भी मतभेदादिका निर्देश करके, फिर

१ कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे हि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति। जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थिखमासमणा भणंति। अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवदेसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा। (जयध० अ० १४४) एत्थ दुवे उवएसा महावाचयाणमज्जमंखुखवणाणमुवदेसेण लोगम्मि पूरिदे आउगसमाणं णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थिखवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं अंतोमुहुत्तपमाणं होदि। जयध० अ० १२३९

२ जइवसह पणिवहुणं [illegible] ।। जइवसहणमिद कारहन्दी। जयध० अ० २४

कहा है ' एसा **उत्तर पडिवत्ती** एत्थ ग्गाणा ' और तत्पश्चात् गणना का मान १००९०३३१ बतलाई है। यहां इनकी समीचीनताका विचार कुछ नहीं किया।

दक्षिण प्रतिपत्तिके अन्तर्गत एक और मतभेदका भी उल्लेख किया गया है। कुछ आचार्योंने उक्त सम्यक् संयम ना शरा उठाई है उनका निम्न प्रकार धवलाकार कहते हैं—

' ज दूसण भणिद तण्ण दूसण, बुद्धिविहूणाइरियमुहविणिग्गयत्तादो। '

अर्थात् ' जो दूषण कहा गया है वह दूषण नहीं है, क्योंकि यह बुद्धिविहीन आचार्यके मुखसे निकली हुई बात है '। संभव है वीरसेन स्वामीने किसी समसामयिक आचार्यको लक्ष्य ही दृष्टिमें रखकर यह भर्त्सना की हो।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति भेदका तीसरा उल्लेख अन्तरानुयोगद्वारमें आया है जहां तिर्यंच और मनुष्योंके सम्यक्त्व और संयमादि धारण करनेकी योग्यताके कालका विवेचन करते हुए लिखते हैं—

' एत्थ वे उवदेसा, त जहा—तिरिक्खेसु वेमासमुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्त संजमासंजम च जीवो पडिवज्जदि। मणुसेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अंतोमुहुत्तब्महिएसु सम्मत्त संजम संजमासंजम च पडिवज्जदि त्ति। एसा **दक्खिणपडिवत्ती**। दक्खिण उज्जुव आइरियपरंपरागदमिदि एयट्ठो। तिरिक्खेसु तिण्णि पक्ख तिण्णि दिवस अंतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत्त संजमासंजम च पडिवज्जदि। मणुसेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्त संजम संजमासंजम च पडिवज्जदि। एसा **उत्तरपडिवत्ती**, उत्तरमणुज्जुव आइरियपरंपराए णागदमिदि एयट्ठो धवला अ २३०

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व और संयमासंयमादि धारण करनेकी योग्यता दक्षिण प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यंचोंमें (जन्मसे) २ मास और मुहूर्तपृथक्त्वके पश्चात् होती है, तथा मनुष्योंमें गर्भसे ८ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् होती है। किंतु उत्तर प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यंचोंमें वही योग्यता ३ पक्ष, ३ दिन और अन्तर्मुहूर्तके उपरान्त, तथा मनुष्योंमें ८ वर्षके उपरान्त होती है। धवलाकारने दक्षिण प्रतिपत्तिको यहां भी दक्षिण, ऋजु व आचार्य-परम्परागत कहा है और उत्तर प्रतिपत्तिको उत्तर, अनृजु और आचार्य परम्परासे अनागत कहा है।

हमने इन उल्लेखोंका दूसरे उल्लेखोंकी अपेक्षा कुछ विस्तारसे परिचय इस कारण दिया है, क्योंकि, यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तिका मतभेद अत्यंत महत्वपूर्ण और विचारणीय है। संभव है इनसे धवलाकारका तात्पर्य जैन समाजके भीतरकी किन्हीं विशेष साम्प्रदायिक मान्यताओंसे ही हो १

धवलामें जिन अन्य आचार्यों व रचनाओंके उल्लेख दृष्टिगोचर हुए हैं व

तिलोयपण्णत्ति सूत्र तिलोकप्रज्ञप्तिको धवलाकारने सूत्र कहा है और उसका उपयोग किया है। हम ऊपर कह आये हैं कि सत्प्ररूपणामें मुद्रित अक्षरों सात गाथाएं थोड़ी सी पाई जाती हैं और प्रकरण भाषा परिवर्तन करके थोड़े से लिये गये हैं। इस

व यतिवृषभाचार्य यतिवृषभाचार्य वह जाते हैं जो जयधवलाके अंतर्गत कषायप्राभृतपर चूर्णिसू यतिवृषभसे अभिन्न प्रतीत होते हैं।[१] सत्प्ररूपणामें भी यतिवृषभका उल्लेख आया है उनके मतका उल्लेख किया गया है।

पंचत्थिपाहुड कुन्दकुन्द पंचास्तिकायका 'पंचत्थिपाहुड' नामसे उल्लेख आया है और दो गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं। सत्प्ररूपणामें उनके पाये जाते हैं उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। परिकर्म और उसके साथ कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धका विवेचन भी हम ऊपर कर आये हैं।

गृद्धपिच्छाचार्यकृत तत्वार्थसूत्र धवलाकारने तत्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकृत कहा है और ऊपर कर उद्धृत किये हैं। इससे तत्वार्थसूत्रकर्ता एक कुछ निष्कर्षोंके उस वचनकी पुष्टि होती है जिसमें 'गृद्धपिच्छोपलाछित' कहा है। सत्प्ररूपणामें भी उल्लेख आये हैं।

१ तिलोयपण्णत्तिसुत्ताद्दो। धवला अ ११२
[illegible] तिलोयपण्णत्तिसुत्ते। धवला अ
तिलोयपण्णत्तिसुत्ता॥ [illegible]
Catalogue [illegible]
[illegible] यतिवृषभाचार्य [illegible]
[illegible] जइवसहदेव [illegible]
पंचत्थिपाहुड [illegible]
[illegible]
कुन्दकुन्द [illegible]
[illegible]

च तत्वार्थभाष्ये ' या 'तत्वार्थभाष्यगत' प्रगट किया गया है। धवलामें एक स्थान (पृ ७००) पर कहा गया है—

पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि— सामान्य नयलक्षणमिदमेव। तद्यथा, प्रमाण प्रकाशिताथ विशेष प्ररूपको नय इति।

इसके आगे प्रकर्षेण मान प्रमाणम् आदि उक्त लक्षणकी व्याख्या भी दी है। यही लक्षण व व्याख्या तत्वार्थराजवार्तिक, १, ३३, १ में आई है। जयधवला (पत्र २६) में भी यह व्याख्या पाई है और वहां उसे ' तत्वार्थभाष्यगत ' कहा है। ' अय वाक्यनय तत्वार्थ भाष्यगत '। इससे सिद्ध होता है कि राजवार्तिकका असली प्राचीन नाम ' तत्वार्थभाष्य ' है और उसके कर्ता अकलंकका सम्मानसूचक उपनाम ' पूज्यपाद भट्टारक ' भी था। उनका नाम भट्टाकलंकदेव तो मिलता ही है।

प्रभाचन्द्र भट्टारक धवलामें वेदनाखंडान्तर्गत नयके निरूपणमें (पृ ७००) प्रभाचन्द्र भट्टारक द्वारा कहा गया नयका लक्षण उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है—

' प्रभाचन्द्र भट्टारकैरप्यभाणि- प्रमाण-व्यपाश्रय- परिणामविकल्प-वशीकृतार्थ-विशेष-प्ररूपण-प्रवण प्रणिधिर्यः स नय इति। '

ठीक यही लक्षण ' प्रमाणव्यपाश्रय ' आदि जयधवला (पृ २६) में भी आया है और उसके पश्चात् लिखा है 'अय वाक्यनय प्र ाच ो य '। यह हमारी प्रतिकी अशुद्धि ज्ञात होती है और इसका ठीक रूप ' अय वाक्यनय प्रभाचन्द्रीय ' ऐसा प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्रकृत दो प्रौढ न्याय ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं, एक प्रमेयकमलमार्तण्ड और दूसरा न्यायकुमुदचन्द्रोदय। इस दूसरे ग्रंथका अभी एक ही खंड प्रकाशित हुआ है। इन दोनों ग्रंथोंमें उक्त लक्षणका पता लगानेका हमने प्रयत्न किया किन्तु वह उनमें नहीं मिला। तब हमने न्या कु च के सुयोग्य सम्पादक पं महेन्द्रकुमारजीसे भी इसकी खोज करनेकी प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने भी परिश्रम करनेके पश्चात् हमें सूचित किया कि बहुत खोज करनेपर भी उस लक्षणका पता नहीं लग रहा। इससे प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्रकृत कोई और भी ग्रंथ रहा है जो अभी तक प्रसिद्धिमें नहीं आया और उसीके अन्तर्गत वह लक्षण हो, या इसके कर्ता कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हुए हों।

धवलामें 'इति' के पश्चात् अप्रकाशनके लिए 'एत्थ उवयुत्तओ गिलागा' आदि

धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममाला

इस विषय का एक उपयोगी श्लोक कहकर निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

हेतावेव प्रकाराद्यै व्यवच्छेदे विपर्यये ।
प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्दं विदुर्बुधा ॥ धनंजय अ ३८७

यह श्लोक धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममालाका है और वहां वह अपने शुद्धरूपमें [illegible] पाया जाता है—

हेतावेव प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये ।
प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्दः प्रकीर्तितः ॥ ३९ ॥

इन्हीं धनञ्जयका बनाया हुआ नाममाला कोष भी है जिसमें उन्होंने अपने द्विसंधान [illegible] अकलंकका प्रमाण और पूज्यपादका लक्षण अपश्चिम कहा है अर्थात् उनसे [illegible] लिया गया ।

[illegible] कि [illegible] धनञ्जय, पूज्यपाद और अकलंकके पश्चात् हुए । [illegible] नहीं होता था । धवलाका उल्लेख प्रमाणित [illegible] शक ७३८ से पूर्व है ।

[illegible] भी पाये जाते हैं जिनके सम्बन्धमें अभीतक कुछ भी [illegible] कहांसे और किसके बनाये हुए हैं । [illegible] ([illegible] २८९) [illegible] उक्त—

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] । [illegible] —
[illegible] ॥
[illegible] ३ [illegible]

[illegible] —

[illegible]

' स कम्मपयडिपाहुडे परिवाडी परूविदो ' (धवला अ १३७१)

जयधवलामें एक स्थानपर दसकरणीसंग्रहका उल्लेख आया है। यथा–

"पुव्वुत्तणिमित्तणिबंधणामुदिबंदणतरसमय णिबंधणे धम्मेयाणं वीतरागाणमिति। दस करणीसंगहे पुण पयडिबंधसंभवमेत्तमवेक्खिय वेदणीयस्स बन्धपरूवणाकरणेसु ति बंधणाकरणमोवट्ट-णाकरणं च दो वि भणिदाणि ति। जयध० अ १०४२

इस अवतरणसे इस ग्रंथमें कर्मोंकी बंध, उदय, संक्रमण आदि दश अवस्थाओंका वर्णन है ऐसा प्रतीत होता है।

ये ग्रन्थ एवं उल्लेख हैं जो धवला और जयधवलामें एक स्थूल दृष्टि डालनेसे प्राप्त हुए हैं। हमें विश्वास है कि इन ग्रंथोंके सूक्ष्म अवलोकनसे जैन धार्मिक और साहित्यिक इतिहासके सम्बन्धमें बहुतसी नई बातें ज्ञात होंगी जिनसे अनेक साहित्यिक ग्रंथियां सुलझ सकेंगी।

१० षट्खंडागमका परिचय

ग्रंथ नाम

पुष्पदन्त और भूतबलिद्वारा जो ग्रंथ रचा गया उसका नाम क्या था? स्वयं सूत्रोंमें तो ग्रंथका कोई नाम हमारे देखनेमें नहीं आया, किंतु धवलाकारने ग्रंथकी उत्थानिकामें ग्रंथके मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह ज्ञातव्य बातोंका परिचय कराया है। वहां इसे 'खंडसिद्धान्त' कहा है और इसके खंडोंकी संख्या छह बतलाई है[1]। इस प्रकार धवलाकारने इस ग्रंथका नाम 'षट्खंड सिद्धान्त' प्रकट किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि सिद्धान्त और आगम एकार्थवाची हैं[2]। धवलाकारके पश्चात् इन ग्रंथोंकी प्रसिद्धि आगम परमागम व षट्खंडागम नामसे ही विशेषतः हुई। अपभ्रंश महापुराणके कर्ता पुष्पदन्तने धवल और जयधवलको आगम सिद्धान्त[3], गोम्मटसारके टीकाकारोंने परमागम

१ एदं खंडसिद्धंतं पडुच्च भूदबलि पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति। (पृ ७१)
इदं पुण जीवट्ठाणं खंडसिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढमखंडं जीवट्ठाणमिदि। (पृ ७४)

२ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो। (पृ २) आगम सिद्धान्त। (पृ २१)
कृतान्तागम सिद्धान्त ग्रंथाः शास्त्रम् अतः परम्॥ (धनंजय नाममाला ४)

३ ण उ बुज्झिउ आयमु सद्दधामु। सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम॥ (महापु १ ९ ८)

४ एवं विंशतिसंख्या गुणस्थानादयः प्ररूपणाः भगवदर्हद्गणधरशिष्य प्रशिष्यादिगुरुपर्वागतया परिपाट्या अनुक्रमेण भणिताः परमागमे पूर्वाचार्यैः प्रतिपादिताः (गो जी टी २१) परमागमे निगोदजीवानां इत्थिंभूतस्य प्रसिद्धत्वात्। (गो जी टी ४४२)

तथा श्रुतावतारके कर्ता इन्द्रनन्दिने षट्खंडागम कहा है, और इस प्रकारसे आगम कहलानेकी भी सार्थकता भी है। सिद्धान्त और आगम यद्यपि साधारणतः पर्यायवाची लिये जाते हैं, किंतु निरुक्ति और सूक्ष्मार्थकी दृष्टिसे उनमें भेद है। कोई भी निश्चित या सिद्ध मत सिद्धान्त कहा जा सकता है, किंतु आगम वही सिद्धान्त कहलाता है जो आप्तवाक्य है और पूर्व परम्परासे आया है। इसप्रकार सभी आगमको सिद्धान्त कह सकते हैं किंतु सभी सिद्धान्त आगम नहीं कहला सकते। सिद्धान्त सामान्य संज्ञा है और आगम विशेष।

इस विवेचनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूपसे आगम सिद्धान्त ठहरता है। धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतबलिको वे ही सिद्धान्त सिखाये जो उन्हें उनसे पूर्ववर्ती आचार्योंद्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महावीरस्वामी तक पहुंचती है। पुष्पदन्त और भूतबलिने भी वे ही आगम सिद्धान्त पुस्तकारूढ किये और टीकाकारने भी उनका विवेचन पूर्व मान्यताओं और पूर्व आचार्योंके वचनोंके अनुसार ही किया है जैसा कि उनकी टीकामें स्थान स्थानपर प्रकट है। आगमका यह भी लक्षण है कि उसमें तर्कवाद नहीं चलता, क्योंकि, आगम अनुमान आदिकी अपेक्षा नहीं रखता किंतु स्वयं प्रमाणोंमें बलवत्तर प्रमाण माना जाता है।

पुष्पदन्त व भूतबलिकी रचना तथा उस पर वीरसेनकी टीका इसी पूर्व परम्पराकी मान्यताको लिये हुए है, इसीलिये इन्द्रनन्दिने उसे आगम कहा है और हमने भी इसी सार्थकताका ध्यान रखकर इन्द्रनन्दिद्वारा निर्दिष्ट नाम षट्खंडागम स्वीकार किया है।

जीवट्ठाण षट्खंडागमके प्रथम खंडका नाम 'जीवट्ठाण' है। उसके अन्तर्गत १ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व, ये आठ अनुयोगद्वार, तथा ९ चूलि-

१ षट्खंडागम [illegible] श्रुतावतार [illegible] ॥ षट्खंडागम [illegible] ॥ षट्खंडागम [illegible] षट्खंडागम [illegible] श्रुतावतार [illegible] षट्खंडागम [illegible]

[illegible] आगमं [illegible] समयागमो [illegible]

[illegible] सूत्रसाम [illegible] आदिपदं [illegible] [illegible] तद्धरणपर्यायापन्नं [illegible]

समुत्कीर्तना, २ स्थानसमुत्कीर्तना, ३-५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति और ९ गति-आगति ये नौ चूलिकाएं हैं। इस खण्डका परिमाण धवलाकारने अठारह हजार पद कहा है (पृ ६०)। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारों और नौ चूलिकाओंमें गुणस्थानों और मार्गणाओंका आश्रय लेकर यहां विस्तारसे वर्णन किया गया है।

दूसरा खंड खुद्दाबंध (क्षुल्लकबंध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं, १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भंगविचय ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम ८ नाना-जीव-काल, ९ नाना जीव अन्तर, १० भागाभागानुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम। इस खंडमें इन ग्यारह प्ररूपणाओंद्वारा कर्मबंध करनेवाले जीवका कर्मबंधके भेदोंसहित वर्णन किया गया है।

२ खुद्दाबंध

यह खंड ... प्रतिके ४७२ पत्रसे प्रारम्भ होकर ५७९ पत्रपर समाप्त हुआ है।

तीसरे खंडका नाम बंधस्वामित्वविचय है। कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युच्छित्ति होती है, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियां कितनी हैं और परोदय बंधरूप कितनी हैं, इत्यादि कर्मबंधसम्बन्धी विषयोंका बंधक जीवकी अपेक्षासे इस खंडमें वर्णन है।

३ बंधस्वामित्व विचय

यह खंड ... प्रतिके ५७९ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ६६७ वें पत्र पर समाप्त हुआ है।

चौथे खंडका नाम वेदना है। इसके आदिमें पुनः मंगलाचरण किया गया है। इसी खंडके अन्तर्गत कृति और वेदना अनुयोगद्वार हैं। किंतु वेदनाके कथनकी प्रधानता और अधिक विस्तारके कारण इस खंडका नाम वेदना रक्खा गया है।

४ वेदना

कृतिमें औदारिकादि पांच शरीरोंकी संघातन और परिशातनरूप कृतिका तथा भवके प्रथम और अप्रथम समयमें स्थित जीवोंके कृति, नोकृति और अवक्तव्य संख्याओंका वर्णन है। १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ ग्रंथ, ६ करण और ७ भाव, ये कृतिके सात प्रकार हैं, जिनमेंसे प्रकृतमें गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है।

वेदनामें १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय,

१ ... ...
... ... सत्तवेदन दव्ववेदणा।

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तना, २ स्थानसमुत्कीर्तना, ३-५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति और ९ गति-आगति [illegible]। इस खण्डका परिमाण षट्खण्डागमके अनुसार अठारह हजार पद बताया है (पृ. ६०)। [illegible] चूलिकाओंमें गुणस्थानों [illegible] विस्तारसे [illegible] किया गया है।

२ खुद्दाबंध ([illegible])। इसके ग्यारह अधिकार हैं, १ स्वामित्व, २ [illegible], ३ [illegible], ४ [illegible], ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८ [illegible], ९ [illegible], १० भागाभागानुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम। [illegible] बंधक [illegible] वर्णन किया गया है।

[illegible] ४७५ [illegible] ७०६ पत्रपर समाप्त हुआ है।

३ बंधस्वामित्वविचय

[illegible] बंधस्वामित्वविचय है। कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युच्छित्ति होती है, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियां कितनी हैं [illegible] कितनी हैं, इत्यादि बंधसम्बन्धी विषयोंका वर्णन [illegible] है।

[illegible] ७०७ [illegible] ९६७ [illegible] समाप्त हुआ है।

४ वेदना

[illegible] नाम वेदना है। इसके आदिमें पुनः मंगलाचरण किया गया है। इसी [illegible] कृति और वेदना अनुयोगद्वार हैं। किन्तु वेदनाके कथनकी प्रधानता और अधिक विस्तारके कारण इस खण्डका नाम वेदना रक्खा गया है।

कृतिमें औदारिकादि पांच शरीरोंकी संघातन और परिशातनरूप कृतिका तथा भवके प्रथम और अप्रथम समयमें स्थित जीवोंके कृति, नोकृति और अवक्तव्य संख्याओंका वर्णन है। १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ ग्रंथ, ६ करण और ७ भाव, ये कृतिके सात प्रकार हैं, जिनमेंसे प्रकृतमें गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है।

वेदनामें १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय,

१ [illegible] तिण्णि खंडाणि [illegible] पदाणमभावादो। [illegible] संखेवेण परूवणादो।

तथा श्रुतावतारके कर्ता इन्द्रनंदिने षट्खंडागम कहा है, और इन ग्रंथोंको आगम कहनेकी यही भारी सार्थकता भी है। सिद्धान्त और आगम यद्यपि साधारणतः पर्यायवाची गिने जाते हैं, किंतु निरुक्ति और सूक्ष्मार्थकी दृष्टिसे उनमें भेद है। कोई भी निश्चित या सिद्ध मत सिद्धान्त कहा जा सकता है, किंतु आगम वही सिद्धान्त कहलाता है जो आप्तवाक्य है और पूर्व परम्परागत आया है। इसप्रकार सभी आगमको सिद्धान्त कह सकते हैं किंतु सभी सिद्धान्त आगम नहीं कहला सकते। सिद्धान्त सामान्य संज्ञा है और आगम विशेष।

इस विवेचनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूपसे आगम सिद्धान्त ही है। धरसेनाचार्यने पुष्पदंत और भूतबलिको वे ही सिद्धान्त सिखाये जो उन्हें उनसे पूर्ववर्ती आचार्योंद्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महावीरस्वामी तक पहुंचती है। पुष्पदंत और भूतबलिने भी वे ही आगम सिद्धान्त पुस्तकारूढ किया और टीकाकारने भी उनका विवेचन पूर्व मान्यताओं और पूर्व आचार्योंके उपदेशके अनुसार ही किया है जैसा कि उनकी टीकामें स्थान स्थानपर प्रकट है। आगमकी यह भी विशेषता है कि उसमें हेतुवाद नहीं चलता, क्योंकि, आगम अनुमान आदिकी अपेक्षा नहीं रखता किंतु स्वयं प्रत्यक्षके बराबर प्रमाण माना जाता है।

पुष्पदंत व भूतबलिकी रचना तथा उस पर वीरसेनकी टीका इसी पूर्व परम्परासे प्राप्त किये हुए हैं इसीलिये इन्द्रनंदिने उसे आगम कहा है और हमने भी इसी सार्थकताके कारण तथा इन्द्रनंदिद्वारा निर्दिष्ट नाम षट्खंडागम स्वीकार किया है।

जीवट्ठाण षट्खंडोंमें प्रथम खंडका नाम 'जीवट्ठाण' है। उसके अंतर्गत १ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अंतर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व, ये आठ अनुयोगद्वार, तथा १ प्रकृति

१ [illegible] ॥ १३७ ॥ षट्खंडागमरचनां [illegible] ॥ १३८ ॥ [illegible] षट्खंडागम [illegible] ॥ १४१ ॥ [illegible] ॥ १ ॥ इन्द्र. श्रुतावतार

२ [illegible] आप्तोक्ति [illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible] ७१६)

३ [illegible] (१०७) [illegible] (१ १) [illegible] (१२१) [illegible] (१२१) [illegible] (२१ [illegible] (१) [illegible]
१०

४ [illegible] आगम[illegible] (१ १) [illegible] [illegible] जी १११

समुत्कीर्तना, ३ स्थानसमुत्कीर्तना, ४-५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति और ९ गति-आगति ये नौ चूलिकाएं हैं। इस खंडका परिमाण धवलाकारने अठारह हजार पद कहा है (पृ ६०)। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारों और नौ चूलिकाओंमें गुणस्थानों और मार्गणाओंका आश्रय लेकर बड़ी विस्तारसे वर्णन किया गया है।

दूसरा खंड **खुद्दाबंध** (क्षुल्लकबंध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं — १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भंगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८ नानाजीव-काल, ९ नानाजीव-अन्तर, १० भागाभागानुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम। इस खंडमें इन ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मबन्धके कर्ता जीवका कर्मबन्ध [illegible] भेदोंसहित वर्णन किया गया है।

२ खुद्दाबंध

यह भाग [illegible] प्रति [illegible] पत्र प्रारम्भ होकर [illegible] पत्रपर समाप्त हुआ है।

तीसरे खण्डका नाम **बंधस्वामित्वविचय** है। कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युच्छित्ति होती है, स्वोदय बन्धरूप प्रकृतियां कितनी हैं और परोदय बन्धरूप कितनी हैं, इत्यादि कर्मबन्धसम्बन्धी विषयका बन्धक जीवकी अपेक्षासे इस खंडमें वर्णन है।

३ बंधस्वामित्व विचय

यह भाग [illegible] प्रति [illegible] पत्रसे प्रारम्भ होकर ६६७ वें पत्रपर समाप्त हुआ है।

चौथे खंडका नाम **वेदना** है। इसके आदिमें पुनः मंगलाचरण किया गया है। [illegible] [illegible] **कृति** [illegible] **वेदना** [illegible] [illegible]

४ वेदना

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

९ स्वामित्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अनन्तर, १३ सन्निकर्ष, १४ परिमाण, १५ भाग-भागानुगम और १६ अल्पबहुत्वानुगम, इन सोलह अधिकारोंके द्वारा वेदनाका वर्णन है।

इस खंडका परिमाण **सोलह हजार पद** बतलाया गया है। यह समस्त ग्रंथ अ प्रतिके ६६७ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ११०६ वें पत्रपर समाप्त हुआ है, जहां कहा गया है—

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता (खंडो समत्तो)।

५ वर्गणा पांचवें खंडका नाम **वर्गणा** है। इस खंडमें बंधनीयके अन्तर्गत वर्गणा अधिकारके अतिरिक्त स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धनका पहला भेद बंध, इन अनुयोगद्वारोंका भी अन्तर्भाव कर लिया गया है।

स्पर्शमें निक्षेप, नय आदि सोलह अधिकारोंद्वारा तेरह प्रकारके स्पर्शका वर्णन करके प्रकृतमें कर्म स्पर्शसे प्रयोजन बतलाया है।

कर्ममें पूर्वोक्त सोलह अधिकारोंद्वारा १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ प्रयोग ५ समवधान ६ अध, ७ ईर्यापथ, ८ तप ९ क्रिया और १० भाव, इन दश प्रकारके कर्मोंका वर्णन है।

प्रकृतिमें शील और स्वभावको प्रकृतिके पर्यायवाची बताकर उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार भेदोंमेंसे कर्म द्रव्य प्रकृतिका पूर्वोक्त १६ अधिकारोंद्वारा विस्तारसे वर्णन किया गया है।

इस खंडका प्रधान अधिकार बंधनीय है, जिसमें २३ प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन और उनमेंसे कर्मबंधके योग्य वर्गणाओंका विस्तारसे कथन किया है।

यह खंड अ प्रतिके ११०६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर १३३२ वें पत्रपर समाप्त हुआ है और वहां कहा है—

एवं विस्ससोवचय-परूवणाए समत्ताए **बाहिरिय वग्गणा** समत्ता होदि।

६ महाबंध इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि भूतबलिने पांच खंडोंके पुष्पदन्त विरचित सूत्रों सहित छह हजार सूत्र रचनेके पश्चात् **महाबंध** नामके छठवें खंडकी तीस हजार श्लोक प्रमाण रचना की।[1]

१ तत उपरि भूतबलिः षट्खण्डानां श्रुतं पुष्पदन्तगुरुः ॥ १३७ ॥ ... द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकाराः खण्डपञ्चकस्यान्वक् ॥ १३८ ॥ सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि । प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम् ॥ १३९ ॥ त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा । इन्द्र. श्रुतावतार

[illegible] सूचना दी गई है कि–

[illegible] महावध [illegible] पढ़े हैं [illegible]

[illegible] । ([illegible] १२५९ १२६ [illegible]

[illegible] भनुभाग [illegible] और [illegible] संशोधन [illegible] किया है [illegible] होता है ।

[illegible] संलग्न महावध [illegible]

[illegible] कहा गया है कि प्रति [illegible] महावधने [illegible] और उस [illegible] पुरी [illegible] उस पुन: प्रकाशित कराने [illegible] —

[illegible] समा पयरिदो । ([illegible]) । सा उण गाहाए [illegible] अणुभाग [illegible] पयरिदो त्ति तधेव [illegible] विहामियाण [illegible] । तदो महावधा– [illegible]

[illegible] पुष्टि होती है कि [illegible] स्वर भूतबलि आचार्यद्वारा [illegible] १४८ [illegible] ।

इन्द्रनन्दिके उपर्युक्त कथनानुसार यहां चूलिका सहितसे छठा खंड टहरता है, और इसका नाम सत्कर्म प्रतीत होता है, तथा इसके सहित धवला परखंडागम ७२ हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होता है। विबुध श्रीधरके मतानुसार वीरसेनकृत ७२ हजार प्रमाण समस्त धवला टीकाका ही नाम सत्कर्म है। यथा—

अत्रान्तर [illegible] सिद्धान्तद्वय [illegible] वीरसेनमुनि [illegible] ... [illegible] सत्कर्मनाम [illegible] धवलनामाङ्कित [illegible] मुनि [illegible] दास्यति। (विबुध श्रीधर श्रुतावतार मा. ग्रं. मा. २१, पृ. ३१८)

दुर्भाग्यसे महाबंध (महाधवल) हमें उपलब्ध नहीं है, इस कारण महाबंध और सत्कर्म [illegible] इस उल्लेखको पुष्ट करता प्रतीत होता है। किन्तु मूडबिद्रीमें सुरक्षित [illegible] [illegible] हुआ है उससे ज्ञात होता है कि वह ग्रंथ भी सत्कर्म नामसे [illegible] एक प्रशस्ति [illegible] है जिसके आदिमें ही कहा गया है—

[illegible] सत्कर्म पञ्जिका [illegible] विवरण सुमहत्थ। [illegible] [illegible] वेयणाखंडम्हि पुणो णाम (कम्म-पयडि-[illegible]) [illegible] वग्गणाखंडम्हि, पुणो [illegible] [illegible] मुहारय [illegible] । ते [illegible] (?) [illegible] । (वीरवाणी वि. भ. रिपोर्ट, १९३५)

[illegible] महाकर्मप्रकृति [illegible] अनुयोगद्वारोंमेंसे [illegible] [illegible] वेदना [illegible] स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधके बंध और बंधनीय [illegible] [illegible] [illegible] सत्कर्म [illegible]

[illegible] (सत्कर्म) नामका है और [illegible]

[illegible]

महाधवल या सत्कर्मका उक्त पंजिका रचकर आरंभ किया है। संभवतः यह वही है जिसके इन्द्रनन्दि समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बुलूराचार्यद्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण रचित कहा है। [देखो ऊपर पृ ६०]

किंतु जयधवलामें एक स्थानपर स्पष्ट कहा गया है कि सत्कर्म महाधिकारमें कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध हैं और उनमें उदय नामक अधिकार प्रकृति सहित स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य उदयका प्ररूपणमें विचार करता है। यथा

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्दारेसु पडिबद्धेसु [illegible] ...हियारो [illegible] अणुभाग-पदेसाणं पयडिसमण्णियाणमुक्कस्साणुक्कस्स-जहण्णाजहण्ण [illegible] ...दे। जयध अ ५१२

इससे जाना जाता है कि कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारोंका ही सत्कर्म ...र्म महाधिकार नाम है और चूंकि प्रथम चार अधिकार तीसरे अर्थात् वेदना खंड ...तः क्रमसे वर्णन किये गये हैं, अतः उस समस्त विभाग अर्थात् अंतिम खंडोंका नाम ...कम्म या सत्कर्मप्राभृत महाधिकार है।

किंतु, जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, इन्हीं चौबीस अनुयोगद्वारोंसे ...स भागको लेकर शेष समस्त परमागमकी उत्पत्ति हुई है। अतः [illegible] उल्लेखानुसार समस्त षट्खंडागम भी सत्कर्म महाधिकार सिद्ध होता है। इस अनुमानकी पुष्टि प्रस्तुत ...के उल्लेखोंसे और अधिक हो जाता है। पृ [illegible] पर कसायपाहुड और सत्कम्मपाहुड ...जिनमें सत्कर्मका [illegible] किया गया है। यथा –

[illegible] संतकम्म-पाहुड [illegible] कसायपाहुड- [illegible]

[illegible]

[illegible] संतकम्म-कसाय पाहुडाणं [illegible]

प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है, क्योंकि, पूर्वाचार्योंमें उनके अधिकारका अनुयोगद्वारका नाम **महाकर्मप्रकृतिप्राभृत** है। उसीका धरसेन गुरुने पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा उद्धार कराया है, जैसा कि जीवट्ठाणके अंत व सुदावतार आदिकी एक गाथासे प्रकट होता है—

जयउ **धरसेणणाहो** जेण **महाकम्मपयडिपाहुडसेलो** ।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स ॥ (धवला अ ८७१)

महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म सत्कर्म एक ही अर्थके वाचक हैं। अतः सिद्ध होता है कि इस समस्त **षट्खंडागमका** नाम **सत्कर्मप्राभृत** है। और चूंकि इसका बहुभाग धवला टीकामें ग्रथित है, अतः समस्त धवलाको भी **सत्कर्मप्राभृत** कहना अनुचित नहीं। उस शेष महाबंध या निबंधनादि अठारह अधिकार भी इसीके एक भाग होनेसे सत्कर्म कहे जा सकते हैं। और जिसप्रकार खंड विभागकी दृष्टिसे कृतिका वेदना खंडमें, और स्पर्श, कर्म, प्रकृति का बंधनके प्रथम भेद बंधका वर्गणाखंडमें अंतर्भाव कर लिया गया है, उसीप्रकार निबंधनादि अठारह अधिकारोंका महाबंध नामक खंडमें अंतर्भाव अनुमान किया जा सकता है जिससे इन्द्र धवलान्तर्गत उक्त पंजिकाके कथनकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, सत्कर्मका एक विभाग होनेसे यह भी सत्कर्म कहा जा सकता है।

सत्कर्मप्राभृत व षट्खंडागम तथा उसकी टीका धवलाकी इस रचनाको देखनेसे ज्ञात होता है कि उसके मुख्यतः दो विभाग हैं। प्रथम विभागके अन्तर्गत जीवट्ठाण, खुद्दाबंध व बंधस्वामित्वविचय हैं। इनका मंगलाचरण, श्रुतावतार आदि एक ही बार जीवट्ठाणके आदिमें किया गया है और इन सबका विषय भी जीव या बंधकी मुख्यतासे है। **जीवट्ठाणमें** गुणस्थान और मार्गणाओंकी अपेक्षा सत्, संख्या आदि रूपसे जीवतत्त्वका विचार किया गया है। खुद्दाबंधमें सामान्यकी अपेक्षा बंधक, और **बंधस्वामित्वविचयमें** विशेषकी अपेक्षा बंधकका विवरण है।

दूसरे विभागके आदिमें पुनः मंगलाचरण व श्रुतावतार दिया गया है, और उसमें यथार्थतः कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारोंका क्रमशः वर्णन किया गया है और इस समस्त विभागमें प्रधानतासे कर्मोंकी समस्त दशाओंका विवरण होनेसे उसकी विशेष संज्ञा सत्कर्मप्राभृत है। इन चौबीसोंमेंसे द्वितीय अधिकार **वेदनाका** विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसे प्रधानता प्राप्त हो गई और उसके नामसे चौथा खंड पृथक् हो गया। बंधनके तीसरे भेद बंधनीयमें वर्गणाओंका विस्तारसे वर्णन आया और उसके महत्त्वके कारण **वर्गणा** नामका पांचवां खंड हो गया। इसी बंधनके चौथे भेद बंधविधानके खूब विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसका **महाबंध** नामक छठवां खंड बन गया और शेष अठारह अधिकार उन्हींके आनुषंगिक वस्तु रह गये।

धवलाकारके पश्चात् उनके सबसे बड़े आगामी विद्वान् नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इन ग्रंथोंका विशेषरूपसे मनन करके गोम्मटसार और लब्धिसारकी रचना की, ऐसा प्रतीत होता है। तथा उनके इन्हीं ग्रंथोंके ज्ञानके गर्वसे उन्होंने गर्व साथ कहा है कि 'जिसप्रकार एक चक्रवर्ती अपने चक्र द्वारा छह खंड पृथिवीको निर्विघ्नरूपसे अपने वशमें कर लेता है, उसीप्रकार अपने मतिरूपी चक्रद्वारा मैंने छह खंड सिद्धान्तका सम्यक् प्रकारसे साधन कर लिया'—

जह चक्केण य चक्की छक्खंड साहियं अविग्घेण ।
तह मइचक्केण मया छक्खंड साहियं सम्मं ॥ ३९७ ॥ गो. क.

इसीसे आचार्य नेमिचन्द्रको सिद्धान्तचक्रवर्तीका पद मिल गया और तभीसे उक्त पूरे सिद्धान्तके ज्ञाताको इन पदवीसे विभूषित करनेकी प्रथा चल पड़ी। जो इसके केवल प्रथम तीन खंडोंमें पारंगत होते थे, उन्हें ही जान पड़ता है, त्रैविद्यदेवका पद दिया जाता था। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें अनेक मुनियोंके नाम इन पदवियोंसे अलंकृत पाये जाते हैं। इन उपाधियोंने वीरसेनसे पूर्वकी सूत्राचार्य, उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य, निक्षेपाचार्य व महावाचककी पदवियोंका सर्वथा स्थान ले लिया। किंतु थोड़े ही कालमें गोम्मटसारने इन सिद्धान्तोंका भी स्थान ले लिया और उनका पठन-पाठन सर्वथा रुक गया। आज कई शताब्दियोंके पश्चात् इनके सुप्रचारका पुनः सुअवसर मिल रहा है।

षट्खंडागमका द्वादशांगसे सम्बंध

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार षट्खंडागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सीधा सम्बंध महावीरस्वामीकी द्वादशांग वाणीसे माना जाता है। शेष सब श्रुतज्ञान इससे पूर्व ही क्रमशः लुप्त व छिन्न भिन्न होगया। द्वादशांग श्रुतका प्रस्तुत ग्रंथमें विस्तारसे परिचय कराया गया है (पृ. ९९ से)। इनमेंसे बारहवें अंगको छोड़कर शेष सब ही नामोंके अंग ग्रंथ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अब भी पाये जाते हैं। इन ग्रंथोंकी परम्परा क्या है और उनका विषय विस्तारादि दिगम्बर मान्यताके कहांतक अनुकूल प्रतिकूल है इसका विवेचन आगेके किसी खंडमें किया जायगा, यहां केवल यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो ग्यारह अंग श्वेताम्बर साहित्यमें हैं व दिगम्बर साहित्यमें नहीं हैं और जिस बारहवें अंगका श्वेताम्बर साहित्यमें सर्वथा अभाव है वही दृष्टिवाद नामका बारहवां अंग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रंथोंका उद्गमस्थान है।

बारहवें दृष्टिवादके अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पांच प्रभेद हैं। इनमेंसे पूर्वगतके चौदह भेदोंमेंसे द्वितीय आग्रायणीय पूर्वसे ही जीवट्ठाणका बहुभाग और शेष पांच खंड सम्पूर्ण निकले हैं जिनका क्रमशः नीचेके वंशवृक्षोंसे स्पष्ट हो जा

बारहवें अंग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वगतका द्वितीय भेद

आग्रायणीय पूर्व

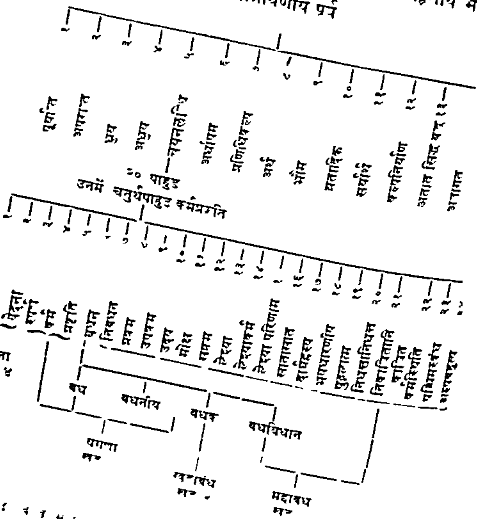

बंधकके ११ अनुयोगद्वारोंमें पांचवां द्रव्यप्रमाणानुगम है। यही जीवट्ठाणकी संख्या प्ररूपणाका उद्गमस्थान है।

७ बंधविधान

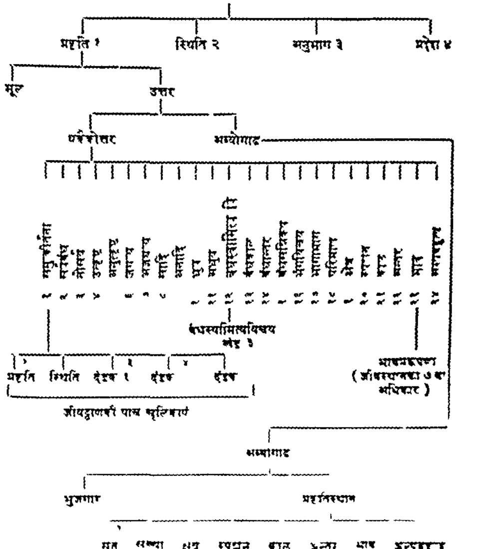

३ बन्धविधान

- प्रकृति
- स्थिति
  - मूल
  - उत्तर
    - १ अर्धच्छेद
      - जघन्य — जघन्यस्थिति चूलिका ६
      - उत्कृष्ट — उत्कृष्टस्थिति चूलिका ७
    - २ सर्व
    - ३ नोसर्व
    - ४ उत्कृष्ट
    - ५ अनुत्कृष्ट
    - ६ जघन्य
    - ७ अजघन्य
    - ८ सादि
    - ९ अनादि
    - १० ध्रुव
    - ११ अध्रुव
    - १२ स्वामित्व
    - १३ काल
    - १४ अन्तर
    - १५ सन्निकर्ष
    - १६ भंग विचय
    - १७ भागाभाग
    - १८ परिमाण
    - १९ क्षेत्र
    - २० स्पर्शन
    - २१ काल
    - २२ अन्तर
    - २३ भाव
    - २४ अल्पबहुत्व
- अनुभाग
- प्रदेश

४ दृष्टिवाद (१२ वां अंग)

- परिकर्म
- सूत्र
  - सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका ८
- प्रथमानुयोग
- पूर्वगत
- चूलिका

५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (पांचवां अंग)

- गति आगति चूलिका ९

[illegible]
[illegible]

११ सत्प्ररूपणाका विषय

प्रस्तुत ग्रंथमें ही जीवट्ठाणकी उत्थानिकामें कहा गया है कि धरसेन गुरुसे सिद्धान्त सीखकर पुष्पदन्ताचार्य वनवास देशको गये और वहां उन्होंने 'विंशति सूत्रों' की रचना करके और उन्हें जिनपालितको पढ़ाकर भूतबलि आचार्यके, जो द्रमिल देशको चले गये थे, पास भेजा। भूतबलिने उन सूत्रोंको देखा और तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाणसे प्रारम्भ करके शेष समस्त षट्खंडागमकी सूत्ररचना की। इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके कुल सूत्र पुष्पदन्ताचार्यके बनाए हुए हैं। किंतु उन सूत्रोंकी संख्या विंशति अर्थात् बीस नहीं परंतु एक सौ सतत्तर है, तब प्रश्न उपस्थित होता है कि पुष्पदन्तके बनाए हुए बीस सूत्र कहनेसे धवलाकारका तात्पर्य क्या है? सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका विवरण समाप्त होनेके अनन्तर जो ओघालाप प्रकरण लिखा है उसमें बीस प्ररूपणाओंका व्याख्यान लिखा गया है। और इस सिद्धान्तका जो सार नेमिचन्द्र सि. च. ने गोम्मटसार जीवकाण्डमें संगृहीत किया है वह भी उन बीस प्ररूपणाओंके अनुसार ही है। वे बीस प्ररूपणाएं गोम्मटसारके शब्दोंमें इसप्रकार हैं—

> गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
> उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ॥ २ ॥

अर्थात् गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएं और उपयोग ये बीस प्ररूपणाएं हैं।

गुणस्थानमें सम्यक्त्व हो जाता है किन्तु चारित्र नहीं सुधरता। देशविरतका चारित्र थोड़ा सुधरता है, प्रमत्तविरतका चारित्र पूर्ण सा होता है, किंतु परिणामोंकी अपेक्षा अप्रमत्तविरतमें चारित्रकी क्रमसे शुद्धि व वृद्धि होती जाती है। ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उपशम हो जाता है और बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीयके क्षयसे उत्पन्न होता है। तेरहवें गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता है किन्तु योगोंका सद्भाव भी है। अन्तिम गुणस्थानमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता तथा योगोंका अभाव हो जानेसे मोक्ष हो जाता है।

मार्गणा शब्दका अर्थ खोज करना है। अतएव जिन जिन धर्मविशेषोंसे जीवोंकी खोज या अन्वेषण किया जाय उन धर्मविशेषोंको **मार्गणा** कहते हैं। ऐसी मार्गणाएं चौदह हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, और आहार।

१ **गति** चार प्रकारकी है— नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव

२ **इन्द्रियां** द्रव्य और भावरूप होती हैं और वे पांच प्रकारकी हैं— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र

३ एकेन्द्रियसे पांच इन्द्रियों तककी शरीररचनाको **काय** कहते हैं। एकेन्द्रिय स्थावर और शेष त्रस कहलाते हैं।

४ आत्मप्रदेशोंकी चंचलताका नाम **योग** है इसीसे कर्मबंध होता है। योग तीन निमित्तोंसे होता है— मन, वचन और काय।

५ पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप भाव व तद्रूप आकारविशेषको वेद कहते हैं।

६ जो आत्माके निर्मलभाव व चारित्रको कषे अर्थात् घात करे वह कषाय है। इसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं।

७ मति श्रुति अवधि मनःपर्यय, केवल, तथा कुमति कुश्रुति और कुअवधि ऐसे ज्ञान आठ प्रकारका होता है।

८ व्रत व इन्द्रियजय [illegible] निग्रहका नाम **संयम** है [illegible] संयम [illegible] [illegible]। [illegible] सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम, ये संयमके सात भेद हैं।

९ चक्षु अचक्षु, अवधि और केवल ये **दर्शन**के चार भेद हैं।

१० कषायसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति व शरीरके वर्णका नाम लेश्या है। इसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

११ जिस शक्तिके निमित्तसे आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण प्रगट होते हैं उसे भव्यत्व कहते हैं। तदनुसार जीव भव्य व अभव्य होते हैं।

१२ तत्त्वार्थके श्रद्धानका नाम सम्यक्त्व है और दर्शनमोहके उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, सम्यग्मिथ्यात्व, सासादन व मिथ्यात्वरूप भावोंके अनुसार सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हो जाते हैं।

१३ मनके द्वारा शिक्षादिके ग्रहण करनेको संज्ञा कहते हैं और ऐसी संज्ञा जिसके हो वह संज्ञी कहलाता है। तदनुसार जीव संज्ञी व असंज्ञी होते हैं।

१४ औदारिक आदि शरीर और पर्याप्तिके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। तदनुसार जीव आहारक और अनाहारक होते हैं।

इन चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओंका प्ररूपण करनेवाले सत्प्ररूपणाके अन्तर्गत १७७ सूत्र हैं जिनका विषयक्रम इसप्रकार है। प्रथम सूत्रमें पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया है। आगेके तीन सूत्रोंमें मार्गणाओंका प्रयोजन बतलाया गया है और उनका गति आदि नाम निर्देश किया गया है। ५, ६ और ७ वें सूत्रमें मार्गणाओंके प्ररूपण निमित्त आठ अनुयोगद्वारोंके जाननेकी आवश्यकता बताई है और उनके सत्, द्रव्यप्रमाण (संख्या) आदि नामनिर्देश किये हैं। ८ वें सूत्रसे इन अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम सत् प्ररूपणाका विवरण प्रारम्भ होता है जिसके आदिमें ही ओघ और आदेश अर्थात् सामान्य और विशेष रूपसे विषयका प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंका निरूपण किया है जो ९ वें सूत्रसे २३ वें सूत्रतक चला है। २४ वें सूत्रसे विशेष अर्थात् गति आदि मार्गणाओंका विवरण प्रारम्भ हुआ है जो अन्त तक अर्थात् १७७ वें सूत्रतक चलता रहा है। गति मार्गणा ३२ वें सूत्रतक है। यहांपर नरकादि चारों गतियोंके गुणस्थान बतलाकर यह प्रतिपादन किया है कि एकेन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रियतक शुद्ध तिर्यंच होते हैं, संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे संयतासंयत गुणस्थानतक मिश्र तिर्यंच होते हैं, और इसी प्रकार मनुष्य भी। देव और नारकी असंयत गुणस्थानतक मिश्र अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा दूसरी तीन गतियोंके जीवोंके साथ समान होते हैं। प्रमत्तसंयतसे आगे शुद्ध मनुष्य होते हैं। ३३ वें सूत्रसे ३८ वें तक इन्द्रिय मार्गणाका कथन है और उससे आगे ४६ वें सूत्र तक कायका और फिर १०० वें सूत्र तक योगका कथन है। इस मार्गणामें योगके साथ पर्याप्ति अपर्याप्तियोंका भी प्ररूपण

किया गया है। तत्पश्चात् ११० से सूत्रतक [illegible], ११४ तक कषाय, १२२ तक ज्ञान, [illegible] तक संयम, १३५ तक दर्शन, १४० तक लेश्या, १४३ तक भव्य, १७१ तक सम्यक्त्व तक संज्ञी और फिर १७७ तक आहार मार्गणाका विवरण है।

प्रतियोंमें सूत्रोंका नंबर [illegible] कम पाया जाता है, क्योंकि, वहां प्रथम मंगलाचरण तीसरे सूत्र 'त जहा' की पृथक् गणना नहीं [illegible], किंतु टीकाकारने स्पष्टतः उनका सूत्ररूप व्याख्यान किया है, अतएव हमने उसे सूत्र गिना है।

टीकाकारने प्रथम मंगलाचरण सूत्रके व्याख्यानमें इस प्रकार मंगल, निमित्त, हेतु [illegible] नाम और कर्ताका [illegible] विवेचन [illegible] दूसरे सूत्रके व्याख्यानमें द्वादशांग [illegible] [illegible] है और [illegible] द्वादशांग श्रुतमें जीवट्ठाणके भिन्न भिन्न अधिकारोंकी उत्पत्ति [illegible] है। [illegible] सूत्रके व्याख्यानमें गति आदि चौदह मार्गणाओंके नामोंकी निरुक्ति और [illegible] [illegible] [illegible] विवेचन किया है। उसके पश्चात् विषयका [illegible] विस्तार [illegible] [illegible] है। इस प्रकार प्रस्तुत भागमें [illegible] [illegible] प्रश्न उठाकर उनका समाधान [illegible] है। [illegible], [illegible], युक्तियों और [illegible] द्वारा टीकाकारने विषयको [illegible] ही [illegible] है [illegible] किन्तु [illegible] युक्ति और [illegible], जैसा हम ऊपर [illegible] हैं, आचार्यकी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रमाण है। टीकाकारद्वारा व्याख्यान विषयका [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

१० [illegible] भाषा

[illegible]

है। मूल और उनकी टीकाओंमें जो संस्कृत प्राकृतका परिमाण पाया जाता है वह प्राय उन दोनों भाषाओंके। तात्त्विक आरंभिक स्वच्छताका द्योतक है। इस समयसे प्राकृतका बहुत घट चला और संस्कृतका बढ़ा, यहांतक कि आजकल जैनियोंमें प्राकृत भाषाके पठन पाठनकी बहुत ही मंदता है। दिगम्बर समाजके विद्यालयोंमें तो व्यवस्थित रूपसे प्राकृत पढ़ानेकी सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत ग्रंथका परिचय कराते समय प्राकृत भाषाका परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है। प्राकृत साहित्यमें प्राकृत भाषा मुख्यतः पांच प्रकारकी पाई जाती है—**मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, और अपभ्रंश।**

मागधी

महावीरस्वामीके समयमें अर्थात् आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगध प्रान्तमें प्रचलित थी वह **मागधी** कहलाती है। इस भाषाका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता। किंतु प्राकृत व्याकरणोंमें इस भाषाका स्वरूप बतलाया गया है, और कुछ शिलालेखों और नाटकोंमें इस भाषाके उदाहरण मिलते हैं जिनपर से इस भाषाकी तीन विशेषताएं स्पष्ट समझमें आ जाती हैं—

१ र के स्थानमें ल, जैसे, राजा–लाजा, नगर–णगल,

२ श, ष और सके स्थानपर श। जैसे, सम–शम, दासी–दाशी, मनुष–मनुश।

३ संज्ञाओंके कर्ताकारक एकवचन पुल्लिंग रूपमें ए। जैसे, देव–देवे, नर–णले, उदाहरण—

अले कुम्भीलआ! कहेहि, कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किण्णणामहेए लाअकीअए अंगुलीअए शमाशादिए। (शकुंतला)

'अरे कुम्भीलक! कह, कहां तूने इस मणिबंध और उत्कीर्ण नाम राजकीय अंगुठीको पाया'।

अर्धमागधी

दूसरे प्रकारकी प्राकृत **अर्धमागधी** इस कारण कहलाई कि उसमें मागधीके आधे लक्षण पाये जाते हैं और क्योंकि, संभवतः वह आधे मगध देशमें प्रचलित थी। इसी भाषामें प्राचीन जैन सूत्रोंकी रचना हुई थी और इसका रूप अब श्वेताम्बरीय सूत्र-ग्रंथोंमें पाया जाता है, इसीलिये कुछ आचार्योंने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमें ष और स के स्थानपर श न होकर सर्वत्र स ही पाया जाता है, र के स्थानपर ल तथा कर्ता कारकमें 'ए' विकल्पसे होता है, अर्थात् कहीं होता है और कहीं नहीं होता, और अधिकरण कारकका रूप 'ए' व 'म्मि' के अतिरिक्त 'अंसि' लगाकर भी बनाया जाता है।

उदाहरण —

> काहार माण हणिया य नीरे ओमरस पामे निरय महत ।
> तम्हा हि नारे तिरओ नहाथो ठिदिज्ज सोय छडुभूयगामी ॥ (आचारांग

क्रमादि व मान का हनन करके महावीरन ओमके महान् पापको ताड डाला [illegible] शरीर विरत होकर भूतगामी शोकका छेदन करें ।

> सुसाणंसि वा सुन्नागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलंसि वा । (आचारा

श्मशानमें या शून्यागारमें या गिरिगुफामें व वृक्षके मूलमें (साधु निवास करे)

य [illegible] प्रवृत्तियां अर्धमागधीमें भी धीरे धीरे कम होती गई है ।

[illegible] मथुराके आसपासके प्रदेशकी भाषाका नाम शौरसेनी है । शौरसेनी [illegible] इस भाषाका जैसा स्वरूप बतलाया है वैसा संस्कृत नाटकोंमें कहीं [illegible] मिलता है पर इसका स्वतन्त्र साहित्य दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें ही पाया जाता है । [illegible] कुन्दकुन्दाचार्य [illegible] इसी प्राकृतमें है । कहा जा सकता है कि यह दिगम्बर [illegible] भाषा है । किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंका [illegible] शौरसेनीसे पृथक् निर्देश करनेके हेतु उसे 'जैन शौरसेनी' [illegible] है । जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, प्रस्तुत ग्रंथकी [illegible]

[illegible]

अर्थात् आत्मा रक्त होकर कर्म बांधता है तथा रागरहित होकर कर्मोंसे मुक्त होता है। यह जीवोंका बन्धसमास है, ऐसा निश्चय जानो।

घातिया कर्मोंसे रहित (केवली भगवान्) का गुण ही गुणोंमें श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं, और जो भव्य हैं वे उसे मानते हैं।

महाराष्ट्री

महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन महाराष्ट्रकी भाषा है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती, सेतुबंध, गउडवहो आदि काव्योंमें पाया जाता है। संस्कृत नाटकोंमें जहाँ प्राकृतका प्रयोग होता है वहाँ पात्र वार्तालाप तो शौरसेनीमें करते हैं और गाथा महाराष्ट्रीमें, ऐसा विद्वानोंका मत है। इसका उपयोग जैनियोंने भी खूब किया है। पउमचरिअ, समराइच्चकहा, सुरसुंदरीचरिअ, पासणाहचरिअ आदि काव्य और श्वेताम्बर आगम ग्रंथोंके भाष्य, चूर्णि, टीका, आदिकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। पर यहाँ भी जैनियोंने इसपर अर्धमागधीका प्रभाव डालकर उसपर अपनी छाप लगा दी है, और इस कारण इस प्रकारकी भाषा जैन महाराष्ट्री कहलाती है। जैन महाराष्ट्रीमें संस्कृतके [illegible] आदिक [illegible] विशेषता [illegible], जिनमें न और [illegible] स्थानपर य श्रुतिका उपयोग हुआ है, जैसा जैन शौरसेनीमें भी होता है। महाराष्ट्रीका विशेष लक्षण जो उसे शौरसेनीसे पृथक् करता है, वह है कि यहाँ [illegible] का लोप होकर केवल उसका स्वर रह जाता है, किंतु वह ह में परिवर्तित नहीं होता। इसीप्रकार थ यहाँ ध में परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और [illegible] लगाकर बनाया जाता है। जैन महाराष्ट्रीमें इन विशेषताओंके अतिरिक्त कहीं कहीं [illegible] प्रयोग भी आ जाता है। जैसे—

[illegible] भूयाहोऊण [illegible]।

उदाहरणार्थ—

[illegible] ।

[illegible] ॥

(पउम च ११ १८, ६ १११)

अर्थात् [illegible]
[illegible] हैं।

अपभ्रंश

[illegible]

तक प्रकाशमें आया है उसमेंका कमसे कम तीन चौथाई हिस्सा दिगम्बर जैन साहित्यका है। कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि जितनी प्राकृत भाषाएं थीं उन सबका विकसित होकर एक एक अपभ्रंश बना। जैसे, मागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि। बौद्ध चर्यापदों व विद्यापतिकी कीर्तिलतामें मागधी अपभ्रंश पाया जाता है। किन्तु विशाल साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंशकी हुई वह शौरसेनी महाराष्ट्री मिश्रित अपभ्रंश है, जिसे कुछ वैयाकरणोंने नागर अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकि, किसी समय समस्त वह नागरिक लोगोंकी बोलचालकी भाषा थी। पुष्पदन्तकृत महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, तथा अन्य कवियोंके करकंडचरिउ, भविसयत्तकहा, सणकुमारचरिउ, सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, इसी भाषाके काव्य हैं। इस भाषाको अपभ्रंश नाम वैयाकरणोंने दिया है, क्योंकि वे स्थितिपालक होनेसे भाषाके स्वाभाविक परिवर्तनको विकास न समझकर विकार समझते थे। पर इस अपमानजनक नामको लेकर भी यह भाषा खूब फली फूली और उसीकी पुत्रियां आज समस्त उत्तर भारतका कामकाज चला रही हैं।

इस भाषाकी संज्ञा व क्रियाकी रूपरचना अन्य प्राकृतोंसे बहुत कुछ भिन्न हो गई है। उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकवचन, उकारान्त होता है जैसे, पुत्तो, पुत्तम्-पुत्तु, पुत्तेण-पुत्तें, पुत्त [illegible], पुत्त [illegible], पुत्तस्स-पुत्तहु, पुत्ते-पुत्ते, पुत्ति, पुत्तहि, आदि।

क्रियामें, करोमि-करउं, कुर्वन्ति-करहिं, कुरुथ-करहु, आदि।

इसमें नये नये छन्दोंका प्रादुर्भाव हुआ जो पुरानी संस्कृत व प्राकृतमें नहीं पाये जाते, किन्तु जो हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओंमें सुप्रचलित हुए। अन्त्यानुप्रास अर्थात् तुकबंदी इन छन्दोंकी एक बड़ी विशेषता है। दोहा, चौपाई आदि छन्द यहींसे ही हिन्दीमें आये।

अपभ्रंशका उदाहरण—

[illegible] ।
[illegible] ॥

सावयधम्मदोहा ॥ ८ ॥

[illegible] है। [illegible]

[illegible]

व्यंजनोंमें अनेक प्रकारके परिवर्तन व उनका लोप, संयुक्त व्यंजनोंका असंयुक्त या द्वित्वरूप परिवर्तन, पंचमाक्षर ङ्, ञ् आदि सबके स्थानपर हलंत अवस्थामें अनुस्वार व स्वरसहित अवस्थामें ण में परिवर्तन। ये परिवर्तन प्राकृत जितनी पुरानी होगी उतने कम और जितनी अर्वाचीन होगी उतनी अधिक मात्रामें पाये जाते हैं। अपभ्रंश भाषामें ये परिवर्तन अपनी चरम सीमापर पहुंच गये और वहांसे फिर भाषाके रूपमें विपरिवर्तन हो चला।

इन सब प्राकृतोंमें प्रस्तुत ग्रंथकी भाषाका ठीक स्थान क्या है इसके पूर्णतः निर्णय करनेका अभी समय नहीं आया, क्योंकि, समस्त धवल सिद्धान्त अमरावतीकी प्रतिके १४६५ पत्रोंमें समाप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ उसके प्रथम ६५ पत्रोंमात्रका संस्करण है, अतएव यह उसका बाईसवां अंश है। तथा धवला और जयधवलाको मिलाकर वीरसेनकी रचनाका यह केवल चालीसवां अंश बैठेगा। सो भी उपलभ्य एकमात्र प्राचीन प्रतिकी अभी अभी की हुई पांचवीं छठवीं पीढ़ीकी प्रतियोंपरसे तैयार किया गया है और मूल प्रतिके मिलानका सुअवसर भी नहीं मिल सका। ऐसी अवस्थामें इस ग्रंथकी प्राकृत भाषा व व्याकरणके विषयमें कुछ निश्चय करना बड़ा कठिन कार्य है, विशेषतः जब कि प्राकृतोंका भेद बहुत कुछ वर्णविपर्ययके ऊपर अवलम्बित है। तथापि इस ग्रंथके सूक्ष्म अध्ययनादिकी सुविधाके लिये व इसकी भाषाके महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करनेके हेतु उसकी भाषाका कुछ स्वरूप बतलाना यहां अनुचित न होगा।

१ प्रस्तुत ग्रंथमें त बहुधा द में परिवर्तित पाया जाता है, जैसे, **सूत्रोंमें**—गदि-गति, चदु-चतु, वीदराग-वीतराग, मदि-मति, आदि। **गाथाओंमें**—पदद-पतत, अदीद-अतीत, तदिय-तृतीय, आदि। **टीकामें**—अवदारो-अवतार, एदे-एते, पदिद-पतित, चिंतिद-चिन्तितम्, संठिद-संस्थितम्, गोदम-गौतम, आदि।

किन्तु अनेक स्थानोंपर त का लोप भी पाया जाता है, यथा—**सूत्रोंमें**—गइ-गति, चउ-चतु, वीयराय-वीतराग, जोइसिय-ज्योतिष्क, आदि। **गाथाओंमें**—हेऊ-हेतु, पयइ-प्रकृति, आदि। **टीकामें**—सम्मइ-सम्मति, चउव्विह-चतुर्विध, सव्वघाइ-सर्वघाति, आदि।

क्रियाके रूपोंमें भी अधिकतर ति या ते के स्थानपर दि या दे पाये जाते हैं। जैसे, (सूत्रोंमें अत्थि के सिवाय दूसरी कोई क्रिया नहीं है)। **गाथाओंमें**—णयदि-नयति, उच्चदे-उच्यते, जाणदि-जानाति, लिंपदि-लिम्पति, रोचदि-रोचते, सद्दहदि-श्रद्दधाति, कुणदि-करोति, आदि। **टीकामें**—कीरदे, कीरदि-क्रियते, णिवददि-निपतति, उप्पज्जदि-उत्पद्यते, जाणदि-जानाति, परूवेदि-प्ररूपयति, वददि-वदति, विरुज्झदे-विरुध्यते, आदि।

किन्तु त का लोप होकर संयोगी स्वरमात्र शेष रहनेके भी उदाहरण बहुत मिलते हैं यथा— गाथाओंमें—होइ, ह उ-भवति, [illegible]-[illegible], [illegible]—[illegible], [illegible], [illegible]-[illegible], आदि। टीकामें—[illegible]- [illegible], [illegible]—[illegible], आदि।

२ क्रियाओंके पूर्वकालिक रूपोंके उदाहरण इसप्रकार मिलते हैं— इय-[illegible] त्यक्त्वा। तु—[illegible]-[illegible]। अ अहिगम्म-अधिगम्य। दूण—अस्सिदूण-आश्रित्य। ऊण—[illegible], [illegible], [illegible], [illegible], आदि।

३ मध्यवर्ती क के स्थानमें ग आदेशके उदाहरण मिलते हैं। यथा— सूत्रोंमें-[illegible]। गाथामें—[illegible], टीकामें–[illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], आदि।

किन्तु बहुधा मध्यवर्ती क का लोप पाया जाता है। यथा— सूत्रोंमें—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सामयिक, [illegible]-[illegible]। गाथाओंमें—[illegible] [illegible] [illegible], परण-[illegible], [illegible]-[illegible], अहियार अधिकार। टीकामें–[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible]-[illegible], भडारण [illegible], आदि।

४ मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द, और प, के लोपके उदाहरण [illegible] [illegible] [illegible], किन्तु इनमें [illegible] [illegible] [illegible] भी उदाहरण मिलते हैं। यथा— ग—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], आदि। त—[illegible]-[illegible]। द—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अनुवाद, [illegible], उदार, आदि।

५ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुआ पाया जाता है, किन्तु कहीं कहीं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पाया जाता है। यथा—[illegible] [illegible], अ [illegible] (सू. [illegible]) [illegible] (सू. [illegible]) [illegible] (सू. [illegible]), [illegible] (सू. [illegible]) [illegible] (सू. [illegible])

[illegible] [illegible] आ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible]— सूत्रोंमें—[illegible] [illegible]। गाथाओंमें—[illegible] [illegible]। [illegible]। टीकामें [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पाये जाते हैं। यथा— सूत्रोंमें—[illegible] [illegible], [illegible] [illegible]) [illegible]। [illegible] (१३, [illegible])।

ओंमें—एर्गिम, एगमि, एगिए, मराहि, आदि। टीकामें—वधुमि, चड्दहि, जहि,
।

दो गाथाओंमें षत्रापरर एवचनकी विभक्ति उ भी पाई जाती है। उस धारह
५) गच्छ (१४६) यह स्पष्ट अपभ्रंश भाषाकी भोर प्रवृत्ति है और उस स्थानका
२१८ मे पूरक साहित्यमें पाया जाना महत्वपूर्ण है।

७ जहां मध्यवर्ती व्यञ्जनका लोप हुआ है वहां यदि सयोगी शेष स्वर अ अथवा
। तो बहुधा य श्रुति पायी जाती है। जैसे—तित्थयर-तीर्थंकर, पयत्थ पदार्थ, वेयणा वेदना,
ग, गज, णिग्गया विनिर्गता, आहारया आहारका, आदि।

अ के अतिरिक्त 'ओ' के साथ भी और क्वचित् उ व ए के साथ भी हस्तलिखित
में य श्रुति पाई गई है। किन्तु हेमचन्द्रके नियमका तथा जैन शौरसेनीके अन्यत्र
का विचार करके नियमके लिए इन स्वरोंके साथ य श्रुति नहीं रखनेका प्रस्तुत ग्रंथमें
किया गया है। तथापि इसके प्रयोगकी ओर आगे हमारा सूक्ष्मदृष्टि रहेगा। (देखो ऊपर
ाजनके नियम ५ १३)

उ के पश्चात् लुप्तवर्णके स्थानमें बहुधा व श्रुति पाई जाती है। जैसे—बाहुवा बाहुका,
हुव विहुव विधुत, आदि। किन्तु 'पज्जव' में विना उ के सानिध्यके भी नियमसे
ई पड़ जाती है।

८ वर्ण विकारके कुछ विशेष उदाहरण इस प्रकार पाये जाते हैं—सूत्रोंमें—
ज अधस्तीय (१६३), अणियाग अनुयाग (५), आउ अप् (३०) इड्डि ऋद्धि
) ओहि, ओहि भवधि (११५, १३१), आरालिय औदारिक (५६), इदमत्थ
(१३२), तेउ तेजस (३०) पज्जव पर्याय (११५), मोस-मृषा (४९) वेंतर-व्यन्तर
), णारइय-नारक, नारकी (२५) गाथाओंमें—इक्खाग इक्ष्वाकु (५०), उराल उदार(१६०)
अगार (१५१), भेरुण्ड-भरत (५२) चाग-त्याग (५२) पदय-स्पर्धक (१२१),
देस-सम्बन्धन (१३०)।

गाथाओंमें भाए हुए कुछ देशी शब्द इस प्रकार हैं—वादाणी-वायव (८८),
-समत् (६३), चासगा गुड (००७), णिमिण आधार (७), मेज भार, (२०१),
ता, मयादा (००)

टीकामें कुछ देशी शब्द अण्णिया उपसगति (२२०), चउविय-आरूढ़ (२२१),
त्तव श्री (२११) णिसुम्भियन्नत (६८) बोम्भिय-स्तोत्र (६८)।

१ अवणा य भुत (८ १ १) टीका—क्वचित् मानि विवद ॥ १८ ॥
२ का स्यादी प्रवरबनारिक लीका पृ ११५

इन थोड़ेसे उदाहरणोंपरसे ही हम सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा के विषयमें कुछ निर्णय कर सकते हैं। यह भाषा मागधी या अर्धमागधी नहीं है, क्योंकि उसमें न तो अनिवार्य रूपसे, और न विकल्पसे ही र के स्थान पर ल, व स के स्थानपर श पाया जाता, और न कर्ताकारक एकवचन में कहीं ए मिलता।

त के स्थानपर द, क्रियाओंके एकवचन वर्तमान कालमें दि व दे, पूर्वकालिक क्रियाओंके रूपमें त्तु व दूण, अपादानकारककी विभक्ति दो तथा अधिकरणकारककी विभक्ति म्हि, र के स्थानपर ग, तथा थ के स्थानपर ध आदेश, तथा द, और घ का लोपाभाव, ये सब शौरसेनीके लक्षण हैं। तथा त का लोप, क्रियाके रूपोंमें इ, पूर्वकालिक क्रियाके रूपमें ऊण, ये महाराष्ट्रीके लक्षण हैं। ये दोनों प्रकारके लक्षण सूत्रों, गाथाओं व टीका सभामें पाये जाते हैं। सूत्रोंमें जो वर्णविकारके विशेष उदाहरण पाये जाते हैं वे अर्धमागधीकी ओर संकेत करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा **शौरसेनी** प्राकृत है, उसपर **अर्धमागधी** का **प्रभाव** है, तथा उसपर **महाराष्ट्री**का भी **संस्कार** पड़ा है। ऐसी ही भाषाको पिशेल आदि पाश्चिमिक विद्वानोंने **जैन शौरसेनी** नाम दिया है।

सूत्रोंमें अर्धमागधी वर्णविकार का बाहुल्य है। सूत्रोंमें एक मात्र क्रिया 'अथि' आती है और वह एकवचन व बहुवचन दोनोंकी बोधक है। यह भी सूत्रोंके प्राचीन आर्ष प्रयोग का उदाहरण है।

गाथाएं प्राचीन साहित्यके भिन्न भिन्न ग्रंथोंकी भिन्न भिन्न कालकी रची हुई अनुमान की जा सकती हैं। अतएव उनमें शौरसेनी व महाराष्ट्रीपनकी मात्रामें भेद है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जितनी अधिक पुरानी है उतना उसमें शौरसेनीपन अधिक है और जितनी अर्वाचीन है उतना महाराष्ट्रीपन। महाराष्ट्रीका प्रभाव साहित्यमें पीछे पीछे अधिकाधिक पड़ता गया है। उदाहरणके लिये प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा नं० २०३ लीजिये जो यहां इसप्रकार पाई जाती है—

> रूसदि णिददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय भय-बहुलो।
> असुयदि परिभवदि पर पससदि अप्पय बहुसो ॥

इसी गाथाने **गोम्मटसार** (जीवकांड ५१२) में यह रूप धारण कर लिया है—

> रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो।
> असुयइ परिभवइ परं पससइ अप्पय बहुसो ॥

यहांकी गाथाओंका गोम्मटसारमें इसप्रकारका महाराष्ट्री परिवर्तन बहुत पाया जाता है। किन्तु कहीं कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहां इस ग्रंथमें महाराष्ट्रीपन है वहां गोम्मटसारमें

[illegible] स्थिर है। यथा, गाथा २०७ में यहां 'समइ बहुअ हि' है [illegible] १९ में 'समदि बहुग वि' पाया जाता है। गाथा २१० में यहां 'पय णिगोद' है, किन्तु [illegible] १९९ में उसी जगह 'पग-णिगोद' है। [illegible] प्राचीन [illegible] प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन [illegible] पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंकी सावधानीसे परीक्षा न की जाय और [illegible] उदाहरण सम्मुख उपस्थित न हों तबतक इनकी भाषाके विषयमें निश्चयतः कुछ कहना अनुचित है।

टीका या प्राकृत गद्य प्रायः महाराष्ट्री और [illegible] अनुगत [illegible] प्रभावित है। सन्धि और समासोंका भी यथास्थान बाहुल्य है। [illegible] गुरुपरम्परासे [illegible] गद्य रचनाओंका [illegible] दिगम्बर [illegible] एक भाग [illegible] प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य [illegible] है। अभी इस गद्यका बहुत बड़ा भाग आगे प्रकाशित होने वाला है। [illegible] इस प्राकृतके स्वरूपपर अधिकाधिक प्रकाश [illegible] ।

इसी कारण मदकी संस्कृत भाषाके विषयमें भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते। [illegible] इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते हैं कि [illegible] परिमार्जित और व्याकरणके प्रयोग अनुगत है। हम [illegible] है कि प्रस्तुत ग्रन्थमें अरिहंत शब्द [illegible] आया है और उसकी [illegible] अरिहंत आदि की गई है। संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार [illegible] अर्ह धातुसे बना अर्हन् होता है [illegible] उसके एकवचन व बहुवचनके [illegible] अर्हन् [illegible] अर्हन्तः होते हैं। यदि अरिहन्त [illegible] अरिहन्त् [illegible] एकवचन व बहुवचन [illegible] अरिहन्ता और अरिहन्तारः होते [illegible]
अरिहन्तनात [illegible] अरिहन्ता [illegible] अरिहन्त [illegible]
[illegible] आरहत [illegible]
मथवा बहुत्व [illegible]
[illegible] अरहत अरिहत [illegible]
[illegible] गाविन्द [illegible]

उपसंहार

अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीके वचनोंकी उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतमने **द्वादशांग श्रुतके** रूपमें ग्रंथ रचना की। जिसका ज्ञान आचार्य परम्परासे क्रमशः कम होते हुए **धरसेनाचार्य**तक आया। उन्होंने बारहवें अंग दृष्टिवादके अंतर्गत **पूर्वों**के तथा पांचवें अंग **व्याख्याप्रज्ञप्ति**के कुछ अंशोंको **पुष्पदन्त** और **भूतबलि** आचार्योंको पढाया। और उन्होंने वीर निर्वाण के पश्चात् ७ वीं शताब्दिके लगभग सत्कर्मपाहुडकी छह हजार सूत्रोंमें रचना की। इसकी प्रसिद्धि **षट्खंडागम** नामसे हुई। इसकी टीकाएं क्रमशः **कुन्दकुन्द, शामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र** और **बप्पदेव**ने रचीं, ऐसा कहा जाता है, पर ये टीकाएं अब मिलती नहीं हैं। इसके अंतिम टीकाकार **वीरसेनाचार्य** हुए जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका **धवला**की रचना शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३ को पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है।

षट्खंडागमका छठा खंड **महाबंध** है। जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्यने बहुत विस्तारसे की थी। अतएव पंचिकादिकको छोड उसपर विशेष टीकाएं नहीं रची गई। इसी महाबंधकी प्रसिद्धि **महाधवल**के नामसे है जिसका प्रमाण ३० या ४० हजार कहा जाता है।

धरसेनाचार्यके समयके लगभग एक और आचार्य **गुणधर** हुए जिन्हें भी द्वादशांग श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने **कषायप्राभृत**की रचना की। इसका **आर्यमंक्षु** और **नागहस्ति**ने व्याख्यान किया और **यतिवृषभ आचार्य**ने चूर्णिसूत्र रचे। इसपर भी **वीरसेनाचार्य**ने टीका लिखी। किन्तु वे उसे २० हजार प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हुए। तब उनके सुयोग्य शिष्य **जिनसेनाचार्य**ने ४० हजार प्रमाण और लिखकर उसे शक ७५९ में पूरा किया। इस टीकाका नाम **जयधवला** है और यह ६० हजार श्लोक प्रमाण है।

इन दोनों या तीनों महाग्रंथों की केवल एकमात्र प्रति ताडपत्रपर शेष रही थी जो सैकडों वर्षोंसे **मूडबिद्रीके भंडारमें** बंद थी। गत २०।२५ वर्षोंमें उनमेंसे धवला व जयधवलाकी प्रतिलिपियां किसी प्रकार बाहर निकल पाई हैं। महाबंध या महाधवल अब भी दुष्प्राप्य है। उनमेंसे धवलाके प्रथम अंशका अब प्रकाशन हो रहा है। इस अंशमें द्वादशांगवाणी व ग्रंथ रचनाके इतिहासके अतिरिक्त सत्प्ररूपणा अर्थात् जीवसमासों और मार्गणाओंका विशेष विवरण है। **सूत्रोंकी भाषा पूर्णतः प्राकृत** है। टीकामें जगह जगह उद्धृत पूर्वाचार्योंके **पद्य २१६** हैं जिनमें केवल १७ संस्कृतमें और शेष प्राकृतमें हैं, **टीकाका कोई तृतीयांश प्राकृतमें** और शेष संस्कृतमें है। यह सब प्राकृत ग्रंथ वही **शौरसेनी** है जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्यों के ग्रंथ रचे गये हैं। प्राकृत और संस्कृत दोनोंकी शैली अत्यन्त **सुन्दर, परिमार्जित** और **प्रौढ** है।

टिप्पणियोंमें उल्लिखित ग्रन्थोंकी

संकेत-सूची

संकेत	ग्रंथ नाम
१ अनु सू	अनुयोगद्वारसूत्र
२ अभि रा को	अभिधानराजेन्द्रकोष
३ अल चि	अलङ्कारचिन्तामणि
४ अष्टश	अष्टशती
५ अष्टस	अष्टसहस्री
६ आचा नि	आचाराङ्ग निर्युक्ति
७ आ नि	आवश्यक-निर्युक्ति
८ आ पा	आलापपद्धति
९ आ पु	आदिपुराण
१० आ मी	आप्तमीमांसा
११ इन्द्र श्रुता	इन्द्रनन्दिश्रुतावतार
१२ उत्त	उत्तराध्ययन
१३ औप सू	औपपातिकसूत्र
१४ क ग्र	कर्मग्रंथ
१५ क प्र	कर्मप्रकृति
१६ क. प्र य उ टी	कर्मप्रकृति यशोविजय उपाध्यायकृत वि टी
१७ कसायपाहुडचुण्णि	(लिखित)
१८ गुण क्र प्र	गुणस्थान-क्रमारोह प्रकरण
१९ गो क	गोम्मटसार कर्मकांड
२० गो जी	,, जीवकांड
२१ गो जी, जी प्र, टी	गोम्मटसार जीवकांड जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका
२२ गो जी, म प्र, टी	गो० जी० मन्दप्रबोधिनी टीका
२३ जयध	जयधवला (लिखित)
२४ जी द सु	जीवट्ठाण दव्वाणिओग दार सुत्त
२५ जी वि प्र	जीवविचारप्रकरण
२६ जी स सू	जीवट्ठाण सतपरूवणा सुत्त
२७ ज्यो क	ज्योतिष्करण्डक सटीक
२८ णाया सू	णायाधम्मकहासुत्त
२९ तत्त्वार्थ भा	तत्त्वार्थभाष्य (श्वे)
३० त रा वा	तत्त्वार्थराजवार्तिक
३१ त श्लो वा	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
३२ त सू	तत्त्वार्थसूत्र
३३ ति प	तिलोयपण्णत्ति
३४ द भ	दशभक्ति
३५ द वै	दशवैकालिक
३६ देशीना	देशीनाममाला
३७ द्र स वृ	द्रव्यसंग्रहवृत्ति
३८ धवला	धवला (लिखित)
३९ न च	नयचक्र
४० न्या कु च	न्यायकुमुदचन्द्र
४१ न सू	नन्दिसूत्र
४२ पञ्चस	पञ्चसंग्रह (दि)
४३ पञ्चा	पञ्चास्तिकाय
४४ पञ्चाध्या	पञ्चाध्यायी
४५ पञ्चा वि	पञ्चाशक सटीक वि
४६ प सु	परीक्षामुख
४७ पा उ	पाणिनि उणादि
४८ पात महाभा	पातञ्जल महाभाष्य

संकेत	ग्रन्थ नाम
४९ पु सि	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
५० प स	पचसंग्रह (प्रा)
५१ प्र क मा	प्रमेयकमलमार्तण्ड
५२ प्रज्ञा सू	प्रज्ञापना सूत्र
५३ प्रमाणनय	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
५४ प्रमाणमी	प्रमाणमीमांसा (हेम)
५५ प्रवच	प्रवचनसार
५६ प्र सा पू	प्रवचनसारोद्धार पूरा
५७ बा अ	बारस अणुवेक्खा
५८ बृ क सू	बृहत्कल्पसूत्र
५९ बृ स्व स्तो	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र
६० ब्र श्रु	ब्रह्महेमचन्द्र श्रुतस्कन्ध
६१ भग गी	भगवद्गीता
६२ भग सू	भगवती सूत्र
६३ मूलाचा	मूलाचार

संकेत	ग्रन्थ
६४ गुणा	गुणस्थान...
६५ राज	अनगार...
६६ त ग	... श्र...
६७ टीका	...क्ष...
६८ ,, मो शा टि	टीकाप्रथ
६९ वा प्र	,, मोक्षशास्त्र टि...
७० वि भा	वाक्यप्रकाश
७१ स त	विशेषावश्यकभाष्य
७२ स त टी	सन्मतितर्क
७३ स त सू	सन्मतितर्क टीका
७४ स सि	सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र
७५ सम सू	सर्वार्थसिद्धि
७६ स्था सू	समवायांगसूत्र
७७ ह पु	स्थानांगसूत्र
	हरिवंशपुराण

विषय-सूची

१
मंगलाचरण १-७२

१ मंगलाचरण ई शास्त्रारम्भ १
२ सूत्रारम्भ एवं पदोंकी ... मंगलाचरण
३ मंगल, ... प्रतिज्ञा ८
४ मंगलका लक्षण और विवेचन ८
  १ ... निरूपण ९
  २ ... १०
  ३ निरुक्तिनिरूपण १४
  ४ मंगलके पदार्थ, ... निरुक्ति व अनुयोगोंसे कथन १७
५ ... निरूपण ३१
६ ... निरूपण ३९
७ अरिहंतका स्वरूप और लक्षण ४१
८ सिद्धका " " ४२
९ अरहंत और सिद्धमें भेदाभेद विवेचन ४६
१० आचार्यका स्वरूप और लक्षण ४८
११ उपाध्याय " " ५०
१२ साधु " " ५१
१३ आचार्यादि परमेष्ठियोंमें ... सिद्धि ५२
१४ अरिहंतोंको प्रथम नमस्कार करनेका प्रयोजन ५३
निमित्त-कथन ५३
हेतु-कथन ५४
१ अभ्युदय सुखमें राजा, महाराजा, मंडलीक, महामंडलीक, नारायण, चक्रवर्ती और तीर्थंकरका राज्य ५७
२ निःश्रेयस-सुख कथन ५८
३ प्रकारान्तरसे निमित्त और हेतुका कथन ६०
७ प्रमाण-निरूपण ६०
८ नाम-निरूपण ६०
९ कर्ताके भेदोंका निरूपण ६०
  १ क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ता ६०
  २ कालकी अपेक्षा अर्थकर्ता ६१
  ३ भावकी अपेक्षा अर्थकर्ता ६२
  ४ ग्रन्थकर्ता ६३
  ५ आचार्योंकी परम्परा ६४
  ६ श्रुतावतार वर्णन ६५, ६७

२
जीवस्थानका अवतार ७२-१३२

१० उपक्रम ७२ ८३
  १ आनुपूर्वीके तीन भेद ७२
  २ नामके दस भेद ७२
  ३ प्रमाणके पांच भेद ७३
  ४ वक्तव्यताके तीन भेद ८०
  ५ अर्थाधिकारके तीन भेद ८२
११ निक्षेप कथन ८२
१२ नयनिरूपण ८३
  १ नयके दो भेद ८३ ९१
  २ द्रव्यार्थिक नयका निरूपण ८३
  ३ पर्यायार्थिक नयका निरूपण ८५
१३ अनुगम-निरूपण ९१ १३२
  १ प्रमाणानुगमके भेदोंका निरूपण ९३

२ श्रुतज्ञानके भेद प्रभेदोंका स्वरूप ०६

३ आग्रायणीय पूर्वके १४ अर्थाधिकार और जीवट्ठाण खटके अन्तर्गता- धिकारकी उत्पत्ति १२३

३

विषयकी उत्थानिका १३२–१५९

१४ चौदह मार्गणाओंका सामान्य स्वरूप-निरूपण

१ गतिमार्गणा १३२-१५३

२ इन्द्रियमार्गणा १३४

३ कायमार्गणा १३५

४ योगमार्गणा १३८

५ वेदमार्गणा १३९

६ कषायमार्गणा १४०

७ ज्ञानमार्गणा १४१

८ संयममार्गणा १४२

९ दर्शनमार्गणा १४४

१० लेश्यामार्गणा १४५

११ भव्यमार्गणा १४०

१२ सम्यक्त्वमार्गणा १५०

१३ संज्ञिमार्गणा १५१

१४ आहारमार्गणा १५१

१५ अनुयोगद्वारके अर्थ [illegible] १५२

[illegible] निरूपण

४ १५३

[illegible]

[illegible] १५० ४१०

[illegible] गुणस्थान निरूपण

१ मिथ्यादृष्टिगुणस्थान १५० २००

२ [illegible] गुण० १६१

[illegible] १६३

३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान १६[illegible]

४ असंयतसम्यग्दृष्टि ” १७[illegible]

५ संयतासंयत ” १७३

६ प्रमत्तसंयत ” १७[illegible]

७ अप्रमत्तसंयत ” १७८

८ अपूर्वकरण ” १७०

९ अनिवृत्तिकरण ” १८३

१० सूक्ष्मसाम्पराय ” १८७

११ उपशान्तकषाय ” १[illegible]

१२ क्षीणकषाय ” [illegible]

१३ सयोगकेवली ” १[illegible]

१४ अयोगकेवली ” १[illegible]

१५ सयोगी और अयोगीके मनका अभाव होनेपर कायज्ञानकी सयुक्तिक सिद्धि १०२

१६ सिद्धस्वरूप निरूपण २००

१७ मार्गणाओंमें गुणस्थान निरूपण २०१ ४[illegible]

१ गतिभेद निरूपण २०[illegible]

२ नरकगतिमें गुणस्थान प्रतिपादन २०[illegible]

३ तिर्यग्गतिमें ” २०[illegible]

४ मनुष्यगतिमें ” ” २०[illegible]

५ [illegible] निरूपण २१०

[illegible] २१०

[illegible] गुणस्थान [illegible] २११

[illegible] २१५

९ [illegible] २२०

१० [illegible] २२[illegible]

११ [illegible] २११

१२ [illegible] २११

१३ [illegible] २२

१४ [illegible] २४०

१५ पर्याप्ति और प्राणमें भेद २५६
१६ द्वीन्द्रियादि जीवोंके भेद २५८
१७ अपर्याप्त अवस्थामें मनका निराकरण
१८ इन्द्रियमार्गणामें गुणस्थान-सत्त्व प्रतिपादन २५०
१९ कायमार्गणाके भेद २६१
२० स्थावरकायिक जीवोंके भेद २६४
२१ त्रसकायिक जीवोंके भेद २६७
२२ कायमार्गणामें गुणस्थान निरूपण २७२
२३ योग मार्गणाके भेद व स्वरूप २७४
२४ मनोयोगके भेद और उनमें गुणस्थान-निरूपण २७८
२५ वचनयोगके भेद " २८०
२६ काययोगके भेद " २८६
२७ केवलि-समुद्घात विचार २८९
२८ त्रियोगी योगोंके स्वामी १००
२९ द्वियोगी और एकयोगी योगोंके स्वामी १०८
३० योगोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त विचार १०९
३१ आदेशकी अपेक्षा योगमार्गणामें पर्याप्त व अपर्याप्त-विचार ११०
३२ वेदमार्गणाके भेद व स्वरूप १२२
३३ वेदमार्गणामें गुणस्थान विचार १४०
३४ आदेशकी अपेक्षा वेद-सत्त्व-प्रतिपादन १४२
३५ कषायमार्गणाके भेद व स्वरूप १४५
३६ कषायमार्गणामें गुणस्थान विचार १४८
३७ ज्ञानमार्गणाके भेद व स्वरूप १५१
३८ ज्ञानमार्गणामें गुणस्थान-विचार १५३
३९ संयममार्गणाके भेद व स्वरूप १६०
४० संयममार्गणामें गुणस्थान-विचार १६८
४१ दर्शनमार्गणाके भेद व स्वरूप १७४
४२ दर्शनमार्गणामें गुणस्थान विचार १७८
४३ लेश्यामार्गणाके भेद व स्वरूप १८१
४४ लेश्यामार्गणामें गुणस्थान-विचार १८६
४५ भव्यमार्गणाके भेद व स्वरूप १९०
४६ भव्यमार्गणामें गुणस्थान विचार १९२
४७ सम्यक्त्वमार्गणाके भेद व स्वरूप १९४
४८ सम्यक्त्वमार्गणामें गुणस्थान-विचार १९५
४९ आदेशकी अपेक्षा सम्यक्त्व सत्त्व प्रतिपादन १९९
५० संज्ञिमार्गणाके भेद व स्वरूप १९७
५१ संज्ञिमार्गणामें गुणस्थान-विचार २०८
५२ आहारमार्गणाके भेद व गुणस्थान विचार २०८
२०९

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
८	४	माहप्पं ॥१॥	माहप्पं ॥१॥ इदि ।
२३	२	॥ इदि ।	॥१२॥ इदि ।
,,	४	वात्तमिदि	वत्तमिदि
२	७	पय	पद
२६	३	मङ्गल	मङ्गल
३२	१	विनाशयति	विनाशयति नाशयति
३४	६	मन्त्रे	मन्त्र
३	२	मङ्गलम् ?	मङ्गलम् ? जीयग्ग
४०	१	फल पावेंतु	फलं हि पावेंतु
,,	६	लहु पात्या	लहु पात्या
४७	२	गुणरत	गुणरतो
४८[हिं]	६	जो पुरुषाकार	जो मय अयय योंसे पुरुषाकार
५५	१	'भोयण वेलाए सेंधवमाणि'	भोयण-वेलाए 'सेंधवमाणि'
५६	१	अभ्युदयनै श्रेयसम्	अभ्युदय नै श्रेयसम्
५९	६	पयवणादो	पवयणादो
७०	८	अट्ठिय क्खरा	अट्ठियक्खरा
,,	,,	विहीण क्खरा	विहीणक्खरा
,,	६	हिय क्खराण	हियक्खराण
८२	१०	सा	तत्थ सा
९४	६	पुधत्त ।	पुधत्त,
९७	३	पुरिस	पुरिसे
१०१	८	छप्पण्ण सहस्स	छप्पण्ण सहस्स
१०७	६	पण्णारह-लक्खा वे सहस्स	पण्णारह लक्खा वे सहस्स

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
११४	१	[illegible]	[illegible]
११९(टि)	२	गणीगारि	गणीगारि। गो जी जी प्र गी २
१२३	१०	पुण्णगारो	पुण्णगारो
,,	,,	अगारगारो	अगारगारो
,,	११	पुण्णगारो	पुण्णगारो
,,	,,	अयगारादो	अयगारादो
१२०	४	पयडीं सुयधमे	पयडीसु यधमे
१२७	१०	नेयीमादिमादो	नेयीमादिमादो मायादो
१३३	१	विरुद्ध म	विरुद्ध । म
१३६	६	कत्थ	कथं
२११	३	स्थानेषु	स्थानेषु मार्गणा
२२७	६	यत्परिमणा	यत्परिमाण
२६४	१	ग्राहा	ग्राहा
२६९		वनस्पति	वनस्पति
२७७	४	निवधन	निबन्धन
२८०	७	॥ १ ३ ॥	॥ १ ॥
२८१	२	॥ १५४ ॥	॥ १ ६ ॥
२८२	४	॥ १ १ ॥	॥ १ ७ ॥
२८६	९	॥ १ ६ ॥	॥ १ ८ ॥
,,	११	॥ १५७ ॥	॥ १ ९ ॥
३०	३	वाङ्मनसो	वाङ्मनसयो
३०८	९	वाङ्मनोभ्या	वाङ्मनसाभ्या
३१०	१	,,	,,

संतपरूवणा

मंगलाचरणम्

श्रीमत्परम-गम्भीर स्याद्वादामोघ लाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्य नाथस्य शासनं जिन शासनम् ॥ १ ॥

सः श्रीमान् धरसेन-नाम-सुगुरु श्रीजैन सिद्धान्त-सद्-
वार्द्धिर्धुर्धर पुष्पदन्त-सुमुनिः श्रीभूतपूतो बलि ।
एते सन्मुनयो जगत्त्रय हिता स्वर्गामरैरर्चिता'
कुर्युर्मे जिनधर्म कर्मणि मतिं स्वर्गापवर्गप्रदे ॥ २ ॥

श्रीवीरसेन इत्याप्त भट्टारक पृथु-प्रथ' ।
स न पुनातु पूतात्मा वादि वृन्दारको मुनि ॥ ३ ॥

धवला भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि निर्मलाम् ।
धवलीकृत निःशेष भुवना ता नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।
शासन वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ ५ ॥

सिद्धाना कीर्तनादन्ते य सिद्धान्त-प्रसिद्ध-वाग् ।
सोऽनाद्यनन्त सन्तानः सिद्धान्तो नोऽनताच्चिरम् ॥ ६ ॥

---

१ श्रवणबेलगोल शिलालेख नं २९ आदि । २ ब्रह्म नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोष पृ ३५९ ।
३-४ धवल महापुराण उत्थानिका । ५-६ जयधवलान्तर्गत ।

सिरि-भगवन्त पुप्फदन्त भूदबलि पणीदे

छक्खंडागमे

जीवट्ठाण

तस्स

सिरि वीरसेणाइरिय विरइया टीका

धवला

सिद्धमणंतमणिन्दियमणुवममप्पुत्थ-सोक्खमणवज्ज ।
केवल-पहोह णिज्जिय दुण्णय तिमिर जिण णमह ॥ १ ॥

जो सिद्ध हैं, अनन्त स्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मोत्पन्न सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं और जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभापुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, ऐसे जिन भगवानको नमस्कार करो। अथवा, जो अनन्त-स्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मोत्पन्न सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है और जो समस्तकर्म-शत्रुओंके जीतनेसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त हैं, ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार करो।

विशेषार्थ—‘सिद्ध’ शब्दका अर्थ कृतकृत्य होता है, अर्थात्, जिन्होंने अपने करने योग्य सब कार्योंको कर लिया है, जिन्होंने अनादिकालसे बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंको प्रचण्ड ध्यानरूप अग्निके द्वारा भस्म कर दिया है, ऐसे कर्म-प्रपंच-मुक्त जीवोंको सिद्ध कहते हैं। अरहन्त परमेष्ठी भी चार घातिया कर्मोंका नाश कर चुके हैं, इसलिये वे भी घातिकर्मक्षय सिद्ध हैं। इस विशेषणसे उनके मतका निराकरण हो जाता है जो अनादि कालसे ही ईश्वरको कर्मोंसे अस्पृष्ट मानते हैं। अथवा, ‘षिधु’ धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिद्ध शब्दका यह अर्थ होता है, कि जो शिवलोकमें पहुंच चुके हैं, और वहांसे लौट कर कभी नहीं आते। इस कथनसे मुक्त जीवोंके पुनरागमनकी मान्यता का निराकरण हो जाता है। अथवा, ‘षिधु’ धातु ‘संराधन’ के अर्थमें भी आती है, जिससे यह अर्थ निकलता है, कि जिन्होंने आत्माके गुणोंको प्राप्त कर लिया है, अर्थात्, जिनकी आत्मामें अपने स्वाभाविक अनन्त गुणोंका विकाश हो गया है। इस व्याख्यासे उन लोगोंके मतका निरसन हो जाता है, जो मानते हैं कि, ‘जिस प्रकार दीपक बुझ जाने पर, न वह पृथ्वीकी ओर नीचे जाता है, न आकाशकी ओर ऊपर ही जाता है, न किसी दिशाकी ओर जाता है और न किसी विदिशाकी ओर ही। किंतु तेलके क्षय हो जानेसे केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है। उसीप्रकार, मुक्तिको प्राप्त होता हुआ जीव भी न नीचे भूतलकी ओर जाता है, न ऊपर नभस्तलकी ओर, न किसी दिशाकी ओर जाता है, और न किसी विदिशाकी ओर ही। किंतु स्नेह अर्थात् रागपरिणतिके नष्ट हो जानेपर, केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है’।*

अनन्त—जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। अथवा, ‘अन्त’ शब्द सीमा वाचक भी है, इसलिए जिसकी सीमा न हो उसे भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त पदार्थोंके जाननेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त कर्मोंके अंशोंके जीतनेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त ज्ञानादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण भी अनन्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय—जिसके इन्द्रिया न हों, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिया अर्थात् भावेन्द्रिया छद्मस्थ दशामें पाई जाती हैं, परन्तु सिद्ध और अरहन्त परमात्मा छद्मस्थ दशाको

१ आर्जो मङ्गलश्लोकप्रयाणं ममरं । नथा र म । गुणस्थान । अ नि ४९ ‘माङ्गलिक आचार्या महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दं आदितः प्रयुञ्जते । पात. महाभा. पृ. ७ सितं बद्धमष्टप्रकारं कर्मेन्धनं ध्मातं दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते सिद्धाः । अथवा ‘षिधु गतौ’ इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्त्या निर्वृतिपुरीमगच्छन् । अथवा ‘षिधु संराद्धौ’ इति वचनात् सिध्यन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म । अथवा ‘षिधु शास्त्रे माङ्गल्ये च’ इति वचनात् सेधन्ति स्म शासितारोऽभूवन् माङ्गल्यरूपतां चानुभवन्ति स्म इति सिद्धाः । अथवा सिद्धा नित्या अपर्यवसानस्थितिकत्वात् । प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसन्दोहत्वात् । आह च — ध्मातं सितं येन पुराणकर्म यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि । ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो मे ॥ भग. सू. १. १. १ (टीका)। • धवला अ. पृ. ४७४

२ नास्त्यन्तोऽस्येत्यनन्तः निरवशेषविनाशानवस्थानात् । नास्त्यन्तः सीमास्येत्यनन्तः कालतोऽनन्तत्वात् । अनन्तार्थविषयत्वादनन्तः अनन्तार्थविषयज्ञानस्वरूपत्वात् । अनन्त-कर्मांश-जयनादनन्तः । अनन्तानि वा ज्ञानान्यस्य सन्तीत्यनन्तः । अभि. रा. को.

३ न यस्य इन्द्रियाणि विद्यन्ते स आत्मादयस्तत्र । पा. स. म. कोष (अणिंदिय)।

उल्लंघन करके केवलज्ञानसे विभूषित हैं, इसलिये वे अतीन्द्रिय हैं। भावेन्द्रियोंकी तरह इन दोनों परमात्माओंके भावमन भी नहीं पाया जाता है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थानमें [illegible] ज्ञानका अभाव है। अथवा, 'अणिंदिय' पद अतीन्द्रियके अर्थमें भी आता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञानसे नहीं जाने जा सकते हैं, अर्थात् वे दोनों परमात्मा इन्द्रियोंके अगोचर हैं। 'अणिंदिय' पदका अर्थ अनिन्दित भी होता है, जिसका यह तात्पर्य है कि सिद्ध और अरहंत परमेष्ठी निर्दोष होनेके कारण सबके द्वारा अनिन्दित हैं। निन्दा उसकी की जाती है जिसमें किसी प्रकारके दोष पाये जाय जिसका आचरण स्वपरके [illegible] अहितकर हो। परन्तु उक्त दोनों परमेष्ठी कामादि दोषोंसे रहित होनेके कारण कोई भी उनकी निन्दा नहीं कर सकता है, इसलिये वे अनिन्दित हैं।

अनुपम—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसके स्वरूप-निर्णयके लिए हम उसे कुछ भी दृष्टान्त देकर, दृष्टान्त द्वारा उस मापनेका प्रयास करते हैं। 'उप' अर्थात् उपचारसे और 'मा' माप करना यह उपमा है। उपचारसे मापनेका अर्थ यह है कि एक वस्तुके गुण धर्म किसी दूसरी वस्तुमें पाये जाते हैं, इसलिये आकार दीप्ति स्वभाव आदि धर्मोंमें थोड़ी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुका ठीक कथन नहीं हो सकता है, फिर भी दृष्टान्त द्वारा दूसरी वस्तुका अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है। इसलिये इस प्रकारका उपक्रम किया जाता है। परंतु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमें लागू हो सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। [illegible] अतीन्द्रिय हैं। अरहंत परमेष्ठीका शरीर इन्द्रियगोचर होते हुए भी उनकी पूर्ण [illegible] संसारी जन इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। [illegible] तथा परिज्ञान होना असंभव है। [illegible] उपमा दी जा सकती है [illegible] अरहंत परमात्माओंको अनुपम अर्थात् उपमा रहित कहना सर्वथा युक्ति युक्त है। [illegible] उनका ठीक [illegible] जिसके द्वारा हम [illegible] हैं।

आत्मोपलब्ध सुख—जिसके द्वारा आत्मा [illegible]

आदि सुगन्धित पदार्थोंके सूंघनेमें, रमणीय रूपोंके अवलोकनमें, श्रवण सुखकर सगीतोंके सुननेमें और चित्तमें प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके विषयोंके चिन्तवनमें आनन्दका अनुभव-सा करता है, और उससे अपनेको सुखी भी मानता है। पर यथार्थमें देखा जाय तो इसे 'सुख' नहीं कह सकते हैं। सुख जिसे कहना चाहिये वह तो आकुलताके अभावमें ही उपलब्ध हो सकता है। परन्तु इन सब विषयोंके ग्रहण करनेमें आकुलता देखी जाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है, इसलिये आकुलता होती है। दैववशात् उक्त सामग्री यदि मिल भी जाय तो उसे चिरस्थायी बनानेके लिये और उसे अपने अनुकूल परिणमानेके लिये चिन्ता करनी पड़ती है। इतना सब कुछ करने पर भी उस सामग्रीसे उत्पन्न हुआ सुख चिरस्थायी ही रहेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि संसारमें न किसीका सुख चिरस्थायी रहा है और न कोई प्राणी ही। फिर इस सुखमें रोग, शोक, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि निमित्तोंसे सदा ही सैकड़ों बाधाएं उपस्थित होती रहती है, जिससे वह सुखद सामग्री ही दुखकर हो जाती है। यदि इतनेमें ही बस होता, तो भी ठीक था। पर वह सुख पापका बीज है, क्योंकि संसारमें सुखकी सामग्री परिमित है और उसके ग्राहक अर्थात् उसके अभिलाषी असंख्य हैं। अतः जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकतासे अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थमें देखा जाय तो, वह दूसरोंके न्याय प्राप्त अधिकारोंको छीनता है। इसलिये वह सुख पापका बीज है। फिर वह सुख आरम्भादि निमित्तोंसे अनेकों जीवोंकी हिंसा करनेके बाद ही तो उपलब्ध होता है, अतः कर्मबन्धका कारण भी है। अतः वह इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख, सुख न होकर यथार्थमें दुख ही है। किंतु जो आनन्द, जो शान्ति, स्वाधीन है, अर्थात्, बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होती है, बाधा रहित है, अविच्छिन्न एक धारासे प्रवाहित हो कर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मबन्ध करानेवाली भी नहीं है, दूसरोंके अधिकार नहीं छीननेसे पापका बीज भी नहीं है, उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। सो ऐसा आत्मोत्पन्न, अनन्त सुख सिद्ध और अरहन्त परमेष्ठीके ही संभव है। अतः उक्त विशेषण देना सार्थक एवं समुचित ही है।

अनवद्य—अवद्य, पाप या दोषको कहते हैं। गुणस्थानक्रमसे आत्माके क्रमिक विकासको देखते हुये यह भलीभांति समझमें आ जाता है कि ज्यों ज्यों आत्मा विशुद्धि मार्गपर अग्रेसर होता जाता है, त्यों त्यों ही उसमेंसे मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती हुई चली जाती है। यहा तक कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारोंसे रहित हो जाता है। इसी अवस्थाको मंगलकारने अनवद्य या निर्दोष शब्दसे प्रगट किया है।

केवलप्रभोघनिर्भितदुर्नयतिमिर—अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा रहित केवल एक दृष्टि

१ जह एए तह अन्ने पत्तेयं दुण्णया नया सव्वे। स. त. १. १५. निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। आ. मी. १०८. तत्त्वज्ञानं प्रत्ययात् प्रमाणम्। एकधर्मप्रतिपादिनः। तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपद्वारेण स्वसाध्य-विरुद्ध विरोध-दर्शन सत्यासत्यनिरासात्। अष्ट. का. १०६. अथवा नयकल्पनया भी प्रमाण तत्त्वार्थी। नया बलाल्लाभी दुर्नयस्त्वनिराकार॥ अष्ट. पृ. २९०

भेदको ही सुनय कहते हैं। इससे पदार्थका बोध तो होता है परन्तु यह बोध [illegible]
रहता है। इससे प्राणीमात्र किसी पदार्थकी सर्वाङ्गीणताका अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसलिए
इसके द्वारा पदार्थको जानते हुए भी उसके विषयमें [illegible]
[illegible] दृष्टि भेदसे पदार्थ जितने अंशमें प्रतिभासित होता है [illegible]
[illegible] उसकी [illegible] एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उन [illegible]
[illegible] दृष्टि भेद पदार्थके उन अंशोंको [illegible] नहीं करता [illegible]
हुए अंशको [illegible] उस पदार्थकी समग्रता [illegible] है। अतएव [illegible]
होते हुए भी अन्धकारके समान है। [illegible]
अपेक्षा रहित एक दृष्टि भेदको दुर्नयतिमिर कहा है। [illegible]
परमर्षिने अपने [illegible] प्रभा पुंजसे नष्ट किया है [illegible]
ऐसा एक भी दृष्टि भेद नहीं है जिसका समन्वय नहीं होता है [illegible]
भेदोंका समन्वय हो जाता है। अतएव यह पदार्थका पूर्ण प्रत्यक्ष [illegible]
जिसप्रकार अन्धकार विलीन हो जाता है उसीप्रकार [illegible]
ये दृष्टियां नहीं ठहर सकती हैं। अतएव [illegible]
'[illegible]दुर्नयतिमिर' यह विशेषण [illegible] है।

जिन—[illegible] आत्माको [illegible]
[illegible] होकर ही यह जीव [illegible]
है। जब इस जीवको उपदेशादिकका निमित्त मिलता है [illegible]
है, '[illegible]' है [illegible]
होने लगती है। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] हुए भी [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] विपलिर मल मद्र-दगणुत्तिलया ।
[illegible] भुमा पमियउ सुप देवपा गुड्ग ॥ २ ॥
[illegible] विसिद्धि विराउया विगिम्मगा ।
[illegible] पणीपतु ॥ ३ ॥
[illegible] पम्भोत्थो [illegible] हाण नर मीहो ।
[illegible] ॥ ४ ॥

[illegible] का अभाव होता जाता है वैसे ही वैसे जिनागम धर्मका प्रादुर्भाव होता [illegible] समस्त घातिया कर्मोंको नष्ट कर चुका [illegible] प्राप्त होता है। [illegible] समस्त कर्मोंसे रहित [illegible] वीतराग साक्षात् जिन हैं, [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पणमामि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रविं ।
भग्ग-सिव-मग्ग-कंटयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ॥ ५ ॥

पणमह कय-भूय-बलिं भूयबलिं केस-वास-परिभूय-बलिं ।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-वम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं ।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिओ ॥ १ ॥

अर्थात्, सिद्धान्तके अवगाहनसे जिन्होंने विषयको प्राप्त कर लिया है [illegible] मुझ पर प्रसन्न हों ॥ ४ ॥

जो दुष्कृत अर्थात् पापोंका अन्त करनेवाले हैं, जो कुनयरूपी अन्धकारका नाश करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गके कंटकों ([illegible] बाधक कारणों) को भग्न अर्थात् नष्ट कर दिया है, जो ऋषियोंकी समितिके अधिपति हैं, और जो निरन्तर पंचेन्द्रियोंका दमन करनेवाले हैं, ऐसे पुष्पदन्त आचार्यको मैं (वीरसेन) प्रणाम करता हूं ॥ ५ ॥

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्रसे पूजे गये हैं, अथवा, भूत-नामक व्यन्तर जातिके देवोंसे पूजे गये हैं, जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् सघन-सुन्दर बालोंसे [illegible] उत्पन्न होनेवाली शोभिन्नताको परिभूत अर्थात् तिरस्कृत कर दिया है, जिन्होंने कामदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है, और जिन्होंने निर्मल ज्ञानके द्वारा ब्रह्मचर्यके प्रसारको बढ़ाया है, ऐसे भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करो ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—जिस समय भूतबलि आचार्यने अपने गुरु धरसेन आचार्यसे सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़कर समाप्त किया था उस समय भूत-नामक व्यन्तर देवोंने उनकी पूजा की थी। इसका उल्लेख धवलामें आगे स्वयं किया गया है।

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह अधिकारोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करें।

विशेषार्थ—शास्त्रके प्रारम्भमें पहिले मंगलाचरण करना चाहिये। [illegible] जिस निमित्तसे शास्त्रकी रचना हुई हो उस निमित्तका वर्णन करना चाहिये। इसके बाद [illegible] प्रत्यक्ष और परम्परा-हेतुका वर्णन करना चाहिये। अनन्तर शास्त्रका प्रमाण बतलाना चाहिये। फिर ग्रन्थका नाम और आचार्यपरम्परासे उसके मूलकर्ता, उत्तरकर्ता और परम्परा-कर्ताका कथन करना चाहिये। इसके बाद ग्रन्थका व्याख्यान करना उचित है। [illegible]

१ [illegible]

[illegible]

इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं ति-रयण-हेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्णं सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं ॥ १ ॥

कधमिदं सुत्तं मंगल-णिमित्त-हेउ-परिमाण-णाम-कत्ताराणं सकारणाणं परूवयं? ण, तालपलंब-सुत्तं व देसामासियत्तादो।

परंपरासे चला आ रहा है, और इस ग्रंथमें भी इसी क्रमसे व्याख्यान किया गया है ॥ १ ॥

आचार्य परंपरासे आये हुए इस न्यायको मनमें धारण करके, और पूर्वाचार्यों… आचार अर्थात् व्यवहार परंपराका अनुसरण करना रत्नत्रयका कारण है, ऐसा समझक… पुष्पदन्त आचार्य मंगलादिक छहों अधिकारोंका सकारण व्याख्यान करनेके लिये मंगल-सू… कहते हैं—

अरिहंतोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपा… ध्यायोंको नमस्कार हो, और लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—यह मंगलसूत्र नमस्कार मंत्रके नामसे प्रसिद्ध है। इसके अन्तिम भागमें… जो 'लोए' अर्थात् लोकमें और 'सव्व' अर्थात् सर्व पद आये हैं, उनका संबंध 'णमो अरिहंताणं' आदि प्रत्येक नमस्कार वाक्यके साथ कर लेना चाहिये। इसका खुलासा… आचार्यने स्वयं आगे खुलासा किया है।

शंका—यह सूत्र मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ताका सकारण प्ररूप… करता है, यह कैसे संभव है? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि इस सूत्रमें जब कि केवल मंगल… अर्थात् इष्टदेवताको नमस्कार किया गया है तब उसमें निमित्त आदि अन्य पांच अधिकारोंका… कार्य-कारण कैसे संभव है?

समाधान—यह मंगलसूत्र तालप्रलम्ब सूत्रके समान देशामर्शक होनेसे मंगलादि… छहों अधिकारोंका सकारण प्ररूपण करता है, इसलिये उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है।

विशेषार्थ—जो सूत्र अधिकृत विषयोंके एकदेश कथनद्वारा समस्त विषयोंकी… सूचना कर देता है उसे देशामर्शक सूत्र कहते हैं। इसलिये तालप्रलम्बसूत्रके समान यह मंगलसूत्र…

[illegible]

तत्थ धाउ-णिक्खेव-णय-णयत्थ-णिरुत्ति-अणियोग-द्दारेहि मंगलं परूविज्जदि । तत्थ धाऊ 'भू सत्तायां' इच्चेवमाइआ सयलत्थ-वत्थूण सद्दाण मूल-कारणभूदा । तत्थ 'मगि' इदि अणेण धाउणा णिप्पण्णो मंगल-सद्दो । धाउ-परूवणा किमट्ठं कीरदे? ण,

भी दृष्टान्तरूप है। कल्पसूत्रके कल्प्याकल्प्य नामके प्रथम उद्देशके प्रथम सूत्रमें 'तालपलम्ब' पद आता है जिसका भाव यह है कि ताडवृक्षको आदि लेकर जितनी भी वनस्पतियां जातियां हैं, उनके अभिन्न (बिना तोड़े या काटे गये) और अपक्व या कच्चे अर्थात् सचित्त मूल, पत्र, फल, पुष्प आदिका लेना साधुको योग्य नहीं है। इस सूत्रमें तो केवल 'तालपलम्ब' पद ही दिया है, फिर भी उसे उपलक्षण मानकर समस्त वृक्ष जाति और उनके पत्र पुष्पादिकोंका ग्रहण किया गया है। उसीप्रकार यह नमस्कारात्मक सूत्र भी दृष्टान्तरूप होनेसे मंगलके साथ अधिकृत निमित्त, हेतु, परिमाण नाम और कर्ताका भी द्योतक है।

उन उक्त मंगलादि छह अधिकारोंमें से पहले धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्त और अनुयोगके द्वारा 'मंगल' का प्ररूपण किया जाता है। उनमें 'भू' धातु सत्ता अर्थमें है इसको आदि लेकर समस्त अर्थ-वाचक शब्दोंकी जो मूल कारण हैं उन्हें धातु कहते हैं। उनमेंसे 'मगि' धातुसे मंगल शब्द निष्पन्न हुआ है। अर्थात् 'मगि' धातुमें 'अलच्' प्रत्यय जोड़ देने पर मंगल शब्द बन जाता है।

शंका—यहां धातुका निरूपण किसलिये किया जा रहा है? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्त विषयका प्ररूपक है इसलिये इसमें धातुके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इसका कथन तो व्याकरण शास्त्रमें करना चाहिये।

समाधान—ऐसा शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जो शिष्य धातुसे अपरिचित है, अर्थात् जिस धातुसे कोई शब्द बना है उसको नहीं जानता है उस धातुके परिज्ञानके

जो णामकम्मणोमि ॥ मूलाचा. ११२६ [illegible]

[illegible]

१ [illegible] पा ३ [illegible]

अणवगय-णाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तीदो। उक्तं च—

> शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
> अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥ २ ॥ इति।

णिच्छये णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो। सो वि छव्विहो, णाम-ट्ठवणा-दव्व-खेत्त-काल-भाव-मंगलमिदि।

> उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण।
> अत्थं णयंति तच्चमिदि तदो ते णया भणिया ॥ ३ ॥

बिना विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः अर्थ-बोधके लिये विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान कराना आवश्यक है। इसलिये यहां पर धातुका निरूपण किया गया है। कहा भी है—

शब्दसे पदकी सिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, अर्थ-निर्णयसे तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्त्वज्ञानसे परम कल्याण होता है ॥ २ ॥

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करे, अर्थात् अनिर्णीत वस्तुका उसके नामादिकद्वारा निर्णय कराये, उसे निक्षेप कहते हैं। वह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता है, नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल।

'उच्चारण किये गये अर्थ-पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर, अर्थात् समझकर पदार्थको ठीक निर्णय तक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं' ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ-नि

---

१ [illegible]

२ [illegible]

३ [illegible] ॥

[illegible]

४ [illegible]

[illegible]

इदि वयणादो कय-णिक्खेवे दट्ठूण णयाणमवयारो भण्णदि। को णयो णाम?

णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्वं।
परिणाम-खेत्त-कालंतरेसु अविणट्ठ-सब्भावं ॥ ४ ॥

करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलम्बन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये। तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है। पदार्थ-निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाकारने अर्थ पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्त्व-निर्णयका उपदेश दिया है। गाथामें 'अत्थपदं' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है। जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थपद' कहते हैं। 'णिक्खवे' इस पदसे निक्षेप विधिकी, और 'अत्थं णयंति तच्चं' इत्यादि पदसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयकी आवश्यकता बतलाई गई है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवतार होता है।

शंका—नय किसे कहते हैं?

अनेक गुण और अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनके द्वारा एक परिणामसे दूसरे परिणाममें, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी-स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है उसे नय कहते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—आगममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जायं उसे द्रव्य कहते हैं। और दूसरा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति, विनाश और स्थितिस्वभाव होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यहां पर नयकी निरुक्ति करते समय द्रव्यके इस

---

१ अनेकपर्यायात्मकस्य वस्तुनः [illegible] इति अत्र [illegible] तत्त्वार्थभाष्यम् । [illegible]
आ. मी. [illegible] [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

२ [illegible]
[illegible]

उणवगय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तीदो । उक्तं च—

शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥ २ ॥ इति ।

णिच्छये णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो । सो वि छव्विहो, णाम-ट्ठवणा-द[व्व-]
खेत्त-काल-भाव मंगलमिदि[3] ।

उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण ।
अत्थं णयंति तच्चमिदि तदो ते णया भणिया ॥ ३ ॥

बिना शिष्यको शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। और अर्थबोधके लिये शिष्य[को]
शब्दके अर्थका ज्ञान कराना आवश्यक है। इसलिये यहां पर धातुका निरूपण किया गया [है।]
कहा भी है—

शब्दोंसे पदकी सिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, [अर्थनिर्णयसे]
तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्त्वज्ञानसे परम कल्[याण]
होता है ॥ २ ॥

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करे, अर्थात् अनिर्णीत वस्तुका उ[सके]
नामादिकद्वारा निर्णय करावे, उसे निक्षेप कहते हैं। वह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, [काल]
और भावके भेदसे छह प्रकारका है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता
है, नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल।

'उच्चारण किये गये अर्थ पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर, अर्थात् समझ[कर]
पदार्थको ठीक निर्णयतक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं' ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ नि[र्णय]

[illegible]

[illegible] ॥
[illegible]

[illegible]

इदि वयणादो णय णिक्खेवे हु णयाणमवयारो भवदि। को णयो णाम?

णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्वं।
परिणाम-खेत्त-कालंतरेसु अविणट्ठ-सब्भावं॥ ४॥

करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलंबन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये। तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है। पदार्थ निर्णयके इस क्रमको हृदयमें रखकर गाथाकारने अर्थपदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा तत्त्वनिर्णयका उपदेश दिया है। गाथामें 'अर्थपद' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ व्यक्त किया गया है। जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थपद' कहते हैं। 'निक्षिपे' इस पदसे निक्षेप-विधिकी, और 'अर्थं नयन्ति नयाः' इत्यादि पदसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है॥ ३॥

पूर्वोक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपमें नयोंका अवतार होता है।

शंका—नय किसे कहते हैं?

अनेक गुण और अनेक पर्यायोंसहित अथवा उनके द्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है उसे नय कहते हैं॥ ४॥

विशेषार्थ—आगममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जायँ उसे द्रव्य कहते हैं। और दूसरा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति विनाश और स्थितिस्वरूप होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यहां पर नयकी निरुक्ति करते समय द्रव्यके इन

---

१ [illegible]

[illegible]

अणवगय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तीदो। उक्तं च—

> शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
> अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥ २ ॥ इति।

णिच्छये णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो। सो वि छव्विहो, णाम-ट्ठवणा-दव्व-खेत्त-काल-भाव-मंगलमिदि।

> उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण।
> अत्थं णयंति तच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया ॥ ३ ॥

बिना विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। और अर्थबोधके लिये विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान कराना आवश्यक है। इसलिये यहां पर धातुका निरूपण किया गया है। कहा भी है—

शब्दसे पदकी सिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, अर्थ-निर्णयसे तत्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्वज्ञानसे परम कल्याण होता है ॥ २ ॥

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करे, अर्थात् अनिर्णीत वस्तुका उसके नामादिकद्वारा निर्णय करावे, उसे निक्षेप कहते हैं। वह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता है, नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल।

'उच्चारण किये गये अर्थ पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर, अर्थात् समझकर, पदार्थको ठीक निर्णयतक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं' ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ-निर्णय

---

१ श्लोकोऽयं 'व्याकरणपदसिद्धि' इत्येतावन्मात्रपाठभेदेन सह प्रभाचन्द्रकृत शाकटायनन्यास सिद्धमादिव्याकरणग्रन्थेषूपलभ्यते।

२ जत्थ बहु जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा। जत्थ बहुं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ ॥ नयच २६९. णिक्खिप्पइ तेण तम्हि तओ व णिक्खेवणं व णिक्खेवो। नियओ व निच्छओ वा खेवो नामाइ वि जं भणियं ॥ वि. भा. ९१२. निक्षेपणं शास्त्रादेर्नामस्थापनादिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनं निक्षेपः। निक्षिप्यते नामादिभेदैर्व्यवस्थाप्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वा निक्षेपः। वि. भा. ९१२ म. टी.

३ णामणिट्ठावणादो दव्वक्खेत्ताणि कालभावा य। इय छब्भेयं भणियं मंगलमाणंदसंजणणं ॥ ति. प. १, १८.

४ अणिहिट्ठे अत्थे जम्हि अत्थावगमो होदि तमिममक्खरसमूहं कलाबो अत्थपदं णाम। जयध. अ. पृ. १२.

५ गाथेयं पाठभेदेन जयधवलायामुपलभ्यते। तद्यथा, उच्चारिदम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण। अत्थं णयंति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया भणिया ॥ जयध. अ. पृ. ३०. मुत्तं पदं पयत्था पयनिक्खेवो य निण्णयपसिद्धी। बृ. क. सू. ३०९.

इदि वयणादो णय-णिक्खेवे दट्ठूण णयावयारो भवदि। को णयो णाम ?

णयदि त्ति णओ भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्वं।
परिणाम-खेत्त-कालंतरेसु अविणट्ठ-सब्भावं ॥ ४ ॥

करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलम्बन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये। तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है। पदार्थ-निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाकारने अर्थ-पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा तत्त्व-निर्णयका उपदेश दिया है। गाथामें 'अत्थपदं' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है। जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थ-पद' कहते हैं। 'णिक्खेवं' इस पदसे निक्षेप-विधिकी और 'अत्थं णयंति तच्चं' इत्यादि पदोंसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवतार होता है।

शंका—नय किसे कहते हैं ?

अनेक गुण और अनेक पर्यायोंसहित अथवा उनके द्वारा एक परिणामसे दूसरे परिणाममें, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी-स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—आगममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जाय उसे द्रव्य कहते हैं। और दूसरा 'उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' 'सद् द्रव्यलक्षणम्' अर्थात् उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-स्वभाव होता है वह सत् है और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यहां पर नयकी निरुक्ति करते समय द्रव्यके इन

१ [illegible]

२ दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ पं. [illegible] ॥ [illegible]

तित्थयर वयण संगह विसेस पत्थार-मूल-वायरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जय णओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ ५ ॥

दव्वट्ठिय णय-पयई सुद्धा संगह परूवणा विसयो ।
पडिरूवं पुण वयणत्थ णिच्छयो तस्स ववहारो ॥ ६ ॥

दोनों लक्षणोंपर दृष्टि रक्खी गई प्रतीत होती है। नय किसी विवक्षित धर्मद्वारा ही द्रव्यका बोध कराता है। नयके इस लक्षणका संकेत भी 'गुणपज्जएहि' पदद्वारा हो जाता है। यह पद तृतीया विभक्ति सहित होनेसे उसे द्रव्यके लक्षणमें तथा निरुक्तिके साथ नयके लक्षणमें भी ले सकते हैं ॥ ४ ॥

तीर्थकरोंके वचनोंके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनोंके विशेष प्रस्तारका मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प अर्थात् भेद हैं ॥ ॥

विशेषार्थ--जिनेन्द्रदेवने दिव्यध्वनिके द्वारा जितना भी उपदेश दिया है, उसका, अभेद अर्थात् सामान्यकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और भेद अर्थात् पर्यायकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों ही नय समस्त विचारों अथवा शास्त्रोंके आधारभूत हैं, इसलिये उन्हें यहां मूल व्याख्याता कहा है। शेष संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द आदि इन दोनों नयोंके अवान्तर भेद हैं ॥ * ॥

संग्रह नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी शुद्ध प्रकृति है, और वस्तुके प्रत्येक भेदके प्रति शब्दार्थका निश्चय करना उसका व्यवहार है। अर्थात् व्यवहार नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृति है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—वस्तु सामान्य विशेष धर्मात्मक है। उनमेंसे सामान्य धर्मको विषय करना द्रव्यार्थिक और विशेष धर्मको (पर्यायको) विषय करना पर्यायार्थिक नय है। उनमेंसे संग्रह और व्यवहारके भेदसे द्रव्यार्थिक नय दो प्रकारका है। जो अभेदको विषय करता है उसे संग्रह नय कहते हैं, और जो भेदको विषय करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्यार्थिक नयकी क्रमशः शुद्ध और अशुद्ध प्रकृति हैं। जब तक द्रव्यार्थिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्स्वरूप है इसप्रकार द्रव्यको अभेदरूपसे ग्रहण करता है तब तक यह उसकी शुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसे ही संग्रह नय कहते हैं। तथा सत्स्वरूप जो द्रव्य है, उसके जीव और अजीव ये दो भेद हैं। जीवके संसारी और मुक्त इसतरह दो भेद हैं। अजीव भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस तरह पांच भेदरूप है। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रभेदोंकी अपेक्षा अभेदको स्पर्श करता हुआ भी जब यह भेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करता है, तब यह उसकी अशुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसीको व्यवहार नय कहते हैं।

* एतास्तिस्रः क्रमशः गाथा सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत सन्मतितर्क प्रथम काण्ड गाथाङ्क ३, ४, ५, ११
इति अप्रकाशितस्थल।

मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उजुसुदवयणविच्छेदो ।
तस्स दु सद्दादीया साहपसाहा सुहुमभेया ॥ ७ ॥
उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ८ ॥

यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि वस्तुमें चाहे जितने भेद किये जावें परन्तु वे कालकृत नहीं होना चाहिये, क्योंकि वस्तुमें कालकृत भेदकी प्रधानतासे ही पर्यायार्थिक नयका अवतार होता है। द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृतिमें द्रव्यभेद अथवा स्वभावभेद हो रहे हैं कालकृत भेद रहे नहीं हैं ॥ ६ ॥

ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरूप वर्तमान काल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है और शब्दादिक नय शाखा उपशाखारूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ — वर्तमान समयवर्ती पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्र नय है। इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है तब तक व्यवहार नय चलता है और जब कालकृत भेद प्रारम्भ हो जाता है तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है। परंतु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शब्दोंकी मुख्यता है, इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिंग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत लिंग, वचनवाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाला समभिरूढ नय और पर्याय शब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाली क्रियाकालमें ही वाचक माननेवाला एवंभूत नय समझना चाहिये। इसतरह ये शब्दादिक नय उस ऋजुसूत्र नयकी शाखा उपशाखा हैं यह सिद्ध हो जाता है। अतएव ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नयका मूल आधार माना गया है ॥ ७ ॥

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि, प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं और पूर्व-पूर्व पर्यायोंका नाश होता है। किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं। उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है, वे सदाकाल स्थित स्वभाववाले रहते हैं ॥ ८ ॥

विशेषार्थ — उत्पाद दो प्रकारका माना गया है, उसीप्रकार व्यय भी। एक स्वनिमित्तक और दूसरा परनिमित्तक। इसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अनन्त अगुरुलघु गुण अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं जो षड्गुणहानि और षड्गुणवृद्धिरूपसे निरन्तर प्रवर्तमान रहते हैं। इसलिये इनके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद

[illegible] ४ १०

१ [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible]

तत्थ णेगम-संगह-ववहार-णएसु सव्वे एदे णिक्खेवा हवंति तव्विसयम्मि तब्भव[1]-सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्व-णिक्खेव-संभवादो। कधं दव्वट्ठिय-णए भाव-णिक्खेवस्स संभवो? ण, वट्टमाण-पज्जायोवलक्खियं दव्वं भावो इदि दव्वट्ठिय-णयस्स वट्टमाण

और व्यय हुआ करता है। इसीको स्वनिमित्तक उत्पाद-व्यय कहते हैं। उसीप्रकार पर-निमित्तसे भी द्रव्यमें उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है। जैसे, स्वर्णकारने कड़ेसे कुण्डल बनाया। यहां पर स्वर्णकारके निमित्तसे कड़ेरूप सोनेकी पर्याय नष्ट होकर कुण्डलरूप पर्यायका उत्पाद हुआ है और इसमें स्वर्णकार निमित्त है, इसलिये इसे पर-निमित्तक उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिये। इसीप्रकार आकाशादि निष्क्रिय द्रव्योंमें भी पर-निमित्तक उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये, क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्य दूसरे पदार्थोंके अवगाहन, गति आदिमें कारण पड़ते हैं, और अवगाहन, गति आदिमें निरन्तर भेद दिखाई देता है, इसलिये अवगाहन, गति आदिके कारण भी भिन्न होना चाहिये। स्थित वस्तुके अवगाहनमें जो आकाश कारण है उससे भिन्न दूसरा ही आकाश क्रिया परिणत वस्तुके अवगाहनमें कारण है। इसतरह अवगाह्यमान वस्तुके भेदसे आकाशमें भेद सिद्ध हो जाता है, और इसलिये आकाशमें पर-निमित्तसे भी उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है। इसीप्रकार धर्मादिक द्रव्योंमें भी पर-निमित्तसे उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। इसप्रकार यह सिद्ध हो गया कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और नाशको भी प्राप्त होते हैं। इसप्रकार अनन्त-कालसे अनन्त पर्याय परिणत होते रहने पर भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है, और न एक द्रव्यके गुण धर्म बदलकर कभी दूसरे द्रव्य रूपही हो जाते हैं। अतएव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ सर्वदा स्थिति-स्वभाव हैं ॥ ८ ॥

उन सात नयोंमेंसे नैगम, संग्रह और व्यवहार, इन तीन नयोंमें नाम, स्थापना आदि सभी निक्षेप होते हैं, क्योंकि, इन नयोंके विषयभूत तद्भव सामान्य और सादृश्य-सामान्यमें सभी निक्षेप संभव हैं।

शंका—द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप कैसे संभव है? अर्थात् जिस पदार्थमें भावनिक्षेप होता है वह तो उस पदार्थकी वर्तमान पर्याय है परंतु द्रव्यार्थिक नय सामान्यको विषय करता है, पर्यायको नहीं। इसलिये द्रव्यार्थिक नयमें, अर्थात् द्रव्यार्थिक नयके विषयभूत पदार्थमें, जिसप्रकार दूसरे निक्षेप घटित हो जाते हैं उसप्रकार भावनिक्षेप घटित नहीं हो सकता है। भावनिक्षेपका अन्तर्भाव तो पर्यायार्थिक नयमें संभव है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते हैं और यह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्ततककी पर्यायोंमें आ ही जाती है। तथा द्रव्य अर्थात् सामान्य द्रव्यार्थिक नयका विषय है जिसमें द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायें अन्तर्निहित

---

१ णामं ठवणा दवियं ति [illegible]। कसाय-पाहुड चुण्णि (अप्र. १) पृ. ३०

सामान्य द्वयं [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। प्र. म. ४. ३.

त्ते आरंभप्पहुडि आ उवरमादो। संगहे सुद्ध-दव्वट्ठिए वि भावणिक्खेवस्स अत्थित्तं ण विरुज्झदे, सुद्धे वि णिविसेसत्तामेत्ते तिविह-सत्ताए सव्वकालमवट्ठिदाए भावब्भुवगमादो त्ति।

णामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो।
भावो दु पज्जवट्ठियपरूवणा एस परमत्थो ॥९॥

अणेण सम्मइ-सुत्तेण सह कधमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे? इदि ण, तत्थ ज्जायस्स लक्खण-क्खइणो भावब्भुवगमादो।

त है अतएव द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप भी बन जाता है। यहां पर पर्यायकी गौणता र द्रव्यकी मुख्यतासे भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव समझना चाहिये।

इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका सद्भाव विरोधको प्राप्त ीं होता है क्योंकि अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट करनेवाली और ाकाल एकरूपसे अवस्थित रहनेवाली महासत्तामें ही 'भाव' अर्थात् पर्यायका सद्भाव माना ा है।

अभेदरूपसे वस्तुको जब भी ग्रहण किया जायगा, तब ही वह वर्तमान पर्यायसे युक्त ी ही इसलिये वर्तमान पर्यायका अन्तर्भाव महासत्तामें हो जाता है। और शुद्ध संग्रह का महासत्ता विषय है, अतएव संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव हो जाता । यहां पर भी पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यता समझना चाहिये।

शंका—'नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप हैं, और भाव र्यायार्थिक नयका निक्षेप है। यही परमार्थ सत्य है। ॥९॥'

सन्मतितर्कके इस कथनसे 'भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अथवा संग्रह नयमें भी तर्भाव होता है' यह व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होगा?

विशेषार्थ—शंकाकारका यह अभिप्राय है, कि सन्मतिकारने भावनिक्षेपका केवल र्यायार्थिक नयमें ही अन्तर्भाव किया है। परंतु यहांपर उसका द्रव्यार्थिक नयमें भी अन्तर्भाव या गया है। इसलिये यह कथन तो सन्मतिकारके कथनसे विरुद्ध प्रतीत होता है।

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि, सन्मतितर्कमें, पर्यायका लक्षण क्षणिक होनेसे भावरूपसे स्वीकार किया गया है। अर्थात् सन्मतितर्कमें पर्यायकी विवक्षासे कथन किया और यहां पर वर्तमान पर्यायका द्रव्यसे अभिन्न मानकर कथन किया है। इसलिये कोई रोध नहीं आता है।

---

(१) स० त० १।६। नामानि स्थापनाद्रव्ये द्रव्यार्थिकनयापेक्षा। पर्यायार्थिकनयापेक्षा भावस्तेन्यार्थ सम्य ति ॥ त० भा० वा० १।५।६९। नामादितियं दव्वट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्स। संगह-ववहारा पढमगस्स सेसा इयरस्स ॥ वि० भा० ७५। पर्यायार्थिकत्वेन पर्यायतत्त्वमधिगन्त्व्यम्, इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकत्वेन यापकत्वात्। स० सि० १।६ वृत्ति

उज्जुसुदे ट्ठवण णिक्खेवं वज्जिऊण सव्वे णिक्खेवा हवंति तत्थ सारिच्छ-सामण्णाभावादो।

कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्व-णिक्खेवो त्ति? ण, तत्थ वट्टमाण-समयाणंत-गुणण्णिद-एग-दव्व-संभवादो। ण तत्थ णाम-णिक्खेवाभावो वि सद्दोवलद्धि-काले णियत-वाचयत्तुवलंभादो। सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-णएसु वि णाम-भाव-णिक्खेवा हवंति तेसिं चेय तत्थ संभवादो। एत्थ किमट्ठं णय-परूवणमिदि?

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत् ॥ १० ॥

ऋजुसूत्र नयमें स्थापना निक्षेपको छोड़कर शेष सभी निक्षेप संभव हैं, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें सादृश्य-सामान्यका ग्रहण नहीं होता है। और स्थापना निक्षेप सादृश्य-सामान्यकी मुख्यतासे होता है।

शंका — ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिक नय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है?

समाधान — ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें वर्तमान समयवर्ती पर्यायसे अनन्तगुणित एक द्रव्य ही तो विषयरूपसे संभव है।

विशेषार्थ — पर्याय द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रहती है, और ऋजुसूत्रका विषय वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्य है। इसलिये ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप भी संभव है।

इसी प्रकार ऋजुसूत्र नयमें नाम निक्षेपका भी अभाव नहीं है, क्योंकि, जिस समय शब्दका ग्रहण होता है उसी समय उसकी नियत वाच्यता अर्थात् उससे विषयभूत अर्थका भी ग्रहण हो जाता है।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं, क्योंकि, ये दो ही निक्षेप वहां पर संभव हैं, अन्य नहीं।

विशेषार्थ — शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, ये तीनों ही नय शब्दप्रधान हैं, और शब्द किसी न किसी संज्ञाके वाचक होते ही हैं। अतः उन तीनों नयोंमें नाम निक्षेप बन जाता है। तथा उक्त तीनों नय वाचक शब्दोंके उच्चारण करते ही वर्तमानकालवर्ती पर्यायको भी विषय करते हैं, अतएव उनमें भाव-निक्षेप भी बन जाता है।

शंका — यहां पर नयका निरूपण किसलिये किया गया है?

समाधान — जिस पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा, नैगमादि नयोंके द्वारा और

[illegible] (प्रति अ.) पृ. १०
[illegible] (प्रति अ.) पृ. ११
[illegible]
[illegible]
[illegible]

ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥ ११ ॥ इति ।

ततः कर्तव्यं नयनिरूपणम् ।

इदाणिं णिक्खेवत्थं भणिस्सामो । तत्थ णाम-मंगलं णाम णिमित्तंतर-णिरवेक्खा मंगल-सण्णा । तत्थ णिमित्तं चउव्विहं, जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि । तत्थ जाई तब्भव-सारिच्छ-लक्खण-सामण्णं । दव्वं दुविहं, संजोय-दव्वं समवाय-दव्वं चेदि । तत्थ

नामादि निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार नहीं किया जाता है वह पदार्थ कभी युक्त (संगत) होते हुए भी अयुक्त (असंगत) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्त की तरह प्रतीत होता है ॥ १० ॥

विद्वान् लोग सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, नामादिकके द्वारा वस्तुमें भेद करनेके उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। इसप्रकार युक्तिसे अर्थात् प्रमाण नय और निक्षेपके द्वारा पदार्थका ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये ॥ ११ ॥

अतएव नयका निरूपण करना आवश्यक है।

अब आगे नामादि निक्षेपोंका कथन करते हैं। उनमेंसे अन्य निमित्तकी अपेक्षा रहित किसीकी 'मंगल' ऐसी संज्ञा करनेको नाममंगल कहते हैं। नाम निक्षेपमें संज्ञाके चार निमित्त होते हैं, जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया। उन चार निमित्तोंमेंसे तद्भव और सादृश्य लक्षणवाले सामान्यको जाति कहते हैं।

विशेषार्थ—जिसमें विवक्षित-द्रव्यगत भूत वर्तमान और भविष्यकाल संबन्धी पर्यायें अन्वयरूपसे रहती हैं उस सामान्यको अथवा किसी एक द्रव्यकी त्रिकालगोचर अनेक पर्यायोंमें रहनेवाले अन्वयको तद्भवसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं। जैसे मनुष्यकी बालक, युवा और वृद्ध अवस्थामें मनुष्यत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है। तथा एक ही समयमें नाना व्यक्तिगत सदृश परिणामको सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्य कहते हैं। जैसे रंग आकार आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोंमें गोत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है।

द्रव्य-निमित्तके दो भेद हैं, संयोग-द्रव्य और समवाय-द्रव्य। उनमें अलग अलग सत्ता

१ [illegible]

[illegible]

संजोय-दव्वं णाम पुध पुध पसिद्धाणं दव्वाणं संजोगेण णिप्पण्णं। समवाय-दव्वं णाम जं दव्वम्मि समवेदं। गुणो णाम पज्जायादि-परोप्पर-विरुद्धो अविरुद्धो वा। किरिया णाम परिप्फंदणरूवा। तत्थ जाइ-णिमित्तं णाम गो-मणुस्स-घड-पड-त्थंभ-वेत्तादि[1]। संजोग-दव्व-णिमित्तं णाम दंडी छत्ती मोली इच्चेवमादि[2]। समवाय-णिमित्तं णाम गल-गंडो काणो कुंडो इच्चेवमाइ। गुण-णिमित्तं णाम किण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ[3]। किरिया-णिमित्तं णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाई[4]। ण च एदे चत्तारि णिमित्ते मोत्तूण णाम-पउत्तीए अण्णं णिमित्तंतरमत्थि।

रखनेवाले द्रव्योंके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग-द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्यमें समवेत हो अर्थात् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय-द्रव्य कहते हैं। जो पर्याय आदिकसे परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं।

विशेषार्थ—इसका अर्थ इसप्रकार प्रतीत होता है कि उत्पाद और व्ययकी विवक्षासे गुण, पर्यायोंसे कथंचित् विरुद्ध अर्थात् भिन्न हैं, और ध्रौव्य विवक्षासे टंकोत्कीर्ण न्यायानुसार अभिन्न अर्थात् अविरुद्ध भी है।

परिस्पन्द अर्थात् हलन चलनरूप अवस्थाको क्रिया कहते हैं।

उन चार प्रकारके निमित्तोंमेंसे, गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तंभ और वेत इत्यादि जाति-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, गौ, मनुष्यादि संज्ञाएं गौ, मनुष्यादि जातिमें उत्पन्न होनेसे प्रचलित हैं। दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोग-द्रव्य निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, दंडा, छतरी, मुकुट इत्यादि स्वतन्त्र-सत्तावाले पदार्थ हैं, और उनके संयोगसे दंडी, छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहारमें आते हैं। गलगण्ड, काना, कुबड़ा इत्यादि समवाय द्रव्यनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड भिन्न-सत्तावाला नहीं है। इसीप्रकार काना, कुबड़ा आदि नाम समझ लेना चाहिये। कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोंके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमें ये नाम व्यवहारमें आते हैं। गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, गाना, नाचना आदि क्रियाओंके निमित्तसे गायक नर्तक आदि नाम व्यवहारमें आते हैं। इसतरह जाति आदि उन चार निमित्तोंको छोड़कर संज्ञाकी प्रवृत्तिमें अन्य कोई निमित्त नहीं है।

१ जातिनाम शब्दा [illegible] । जातिरत्र [illegible] शब्दस्य ॥ त. रा. वा. १, ५, १.

२ संयोगि-द्रव्य शब्दः [illegible] । समवायि-द्रव्य-शब्दा विषाण्यादिरास्थित ॥ त. रा. वा. १, ५, ९.

३ गुणप्राधान्येन [illegible] गुणनिमित्तः । शुक्लः पाटल इत्यादि शब्दवस्तु [illegible] ॥ त. रा. वा. १, ५, ६.

४ कर्म प्राधान्येन [illegible] । चरति तरति [illegible] ॥ त. रा. वा. १, ५, ७.

पज्जत्थ-णिरवेक्खो मंगल-सद्दो णाम-मंगलं। तस्स मंगलस्स आधारो अट्ठविहो। तं जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य[2]।

तत्थ ट्ठवण-मंगलं णाम आहिद-णामस्स अण्णस्स सोयमिदि ट्ठवणं ट्ठवणा णाम।

वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थकी अपेक्षा रहित 'मंगल' यह शब्द नाममंगल है। उस नाममंगलका आधार आठ प्रकारका है। जैसे, १ एक जीव, २ अनेक जीव, ३ एक अजीव, ४ अनेक अजीव, एक जीव और एक अजीव, अनेक जीव और एक अजीव, ७ एक जीव और अनेक अजीव, ८ अनेक जीव और अनेक अजीव।

विशेषार्थ—मंगलके लिये आधार या आश्रय आठ प्रकारका होता है, जिसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये—१ साक्षात् एक जिनेन्द्रदेवके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एकजीवाश्रित मंगल कहते हैं। यहां जिनेन्द्रदेवके स्थानपर एक जिन यति भी लिया जा सकता है। २ अनेक यतियोंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं। ३ एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ४ अनेक जिन प्रतिमाओंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। एक जिनेन्द्रदेव और एक ही उनकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ६ अनेक यति और एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ७ एक जिनेन्द्रदेव और अनेक जिन प्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ८ अनेक यति और अनेक जिन प्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं।

उन नामादि निक्षेपोंमेंसे अब स्थापनामंगलको बतलाते हैं। किसी नामको धारण करनेवाले दूसरे पदार्थकी 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करनेको स्थापना निक्षेप कहते हैं।

१ प्रतिषु 'वच्चत्थ' इति पाठः। नाम पि ठाणं नमो तव्वं वा तयत्थपरिसम्न ॥ वि. भा. २४

२ पाठोऽयमादर्शप्रतावित्थमुपलभ्यते— जीवो वा जीवा वा अजीवो वा अजीवा वा जीवो च अजीवो च अजीवा च अजीवो च जीवा च अजीवा च जीवा चेति। किंचिद्धि एकजीवनाम यथा डित्थ इति। किंचिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति। किंचिदेकाजीवनाम यथा घट इति। किंचिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति। किंचिदेकजीवैकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति। किंचिदेकजीवानेकाजीवनाम यथा कासार इति। किंचिदनेकजीवैकाजीवनाम यथा मन्दुरेति। किंचिदनेकजीवानेकाजीवनाम यथा नगरमिति। त. भा. १, ५. जीवस्स सो जिणस्स व अज्जीवस्स उ जिणिंदपडिमाए। जीवाण जईण पि व अज्जीवाण तु पडिमाणं ॥ जीवस्साजीवस्स य जइणो बिंबस्स चेगओ समयं। जीवस्साजीवाण य जइणो पडिमाण वेगत्थ ॥ जीवाणमजीवस्स य जईण बिंबस्स चेगओ समयं। जीवाणमजीवाण य जईण पडिमाण वेगत्थ ॥ वि. भा. १४२४, १४२५, १४२६.

सा दुविहा, सब्भावासब्भाव-ट्ठवणा चेदि । तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सब्भाव-ट्ठवणा । तव्विवरीया असब्भाव-ट्ठवणा ।

मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-रूवं लिहण-खणण-चयण-क्खेवणादिएण ठविदं बुद्धीए आरोविद-गुण-समूहं सब्भाव-ट्ठवणा मंगलं । बुद्धीए समारोविद-मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-गुण-सरूवक्ख-वराडयादयो असब्भाव-ट्ठवणा-मंगलं[1] ।

दव्व-मंगलं णाम अणागय-पज्जायं विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दव्वं अतब्भावं वा । तं दुविहं, आगम-णोआगम-दव्वं चेदि । आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो । आगमादो

यह स्थापनानिक्षेप दो प्रकारका है, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना । इन दोनोंमेंसे, जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारको धारण करनेवाली वस्तुमें सद्भावस्थापना समझना चाहिये, तथा जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारसे रहित वस्तुमें असद्भावस्थापना जानना चाहिये ।

लेखनासे लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और खनन अर्थात् छैनी, टांकी आदिके द्वारा, चयन अर्थात् चिनाई, लेप आदिके द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् सांचे आदिमें ढलाई आदिके द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमें बुद्धिसे अनेक प्रकारके मंगलरूप अर्थके स्वरूप गुणसमूहोंकी कल्पना की गई है ऐसे मंगल पर्यायसे परिणत जीवके स्वरूपको अर्थात् आकृतिको सद्भावस्थापना मंगल कहते हैं ।

समवसरणादि करते हुए जीवके आकारसे रहित अक्ष अर्थात् शतरंजकी गोटोंमें वराटक अर्थात् कौड़ियोंमें तथा इसीप्रकारकी अन्य वस्तुओंमें मंगल पर्यायसे परिणत जीवके गुण या स्वरूपकी बुद्धिसे कल्पना करना असद्भावस्थापना मंगल है ।

विशेषार्थ—जैसे शतरंज आदिके खेलमें राजा, मन्त्री आदिकी और गोटोंसे कौड़ी व पासोंमें सत्ताकी भावना होती है, उसीप्रकार मंगलपर्यायपरिणत जीव और उसके गुणोंकी बुद्धिके द्वारा की हुई स्थापनाको असद्भावस्थापनामंगल कहते हैं ।

अब द्रव्यमंगलका कथन करते हैं । आगे होनेवाली पर्यायको ग्रहण करनेके सन्मुख हुए द्रव्यको (उस पर्यायकी अपेक्षा) द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । अथवा, वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित द्रव्यको ही द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । यह द्रव्यनिक्षेप आगम और नोआगमके भेदसे दो प्रकारका है ।

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं । आगमसे भिन्न पदार्थोंको नोआगम कहते हैं ।

[illegible]

[illegible]

जाणओ णो-आगमो । तत्थ आगमदो दव्व-मंगलं णाम मंगल-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, मंगल-पाहुड-सद्द-रयणा वा, मंगल-पाहुडत्थ-ट्ठवणक्खर-रयणा वा । णो-आगमदो दव्व-मंगलं तिविहं, जाणुग-सरीर-भविय-तव्वदिरित्तमिदि । जं तं जाणुग-सरीर-णो-आगम-दव्व-मंगलं तं तिविहं, मंगल-पाहुडस्स केवलणाणादि-मंगलस्स वा आधारत्तणेण भविय-वट्टमाण-समुज्झादमिदि । आहारत्थाहेयारोवणादो भवदु णाम मंगल-रज्जणाय सरीरस्स जीव

मंगल प्राभृत अर्थात् मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाला किंतु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगम द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा, मंगल विषयक प्रतिपादक शास्त्रकी शब्दरचनाको आगम द्रव्यमंगल कहते हैं। मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको भी आगम द्रव्यमंगल कहते हैं।

विशेषार्थ—आगे होनेवाली पर्यायके सन्मुख अथवा वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्यायकी विवक्षासे द्रव्यको द्रव्यनिक्षेप कहा है और तद्विषयक ज्ञानको आगम कहा है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो वर्तमानमें मंगलविषयक शास्त्रके उपयोगसे रहित हो वह आगमद्रव्यमंगल है। यहां पर जो मंगलविषयक शास्त्रकी शब्दरचना अथवा मंगलशास्त्रकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगमद्रव्यमंगल कहा है वह उपचारसे ही समझना चाहिये, क्योंकि, मंगलविषयक शास्त्र ज्ञानमें मंगलविषयक शास्त्रकी शब्दरचना और मंगलशास्त्रकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचना ये मुख्यरूपसे निमित्त पड़ते हैं। वैसे तो सहकारी कारण शरीरादिक और भी होते हैं परंतु वे मुख्य निमित्त न होनेसे उनका ग्रहण नो आगममें किया है। अथवा मंगलविषयक शास्त्रज्ञानसे और दूसरे निमित्तोंकी अपेक्षा इन दोनों निमित्तोंकी विशेषता दिखानेके प्रयोजनसे इन दोनों निमित्तोंका आगमद्रव्यमंगलमें ग्रहण कर लिया है।

नो आगमद्रव्यमंगल तीन प्रकारका है, ज्ञायकशरीर, भव्य या भावि और तद्व्यतिरिक्त। उनमें जो ज्ञायकशरीर नो आगमद्रव्यमंगल है वह भी तीन प्रकारका समझना चाहिये। मंगल विषयक शास्त्रका अथवा केवलज्ञानादिरूप मंगल-पर्यायका आधार होनेसे भाविशरीर, वर्तमान-शरीर और अतीतशरीर इसप्रकार ज्ञायकशरीर नो आगमद्रव्यनिक्षेपके तीन भेद हो जाते हैं।

शंका—आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माके उपचारसे धारण की हुई मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नो आगमज्ञायकशरीरद्रव्यमंगल कहना तो उचित भी है,

आगमओऽणुवउत्तो मंगल-सद्दाणुवासिओ वत्ता । तन्नाण-लद्धि-सहिओ वि नोवउत्तो त्ति दव्वं ॥ जइ नागमो ता कह दव्वं दव्वमागमो क...? । आगम-कारणमाया देहो सद्दो य तो दव्वं ॥ मंगल-पयत्थ-जाणय-देहो भव्वस्स वा सजीवो त्ति । नो आगमओ दव्वं आगम रहिओ त्ति जं भणिअं ॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेग-देसाओ । भूयस्स भाविणो वा आगमहेउ त्ति जं कारण देहो ॥ जाणय-भव्व-सरीराइरित्तमिह दव्वमंगलं होइ । जो मंगल्ला किरिया न कुणमाणो अणुवउत्तो ॥ वि. भा. २ ३ ४४ ४५ ४६

सरीरस्स मंगल-ववएसो ण जुज्जदि, तेसु ट्ठिद मंगल-पज्जायाभावा । ण, राय-पज्जाया-हारत्तणेण अणागदादीद जीवे वि राय ववहारोवलंभा ।

तत्थ अदीद-सरीरं तिविहं, चुदं चइदं चत्तमिदि । तत्थ चुदं णाम कयलीघादेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण झिज्जमाणाउ-क्खय पदिदं । चइदं णाम कयली-घादेण छिण्णाउ क्खय पदिद सरीरं । उत्तं च—

परन्तु भावी और भूतकालके शरीरकी अवस्थाको मंगल संज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि, उनमें वर्तमान मंगलरूप पर्यायका अभाव है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि राज पर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिसप्रकार राजारूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसीप्रकार मंगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है।

विशेषार्थ—आगमके सहकारी कारण होनेसे शरीरको नो आगम कहा गया है और उसमें अन्वय प्रत्ययकी उपलब्धि होनेसे उसे द्रव्य कहा गया है। ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरोंमें घटित होती हैं, इसलिये इनमें मंगलपनेका व्यवहार हो सकता है। इसका खुलासा इसप्रकार है—

औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर मंगलविषयक शास्त्रके परिज्ञानमें सहकारी कारण हैं, क्योंकि, इनके विना कोई शास्त्रका अभ्यास ही नहीं कर सकता है। अब इनमें अन्वय प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका खुलासा करते हैं। जिस शरीरसे मैंने मंगल शास्त्रका अभ्यास किया था वही शरीर उस अभ्यासको पूरा करते समय भी विद्यमान है, इसप्रकार तो वर्तमान ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्यय पाया जाता है। मंगल शास्त्रज्ञानसे उपयुक्त मेरा जो शरीर था, तद्विषयक शास्त्रज्ञानसे रहित मेरे अब भी वही शरीर विद्यमान है, इसप्रकार अतीत ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि होती है। मंगल शास्त्रज्ञानके उपयोगसे रहित मेरा जो शरीर है वही तद्विषयक तत्वज्ञानकी उपयोग-दशामें भी होगा, इसप्रकार अनागत ज्ञायकशरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि बन जाती है। इसलिये वर्तमान शरीरकी तरह अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है।

इनमेंसे अतीत शरीरके तीन भेद हैं, च्युत, च्यावित और त्यक्त।

कदलीघात मरणके विना कर्मके उदयसे झड़नेवाले आयुकर्मके क्षयसे पके हुए फलके समान अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं।

विशेषार्थ—जब पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जानेके कारण वृक्षमेंसे स्वयं गिर पड़ता है। वृक्षसे अलग होनेके लिये उसे और दूसरे निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं पड़ती है। इसीप्रकार आयु कर्मके पूरे हो जाने पर जो शरीर शस्त्रादिकके विना छूट जाता है उसे च्युत शरीर कहते हैं।

कदलीघातके द्वारा आयुके छिन्न हो जानेपर छूटे हुए शरीरको च्यावितशरीर कहते हैं। कहा भी है—

विस-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहिं ।
आहारोस्सासाणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ ३१ ॥

चत्तसरीरं तिविहं पायोवगमण-विहाणेण इंगिणि-विहाणेण, भत्त-पच्चक्खाण-विहाणेण चत्तमिदि। तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम्। आत्मोपकारसव्यपेक्षं परोप-

विषके खा लेनेसे, वेदनासे, रक्तका क्षय हो जानेसे तीव्र भयसे शस्त्राघातसे संक्लेशकी अधिकतासे, आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है। इसतरह जो मरण होता है उसे कदलीघात मरण कहते हैं।

विशेषार्थ—जैसे कदली (केला) के वृक्षका तलवार आदिके प्रहारसे एकदम विनाश हो जाता है, उसीप्रकार विष-भक्षणादि निमित्तोंसे भी जीवकी आयु एकदम उदीर्ण हो जाती है। इसे ही अकाल-मरण कहते हैं, और इसके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्यावित शरीर कहते हैं।

त्यक्तशरीर तीन प्रकारका है, प्रायोपगमन विधानसे छोड़ा गया, इंगिनी विधानसे छोड़ा गया और भक्तप्रत्याख्यान विधानसे छोड़ा गया। इसतरह इन तीन निमित्तोंसे त्यक्त शरीरके तीन भेद हो जाते हैं।

अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमन विधान कहते हैं।

विशेषार्थ—प्रायोपगमन समाधिमरणको धारण करनेवाला साधु संस्तरका ग्रहण करना, बाधाके निवारणके लिये हाथ पांवका हिलाना, एक क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रमें जाना आदि क्रियाएं न तो स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है। जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसीप्रकार यह साधु समाधिमें सर्वथा निश्चल रहता है। शास्त्रोंमें प्रायोपगमनके अनेक प्रकारके अर्थ मिलते हैं। जैसे संघको छोड़कर अपने पांवोंद्वारा किसी योग्य देशका आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं। अथवा, प्राय अर्थात् संन्यासकी तरह उपवासके द्वारा जो समाधिमरण होता है उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं। अथवा, पादप अर्थात् वृक्षकी तरह निस्पन्दरूपसे रहकर, शरीरसे किसी भी प्रकारकी क्रिया न करते हुए जो समाधिमरण होता है उसे पादपोपगमन समाधिमरण कहते हैं। इन सब अर्थोंका मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधानमें अपने व परके उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है।

१ गो. क. ५७

२ पादोपगमनमरणं पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणम्। अथवा पाउग्ग-गमण इति पाठः भवान्तरप्राप्तिग्रहणयोग्य संस्थानं [illegible] प्रायोग्यसंस्थानमुच्यते। अस्य गमनं प्राप्तिः तत्र कारणभूतं चरित्रं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमणमरणमिति। मूलारा. पृ. ११३. पाओवगमणं पादपस्येवानशनमभ्यस्य [illegible] पादपोपगमनम्। तणसंथारा [illegible] ॥ ४४ अमित. कोष (पादपवत्)

पारनिरपेक्षं इङ्गिनीमरणम्। आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति। तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदेन। जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्। उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादशवर्षप्रमाणम्। मध्यममनयोरन्तरालमिति।

जिस सन्यासमें, अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकारकी अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती उसे इंगिनीमरण कहते हैं।

विशेषार्थ – इंगिनी शब्दका अर्थ इंगित (अभिप्राय) है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरणको करनेवाला स्वतः किये हुए उपकारकी अपेक्षा रखता है। इस समाधिमरणमें साधु संघसे निकलकर किसी योग्य देशमें समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृणका संस्तर तैयार करके समाधिकी प्रतिज्ञा करता है। इसमें उठना, बैठना, सोना, हाथ-पैरका पसारना, मल मूत्रका विसर्जन करना आदि क्रियाएँ स्वयं स्वयं करता है। किसी दूसरे साधुकी सहायता नहीं लेता है। इसतरह यावज्जीवन चार प्रकारके आहारके त्यागके साथ, स्वयं किये गये उपचार सहित समाधिमरणको इंगिनी-सन्यास कहते हैं।

जिस सन्यासमें अपने और दूसरेके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यानसन्यास कहते हैं।

विशेषार्थ—भक्त नाम भोजनका है और प्रत्याख्यान त्यागको कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि जिस सन्यासमें क्रम-क्रमसे आहारादिका त्याग करते हुए अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान-सन्यास कहते हैं।

इन तीनों प्रकारके समाधिमरणोंमेंसे भक्त-प्रत्याख्यानविधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है। जघन्य भक्तप्रत्याख्यानविधिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यानविधिका प्रमाण बारह वर्ष है और मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण, जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्षके भीतर है।

---

१ [illegible] (इ॰ प्रति)

२ [illegible] ११३

३ [illegible] २५०-२५१

संजम-विणास-भएण उस्सास-णिरोहं काऊण मुद-साहु-सरीरं कत्थ णिवददि ? ण कत्थ वि, तहा मुद-देहस्स मंगलत्ताभावादो । मंगल-पाहुड-धारयस्स धरिद-महव्वयस्स चत्त-देहस्स अचत्त-देहस्स वा देहो कधममंगलं ? साहूणमजुत्तकारिस्स देहत्तादो अमंगलमिदि ण घेत्तुं जुत्तं, पुव्वं तिरयणाहारत्तेण मंगलत्तमुवगयस्स पच्छा भूद-पुव्व-णाएण मंगलं पाव पडि विरोहाभावादो । तदो मंगल-भावेण कत्थ वि णिवदेयव्वमेदेण सरीरेणेति । ण चइदम्हि पददि चत्तस्स वि आहार-णिरोहेण पदिदस्स चइदत्तावत्तीदो । तो कम्हि एदं पदइव्वं ? कयली-घादेण मरण-कंखाए जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा पदिद-सरीरं चइदं । जीवियासाए मरणासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा कयली

शंका—संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ?

समाधान—ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, इसप्रकारसे मृत-शरीरको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता ।

शंका—जो मंगल शास्त्रका धारक है अर्थात् ज्ञाता है, जिसने महाव्रतोंको धारण किया है, चाहे उस साधुने समाधिसे शरीर छोड़ा हो अथवा नहीं छोड़ा हो, परंतु उसके शरीरको अमंगलपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि कहा जावे कि साधुओंमें अयोग्य कार्य करनेवाले साधुका शरीर होनेसे यह अमंगल है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शरीर पहले रत्नत्रयका आधार होनेसे मंगलपनेको प्राप्त हो चुका है उसमें पीछेसे भी भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा मंगलत्वके स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये मंगलपनेकी अपेक्षा संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोड़े हुए साधुके शरीरको त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किसी एक भेदमें ग्रहण करना ही चाहिये । इस शरीरका च्यावितमें तो ग्रहण हो नहीं सकता है, क्योंकि यदि इसका च्यावितमें ग्रहण किया जावे, तो आहारके निरोधसे छूटे हुए त्यक्त शरीरका भी च्यावितमें ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा ? सो ऐसे शरीरको किस भेदमें ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते हैं । जीवनकी आशासे मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदली

१ ताणा विलाणंद । उक्कासनिरोहमादीण कयाइ । अणसायाम तहि वयण सव्वहि आसी य ॥ पडि धाला वा विच्छू गिम्हिसी कालयाइ वा हुजा । सवद्दर धणायादओ व वानण हाजादि ॥ सव्वहि कारणहि पडिय मरण तु काउमसमधा । उस्सासणिद्धपट्टं य कुणदि य कुज्जादि ॥ गय पृ ५४६ ८८

घादेण अचत्त-भावेण पदिद-सरीरं चुदं णाम । जीविद-मरणासाहि विणा सरूवोवलद्धि-णिमित्तं व चत्त-बज्झंतरंग-परिग्गहस्स कयली-घादेणियरेण वा पदिद-सरीरं चत्त-देहमिदि।

भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मङ्गलप्राभृतज्ञायको जीवः मङ्गल-पर्यायं परिणंस्यतीति वा । तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गलं दर्शन-विशुद्ध्यादि-षोडशधा प्रविभक्त-तीर्थंकर-नामकर्म-कारणैर्जीव-प्रदेश-निबद्ध-तीर्थंकर-नामकर्म माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम्। यत्तन्नोकर्ममङ्गलं तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तरं

धान व समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते हैं। आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त, जिसने बहिरंग और अन्तरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे साधुके जीवन और मरणकी आशाके विना ही कदलीघातसे अथवा इतर कारणोंसे छूटे हुए शरीरको त्यक्तशरीर कहते हैं।

विशेषार्थ — ऊपर बतलाये गये च्युत, च्यावित और त्यक्तके स्वरूप पर ध्यान देनेसे यह भले प्रकार विदित हो जाता है कि संयम विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके छूटे हुए साधुके शरीरका च्यावितमें ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, च्यावित मरणमें कदलीघातकी प्रधानता है। और श्वासोच्छ्वासका स्वयं निरोध करके मरना कदलीघातमरण है। उसमें समाधिका सद्भाव नहीं रह सकता है इसलिये ऐसे मरणका त्यक्तके किसी भी भेदमें ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यद्यपि किसी त्यक्तमरणमें कदलीघात भी निमित्त पड़ता है। परंतु यहां पर कदलीघातसे, परकृत उपसर्गादि निमित्तोंका ही ग्रहण किया गया है, स्वकृत श्वासोच्छ्वासनिरोध आदि आत्मघातके साधन विवक्षित नहीं हैं।

जो जीव भविष्यकालमें मंगल शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगलपर्यायसे परिणत होगा उसे भाविनोआगमद्रव्यमंगलनिक्षेप कहते हैं।

विशेषार्थ — ज्ञायकशरीरके तीन भेद किये हैं। उसका एक भेद भावी भी है। परंतु इससे इस भावीको भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि, ज्ञायकशरीरके भावी विकल्पमें आत्माके आगे होनेवाले शरीरको ग्रहण किया है, और यहां पर भविष्यमें होनेवाला तद्विषयक शास्त्रका ज्ञाता ग्रहण किया है।

कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगलके भेदसे तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है। उनमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थंकर नामकर्मके कारणोंसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए तीर्थंकर नामकर्मको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल कहते हैं क्योंकि, वह भी मंगलपनेका सहकारी कारण है।

नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है। एक लौकिक नोकर्म तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगम-द्रव्यमंगल।

मिति । तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । तत्राचित्तमङ्गलम्—

सिद्धत्थ पुण्णकुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं।
सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो[1] ॥ १३ ॥

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गलं सालङ्कारकन्यादि ।

उन दोनोंमेंसे लौकिकमंगल सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें-'सिद्धार्थ अर्थात् पीले सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, वंदनमाला, छत्र, श्वेत वर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं। और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल हैं ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—पंचास्तिकायकी टीकामें भी जयसेन आचार्यने इन पदार्थोंको मंगलरूप माननेमें भिन्न भिन्न कारण दिये हैं। वे इसप्रकार हैं, जिनेन्द्रदेवने व्रतादिकके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया और उन्हें सिद्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई, इसलिये लोकमें सिद्धार्थ अर्थात् सरसों मंगलरूप माने गये। जिनेन्द्रदेव संपूर्ण मनोरथोंसे अथवा केवलज्ञानसे परिपूर्ण हैं, इसलिये पूर्ण-कलश मंगलरूपसे प्रसिद्ध हुआ। बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौवीस ही तीर्थंकर वन्दना करने योग्य हैं, इसलिये भरत चक्रवर्तीने वन्दनमालाकी स्थापना की। अरहन्त परमेष्ठी सभी जीवोंका कल्याण करनेवाले होनेसे जगके लिये छत्राकार हैं, अथवा सिद्धलोक भी छत्राकार है, इसलिये छत्र मंगलरूप माना गया है। ध्यान, शुक्ललेश्या इत्यादि श्वेत-वर्ण माने गये हैं, इसलिये श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है। जिनेन्द्रदेवके केवलज्ञानमें जिसप्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार दर्पणमें भी अपना बिम्ब झलकता है, अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है। जिसप्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोकमें मंगलस्वरूप हैं, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभावसे रहित होनेके कारण लोकमें मंगल मानी गई है। जिसप्रकार जिनेन्द्रदेवने कर्म शत्रुओं पर विजय पाई, उसीप्रकार उत्तम जातिके घोड़ेसे भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जातिका घोड़ा मंगलरूप माना गया है ॥ १३ ॥

अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र-मंगल समझना चाहिये। यहां पर अलंकार अचित्त और कन्या सचित्त होनेके कारण अलंकारसहित कन्याको मिश्रमंगल कहा है।

1 पयाणपमुहजम्मणसमये सारस्सदा जिणवरिंदे परमेट्ठी। सिद्धा सण्णा जं ति सिद्धत्था मंगलं तेण ॥ पुण्णा मणोरहेहिं य केवलणाणेण चावि संपुण्णा। अरहंता इदि लोए सुमंगलं पुण्णकुंभो दु ॥ णिग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीसं पि वंदणिज्जा ते। वंदणमाल त्ति कया भरहेण य मंगलं तेण ॥ सव्वजणणिव्वुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहंता। छत्तायारं सिद्धि त्ति मंगलं तेण छत्तं तु ॥ सेदो वण्णो झाणं लेस्सा य अघाइसेसकम्मं च। अरहंताणं इदि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ॥ दीसइ लोयालोओ केवलणाणे तहा जिणिंदस्स। तह दीसइ मुकुरे बिंबु मंगलं तेण तं मुणह ॥ जह वीयरायसव्वण्हू जिणवरो मंगलं हवइ लोए। हयरायबालकण्णा तह मंगलमिदि वियाणाहि ॥ कम्मारि जिणेविणु जिणवरेहिं मोक्खु जिणाहिं वि जेण। जं चइ सत्तु अरिबलं जिणइ मंगलु वुच्चइ तेण ॥ पंचा. टीका

लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । सचित्तमर्हदादीनामनाद्यनिधनजीवद्रव्यम् । न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायविशिष्टार्हदादीनाम्, जीवद्रव्यस्यैव ग्रहणं तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भावनिक्षेपान्तर्भावात् । न केवलज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणं तेषामपि भावरूपत्वात् । अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यालयादि, न तत्स्थप्रतिमास्तु सस्थापनान्तर्भावात् । अकृत्रिमाणां कथं स्थापनाव्यपदेशः ? इति चेन्न, तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात् । यथा अग्निरिव माणवकोऽग्निः तथा स्थापनेव स्थापनेति तासां तद्व्यपदेशोपपत्तेर्वा । तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम् ।

तत्र क्षेत्रमङ्गलं गुण-परिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-

---

लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। अरहंत आदिका अनादि और अनन्तस्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नोआगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्य मंगल है। यहांपर केवलज्ञानादि मंगल पर्याययुक्त अरहंत आदिकका ग्रहण नहीं करना चाहिये किंतु उनके सामान्य जीवद्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसहित द्रव्यका भावनिक्षेपमें अन्तर्भाव होता है। इसलिये केवलज्ञानादियुक्त अरहंतके आत्माकी भावनिक्षेपमें परिगणना होगी। उसकी द्रव्यनिक्षेपमें गणना नहीं हो सकती है। उसीप्रकार, केवलज्ञानादि पर्यायोंका भी इस लोकोत्तर नोआगमद्रव्यमंगलमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, वे सब पर्यायें भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भावनिक्षेपमें ही अन्तर्भाव होगा।

कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नोआगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्य मंगल है। उन चैत्यालयोंमें स्थित प्रतिमाओंका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है।

शंका — अकृत्रिम प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार कैसे संभव है?

समाधान — इसप्रकार शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओंमें भी बुद्धिद्वारा प्रतिनिधित्व मान लेने पर 'ये जिनेन्द्रदेव हैं' इसप्रकारके मुख्य व्यवहारकी उपलब्धि होती है। अथवा अग्नि-तुल्य बालकको भी जिसप्रकार अग्नि कहा जाता है, उसीप्रकार कृत्रिम प्रतिमाओंमें की गई स्थापनाके समान यह भी स्थापना है, इसलिये अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है। उन दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त मंगलोंको मिश्र मंगल कहते हैं।

गुणपरिणत आसनक्षेत्र अर्थात् जहां पर योगासन वीरासन इत्यादि अनेक आसनोंसे तदनुकूल अनेक प्रकारके योगाभ्यास जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र, परिनिष्क्रमणक्षेत्र केवलज्ञानोत्पत्तिक्षेत्र और निर्वाणक्षेत्र आदिको क्षेत्रमंगल कहते हैं।

* [illegible] । [illegible] ॥ [illegible] । [illegible] ॥ [illegible]

दि । तस्योदाहरणम् ऊर्जयन्त-चम्पा-पावा-नगरादि । अथवा अर्धत्रयहस्तादि-पञ्चविंशत्युत्तर-पञ्चशत-धनुः-प्रमाण-शरीर-स्थित-कैवल्याद्यवस्थावष्टब्ध-प्रदेशा वा, लोकमात्रात्म-प्रदेशैर्लोक-पूरणापूरित-विश्व-लोक-प्रदेशा वा ।

तत्थ काल-मंगलं णाम, जम्हि काले केवल-णाणादि-पज्जएहि परिणदो कालो पाप-मल-गालणत्तादो मंगलं । तस्योदाहरणम्, परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-दिवसादयः । जिन-महिम-सम्बद्ध-कालोऽपि मङ्गलम् । यथा, नन्दीश्वरदिवसादि ।

तत्थ भाव-मंगलं णाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः । स द्विविधः आगमनोआगमभेदात् । आगमः सिद्धान्तः । आगमदो मंगल-पाहुड-जाणओ उवजुत्तो । णो-आगमदो भाव-मंगलं दुविहं, उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।

उदाहरण देकर इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—

ऊर्जयन्त (गिरनार पर्वत) चम्पापुर और पावापुर आदि नगर क्षेत्रमंगल हैं। अथवा, साढ़े तीन हाथसे लेकर पांचसौ पच्चीस धनुष तकके शरीरमें स्थित और केवलज्ञानादि व्याप्त आत्माके प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं। अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंसे लोकपूरणसमुद्घातदशामें व्याप्त किये गये समस्त लोकके प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं।

जिस कालमें जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओंको प्राप्त होता है उस पापरूपी मलको गलानेवाला होनेके कारण कालमंगल कहते हैं। उदाहरणार्थ, दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकी उत्पत्ति और निर्वाण प्राप्तिके दिवस आदि कालमंगल समझना चाहिये। जिन महिमासम्बन्धी कालको भी कालमंगल कहते हैं। जैसे, आष्टाह्निक पर्व आदि।

वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं। वह आगमभावमंगल और नोआगमभावमंगलके भेदसे दो प्रकारका है। आगम सिद्धान्तको कहते हैं, इसलिये जो मंगलविषयक शास्त्रका ज्ञाता होते हुए वर्तमानमें उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावमंगल कहते हैं। नोआगमभावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है। जो आगमके विना ही मंगलके अर्थमें उपयुक्त है उसे उपयुक्तनोआगमभावमंगल कहते हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात्

णा वा । तद्विविधवरभवियजणमणदसरायगुण पुण्णं ॥ विण्णाण लोयाण हादि पएसा हि मंगलं खेत्तं ॥

ति. प. १, २१-२४

१ अथवा इत्यतः अर्धत्रयम् इति पाठेन भाव्यम् ।

२ जस्सि कालं केवलणाणादि मंगलं परिणमदि ॥ परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिपवेसादि । पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं ॥ एवं अणेयभेयं हवेदि तक्कालमंगलं पवरं । जिणमहिमासंबंधं णंदीसरदीवपहुदीओ ॥ ति. प. २५-२६

३ मंगलपाहुडजाणि उवजुत्तमाणसहो हवेदि सो । भावे मंगलमेदं पढियउ सत्थादिमज्झअंतेसु ॥ ति. प. १, २७

एदेसु णिक्खेवेसु केण णिक्खेवेण पयोजणं? णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तप्परिणदेण पयोजणं। जदि णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तप्परिणदेण पयोजणमियरेहि णिक्खेवेहि इह किं पयोजणं?

जत्थ बहु जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा।
जत्थ बहुवं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ ॥ १४ ॥

इदि वयणादो णिक्खेवो कदो।

अथ स्यात्, किमिति निक्षेपः क्रियत इति? उच्यते, त्रिविधाः श्रोतारः, अव्युत्पन्नः अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति। तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति। विवक्षितपदस्यार्थं द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत

जिनेन्द्रदेव आदिकी वन्दना, भावस्तुति आदिमें परिणत जीवको तत्परिणतनोआगमभावमंगल कहते हैं।

शंका—इन निक्षेपोंमेंसे यहां (इस ग्रन्थावताररूप प्रकरणमें) किस निक्षेप से प्रयोजन है?

समाधान—यहांपर तत्परिणतनोआगमभावमंगल से प्रयोजन है।

शंका—यदि यहां तत्परिणतनोआगमभावमंगल से ही प्रयोजन था, तो अन्य निक्षेपोंके कथन करने से यहां क्या प्रयोजन है? अर्थात् प्रयोजनके विना उनका यहां कथन नहीं करना चाहिये था।

समाधान—'जहां जीवादि पदार्थोंके विषयमें बहुत जाने, वहांपर नियमसे सभी निक्षेपोंके द्वारा उन पदार्थोंका विचार करना चाहिये। और जहांपर बहुत न जाने, तो वहांपर चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये। अर्थात् चार निक्षेपोंके द्वारा उस वस्तुका विचार अवश्य करना चाहिये' ॥ १४ ॥

इस वचनके अनुसार यहांपर निक्षेपोंका कथन किया गया।

पूर्वोक्त कथनके मान लेने पर भी, किस प्रयोजनको लेकर निक्षेपोंका कथन किया जाता है, इसप्रकारकी शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं, कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं, पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा संपूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला, और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला। इनमेंसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके कारण विवक्षित पदके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है। दूसरा 'यहां पर इस पदका कौनसा अर्थ अधिकृत है' इसप्रकार विवक्षित पदके अर्थमें संदेह करता है, अथवा, प्रकरणप्राप्त अर्थसे

---

१ प्रतिषु 'अग्रान्धा' इति पाठः।

२ जत्थ य जं जाणिज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं। जत्थ वि अ न जाणिज्जा चउक्कयं निक्खिवे तत्थ॥ अनु. द्वा. १, १.

इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा। द्वितीयतृतीययोरपि संशेते विपर्यस्यति वा। तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेच्छिष्यः अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय। अथ द्रव्यार्थिकः तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपा उच्यन्ते व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः। द्वितीयतृतीययोः संशयितयोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम्। तयोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः क्रियते। उक्तं च—

> अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
> संसय-विणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥ १५ ॥

निक्षेपविसृष्टः सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति वा।

मङ्गलस्यैकार्थ उच्यते, मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं

छोड़ कर और दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है। दूसरी जातिके श्रोताके समान तीसरी जातिका श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमें या तो संदेह करता है, अथवा, विपरीत निश्चय कर लेता है।

इनमेंसे यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायका अर्थी अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तुकी किसी विवक्षित पर्यायको जानना चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिये निक्षेपका कथन करना चाहिये। यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात् सामान्यरूपसे किसी वस्तुका स्वरूप जानना चाहता है, तो भी निक्षेपोंके द्वारा प्रकृत पदार्थके प्ररूपण करनेके लिये संपूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं, क्योंकि विशेष धर्मके निर्णयके बिना विधिका निर्णय नहीं हो सकता है। दूसरी और तीसरी जातिके श्रोताओंको यदि संदेह हो तो उनके संदेहको दूर करनेके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है। और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित वस्तुके निर्णयके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है। कहा भी है—

> अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिये, प्रकृत विषयके प्ररूपण करनेके लिये, संशयका विनाश करनेके लिये और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिये निक्षेपोंका कथन करना चाहिये॥ १५॥

अथवा निक्षेपोंको छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त संभव है वक्ता और श्रोता दोनोंको कुमार्गमें ले जाय, इसलिये भी निक्षेपोंका कथन करना चाहिये।

अब मंगलके एकार्थ-वाचक नाम कहते हैं, मंगल, पुण्य, पूत पवित्र, प्रशस्त शिव

न निक्षेपादयोऽपि प्रमाणनयवदधिगमोपाया इति चेत् न, अप्रकृतनिराकरणाय वा प्रकृतप्ररूपणाय च निक्षेपः। न च नामादयः प्रकृताः प्रमाणनयाधिगता भावा व्यवहारायालं मुख्योपचारविभागेन नामादि। न च ते भावा नामादिनिक्षेपैर्विना संभवन्ति यत तदभावेऽप्यर्थाधिगतिः स्यात्। लघीय. पृ. ११

[illegible] मङ्गल[illegible]नानि । [illegible]प्रयोजन किमिति चेत्, यथा [illegible]ष्वपि शास्त्रेषु नैकाभिधानं मङ्गलार्थं प्रयुक्तमित्यर्थ[illegible] । [illegible] गुणेनागम्यत इत्येतदर्थं उक्तो ' [illegible] [illegible] ' इति वचनात् ।

[illegible] दृढी [illegible] । [illegible] द्रव्यभावमलभेदात् । द्रव्यमलं द्विविधं, [illegible] । [illegible] जीवप्रदेश निबद्ध [illegible] द्रव्यमलम् । [illegible]

[illegible] है ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पापं भावमलम्।

अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम्। उक्तमर्थमलम्। अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः। तयोरुत्पन्नबुद्धिः प्रत्ययमलम्। अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापना-द्रव्यभावमलभेदात्। अनेकविधं वा। तन्मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्। अथवा मङ्गं सुखं तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्। उक्तं च—

> मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः।
> तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः॥ १६॥

भेदोंमें विभक्त ऐसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म आभ्यन्तर द्रव्यमल हैं। अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामोंको भावमल कहते हैं।

अथवा, अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेदसे मल तीन प्रकारका होता है। अर्थमलको जो अभी पहले कह आये हैं अर्थात् जो पहले बाह्य द्रव्यमल, आभ्यन्तर द्रव्यमल और भावमल कहा गया है उसे ही अर्थमल समझना चाहिये। मलके वाचक शब्दोंको अभिधान मल कहते हैं। तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं।

अथवा, नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है। अथवा, इसीप्रकार विवक्षाभेदसे मल अनेक प्रकारका भी है। इसप्रकार ऊपर कहे गये मलका जो गालन करे, विनाश करे व ध्वंस करे उसे मंगल कहते हैं।

अथवा, मंग शब्द सुखवाची है उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं। कहा भी है—

यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है। उस पुण्यको जो लाता है उसे मंगलके इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं॥ १६॥

णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं। अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो। ति. प. १, ११-१२.
भावमलं णादव्वं अण्णाणादंसणादिपरिणामो॥ ति. प. १, १३.

२ अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादि दव्वभावमलभेदा। ति. प. १, १४.
ताइं गालेइ पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं॥ ति. प. १, १४.

४ अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा। एदेण कज्जसिद्धिं मंगइ गच्छेदि गंथकत्तारो॥ ति. प. १, १४-१५.

५ पुव्वं आइरिएहिं मंगलपुव्वं च वाचिदं भणिदं। तं लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलप्पवरं॥ ति. प. १, १६.

पापं मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।
तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥ १७ ॥

अथवा मङ्गति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमनेनास्मिन्निति वेति मङ्गलम्। मङ्गलशब्दस्यार्थविषयनिश्चयोत्पादनार्थं निरुक्तिरुक्ता। मङ्गलस्यानुयोग[1] उच्यते–

किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो त्ति ।
छहि अणिओग-द्दारेहि सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥ १८ ॥ इदि वयणादो ।

किं मङ्गलम्? जीवो मङ्गलम्। न सर्वजीवानां मङ्गलप्राप्तिः द्रव्यार्थिकनयापेक्षया मङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां च मङ्गल-

उपचारसे पापको भी मल कहा है। इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ १७ ॥

अथवा कर्ता, अर्थात् किसी उद्दिष्ट कार्यको करनेवाला, जिसके द्वारा या जिसके किये जाने पर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता है उसे भी मंगल कहते हैं। इसतरह मंगल शब्दके अर्थ विषयक निश्चयके उत्पन्न करनेके लिये मंगल शब्दकी निरुक्ति कही गई है।

अब मंगलका अनुयोग कहते हैं, अर्थात् अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण करते हैं।

विशेषार्थ—जिनेन्द्रकथित आगमका पूर्वापर संदर्भ मिलाते हुए अनुकूल व्याख्यान करनेको अनुयोग कहते हैं। अथवा, सूत्रका उसके वाच्यरूप विषयके साथ संबन्ध जोड़नेको अनुयोग कहते हैं। अथवा, एक ही भगवत् प्रोक्त-सूत्रके अनन्त अर्थ होते हैं, इसलिये सूत्रकी 'अणु' संज्ञा है। उस सूक्ष्मरूप सूत्रका अर्थरूप विस्तारके साथ संबन्धके प्रतिपादन करनेको अनुयोग कहते हैं।

पदार्थ क्या है, किसका है, किसके द्वारा होता है, कहां पर होता है, कितने समय तक रहता है, कितने प्रकारका है, इसप्रकार इन छह अनुयोग द्वारोंसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस वचनसे अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण किया जाता है।

मंगल क्या है? जीव ही मंगल है। किन्तु जीव को मंगल कहनेसे सभी जीव मंगलरूप नहीं हो जायेंगे, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मंगलपर्यायसे परिणत जीवको अर्थात् मंगल करते हुए जीवको, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायोंको मंगल माना है।

१ पावं मलं ति भण्णइ उवचारसरूवएण जीवाणं । तं गालेदि विणासं णेदि त्ति भणंति मंगलं केई ॥
ति. प. १, १७.

२ अणुओयणमणुओगो सुयस्स नियएण जमभिधेयेणं । वावारो वा जोगो जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥ अहवा जमत्थओ थोवपच्छभावेहिं सुयमणुं तस्स । अभिहेये वावारो जोगो तेणं व संबंधो ॥ वि. भा. १३८३, १३८४.

३ मूलाचा. ७०१. [illegible] । किं कस्स केण व कहिं केवचिरं कइविहा य भवे ॥ आ. नि. ८९४. तानीमानि वस्तूपाख्यानानि, निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानानि ।

स्वाभ्युपगमात्।

कस्य मङ्गलम्? द्रव्यार्थिकनयार्पणया नित्यतामादधानस्य पर्यायार्थिकनयार्पणयोत्पादविगमात्मकस्य। देवदत्तस्य कम्बलस्येव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्राभेदेऽपि षष्ठ्युपलम्भतोऽनेकान्तात्।

केन मङ्गलम्? औदयिकादिभावैः।

क्व मङ्गलम्? जीवे। कुण्डाद्बदराणामिव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः [illegible]

मंगल किसका होता है? द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यताको धारण करनेवाले अर्थात् सदाकाल एक-स्वरूप रहनेवाले और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययस्वरूप जीवके मंगल होता है। यहां पर जिसप्रकार (कम्बल देवदत्तका होते हुए भी) देवदत्तसे कम्बलका भेद है, उसप्रकार जीवसे मंगलरूप पर्यायसे भेद नहीं है। क्योंकि, 'यह अंगूठी स्वर्णकी है' यहां पर अभेदमें, अर्थात् अंगूठीरूप पर्याय स्वर्णसे अभिन्न होने पर भी जिसप्रकार भेदद्योतक षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, उसीप्रकार 'जीवस्य मंगलम्' यहां पर भी अभेदमें षष्ठी विभक्ति समझना चाहिये। इसतरह संबन्धकारकमें अनेकान्त समझना चाहिये। अर्थात् कहीं पर दो पदार्थोंमें भेद होने पर भी संबन्धको विषय करनेवाला षष्ठी कारक होता है और कहीं पर अभेद होने पर भी षष्ठी कारकका प्रयोग होता है।

किस कारणसे मंगल उत्पन्न होता है? जीवके औदयिक औपशमिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—यद्यपि कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्यग्दर्शनादिक उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनसे मंगलकी उत्पत्ति मानना तो ठीक है। परंतु औदयिक भावसे मंगलकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, इसलिये यहां पर 'औदयिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है' यह कहना किसप्रकार संभव है? इसका समाधान इसप्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि सभी औदयिक भाव मंगलकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं फिर भी तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला औदयिक भाव मंगलका कारण है। इसलिये उसकी अपेक्षासे औदयिक भावको भी मंगलकी उत्पत्तिके कारणोंमें ग्रहण किया है।

मंगल किसमें उत्पन्न होता है? जीवमें मंगल उत्पन्न होता है। जिसप्रकार कुंडमें रक्खे हुए बेरोंका भेद है, उसप्रकार जीवसे मंगलपर्यायका भेद नहीं समझना चाहिये। क्योंकि 'सारं त्रिभुवने' अर्थात् तीनों लोकमें सार है। यहां पर जिसप्रकार अभेदमें भी [illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इत्यत्राभेदेऽपि सप्तम्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

कियच्चिरं मङ्गलम् ? नानाजीवापेक्षया सर्वाद्धम् । एकजीवापेक्षया अनाद्यपर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितमिति त्रिविधम् । कथमनाद्यपर्यवसितता मङ्गलस्य ? द्रव्यार्थिकनयार्पणया । तथा च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि मङ्गलत्वं जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैष दोष इष्टत्वात् । न मिथ्याविरतिप्रमादानां मङ्गलत्वं तेषां जीवत्वाभावात् । जीवो हि मङ्गलम् स च केवलज्ञानाद्यनन्तधर्मात्मकः । नावृतावस्थायां मङ्गलीभूतकेवलज्ञानाद्यभावः आव्रियमाणकेवलाद्यभावे तदावरणानुपपत्तेः, जीवस्याज्ञायोर्ज्ञानदर्शनयोरभावे लक्षणस्याप्यभावापत्तेश्च । न चैवं तथाऽनुपलम्भात् ।

उपलब्धि होती है। उसीप्रकार 'जीवे मंगलम्' यहां पर भी अभेदमें सप्तमी विभक्ति समझना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अधिकरण कारकके प्रयोगमें भी अनेकान्त है। अर्थात् कहीं भेदमें भी अधिकरण कारक होता है और कहीं अभेदमें भी अधिकरण कारक होता है।

कितने काल मंगल रहता है? नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वदा मंगल रहता है और एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्त, सादि अनन्त, और सादि सान्त इसप्रकार मंगलके तीन भेद हो जाते हैं।

शंका — मंगलमें एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्तपना कैसे बनता है, अर्थात् एक जीवके अनादि कालसे अनन्तकाल तक मंगल होता है यह कैसे संभव है?

समाधान — द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मंगलमें अनादि अनन्तपना बन जाता है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नयसे मुक्तात्मा और अनादिकालसे अनन्तकाल तक सर्वदा एक स्वभाव अवस्थित है और मंगलरूप पर्याय उससे सर्वथा भिन्न नहीं है। अतएव मंगलमें भी अनादि अनन्तपना बन जाता है।

शंका — इसप्रकार तो मिथ्यात्वादि अवस्थामें भी जीवको मंगलपनेकी प्राप्ति हो जायगी?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ऐसा प्रसंग तो हमें इष्ट ही है। किंतु ऐसा मान लेने पर भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि को मंगलपना सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है। मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्तधर्मात्मक है।

आवृत अवस्थामें अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धनकी दशामें मंगलीभूत केवलज्ञानादिकका अभाव है, अतएव उस अवस्थामें वे सर्वथा नहीं पाये जाते। यदि कोई ऐसा कहे तो [illegible] आव्रियमाण अर्थात् आवरणको प्राप्त होनेवाले केवलज्ञानादिकके अभावमें उनके आवरण करनेवाले कर्मोंका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरे, जीवके लक्षणरूप ज्ञान और दर्शनका अभाव मान लेने पर [illegible] जीवके अभावकी भी प्राप्ति हो जाती है। ऐसा तो है नहीं, क्योंकि अनादि प्रमाणोंसे जीवकी उपलब्धि नहीं होती

न भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारः तापप्रकाशयोस्तत्राप्युपलम्भात्। पर्यायत्वात्केवलादीनां न स्थितिरिति चेन्न, अत्रुटज्ज्ञानसंतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात्। न छद्मस्थज्ञान-दर्शनयोरल्पत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विश्वावयवानामप्यमङ्गलत्वप्राप्तेः। स्वावरणयुतानां ज्ञानदर्शनं न मङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्त-योस्तयोरसत्त्वात्। मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न, तदवस्थानां मत्यादिव्यपदेशात्।

हो ऐसा नहीं देखा जाता। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी उसकी उपलब्धि होती ही है।

यहां पर भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, ताप और प्रकाशकी यहां पर भी उपलब्धि होती है।

विशेषार्थ— आवृत अवस्थामें भी केवलज्ञानादि पाये जाते हैं, क्योंकि, वे जीवके गुण हैं, यदि इस अवस्थामें उनका अभाव माना जावे तो जीवका भी अभाव मानना पड़ेगा। इस अनुमानको ध्यानमें रखकर शंकाकारका कहना है कि इस तरह तो भस्मसे ढकी हुई अग्निसे व्यभिचार हो जावेगा, क्योंकि भस्माच्छादित अग्निमें अग्निरूप द्रव्यका सद्भाव तो पाया जाता है, किंतु उसके धर्मरूप ताप और प्रकाशका सद्भाव नहीं पाया जाता है। इसतरह हेतु विपक्षमें चला जाता है, अतएव वह व्यभिचरित हो जाता है। इसप्रकार शंकाकारका भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचारका दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि राखसे ढकी हुई अग्निमें भी उसके गुणधर्म ताप और प्रकाशकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणोंसे बराबर होती है।

शंका— केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं, इसलिये आवृतअवस्थामें उनका सद्भाव नहीं बन सकता है?

समाधान— यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि कभी भी नहीं टूटनेवाली ज्ञान संतानकी अपेक्षा केवलज्ञानके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियोंके ज्ञान और दर्शन अल्प होनेमात्रसे अमंगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ज्ञान और दर्शनके एकदेशमें मंगलपनेका अभाव स्वीकार कर लेने पर ज्ञान और दर्शनके संपूर्ण अवयवोंको भी अमंगल मानना पड़ेगा।

शंका - आवरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवल दर्शनके अवयव ही नहीं हो सकते हैं?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता है।

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अतिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते हैं। इनका अभाव कैसे किया जा सकता है?

समाधान— उस ज्ञान और दर्शनसंबन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि संज्ञाएं हैं। अर्थात् ज्ञानगुणकी अवस्थाविशेषका नाम मत्यादि और दर्शनगुणकी अवस्था

तयोः केवलज्ञानदर्शनाङ्कुरयोर्मङ्गलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मङ्गलं तत्रापि तौ स्त इति चेद्भवतु तद्रूपतया मङ्गलम्, न मिथ्यात्वादीनां मङ्गलम्। न च मिथ्यादृष्टेः सुगतिप्राप्तिः सम्यग्दर्शनमन्तरेण तज्ज्ञानस्य सम्यक्त्वाभावतस्तदभावात्। कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मङ्गलत्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टीनामवगताप्तस्वरूपाणां केवलज्ञानदर्शनावयवत्वेनाध्यवसितच्छद्मस्थज्ञानदर्शनानामावरणविविक्तानन्तज्ञानदर्शनशक्तिखचितात्मस्मर्तॄणां वा पापक्षयकारित्ववत्तयोस्तदुपपत्तेः। नोआगमभव्यद्रव्यमङ्गलापेक्षया वा मङ्गलमनाद्यपर्यवसानमिति। रत्नत्रयमुपादायाविनष्टेनावाप्तसिद्धस्वरूपापेक्षया नैगमनयेन साद्यपर्यवसितं मङ्गलम्।

विशेषका नाम चक्षुदर्शनादि है। यथार्थमें इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाले ज्ञान और दर्शन एक ही है।

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शनके अंकुररूप छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलरूप मान लेने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमें भी वे अंकुर विद्यमान हैं?

समाधान—यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किंतु इतनेसे ही मिथ्यात्व, अविरति आदिको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है। और इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव सुगतिको प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानमें समीचीनता नहीं आ सकती है। तथा समीचीनताके बिना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती है।

शंका—फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आप्तके स्वरूपको जाननेवाले, छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवरूपसे निश्चय करनेवाले और आवरण रहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्तिसे युक्त आत्माका स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें जिसप्रकार पापका क्षयकारीपना पाया जाता है, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें भी पापका क्षयकारीपना पाया जाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको भी मंगल माननेमें विरोध नहीं है। अथवा, नोआगमभावितद्रव्य मंगलकी अपेक्षा मंगल अनादि अनन्त है।

विशेषार्थ—जो आत्मा वर्तमानमें मंगलपर्यायसे युक्त तो नहीं है, किंतु भविष्यमें मंगलपर्यायसे युक्त होगा। उसके शक्तिकी अपेक्षासे अनादि अनन्तरूप मंगलपना बन जाता है।

रत्नत्रयको धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयके द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्ध स्वरूपकी अपेक्षा नैगमनयसे मंगल सादि अनंत है।

विशेषार्थ—रत्नत्रयकी प्राप्तिसे सादिपना और रत्नत्रय प्राप्तिके अनन्तर सिद्ध स्वरू

सादिसपर्यवसितं सम्यग्दर्शनापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तकालमुत्कर्षेण षट्षष्टिसागरा देशोनाः।

कतिविधं मङ्गलम्? मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदाच्चतुर्विधम्, ज्ञानदर्शनत्रिगुप्तिभेदात्पञ्चविधम्, 'णमो जिणाणं' इत्यादिनानेकविधं वा।

अथवा मंगलम्हि छ अहियाराणि दंडा वत्तव्वा भवंति। तं जहा, मंगलं मंगल-कत्ता मंगल-करणीयं मंगलोवायो मंगल-विहाणं मंगल-फलमिदि। एदेसिं छण्हं पि अत्थो उच्चदे। मंगलत्थो पुव्वुत्तो। मंगल-कत्ता चोद्दस-विज्जा-ट्ठाण-पारओ आइरियो। मंगल-करणीयं भव्व-जणो। मंगलोवायो ति-रयण-साहणाणि। मंगल-विहाणं एय-विहादि पुव्वुत्तं। मंगल-फलं दोहितो वयं अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइं तं। मंगलं सुत्तस्स आदीए

पर्यायें जो प्राप्त हुई हैं उसका कभी अन्त आनेवाला नहीं है। इसतरह इन दोनों धर्मोंको ही विषय करनेवाले (न एकं गमः नैगमः) नैगमनयकी अपेक्षा मंगल सादि अनन्त है।

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा मंगल सादि-सान्त समझना चाहिये। उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम छयासठ सागर प्रमाण है।

मंगल कितने प्रकारका है? मंगल-सामान्यकी अपेक्षा मंगल एक प्रकारका है। मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन प्रकारका है। धर्म, सिद्ध साधु और अर्हन्तके भेदसे चार प्रकारका है। ज्ञान, दर्शन और तीन गुप्तिके भेदसे पांच प्रकारका है। अथवा 'जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो' इत्यादि रूपसे अनेक प्रकारका है।

अथवा, मंगलके विषयमें छह अधिकारोंद्वारा दंडकोंका कथन करना चाहिये। वे इस प्रकार हैं। १ मंगल, २ मंगलकर्ता ३ मंगलकरणीय, ४ मंगल-उपाय, ५ मंगलभेद और ६ मंगल-फल। अब इन छह अधिकारोंका अर्थ कहते हैं। मंगलका अर्थ तो पहले कहा जा चुका है। चौदह विद्यास्थानोंके पारगामी आचार्य-परमेष्ठी मंगलकर्ता हैं। भव्यजन मंगल करने योग्य हैं। रत्नत्रयकी साधक सामग्री मंगलका उपाय है। एक प्रकारका मंगल, दो प्रकारका मंगल इत्यादि रूपसे मंगलके भेद पहले कह आये हैं। ऊपर कहे हुए मंगलादिकसे प्राप्त होने वाले अभ्युदय और मोक्ष-सुखके आधीन मंगलका फल है। अर्थात् जितने प्रमाणमें यह जीव मंगलके साधन मिलाता है उतने ही प्रमाणमें उससे जो यथायोग्य अभ्युदय और निःश्रेयस सुख मिलता है वही उसके मंगलका फल है। उक्त मंगल ग्रन्थके आदि मध्य और अन्तमें करना

१ प्रतिषु 'नमो जिनानां' इति पाठः।

२ अहियारादि इति पाठः प्रतिभाति।

मज्झे अवसाणे च वत्तव्वं । उत्तं च—

आदिम्हि मज्झ-अवसाणए मंगलं जिणिंदेहि ।

तो कय-मंगल-विणयो वि णमो सुत्तं पवक्खामि ॥ १९ ॥

तिसु ठाणेसु मंगलं किमट्ठं वुच्चदे ? सत्थ-कोउय-मंगल-पायच्छिणा सिस्सा पज्जंताग्गे मोक्खे वत्तागे आरोग्गमविग्घेण विज्जं विज्जा फलं पावेंतु त्ति । उत्तं च—

आदिम्हि भद्द वयणं सिस्सा लहु-पारया हवंतु त्ति ।

मज्झे अव्वोच्छित्ति य विज्जा विज्जा फलं चरिमे ॥ २० ॥

[illegible] कहा भी है—

[illegible] आदि, मध्य और अवसानमें मंगल करनेका विधान किया है। अतः मंगल [illegible] मैं नमोकार सूत्रका वर्णन करता हूं ॥ १९ ॥

शंका— [illegible] आदि, मध्य और अन्त, इसप्रकार तीन स्थानोंमें मंगल करनेका उपदेश [illegible] है ?

समाधान— [illegible] आवश्यक कर्तव्यमें करनेवाले तथा मंगलकर्मकी प्राप्ति [illegible] किये जानेवाले कार्योंमें [illegible] प्राप्तिस्वरूप मंगलीक बुद्धि [illegible], मध्यमादिकको मानें [illegible] प्राप्त हो, श्रोता और वक्ता मानेंगे [illegible] प्राप्त हो, इसलिये तीनों जगह मंगल करनेका [illegible] है। कहा भी है—

[illegible] प्रारम्भ किये गये [illegible] इसलिये आदिमें [illegible] करना चाहिये। प्रारम्भ किये गये कार्यकी [illegible] करना चाहिये और [illegible] करना चाहिये ॥ २० ॥

[illegible]

विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाः परिलंघयन्ति।
अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥ २१ ॥
आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥ २२ ॥

तच्च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि। तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण णिबद्ध-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्ध-मंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय-देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्ध-मंगलं। इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं। यत्तो 'इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध-'णमो अरिहंताणं' इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दंसणादो।

सुत्तं किं मंगलमुद अमंगलमिदि? जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं पावकारणत्त

जिनेन्द्रदेवके गुणोंका कीर्तन करनेसे विघ्न नाशको प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर यथेष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

विद्वान् पुरुषोंने प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मंगल करनेका विधान किया है। वह मंगल निर्विघ्न कार्यसिद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंका कीर्तन करना ही है।

वह मंगल दो प्रकारका है, निबद्ध-मंगल और अनिबद्ध-मंगल। जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा इष्ट-देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है अर्थात् श्लोकादिरूपसे रचा जाता है, उसे निबद्ध-मंगल कहते हैं। और जो ग्रन्थकारके द्वारा देवताको नमस्कार किया जाता है (किन्तु श्लोकादिके द्वारा संग्रह नहीं किया जाता है,) उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं। उनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका प्रथम खण्डागम निबद्ध-मंगल है, क्योंकि 'इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि रूपसे देवता-नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है।

शंका—सूत्र-ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है या अमंगलरूप? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है, तो वह सूत्र भी नहीं हो सकता, क्योंकि, मंगलके अभावमें पापका कारण होनेसे

१ णासंति विग्घ भेदंति गहा दुट्ठा सुरा ण लंघंति। इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणामग्गहणमेत्तेण ॥
ति. प. १. ३०

२ आदर्श प्रतिषु 'जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्धो देवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं' इति पाठः।

३ जइ मंगलं कयं किं सत्थं ता किंचि मंगलमाईयं' ... मंगलनिमित्त ॥ ११ ॥ मंगल पि मंगलबुद्धा मंगलं जहा माइ। मंगलमिहरारिपरिमिहं ति तं कारणं भणियं ॥ वि. भा. २. २१

सुत्तत्त-विरोहादो। अह मंगलं, किं तत्थ मंगलेण एगदो चेय कज्ज-णिप्पत्तीदो इदि। ण ताव सुत्तं ण मंगलमिदि? तारिस-पइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं च। सुत्तस्सादीए मंगलं पढिज्जदि, ण पुव्वुत्तदोसो वि दोण्हं पि पुध पुध विणासिज्जमाण-पाव-कम्मणादो। पढण-विग्घ-विद्दावणं मंगलं। सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्ज-गुण-सेढीए पावं गालिय पच्छा सव्व-कम्म-क्खय-कारणमिदि। देवतानमस्कारोऽपि चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षयकारीति द्वयोरप्येककार्यकर्तृत्वमिति चेन्न, सूत्रविषयपरिज्ञानमन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात्। शुक्लध्यानान्मोक्षः, न च देवतानमस्कारः शुक्लध्यानमिति।

इदाणिं देवदा-णमोक्कार-सुत्तस्सत्थो उच्चदे।

'णमो अरिहंताणं' अरिहननादरिहन्ता। नरकतिर्यक्कुमानुष्य

उसका सूत्रपनेसे विरोध पड जाता है। और यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि, मंगलरूप एक सूत्र ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है? और यदि कहा जाय कि यह सूत्र नहीं है, अतएव मंगल भी नहीं है, तो ऐसा तो कहीं कहा नहीं गया कि यह सूत्र नहीं है। अतएव यह सूत्र है और परिशेष न्यायसे मंगल भी है। तब फिर इसमें अलग से मंगल क्यों किया गया?

समाधान — सूत्र के आदि में मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है, क्योंकि, सूत्र और मंगल इन दोनों से पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है।

निबद्ध और अनिबद्ध मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करता है, और सूत्र, प्रति समय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे पापोंका नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है

शंका — देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्थामें संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिये मंगल और सूत्र ये दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं। फिर दोनोंका कार्य भिन्न भिन्न क्यों बतलाया गया है?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके विना केवल देवता-नमस्कारमें कर्मक्षयकी सामर्थ्य नहीं है। मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परंतु देवता नमस्कार तो शुक्लध्यान नहीं है।

विशेषार्थ — शास्त्रज्ञान शुक्लध्यानका साक्षात् कारण है और देवता-नमस्कार परंपरा कारण है, इसलिये दोनोंके अलग अलग कार्य बतलाये गये हैं।

अब देवता-नमस्कार सूत्रका अर्थ कहते हैं। 'णमो अरिहंताणं' अरिहंतोंको नमस्कार हो। 'अरि' अर्थात् शत्रुओंके 'हननात्' अर्थात् नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती

प्रेतावासगताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः। तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात्। न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत। मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च। तस्यारेर्हननादरिहन्ता[1]।

रजोहननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि। मोहोऽपि रज

है। नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है।

शंका — केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकीके समस्त कर्म मोहके ही आधीन हैं। मोहके बिना शेष कर्म अपने अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं। जिससे कि वे भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र समझे जावें। इसलिये सच्चा अरि मोह ही है और शेष कर्म उसके आधीन हैं।

शंका — मोहके नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिये उनको मोहके आधीन मानना उचित नहीं है?

समाधान — ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व असत्त्वके समान हो जाता है।

तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्म-गुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रुके नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा, रज अर्थात् आवरण-कर्मोंके नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरङ्ग समस्त त्रिकालके विषयभूत अनन्त अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं। मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुख

१ [illegible] ॥ [illegible] ॥ [illegible]

मि. क. १, १, १.

भस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मना जिह्मभावोपलम्भात्। किमिति त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्मविनाशाविनाभावित्वात्। तेषां हननादरिहन्ता।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता।

अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः। स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः।

भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिह्मभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसीप्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी स्वानुभूतिमें कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है।

शंका — यहां पर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके ही विनाशका उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान — ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, शेष सभी कर्मोंका विनाश इन तीन कर्मोंके विनाशका अविनाभावी है। अर्थात् इन तीन कर्मोंके नाश हो जाने पर शेष कर्मोंका नाश अवश्यभावी है। इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा, 'रहस्य' के अभावसे भी अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है। रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं। अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है और अन्तराय कर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं। ऐसे अन्तराय कर्मके नाशसे अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन् संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पांचों कल्याणकोंमें देवोंद्वारा की गई पूजाएं देव, असुर और मनुष्योंको प्राप्त पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान् हैं, इसलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अर्हन् संज्ञा समझना चाहिये।

---

१ अरहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए। रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चदे ॥ मूलाचा ५०५. अरिहंति वंदणणमंसणाइ अरिहंति पूयसक्कारं। सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥ देवासुरमणुएसु अरिहा पूआ सुरुत्तमा जम्हा। अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ वि. भा. ३५८४, ३५८५.

२ अविद्यमानो वा रहः एकान्तरूपो देशः अन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतं प्रच्छन्नत्वस्याभावेन यस्य स अरहोन्तरः [अरहंता]। अथवा अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो यस्य स अरथान्तः [अरहंता]। अथवा 'अरहंताणं' ति क्वचिदप्यासक्तिमगच्छन्तः,

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभोगाद्यनन्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्यबिम्बवद्देदीप्यमानाः स्वशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतः निरामयाः विगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलातीतत्वतः निष्कलाः । तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः, इति यावत् ।

णिहय-मोह-तरुणो वित्थिण्णाण्णाण-सायरुत्तिण्णा ।
णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥ २३ ॥
दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि ।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥ २४ ॥
ति-रयण-तिसूलधारिय मोहंधासुर-कबंध-विंद-हरा ।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥ २५ ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त विरति, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुए अनन्त गुण स्वरूप होनेसे जिन्होंने यहीं पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे निकलते हुए सूर्य-बिम्बके समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण प्रमेय रहनेके कारण (प्रतिभासित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय अर्थात् रोगोंके दूर हो जानेके कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पापरूपी अंजनके समूहके नष्ट हो जानेसे जो निरंजन हैं और दोषोंकी कलाएं अर्थात् संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण जो निष्कल हैं, ऐसे उन अरिहंतोंको नमस्कार हो।

जिन्होंने मोहरूपी वृक्षको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओंसे रहित हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेवके प्रतापको दलित कर दिया है, जिन्होंने तीनों कालोंको विषय करनेरूप तीन नेत्रोंसे सकल पदार्थोंके सारको देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग और द्वेषको अच्छी तरहसे भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर साधुओंके पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नरूपी त्रिशूलको धारण करके मोहरूपी अन्धकासुरके कबन्धवृन्दका हरण कर लिया है

[illegible]

'णमो सिद्धाणं' सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्माणः। सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तॄणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्वसिद्धेः।

जिन्होंने संपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नयका अन्त कर दिया है, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी होते हैं ॥ २३, २४, २५ ॥

विशेषार्थ—शैवमतमें महादेवको कामदेवका नाश करनेवाला, अपने तीन नेत्रोंसे सकल पदार्थोंके सारको जाननेवाला, त्रिपुरका ध्वंस करनेवाला, मुनिपती अर्थात् दिगम्बर, त्रिशूलको धारण करनेवाला और अन्धकासुरके कबन्धवृन्दका हरण करनेवाला माना है। महादेवके इन विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर नीचेकी दो गाथाओंकी रचना हुई है। जिससे यह प्रगट हो जाता है कि अरिहंत परमेष्ठी ही सच्चे महादेव हैं।

'णमो सिद्धाणं' अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो। जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने स्वरूपमें स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्यको सिद्ध कर लिया है, और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं।

शंका—सिद्ध और अरिहंतोंमें क्या भेद है?

समाधान—आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहंत होते हैं। यही उन दोनोंमें भेद है।

शंका—चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने पर अरिहंतोंकी आत्माके समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहंतोंके अघातिया कर्मोंका उदय और सत्व दोनों पाये जाते हैं, अतएव इन दोनों परमेष्ठियोंमें गुणकृत भेद भी है।

शंका—वे अघातिया कर्म शुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं हैं?

समाधान—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, इसलिये अरिहंतोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् यदि आयु आदि कर्म अपने कार्यमें असमर्थ माने जाय, तो शरीर का पतन हो जाना चाहिये। परंतु शरीर का पतन तो होता नहीं है, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका कार्य करना सिद्ध है।

---

१ सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति। भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥ पु. सि. ११.

दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्मसु। सिदे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ। मूलाचा. ५०७

तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्।

नोर्ध्वगमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात्। सुखमपि न गुणस्तत एव। न वेदनीयोदयो दुःखजनकः केवलिनि केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात्। किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्।

शंका—कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरणसे युक्त संसार है। वह, अघातिया कर्मोंके रहने पर भी अरिहंत परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है। तथा, अघातिया कर्म आत्माके अनुजीवी गुणोंके घात करनेमें असमर्थ भी हैं। इसलिये अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीमें गुणकृत भेद मानना ठीक नहीं है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयु कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरिहंतोंके पाया जाता है। इसलिये अरिहंत और सिद्धोंमें गुणकृत भेद मानना ही चाहिये।

शंका—ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि, उसे आत्माका गुण मान लेने पर उसके अभावमें आत्माका भी अभाव मानना पड़ेगा। इसीकारण सुख भी आत्माका गुण नहीं है। दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुःखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा अर्थात् वेदनीय कर्मको दुःखोत्पादक मान लेने पर, केवली भगवान्‌के केवलीपना ही नहीं बन सकता है?

समाधान—यदि ऐसा है तो रहो अर्थात् अरिहंत और सिद्धोंमें गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता है तो मत होओ, क्योंकि, वह न्यायसंगत है। फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और देशभेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है।

विशेषार्थ—अरिहंत और सिद्धोंमें अनुजीवी गुणोंकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है। फिर भी प्रतिजीवी गुणोंकी अपेक्षा माना जा सकता है। परंतु प्रतिजीवी गुण आत्माके भावस्वरूप धर्म नहीं होनेसे तत्कृत भेदकी कोई मुख्यता नहीं है। इसलिये सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा अथवा देशभेदकी अपेक्षा ही इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये। ऊपर जो ऊर्ध्वगमन और सुख आत्माके गुण नहीं हैं इसप्रकारका कथन किया है। यहां पर उन दोनों गुणोंका तात्पर्य प्रतिजीवी गुणोंसे है। ऊर्ध्वगमनसे अवगाहनत्व और सुखसे अव्याबाध गुणका ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि ग्रन्थान्तरोंमें आयु और वेदनीयके अभावसे होनेवाले जिन गुणोंको अवगाहन और अव्याबाध कहा है। उन्हें ही यहां पर ऊर्ध्वगमन और सुखके नामसे प्रतिपादन किया है।

[illegible] इति [illegible] ।

[illegible] ।
[illegible] ॥ २६ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २७ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २८ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विप्रमुक्त आचार्य ।

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो[1] ।
मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥ २९ ॥

देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को ।
गयण व्व णिरुवलेवो आइरिओ एरिसो होइ ॥ ३० ॥

संगह-णिग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरिओ[3] ॥ ३१ ॥

एवंविधेभ्य आचार्येभ्यो नम इति यावत् ।

हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानोंके पारंगत हों, ग्यारह अंगके धारी हों अथवा आचारांगमात्रके धारी हों अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारंगत हों, मेरुके समान निश्चल हों, पृथिवीके समान सहनशील हों, जिन्होंने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहिर फेंक दिया हो, और जो सात प्रकारके भयसे रहित हों, उन्हें आचार्य कहते हैं।

प्रवचनरूपी समुद्रके जलके मध्यमें स्नान करनेसे अर्थात् परमागमके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीतिसे छह आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरु पर्वतके समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो वर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। जो संघके संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायश्चित्त देनेमें कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागमके अर्थमें विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और साधन अर्थात् व्रतोंकी रक्षा करनेवाली क्रियाओंमें निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये ॥ २९, ३०, ३१ ॥

ऐसे आचार्योंको नमस्कार हो ।

१ तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् । चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी ॥ भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युः भीतिराकस्मिकं ततः । क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैता भीतयः स्मृताः ॥ पंचाध्यायी २. ५४५.

२ षडावश्यकानि । ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते । व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्यं कर्मेति । अथवा आवासो इत्ययमर्थः आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं व्युत्सर्ग इत्यमी षडावश्यकानि ॥ मूलारा. गा. ११६ टीका.

३ संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती । किरियाचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्ज वयणो य ॥ मूलाचा. १५८.

४ आ मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिः इत्याचार्याः ।

[illegible] उपाध्याया [illegible]

[illegible] सपरानुपराविपुरीना ।

[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible] इति यावत्।

[illegible] समझना हा । [illegible]

[illegible]

'णमो लोए सव्व साहूण' अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः । पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः ।

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी ।
खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू[१] ॥ ३३ ॥

सकलकर्मभूमिषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः ।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' लोक अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधुओंको नमस्कार हो । जो अनन्त ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्माके स्वरूपकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं । जो पांच महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित हैं, अठारह हजार शीलके भेदोंको धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैलके समान भद्र प्रकृति, मृगके समान सरल, पशुके समान निरीह गोचरी-वृत्ति करनेवाले, पवनके समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावटके विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्वोंके प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागरके समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु पर्वतके समान परीषह और उपसर्गोंके आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके समान प्रभा-पुंजयुक्त, क्षितिके समान सब प्रकारकी बाधाओंको सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्पके समान दूसरेके बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदिमें निवास करनेवाले, अम्बर अर्थात् आकाशके समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्षका अन्वेषण करनेवाले साधु होते हैं ॥ ३३ ॥

सम्पूर्ण कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओंको नमस्कार हो ।

१ नत्थि य सि पडिबंधो ... उरगगिरिजलणसागरनहतलतरुगणसमो य जो होइ । भमरमियधरणिजलरुहरविपवणसमो य तो समणो ॥ अनु. ...

१ सप्पजल व जिसलवणा आगविव अपरिबंधा मारुयगिरि इव एकद्वियया पुक्खरपत्त इव निरुवलेवा कुम्मो इव गुत्तिदिया विहग इव विप्पमुक्का खग्गिविसाणं व एगजाया भारंडपक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जायथामा सीहो इव दुद्धरिसा मंदरो इव अप्पकंपा सागरो इव गंभीरा चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया जच्चकंचणगं व इव जायरूवा वसुंधरा इव सव्वफासविसहा सुहुयहुयासणो तेयसा जलंता अणगारा । सूत्र २ २ ७ उरगगिरिजलणसागरनहतलतरुगणसमो अ जो होइ । भमरमियधरणिजलरुहरविपवणसमो अ तो समणो ॥ अनु. ...

२ णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो । समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो ॥ मूलाचा. ५१२ आ. नि. १००५ साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः । समतां वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति निरुक्तिन्यायात् साधवः । यदाह णिव्वाणसाहए जोए जम्हा साहंति साहुणो । समा य सव्वभूएसु तम्हा ते भावसाहुणो ॥ साहाय्यकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधवः । सर्वग्रहणं च सर्वेषां गुणवतामविशेषेण नमनीयताप्रतिपादनार्थम् । अथवा सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वाः, ते च ते साधवश्च सार्वसाधवः । सार्वस्य वा अर्हतो न तु बुद्धादेः साधवः सार्वसाधवः । सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति कुर्वन्ति सार्वान् वा अर्हतः साधयन्ति तदाज्ञाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा । अथवा श्रव्येषु श्रवणार्हेषु वाक्येषु अथवा सव्यानि दक्षिणान्यनु

परोक्षापरोक्षकृतो भेदो वस्तुपरिच्छित्तिं प्रत्येकत्वात्। नैकस्य ज्ञानस्यावस्थाभेदतो भेदो निर्मलानिर्मलावस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः। नावयवावयविकृतो भेदः अवयवस्यावयविनोऽव्यतिरेकात्। सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः। न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तॄणि रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात्। तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्।

विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात्। असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो

समाप्त होता जाता है, वैसे ही वैसे अवगत रत्नोंके शेष अवयव अपने आप प्रगट होते जाते हैं। इसलिये उनमें कारण-कार्यपना भी नहीं बन सकता है। इसीप्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोंमें परोक्ष और प्रत्यक्ष जन्य भेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, वस्तुके ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा दोनों एक हैं। केवल एक ज्ञानके अवस्थाभेदसे भेद नहीं माना जा सकता है। यदि ज्ञानमें उपाधिकृत अवस्था-भेदसे भेद माना जाये तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त दर्पणमें भी भेद मानना पड़ेगा। इसीप्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोंमें अवयव और अवयवी जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते हैं।

शंका—संपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णताको प्राप्त रत्नत्रयको ही देव माना जा सकता है, रत्नोंके एकदेशको देव नहीं माना जा सकता?

समाधान—ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि, रत्नोंके एकदेशमें देवपनाके अभाव मान लेने पर रत्नोंकी समग्रतामें भी देवपना नहीं बन सकता है। अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेशमें नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रतामें कहांसे आ सकता है?

शंका—आचार्यादिकमें स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनके रत्न एकदेश हैं।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जिसप्रकार पलाल-राशिका दाहरूप अग्नि-समूहका कार्य अग्निके एक कणसे भी देखा जाता है, उसीप्रकार यहां पर भी समझना चाहिये। इसलिये आचार्यादिक भी देव हैं यह बात निश्चित हो जाती है।

शंका—सब प्रकारके कर्म-लेपसे रहित सिद्ध-परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघातिया कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहंतोंको आदिमें नमस्कार क्यों किया जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोंमें श्रद्धाकी अधिकताके कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं। अर्थात् अरिहंत परमेष्ठीके निमित्तसे ही अधिक गुणवाले सिद्धोंमें सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। अथवा, यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोंको आप्त आगम और पदार्थोंका परिज्ञान नहीं हो सकता था। किंतु अरिहंत परमेष्ठीके

न श्रेयस्मार्गाणाम्, मनातर्थतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया वादावर्हन्नमस्कारः क्रियते। न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्ते श्रेयोहेतुत्वात्। अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च। आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वख्यापनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः। उक्तं च—

> [illegible] धम्मा [illegible] गिण्हेइ तस्सतिय वेणइय पउंज ।
>
> सक्कारए तं सिरपंचमेण काएण वाया मणसा वि णिच्चं ॥ ३४ ॥

मंगलस्स [illegible] गयं।

मंगलं णिमित्तमुच्चदे। कस्स णिमित्त? सुत्तावदारस्स। तं कधं जाणिज्जदि

[illegible] हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है। इसलिये उपकारकी अपेक्षा भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया जाता है।

[illegible] कहे कि इसप्रकार आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार करना तो पक्षपात है? इस [illegible] उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है। किंतु शुभ पक्षमें रहनेसे वह [illegible] ही कारण है। तथा द्वैतको गौण करके अद्वैतकी प्रधानताके लिये गये नमस्कारमें [illegible] [illegible] बन भी तो नहीं सकता है।

विशेषार्थ—[illegible] नहीं सकता है जहां दो वस्तुओंमेंसे किसी एककी ओर अधिक [illegible] है। परंतु यहां परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें व्यक्ति प्रधानतया गुणोंकी ओर [illegible] है [illegible] प्रधानता नहीं है। इसलिये यहां पक्षपात किसीप्रकार भी संभव नहीं है।

[illegible] प्रधान है। आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें [illegible] उत्पन्न होती है इस [illegible] आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया गया है। कहा भी है

[illegible] धर्म ज्ञान प्राप्त करे उनके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी [illegible] सदा [illegible] प्रधान मस्तक [illegible] हाथ और [illegible] अर्थात् इन पांचोंके [illegible] प्रथम [illegible] नमस्कार करना चाहिये।

[illegible] मंगलका कथन समाप्त हुआ। अब निमित्तका कथन करते हैं—

शंका—[illegible] निमित्तका कथन किया जाता है?

समाधान—[illegible] सूत्रावतार अर्थात् [illegible] निमित्तका कथन किया जाता है।

[illegible]

सुत्तावदारस्स ण अण्णस्सेति ? पयरणादो। 'भोयण-वेलाए सेंधवमाणि' त्ति वयणादो लोण इव । बद्ध-बंध-बंधकारण-मुक्क-मोक्ख-मोक्खकारणाणि णिक्खेव-णय-पमाणाणियोग-द्दारेहि अहिगम्म भविय-जणो जाणदु त्ति सुत्तमोइण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंथदो गणहर-देवादो त्ति ।

द्रव्यभावाभ्यामकृत्रिमत्वतः सर्वदावस्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति चेन्नैतत्सर्वमभविष्यद्यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत् । पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुनर्घटत एव ।

छद्दव्व-णव-पयत्थे सुय-णाणाइच्च-दिप्प-तेएण ।
पस्संतु भव्व-जीवा इय सुय-रविणो हवे उदओ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं हेतुरुच्यते । तत्र हेतुर्द्विविधः प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति । कस्य हेतुः ?

शंका—यह कैसे जाना जाता है कि यहां पर सूत्रावतारके निमित्तका कथन किया जाता है, अन्यका नहीं ।

समाधान—यह बात प्रकरणसे जानी जाती है । जैसे भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' इसप्रकारके वचनसे अर्थ नमकका ही ज्ञान होता है, उसीप्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये कि यहां पर सूत्रावतारके निमित्तका ही कथन किया जा रहा है ।

बद्ध, बन्ध, बन्धके कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्षके कारण, इन छह तत्वोंको निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोगद्वारोंसे भलीभांति समझकर भव्यजन उनके ज्ञाता बनें, इसलिये यह सूत्र ग्रन्थ अर्थ प्ररूपणाकी अपेक्षा तीर्थंकरसे और ग्रन्थरचनाकी अपेक्षा गणधरदेवसे अवतीर्ण हुआ है ।

शंका—द्रव्य और भावसे अकृत्रिम होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह शंका तो तब बनती जब यहां पर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती । परंतु यहां पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है ।

भव्य जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्यके दीप्त तेजसे छह द्रव्य और नव पदार्थोंको देखें अर्थात् भलीभांति जानें, इसलिये श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है ॥ ३५ ॥

अब हेतुका कथन किया जाता है,

हेतु दो प्रकारका होता है, एक प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु ।

शंका- यहां पर किसके हेतुका कथन किया जाता है ?

मनगा अ नि ध । द ब ९ ११

१ प्रतिषु 'सत्थस्स' इति पाठः ।

२ छद्दव्वणवपयत्थे सुयणाणदुमणिकिरणसत्तीए । देक्खंतु भव्वजीवा अण्णाणतमेण संछण्णा ॥

ति. प. १. ३४

सिद्धान्ताध्ययनस्य । तत्र प्रत्यक्षहेतुर्द्विविधः साक्षात्प्रत्यक्षपरम्पराप्रत्यक्षभेदात् । तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चनं प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च । कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात् । तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम् । परोक्षं द्विविधम्, अभ्युदयनैःश्रेयसमिति । तत्राभ्युदयसुखं नाम सातादि-प्रशस्त-कर्म-तीव्रानुभागोदय-जनितेन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशदादि-देव-चक्रवर्ति-बलदेव-नारायणार्धमण्डलीक-मण्डलीक-महामण्डलीक-राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेश्वरादि-दिव्य-मानुष्य-सुखम्[1] ।

समाधान—यहां पर सिद्धान्तके अध्ययनके हेतुका कथन किया जाता है।

उन दोनों प्रकारके हेतुओंमेंसे प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकारका है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु और परंपरा प्रत्यक्ष हेतु। उनमेंसे अज्ञानका विनाश सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति, देव, मनुष्यादिकेद्वारा निरन्तर पूजाका होना और प्रत्येक समयमें असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे कर्मोंकी निर्जराका होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु (फल) समझना चाहिये।

शंका—कर्मोंकी असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है? क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे प्रतिसमय कर्म-निर्जरा होती है, यह बात अवधि-ज्ञानी और मनःपर्यय-ज्ञानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है।

शिष्य, प्रतिशिष्यादिकके द्वारा निरन्तर पूजा जाना परंपरा प्रत्यक्ष हेतु है। परोक्षहेतु भी दो प्रकारका है, एक अभ्युदयसुख और दूसरा नैःश्रेयससुख। इनमेंसे साता-वेदनीय आदि प्रशस्त-कर्म-प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवसम्बन्धी दिव्य सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजाधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि मनुष्य-सम्बन्धी मानुष्य-सुखको अभ्युदयसुख कहते हैं।

---

१ सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होंति पच्चक्खा । अण्णाणस्स विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती ॥ देवमणुस्सादीहिं संततमब्भच्चणप्पयारणं । पडिसमयमसंखेज्जयगुणसेढिकम्मणिज्जरणं ॥ ति. प. १, ३६-३७.

२ इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्खपरंपरा य णादव्वं । सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणपयारं ॥ दोभेदं च परोक्खं अब्भुदयसोक्खाइं मोक्खसोक्खाइं । सादादिविविहसुपसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहिं ॥ इंदपडिंदतिगिं[illegible] । [illegible] ॥ [illegible] ॥ ति. प. १, ३८-४१.

अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम् ।
राजा स्यान्मुकुटधरः कल्पतरुः सेवमानानाम् ॥ ३६ ॥

एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ—

हय-हत्थि-रहाणहिवा सेणावइ-मंति-सेट्ठि-दंडवई ।
सुद्द-क्खत्तिय-बम्हण-वइसा तह महयरा चेव ॥ ३७ ॥

गणरायमच्च-तलवर-पुरोहिया दप्पिया महामत्ता ।
अट्ठारह सेणीओ पयाइणा मेलिया होंति ॥ ३८ ॥

चतुरङ्ग-दण्डनायक-वर्ण-वणिग्गण-गणेश-महामात्राश्च ।
मन्त्रि-पुरोहित-सेनान्यमात्य-तलवर-महत्तराः स्युः श्रेण्यः ॥ ३९ ॥

पञ्चशतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति लोके ।
राजसहस्राधिपतिं प्रतीयतेऽसौ महाराजः ॥ ४० ॥

द्विसहस्रराजनाथो मनीषिभिर्वर्ण्यतेऽर्धमण्डलिकः ।
मण्डलिकश्च तथा स्याच्चतुःसहस्रावनीशपतिः ॥ ४१ ॥

जो नम्रीभूत अठारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिये कल्पवृक्षके समान हो उसे राजा कहते हैं ॥ ३६ ॥

यहां प्रकरणमें उपयोगी गाथाएं उद्धृत की जाती हैं।

घोड़ा, हाथी, रथ इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वाभिमानी महामात्य और पैदल सेना इसतरह सब मिलाकर अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३७, ३८ ॥

अथवा हाथी, घोड़ा, रथ और पयादे ये चार सेनाके अंग, दण्डनायक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, वणिक्पति, गणराज, महामात्र, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, अमात्य, तलवर और महत्तर ये अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३९ ॥

लोकमें पांचसौ राजाओंके अधिपतिको अधिराज कहते हैं और एक हजार राजाओंके अधिपतिको महाराज कहते हैं ॥ ४० ॥

पण्डितजन दो हजार राजाओंके स्वामीको अर्धमण्डलीक कहते हैं और चार हजार राजाओंके स्वामीको मण्डलीक कहते हैं ॥ ४१ ॥

[illegible] । [illegible] राजा [illegible] ॥ [illegible] । [illegible] ॥ [illegible] । [illegible] ॥ त्रि. प. १, ४२-४४.

अष्टसहस्रमहीपतिनायकमाहुर्बुधा महामण्डलिकम् ।
षोडशराजसहस्रैर्विनम्यमानस्त्रिखण्डधरणीशः[1] ॥ ४२ ॥
षट्खण्डभरतनाथं द्वात्रिंशद्धरणिपतिसहस्राणाम् ।
दिव्यमनुष्यं विदुरिह भोगागारं सुचक्रधरम् ॥ ४३ ॥
नरसुरभुवनेन्द्रनायकसीमशरो यस्य ते मुनिवरिष्ठे ।
त्रिभुवनकचामरगणा तस्य स्याद्धि चतुःषष्टि ॥ ४४ ॥
तित्थयरगणहरत्तं तहेव देविंद चक्कवट्टित्त ।
अण्णाहिंसेसमाइं अ भुदय फलं विसाणाहिं[2] ॥ ४५ ॥

तत्र नैःश्रेयसं नाम सिद्धानामर्हतां चातीन्द्रियसुखम् । उक्तं च—

अदिसयमादसमुत्थं विसयादीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवजोगो य सिद्धाणं ॥ ४६ ॥

बुधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं। और जिसे सोलह हजार राजा नमस्कार करते हैं उसे तीन खण्ड पृथिवीका अधिपति अर्थात् नारायण कहते हैं ॥ ४२ ॥

छह खण्डरूप भरतक्षेत्रके स्वामी, बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, नव निधि आदिसे प्राप्त होनेवाले भोगोंके भण्डार, उत्तम चक्र रत्नको धारण करनेवाले और भरत क्षेत्रके छह खण्डके अधिपतिको दिव्य अर्थात् अलौकिक गुणयुक्त मनुष्य अर्थात् चक्रवर्ती समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

जिसके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चौंसठ चामर ढुरते हैं उसे सकल भुवनके अधिपति अरहंत भगवान् कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस प्रकार तीर्थंकरपना, गणधरपना, देवेन्द्रपना, चक्रवर्तीपना और इसीप्रकारके अन्य और अभ्युदयका फल समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

अरहंत और सिद्धोंके अतीन्द्रिय सुखको निःश्रेयस सुख कहते हैं। कहा भी है—

अतिशयरूप आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोंसे रहित, अनुपम, अनन्त और विच्छेद

[illegible]

[1] एवं सिक्खिदाणं दिणयर-कर-णिम्मलं हवइ णाणं।
सिसिर-यर-कर-सरिच्छं हवइ चरित्तं स-वस-चित्तं ॥ ४७ ॥

मेरु व्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठ-मलं ति-मूढ-उम्मुक्कं।
सम्मद्दंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा[2] ॥ ४८ ॥

तत्तो चेव सुहाइं सयलाइं देव-मणुव-खयराणं।
उम्मूलियट्ठ-कम्मं फुड सिद्ध-सुहं पि पवयणादो ॥ ४९ ॥

जिय-मोहिंधण-जलणो अण्णाण-तमंधयार-दिणयरओ।
कम्म-मल-कलुस-पुसओ जिण-वयणमिवोवही[3] सुहयो ॥ ५० ॥

अण्णाण-तिमिर-हरणं सुभविय-हिययारविंद-जोहणयं।
उज्जोइय-सयल-वहं सिद्धंत-दिवायरं भजह ॥ ५१ ॥

रहित गुण तथा शुद्धोपयोग निश्चित होता है ॥ ४६ ॥

जिन्होंने सिद्धान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है ऐसे पुरुषोंका ज्ञान सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल होता है और जिसमें अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान चारित्र होता है ॥ ४७ ॥

प्रवचन अर्थात् परमागमके अभ्याससे मेरुके समान निष्कम्प, आठ मल रहित, तीन मूढ़ताओंसे रहित और अनुपम सम्यग्दर्शन भी होता है ॥ ४८ ॥

उस प्रवचनके अभ्याससे ही देव मनुष्य और विद्याधरोंके सर्व सुख प्राप्त होते हैं तथा आठ कर्मोंके उन्मूलित हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाला विशद सिद्ध सुख भी प्रवचनके अभ्याससे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

यह जिनागम जीवके मोहरूपी ईंधनको भस्म करनेके लिये अग्निके समान है, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म, और कर्मकलुष अर्थात् भावकर्मको मार्जन करनेवाला समुद्रके समान है और परम सुभग है ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारको हरण करनेवाले, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेवाले और संपूर्ण जीवोंके लिये पथ अर्थात् मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले ऐसे सिद्धान्तरूपी दिवाकरको भजो ॥ ५१ ॥

१ [illegible] ॥ [illegible] ॥ [illegible] ॥ ति. प. १, ४९-५१.

२ [illegible] । [illegible] । ति. प. १, ५२.

३ प्रतिषु 'जिणवयणमिवोवहि' इति पाठः।

अथवा जिनपालितो निमित्तम्, हेतुर्मोक्षः, शिष्यकाणां हर्षोत्पादनं निमित्तहेतुकथनप्रयोजनम्। परिमाणमुच्यते। अक्खर-पय-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जं, अत्थदो अणंतं। पदं पडुच्च अट्ठारह-पद-सहस्सं। शिष्यकाणां हर्षोत्पादनार्थं मतिव्याकुलताविनाशनार्थं च परिमाणमुच्यते। णामं जीवट्ठाणमिदि। कारणं पुव्वं व वत्तव्वं।

तत्थ कत्ता दुविहो', अत्थ-कत्ता गंथ-कत्ता चेदि। तत्थ अत्थ-कत्ता दव्वादीहि चउहि परूविज्जदि। तत्र तस्य तावद् द्रव्यनिरूपणं क्रियते। स्वेद-रजो-मल-रक्तनयन-कटाक्षशरमोक्षादि-शरीरगताशेषदोषादूषित-समचतुरस्रसंस्थान-वज्रर्षभसंहनन-दिव्यगन्ध-प्रमाणस्थितनखरोम-निर्भूषणायुधाम्बरभय-सौम्यवदनादि-विशिष्टदेहधरः चतुर्विधोपसर्ग-

---

अथवा, जिनपालित ही इस श्रुतावतारके निमित्त हैं और उसका हेतु मोक्ष है, अर्थात् मोक्षके हेतु जिनपालितके निमित्तसे इस श्रुतका अवतार हुआ है। यहां पर निमित्त और हेतुके कथन करनेसे पाठकजनोंको हर्षका उत्पन्न करना ही प्रयोजन है।

अब परिमाणका व्याख्यान करते हैं, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारोंकी अपेक्षा श्रुतका परिमाण संख्यात है और अर्थ अर्थात् तद्वाच्य विषयकी अपेक्षा अनन्त है। पदकी अपेक्षा अठारह हजार प्रमाण है। शिष्यजनोंको हर्ष उत्पन्न करानेके लिये और मतिसंबन्धी व्याकुलता दूर करनेके लिये यहां पर परिमाण कहा गया है।

नाम इस शास्त्रका नाम जीवस्थान है।

कारण कारणका व्याख्यान पहले कर आये हैं। उसीप्रकार यहां पर भी उसका व्याख्यान करना चाहिये।

कर्ताके दो भेद हैं, अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता। इनमेंसे अर्थकर्ताका द्रव्यादिक चार द्वारोंके द्वारा निरूपण किया जाता है। उनमेंसे पहले द्रव्यकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पसेवा, रज अर्थात् बाह्य कारणोंसे शरीरमें उत्पन्न हुआ मल, मल अर्थात् शरीरसे उत्पन्न हुआ मल, रक्त नेत्र और कटाक्षरूप बाणोंका छोड़ना आदि शरीरमें होनेवाले संपूर्ण दोषोंसे रहित, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, दिव्य सुगन्धमयी, शरीर योग्य प्रमाणरूप नख और रोमवाले, आभूषण आयुध, वस्त्र और भयादिक रहित सौम्य मुख आदिसे

१ [illegible] ॥

[illegible] १, ५१

[illegible] ॥

[illegible] १, ५५ ५१

क्षुधादिपरीषह-रागद्वेषकषायेन्द्रियादिसकलदोषगोचरातिक्रान्तः योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषा-सप्तशतलघुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनाधिक-भावातीतमधुरमनोहर-गम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्नः भवनवासिवाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासीन्द्र-विद्याधर-चक्रवर्ति-बल-नारायण-राजाधिराज-महाराजार्धमहामण्डलीकेन्द्राग्नि-वायु-भूति-सिंह-व्यालादि-देव-विद्याधर-मनुष्यर्षि-तिर्यगिन्द्रेभ्यः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्ता ।

तत्थ खेत्त-विसिट्ठत्थ-कत्ता परूविज्जदि—

पंच-सेल-पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।
णाणा-दुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे[2] ॥ ५२ ॥
महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स ।

अत्रोपयोगिनौ श्लोकौ—

युक्त ऐसे विशिष्ट शरीरको धारण करनेवाले, देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकारके उपसर्ग, क्षुधा आदि बाईस परीषह, राग, द्वेष, कषाय और इन्द्रिय-विषय आदि संपूर्ण दोषोंसे रहित, एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सातसौ लघुभाषाओंसे युक्त ऐसे तिर्यंच, देव और मनुष्योंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी देवोंके इन्द्रोंसे, विद्याधर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, राजाधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, महामण्डलीक, राजाओंसे, इन्द्र, अग्नि, वायु, भूति, सिंह, व्याल आदि देव तथा विद्याधर, मनुष्य, ऋषि और तिर्यंचोंके इन्द्रोंसे पूजाके अतिशयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता समझना चाहिये ।

अब क्षेत्र विशिष्ट अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पंचशैलपुरमें (पंचपहाड़ी अर्थात् पांच पर्वतोंसे शोभायमान राजगृह नगरके पास) रमणीक, नानाप्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त, देव तथा दानवोंसे वन्दित और सर्व पर्वतोंमें उत्तम ऐसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने भव्य जीवोंको उपदेश दिया अर्थात् दिव्य ध्वनिके द्वारा भावश्रुत प्रगट किया ॥ २ ॥

इसविषयमें दो उपयोगी श्लोक हैं—

१ जोयणपमाणसंठिदतिरियामरमणुवनिवहपडिबोहो । मिदमधुरगभीरतरा विसदविसयसयलभासाहिं ॥ अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा । अक्खरअणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥ एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं । परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो ॥ भावणवेंतरजोइसियकप्पवासेहिं केसवबलेहिं । विज्जाहरेहिं चक्किप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिएहिं ॥ एदेहिं अण्णेहिं विरचिदचरणारविंदजुगपूजो । दिट्ठसयलट्ठसारो महवीरो अत्थकत्तारो ॥ ति. प. १, ६१-६४

२ जयधवलायां गाथेयं 'सिद्धत्थमिदि' इति चतुर्थचरणपाठभेदेनोपलभ्यते । [illegible]

[illegible] चउरंसो, पाण्डुगिरि य [illegible] ।
[illegible] तिकोणो [illegible] तहं ॥ ५३ ॥
[illegible] ॥ ५४ ॥

[illegible] ।

[illegible] —

[illegible] ॥ ५५ ॥

[illegible] आकारवाला [illegible] नामका पर्वत है । [illegible] दिशामें [illegible] नामका पर्वत है । ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकारवाले हैं ॥ ५३ ॥

[illegible] और [illegible] दिशामें [illegible] पर्वत है । [illegible] पर्वत [illegible] हुए हैं ॥ ५४ ॥

[illegible] ।

[illegible] निरूपण करते हैं —

[illegible]

[illegible]

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले ।
पाडिवद पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥ ५६ ॥
सावण-बहुल-पडिवद रुद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो ।
अभिजिस्स पढम-जोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो[1] ॥ ५७ ॥

एसो कालपरिच्छेदो ।

भावतोऽर्थकर्ता निरूप्यते, ज्ञानावरणादि-निश्चय-व्यवहारापायातिशय-जातानन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-क्षायिक-सम्यक्त्व-दान-लाभ-भोगोपभोग-निश्चय-व्यवहार-प्राप्त्यतिशय-भूत-नव-केवल-लब्धि-परिणत ... । उक्तं च —

कृष्णपक्षमें, प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय आकाशमें अभिजित् नक्षत्रके उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई ॥ ५, ६ ॥

श्रावणकृष्ण प्रतिपदाके दिन रुद्रमुहूर्तमें सूर्यका शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्रके प्रथम योगमें जब युगकी आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिये ॥ ५७ ॥

यह काल-परिच्छेद हुआ।

अब भावकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके निश्चय-व्यवहाररूप विनाश-कारणोंकी विशेषतासे उत्पन्न हुए अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा क्षायिक-सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोगकी निश्चय-व्यवहाररूप प्राप्तिके अतिशयसे प्राप्त हुई नौ केवल-लब्धियोंसे परिणत भगवान् महावीरने भावश्रुतका उपदेश दिया। अर्थात् निश्चय और व्यवहारसे अभेद भेदरूप नौ लब्धियोंसे युक्त होकर भगवान् महावीरने भावश्रुतका उपदेश दिया। कहा भी है—

1 वासस्स पढमम ... ... । आभजाणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥
ति प १ ६८- ९

... ... अवाले पधमर पुव्व मास तिथिपुव्वदिसा य । आ... ... मव ... ... दूजामा ... ... गइया मर ... ॥ धवला ... मवमामवकाम... ... । ... ... पवनमान ... एव भवान । ... च मा... ... ... । मी ... च एवा ... ... । आभइ नक्खवाइ ... ... ॥ ... ... ॥ या ... ... । ... ४ ...

... ... आभजिस्स पढम ... ... प्रतिपदादि ... ... ॥ ... ... ॥ ति प ...

दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते ।
णव केवल-लद्धीओ दंसण णाण चरित्ते य ॥ ५८ ॥
खीणे दंसण-मोहे चरित्त-मोहे चउक्क घाइ-तिए ।
सम्मत्त विरिय णाणं खइयाइं होंति केवलिणो ॥ ५९ ॥
उप्पण्णम्हि अणंते णट्ठम्मि य छादुमत्थिए णाणे ।
णव-विह-पयत्थ-गब्भा दिव्व-ज्झुणी कहेइ सुत्तत्थं[1] ॥ ६० ॥

एवंविधो महावीरोऽर्थकर्ता । तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो तम्हि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम-जणिद-चउरमल-बुद्धि-संपण्णेण बम्हणेण गोदम-गोत्तेण सयल-दुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेह-विणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणा अवहारिदो[2] । उत्तं च —

दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये नव केवल लब्धियां समझना चाहिये ॥ ५८ ॥

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके क्षय हो जाने पर तथा मोहनीय कर्मके क्षय हो जानेके बाद चार घातिया कर्मोंमेंसे शेष तीन घातिया कर्मोंके क्षय हो जाने पर केवली जिनके सम्यक्त्व, वीर्य और ज्ञान ये क्षायिक भाव प्रगट होते हैं ॥ ५९ ॥

क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट हो जाने पर और अनन्तरूप केवलज्ञानके उत्पन्न हो जाने पर नौ प्रकारके पदार्थोंसे गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थका प्रतिपादन करती है । अर्थात् केवलज्ञान हो जाने पर भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है ॥ ६० ॥

इसप्रकार भगवान महावीर अर्थ-कर्ता हैं । इसप्रकार केवलज्ञानसे विभूषित उन भगवान महावीरके द्वारा कहे गये अर्थको, उसी कालमें और उसी क्षेत्रमें क्षयोपशमविशेषसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके निर्मल ज्ञानसे युक्त, वर्णसे ब्राह्मण, गौतमगोत्री, सम्पूर्ण दुःश्रुतिमें पारंगत, और जीव अजीवविषयक संदेहको दूर करनेके लिये श्री वर्द्धमानके पादमूलमें उपस्थित हुए ऐसे इन्द्रभूतिने अवधारण किया । कहा भी है—

1 [illegible] ॥ [illegible] ८ [illegible] ॥ [illegible] ९, २३.

2 [illegible] ॥ [illegible] १, ७४-७

3 [illegible] ॥ [illegible] ॥ [illegible]

4 [illegible] । [illegible]

गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंगवि ।
णामेण इंदभूदि त्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ॥ ६१ ॥

पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दस-पुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा[2] । तदो भाव-सुदस्स अत्थ-पदाणं च तित्थयरो कत्ता । तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता । तत्तो गंथ-रयणा जादेत्ति । तेण गोदमेण दुविहमवि सुदणाणं लोहज्जस्स संचारिदं । तेण वि जंबूसामिस्स संचारिदं । परिवाडिमस्सिदूण एदे तिण्णि वि सयल-सुद-धारया भणिया । अपरिवाडीए पुण सयल-सुद-पारगा संखेज्ज-सहस्सा ।

गौतमगोत्री, विप्रवर्णी, चारों वेद और षडंगविद्याका पारगामी, शीलवान् और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ऐसा वर्द्धमानस्वामीका प्रथम गणधर इन्द्रभूति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ६१ ॥

अनन्तर भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत उस इन्द्रभूतिने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थोंकी एक ही मुहूर्तमें क्रमसे रचना की । अतः भावश्रुत और अर्थ-पदोंके कर्ता तीर्थंकर हैं । तथा तीर्थंकरके निमित्तसे गौतम गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए, इसलिये द्रव्यश्रुतके कर्ता गौतम गणधर हैं । इसतरह गौतम गणधरसे ग्रन्थ-रचना हुई । उन गौतम गणधरने दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान लोहाचार्यको दिया । लोहाचार्यने जम्बूस्वामीको दिया । परिपाटी-क्रमसे ये तीनों ही सकल-श्रुतके धारण करनेवाले कहे गये हैं । और यदि परिपाटी-क्रमकी अपेक्षा न की जाय तो उस समय संख्यात हजार सकल-श्रुतके धारी हुए ।

प्रधानन्तरं समवसरणं [illegible] श्रीवर्धमानस्वामिनं पश्यन्तु किं आगच्छन्ति नास्ति वा [illegible] कियान् [illegible] तदा [illegible] निधन [illegible] । XX इत्यापनश्चर्दनस्था [illegible] सद्भावम् । [illegible] समवसरणलक्ष्मी महिमां दृष्ट्वा [illegible] मुक्त्वा [illegible] धावति । [illegible] समवसरणं प्रविश्य [illegible] । एवं च तत्र श्रीवीरं दृष्ट्वा [illegible] । तेन भगवता [illegible] किं [illegible] जीवा [illegible] सन्ति [illegible] । [illegible] (आ. टि. १५) [illegible] निःसंशयः सन्ननु प्रव्रजितः । वि. भा. २. १८-२ २

१ गौतमो गो[illegible] । [illegible] ॥ [illegible] ॥ [illegible] ॥ आ. पु. २. ५२. ५४

२ भावसुदपज्जएहिं परिणदमइणा य बारसंगाणं । चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदा ॥
ति. प. १. ७९

गोदमदेवो लोहज्जाइरियो जंबूसामी य एदे तिण्णि वि सत्त-विह-ल[...] संपण्णा सयल-सुय-सायर-पारया होऊण केवलणाणमुप्पाइय णिव्वुइं पत्ता। तदो विण्हू णंदिमित्तो अवराइदो गोवद्धणो भद्दबाहु त्ति एदे पुरिसोली-क[...] पंच वि चोद्दस-पुव्वहरा। तदो विसाहाइरियो पोट्ठिलो खत्तियो जयाइ[...] णागाइरियो सिद्धत्थदेवो धिदिसेणो विजयाइरियो बुद्धिल्लो गंग[...] धम्मसेणो त्ति एदे पुरिसोली-कमेण एक्कारस वि आइरिया एक्कारसण्हम[...] उप्पायपुव्वादि-दसण्हं पुव्वाणं च पारया जादा, सेसुवरिम-चदुण्हं पुव्वाणमेग-देस[...] य। तदो णक्खत्ताइरियो जयपालो पंडुसामी धुवसेणो कंसाइरियो त्ति एदे पुरिसो[...] कमेण पंच वि आइरिया एक्कारसंग-धारया जादा, चोद्दसण्हं पुव्वाणमेग-देस-धार[...] तदो सुभद्दो जसभद्दो जसबाहू लोहज्जो त्ति एदे चत्तारि वि आइरिया आयारंग[...]

गौतमस्वामी, लोहार्य और जम्बूस्वामी ये तीनों ही सात प्रकारकी ऋद्धि[...] हुए और सकल श्रुतरूपी सागरके पारगामी होकर अन्तमें केवलज्ञानको उत्पन्न[...] निर्वाणको प्राप्त हुए। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबा[...] पांचों ही आचार्य परिपाटी क्रमसे चौदह पूर्वके धारी हुए।

तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृति[...] विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही महापुरुष परिपाटी क्रमसे ग्यारह[...] और उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वोंके धारक तथा शेष चार पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए।

इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पांचों ही आ[...] परिपाटी क्रमसे संपूर्ण ग्यारह अंगोंके और चौदह पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए। तद[...] सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चारों ही आचार्य संपूर्ण आचारांगके धारक[...]

१ [illegible]

२ [illegible]

३ [illegible] जयध. अ. पृ. ११

४ [illegible]

५ [illegible]

६ [illegible] जयध. अ. पृ. ११

७ [illegible]

८ [illegible]

९ [illegible] जयध. अ. पृ. ११

मंग-पुव्वाणमेगदेस-धारया । तदो सव्वेसिमंग-पुव्वाणमेगदेसो आइरिय-परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो ।

तेण वि सोरट्ठ-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएण[1] अट्ठंग-महाणिमित्त-पारएण गंथ-वोच्छेदो[2] होहदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो । लेह-ट्ठिय-धरसेण-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि बे साहू गहण-धारण-समत्था धवलामल-बहु-विह-विणय-विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरु-पेसणासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिक्खुत्ताबुच्छियाइरिया अंध-विसय-वेण्णायडादो पेसिदा । तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए पच्छिमे भाए कुंदेंदु-संख-

दोष अंग तथा पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए। इसके बाद सभी अंग और पूर्वोंका एकदेश आचार्य परंपरासे आता हुआ धरसेन आचार्यको प्राप्त हुआ।

सौराष्ट्र (गुजरात काठियावाड़) देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहनेवाले, अष्टांग महानिमित्तके पारगामी, प्रवचन-वत्सल और आगे अंग-श्रुतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको ऐसे उन धरसेनाचार्यने किसी धर्मोत्सव आदि निमित्तसे महिमा नामकी नगरीमें सम्मिलित हुए दक्षिणापथके (दक्षिणदेशके निवासी) आचार्योंके पास एक लेख भेजा। लेखमें लिखे गये धरसेनाचार्यके वचनोंको भलीभांति समझकर उन आचार्योंने शास्त्रके अर्थके ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ, नानाप्रकारकी उज्ज्वल और निर्मल विनयसे विभूषित अंगवाले, शीलरूपी मालाके धारक, गुरुओं द्वारा प्रेषण (भेजने) रूपी भोजनसे तृप्त हुए, देश, कुल और जातिसे शुद्ध, अर्थात् उत्तम देश उत्तम कुल और उत्तम जातिमें उत्पन्न हुए, समस्त कलाओंमें पारंगत, और तीन बार पूछा है आचार्योंसे जिन्होंने (अर्थात् आचार्योंसे तीन बार आज्ञा लेकर) ऐसे दो साधुओंको आन्ध्रदेशमें बहनेवाली वेणानदीके तटसे भेजा।

मार्गमें उन दोनों साधुओंके आते समय, जो कुन्दके पुष्प, चन्द्रमा और शंखके समान

१ [illegible] । २ [illegible] । [illegible]

२ देशे ततः [illegible] गिरिनगरान्तिकोर्जयन्त [illegible] । [illegible] ॥ [illegible] ॥ इन्द्र श्रुता. १०३, १०४

३ गि [illegible] इति पाठः ।

४ देशेन्द्रदेशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमासमुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापय्य लेखम् ॥

इन्द्र श्रुता. १०५

वण्णा सव्व-लक्खण-सपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पयाहिणा पाएसु णिसुढिय पत्तियंगा
भयवदा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिट्ठा । एवंविह-सुमिणं दट्ठूण तुट्ठेण धरसेणाइरि
'जयउ सुय-देवदा' त्ति संलवियं । तद्दिवसे चेय ते दो वि जणा संपत्ता धरसेणाइरि
तदो धरसेण-भयवदो किदियम्मं काऊण दोण्णि दिवसे वोलाविय तदिय दिवसे विण
धरसेण भडारओ तेहि विण्णत्तो ' अणेण कज्जेणम्हा दो वि जणा तुम्हं पादमूलमुवगय
त्ति । ' सुट्ठु भद्दं ' त्ति भणिऊण धरसेण भडारएण दो वि आसासिदा । तदो चिं
भयवदा—

सेलघण भग्गघड अहि-चालणि महिसाडवि जाहय सुएहिं ।
मट्टिय मसय समाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा[1] ॥ ६२ ॥
दढ गारव पडिबद्धो विसयामिस विस वसेण घुम्मंतो ।
सो भट्ट बोहि लाहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥ ६३ ॥

सफेद वर्णवाले हैं, जो समस्त लक्षणोंसे परिपूर्ण हैं, जिन्होंने आचार्य (धरसेन) की तीन प्रदक्षि
दी है और जिनके अंग नम्रित होकर आचार्यके चरणोंमें पड गये हैं ऐसे दो बैलोंको धरसे
भट्टारकने रात्रिके पिछले भागमें स्वप्नमें देखा । इसप्रकारके स्वप्नको देखकर संतुष्ट हुए धरसे
चार्यने ' श्रुतदेवता जयवन्त हो ' ऐसा वाक्य उच्चारण किया ।

उसी दिन दक्षिणापथसे भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्यको प्राप्त हुए । उस
बाद धरसेनाचार्यकी पादवन्दना आदि कृतिकर्म करके और दो दिन बिताकर तीसरे दिन उ
दोनोंने धरसेनाचार्यसे निवेदन किया कि ' इस कार्यसे हम दोनों आपके पादमूलको प्राप्त हु
हैं ' । उन दोनों साधुओंके इसप्रकार निवेदन करने पर ' अच्छा है, कल्याण हो ' इसप्रक
कहकर धरसेन भट्टारकने उन दोनों साधुओंको आश्वासन दिया । इसके बाद भगवान् धरसेन
विचार किया कि—

शैलघन, भग्नघट, अहि (सर्प) चालनी, महिष, अवि (मेढा), जाहक (जोंक) शु
माटी और मशक के समान श्रोताओंको जो मोहसे श्रुतका व्याख्यान करता है । वह मूढ र
गारवके आधीन होकर विषयोंकी लोलुपतारूपी विषके वशसे मूर्च्छित हो, बोधि अर्थ
रत्नत्रयकी प्राप्तिसे भ्रष्ट होकर भव वनमें चिरकालतक परिभ्रमण करता है ॥ ६२, ६३ ॥

१ मारावात नर्माणए ' — ८, ४, १५८
२ आगमनदिने च तया ... धरसेनसूरिरपि रात्रौ । निजपादयोः पतन्तौ धवलवृषाविव राज्ञ ...
... श्रीरस्त्विति समुच्चरन् । उदतिष्ठत प्रातः समागतौ तौ मना ... ॥ इ. श्रुता. ११२,११
३ इमयि रूव ... जस धम्म-पयतामया मग्गाभिरया । ... तेण भगवंत ॥
वि. भा. १ १
४ सेलघण कुडग चालिणि परिपूणग हंसमहिसमेसे य । मसग जलूग बिराली जाहग गो भेरि आभीरी ॥
बृ. क. सू. ३३४, आ. नि. ११

विशेषार्थ—शैल नाम पाषाणका है और घन नाम मेघका है। जिसप्रकार पाषाण, मेघके चिरकालतक वर्षा करने पर भी आर्द्र या मृदु नहीं होता है, उसीप्रकार कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें गुरुजन चिरकाल तक भी क्षमामृतके वर्षण या सिंचन द्वारा कोमल परिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे श्रोताओंको शैलघन श्रोता कहा है ॥ १ ॥ भग्नघट फूटे घड़ेको कहते हैं। जिसप्रकार फूटे घड़ेमें ऊपरसे भरा गया जल नीचेकी ओरसे निकल जाता है भीतर कुछ भी नहीं ठहरता, इसीप्रकार जो उपदेशको एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट श्रोता कहा है ॥ २ ॥ अहि नाम सांपका है। जिसप्रकार मिश्री मिश्रित दुग्धके पान करने पर भी सर्प विषका ही वमन करता है, उसीप्रकार जो सुन्दर, मधुर और हितकर उपदेशके सुनने पर भी विष वमन करते हैं अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अहिसमान श्रोता समझना चाहिये ॥ ३ ॥ चालनी जैसे उत्तम आटेको नीचे गिरा देती है और भूसा या चोकरको अपने भीतर रख लेती है, इसीप्रकार जो उत्तम सारयुक्त उपदेशको तो बाहर निकाल देते हैं और निःसार तत्त्वको धारण करते हैं वे चालनीसमान श्रोता हैं ॥ ४ ॥ महिष अर्थात् भैंसा जिसप्रकार जलाशयसे जल तो कम पीता है परन्तु बारबार डुबकी लगाकर उसे गदला कर देता है, उसीप्रकार जो श्रोता सभामें उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पाकर क्षोभ या उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं वे महिषसमान श्रोता हैं ॥ ५ ॥ अवि नाम मेष (मेंढा) का है। जैसे मेंढा पालनेवालेको ही मारता है, उसीप्रकार जो उपदेशदाताकी ही निन्दा करते हैं और समय आनेपर घात तक करनेको उद्यत रहते हैं उन्हें अविके समान श्रोता समझना चाहिए ॥ ६ ॥ जाहक नाम सेही आदि अनेक जीवोंका है पर प्रकृतमें जोंक अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे जोंकको स्तनपर भी लगायें तो भी वह दूध न पीकर खून ही पीती है, इसीप्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरुके समीप रहकर भी उत्तम तत्त्वको तो ग्रहण नहीं करते, पर अधम तत्त्वको ही ग्रहण करते हैं वे जोंकके समान श्रोता हैं ॥ ७ ॥ शुक नाम तोतेका है। तोतेको जो कुछ सिखाया जाता है वह सीख तो जाता है पर उसे यथार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं होता, उसीप्रकार उपदेश स्मरणकर लेने पर भी जिनके हृदयमें भाव भासना नहीं होती है वे शुकसमान श्रोता हैं ॥ ८ ॥ मट्टी जैसे जलके संयोग मिलनेपर तो कोमल हो जाती है पर जलके अभावमें पुनः कठोर हो जाती है, इसीप्रकार जो उपदेश मिलने तक तो मृदु परिणामी बने रहते हैं और बादमें पूर्ववत् ही कठोर हृदय हो जाते हैं वे मट्टीके समान श्रोता हैं ॥ ९ ॥ मशक अर्थात् मच्छर पहले कानोंमें आकर गुन गुनाता है चरणोंमें गिरता है किन्तु अवसर पाते ही काट खाता है, उसीप्रकार जो श्रोता पहले तो गुरु या उपदेश-दाताकी प्रशंसा करेंगे, चरण-वन्दना भी करेंगे, पर अवसर आते ही काटे बिना न रहेंगे उन्हें मशकके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ १० ॥ उक्त सभी प्रकारके श्रोता अयोग्य हैं उन्हें उपदेश देना व्यर्थ है।

किसी किसी शास्त्रमें इन नामोंमें तथा अर्थमें भेद भी देखनेमें आता है, किन्तु कुश्रोताका भाव यहां पर अभीष्ट है।

इदि वयणादो जहाछंदाईणं विज्जा-दाणं संसार-भय-वद्धणमिदि चिंतिऊण सुह-सुमिण-दंसणेणेव अवगय-पुरिसंतरेण धरसेण-भयवदा पुणरवि ताणं परिक्खा काउमाढत्ता 'सुपरिक्खा हियय-णिव्वुइकरेत्ति'। तदो ताणं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ। तत्थ एया अहिय-क्खरा, अवरा विहीण-क्खरा। एदाओ छट्ठोववासेण साहेहु त्ति। तदो ते सिद्ध-विज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उद्दंतुरिया अवरेया काणिया। एसो देवदाणं सहावो ण होदि त्ति चिंतिऊण मंत-वायरण-सत्थ-कुसलेहि हीणाहिय-क्खराणं छुहणावणयण-विहाणं काऊण पढंतेहि दो वि देवदाओ सहाव-रूव-ट्ठियाओ दिट्ठाओ। पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु तुट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम-तिहि-णक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो। पुणो कमेण वक्खाणंतेण आसाढ-मास-सुक्क-पक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाणिदो। विणएण गंथो समाणिदो त्ति तुट्ठेहि भूदेहि तत्थेयस्स महदी

इस वचनके अनुसार यथाछन्द अर्थात् स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करनेवाले श्रोताओंको विद्या देना संसार और भयका ही बढ़ानेवाला है, ऐसा विचारकर, शुभ स्वप्नके देखने मात्रसे ही यद्यपि धरसेन भट्टारकने उन आये हुए दोनों साधुओंके अन्तर अर्थात् विशेषताको जान लिया था, तो भी फिरसे उनकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया, क्योंकि, उत्तम प्रकारसे ली गई परीक्षा हृदयमें संतोषको उत्पन्न करती है। इसके बाद धरसेनाचार्यने उन दोनों साधुओंको दो विद्याएं दीं। उनमेंसे एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन अक्षरवाली थी। दोनोंको दो विद्याएं देकर कहा कि इनको षष्ठभक्त उपवास अर्थात् दो दिनके उपवाससे सिद्ध करो। इसके बाद जब उनको विद्याएं सिद्ध हुईं, तो उन्होंने विद्याकी अधिष्ठात्री देवताओंको देखा कि एक देवीके दांत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है। 'विकृतांग होना देवताओंका स्वभाव नहीं होता है' इसप्रकार उन दोनोंने विचारकर मन्त्र सम्बन्धी व्याकरण शास्त्रमें कुशल उन दोनोंने हीन अक्षरवाली विद्यामें अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षरवाली विद्यामेंसे अक्षर निकालकर मन्त्रको पढ़ना, अर्थात् फिरसे सिद्ध करना प्रारम्भ किया। जिससे वे दोनों विद्यादेवताएं अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूपमें स्थित दिखलाई पड़ीं। तदनन्तर भगवान् धरसेनके समक्ष, योग्य विनय सहित उन दोनोंके विद्या सिद्धिसम्बन्धी समस्त वृत्तान्तके निवेदन करने पर 'बहुत अच्छा' इसप्रकार संतुष्ट हुए धरसेन भट्टारकने शुभ तिथि, शुभनक्षत्र और शुभवारमें ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया। इसतरह क्रमसे व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान्से उन दोनोंने आषाढ मासके शुक्लपक्षकी एकादशीके पूर्वाह्णकालमें ग्रन्थ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया, इसलिये संतुष्ट हुए भूत जातिके व्यन्तर देवोंने

१ [illegible] साधयितुं विद्ये द्वे हीनाधिकवर्णयुते ॥ इन्द्र. श्रुता. ११५.

पूजा पुप्फ-बलि-संख-तूर-रव-संकुला कया । तं दट्ठूण तस्स 'भूदबलि' त्ति भडारएण णामं कयं । अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थ-विसंथुल-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति णामं कयं ।

पुणो तद्दिवसे चेव पेसिदा संतो 'गुरु-वयणमलंघणिज्जं' इदि चिंतिऊणागदेहि अंकुलेसरे वरिसा-कालो कओ । जोगं समाणिय जिणवालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरिओ वणवास-विसयं गदो । भूदबलि-भडारओ वि दमिल-देसं गदो । तदो पुप्फयंताइरिएण जिणवालियस्स दिक्खं दाऊण वीसदि-सुत्ताणि करिय पढाविय पुणो सो भूदबलि-भयवंतस्स पासं पेसिदो । भूदबलि-भयवदा जिणवालिद-पासे दिट्ठ-वीसदि-सुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगय-जिणवालिदेण महाकम्म-पयडि-पाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्ण-बुद्धिणा पुणो दव्व-पमाणाणुगममादिं काऊण गंथ-रचणा कदा । तदो एयं खंड-सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति ।

उन दोनोंमेंसे एककी पुष्पावलीसे तथा शंख और तूर्य जातिके वाद्यविशेषके नादसे व्याप्त बड़ी भारी पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उनका 'भूतबलि' यह नाम रक्खा। तथा जिनकी भूतोंने पूजा की है और अस्त-व्यस्त दन्तपंक्तिको दूर करके भूतोंने जिनके दांत समान कर दिये हैं ऐसे दूसरेका भी धरसेन भट्टारकने 'पुष्पदन्त' नाम रक्खा।

तदनन्तर उसी दिन वहांसे भेजे गये उन दोनोंने 'गुरुके वचन अलंघनीय होते हैं' ऐसा विचार कर आते हुए अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षाकाल बिताया। वर्षायोगको समाप्त कर और जिनपालितको देखकर (उसके साथ) पुष्पदन्त आचार्य तो वनवास देशको चले गये और भूतबलि भट्टारक भी द्रमिल देशको चले गये। तदनन्तर पुष्पदन्त आचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, वीस प्ररूपणागर्भित सत्प्ररूपणाके सूत्र बनाकर और जिनपालितको पढ़ाकर अनन्तर उन्हें भूतबलि आचार्यके पास भेजा। तदनन्तर जिनपालितके पास वीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे हैं और पुष्पदन्त आचार्य अल्पायु हैं इसप्रकार जिन्होंने जिनपालितसे जान लिया है, अतएव महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हुई है बुद्धि जिनको ऐसे भगवान् भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थ-रचना की। इसलिये इस खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुतके कर्ता कहे जाते हैं।

[illegible]
[illegible]
[illegible]

तदो मूल-तंत-कत्ता वड्ढमाण-भडारओ, अणुतंत-कत्ता गोदम-सामी, उवतंत-कत्तारा भूदबलि-पुप्फयंतादयो वीय-राय-दोस-मोहा मुणिवरा। किमर्थं कर्ता प्ररूप्यते? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम् 'वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायात्।

संपहि जीवट्ठाणस्स अवयारो उच्चदे। तं जहा, सो वि चउव्विहो, उवक्कमो णिक्खेवो णयो अणुगमो चेदि। तत्थ उवक्कमं भणिस्सामो। उपक्रम इत्यर्थमात्मन उपसमीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः। सो वि उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णाम पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। उत्तं च—

तिविहा य आणुपुव्वी दसहा णामं च छव्विहं माणं।
वत्तव्वदा य तिविहा तिविहो अत्थाहियारो वि ॥ ६४ ॥ इदि।

इसतरह मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी हैं और उपग्रन्थकर्ता राग, द्वेष और मोहसे रहित भूतबलि, पुष्पदन्त इत्यादि अनेक आचार्य हैं।

शंका—यहां पर कर्ताका प्ररूपण किसलिये किया गया है?

समाधान—शास्त्रकी प्रमाणताके दिखानेके लिये यहां पर कर्ताका प्ररूपण किया गया है, क्योंकि, 'वक्ताकी प्रमाणतासे ही वचनोंमें प्रमाणता आती है' ऐसा न्याय है।

अब जीवस्थानके अवतारका प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यने जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध नामक षट्खण्डागमकी रचना की। उनमेंसे, प्रकृतमें यहां जीवस्थान नामके प्रथम खण्डकी उत्पत्तिक्रम कहते हैं। वह इसप्रकार है—

वह अवतार चार प्रकारका है, उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम। उन चारोंमें पहले उपक्रमका निरूपण करते हैं, जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं। उस उपक्रमके पांच भेद हैं, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। कहा भी है—

आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है, नामके दश भेद हैं, प्रमाणके छह भेद हैं, वक्तव्यताके तीन भेद हैं और अर्थाधिकारके भी तीन भेद समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

१ इयमूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदि विप्पवरे। उवतंते कत्तारो अणुतंते सेस आइरिया ॥ णिण्णट्ठराग-दोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो। किं कारणं पभणिदा कहिदुं सुत्तस्स पामण्णं ॥ ति. प. १. ८०, ८१.

२ पुष्पदन्तभूतबलिभ्यां प्रणीतस्यागमस्य नाम 'षट्खण्डागम' तस्यैव षट् खण्डाः—१ जीवस्थान २ क्षुद्रबन्ध ३ बन्धस्वामित्वविचय ४ वेदनाखण्ड ५ वर्गणाखण्ड ६ महाबन्धश्चेति। एषां षण्णां खण्डानां मध्ये प्रथमतस्तावज्जीवस्थाननामकप्रथमखण्डस्यावतारो निरूप्यते।

३ शास्त्रस्योपोद्घातरूपं श्रोतृबुद्धौ समर्पणम्। उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि ॥ आ. पु. २. १०३. सत्थस्सोवक्कमणं उवक्कमो तेण तम्मि व तओ वा। सत्थसमीवीकरणं आणयणं नासदेसम्मि ॥ वि. भा. ९१४.

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी। जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं– 'उसहमजियं च वंदे' इच्चेवमादि। जं उवरीदो हेट्ठा परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं—

एस करेमि य पणमं जिणवर-वसहस्स वड्ढमाणस्स।
सेसाणं च जिणाणं सिव-सुह-कंखा विलोमेण॥ ६५॥ इदि।

जमणुलोम-विलोमेहि विणा जहा तहा उच्चदि सा जत्थतत्थाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं—

गय-गवल-सजल-जलहर-परहुय-सिहि-गलय-भमर-संकासो।
हरिउल-वंस-पईवो सिव-माउव-वच्छओ जयऊ॥ ६६॥ इच्चेवमादि।

पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी इसतरह आनुपूर्वीके तीन भेद हैं। जो वस्तुका विवेचन मूलसे परिपाटीद्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। उसका उदाहरण इसप्रकार है 'ऋषभनाथकी वन्दना करता हूं, अजितनाथकी वन्दना करता हूं' इत्यादि क्रमसे ऋषभनाथको आदि लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो वन्दनासंबन्धी पूर्वानुपूर्वी उपक्रम है। जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदितक परिपाटी क्रमसे (प्रतिलोम-पद्धतिसे) किया जाता है उसे पश्चादानुपूर्वी उपक्रम कहते हैं। जैसे—

मोक्ष-सुखकी अभिलाषासे यह मैं जिनवरोंमें श्रेष्ठ ऐसे वर्धमानस्वामीको नमस्कार करता हूं। और विलोमक्रमसे अर्थात् वर्धमानके बाद पार्श्वनाथको, पार्श्वनाथके बाद नेमिनाथको इत्यादि क्रमसे शेष जिनेन्द्रोंको भी नमस्कार करता हूं॥ ६५॥

जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके विना जहां कहींसे भी किया जाता है उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं। जैसे—

हाथी, अरण्यभैंसा, जलपूर्ण और सघन मेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और भ्रमरके

१ [illegible] जम्बू. अ. पृ. २.
२ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] जम्बू. अ. पृ. २.
[illegible]
[illegible]
दृष्टव्या १ १०.
[illegible] जम्बू. अ. पृ. २.

इदं पुण जीवट्ठाणं खंड-सिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढमं जीवट्ठाणमिदि । वेदणा-कसिण पाहुड-मज्झादो अणुलोम विलोम-कमेहि विणा जीवट्ठाणं संतादि-अहियारा अहिणिग्गया त्ति जीवट्ठाणं जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि भविदं । जीवट्ठाण पच्छाणुपुव्वी संभवइ ।

णामस्स दस ट्ठाणाणि भवंति । तं जहा, गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अणादियसिद्धंतपदे पाधण्णपदे णामपदे पमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चे[illegible]

गुणानां भावो गौण्यम् । तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाम्नां तानि गौण्यपदानि[1] । यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि । नोगौण्यपदं गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत् । तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्याद[illegible]

समान वर्णवाले, हरिवंशके प्रदीप, और शिवादेवी माताके लाल ऐसे नेमिनाथ भगवान् जय[illegible] हो ॥ ॥ इत्यादि यत्रतत्रानुपूर्वीका उदाहरण समझना चाहिये ।

यह जीवस्थान नामक शास्त्र खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा पूर्वानुपूर्वी क्रमसे लिखा [illegible] है, क्योंकि, षट्खण्डागमका जीवस्थान प्रथम खण्ड है । वेदनाकषायप्राभृतके मध्यमे अनु[illegible] और विलोमक्रमके विना जीवस्थानके सत्, संख्या आदि अधिकार निकले हैं, इसलि[illegible] जीवस्थान यत्रतत्रानुपूर्वीमें भी गर्भित है । किंतु इस जीवस्थान खण्डमें केवल पश्चादानु[illegible] संभव नहीं है ।

नाम उपक्रमके दश भेद होते हैं । वे इसप्रकार हैं–गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदान[illegible] प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद ।

गुणोंके भावको गौण्य कहते हैं । जो पदार्थ गुणोंकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौ[illegible] पदार्थ हैं । ये गौण्य पदार्थ पद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोंके होते हैं उन्हें गौण्य[illegible] नाम कहते हैं । अर्थात् जिस संज्ञाके व्यवहारमें अपने विशेष गुणका आश्रय लिया जाता [illegible] उसे गौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, सूर्यको तपन और भास्कर गुणकी अपेक्षा तपन और भास्[illegible] इत्यादि संज्ञा हैं । जिन संज्ञाओंमें गुणोंकी [illegible], अर्थात् जो असमार्थक नाम हैं उ[illegible] नोगौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादि नाम ।

[illegible]

नामानि। आगमनपरं नाम आनन्दस्य निरर्थनम्। नैतद्गुणनामाऽन्तर्भवति [illegible]
[illegible]भावात्। भाव [illegible] न तद्गुणा[illegible]नामाऽन्तर्भावात्। [illegible]
[illegible]नपरम्। [illegible]नपरम्। यथा, [illegible]
[illegible] प्रवृत्ताया [illegible]। न [illegible]
[illegible] गुणनामाऽन्तर्भावात्। [illegible]
[illegible] न, [illegible]

विशेषार्थ—जिन मनुष्योंके [illegible] नाम [illegible] है। [illegible] जो [illegible] पाया जाता है [illegible] है। [illegible] जाते हैं। इनमें गुणादि [illegible] नहीं [illegible] नाम कहते हैं।

ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम [illegible] हैं [illegible] निमित्तसे [illegible] आदाननपदनाम कहते हैं।

विशेषार्थ— [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विवक्षितवृक्षेषु विवक्षाकृतप्राधान्यवृत्तिपु नामनिबन्धनत्वात्। नामपदं नाम गौडोऽन्ध्रो द्रमिल इति गौडान्ध्रद्रमिलभाषानामधामत्वात्। प्रमाणपदानि शत सहस्र द्रोण खारी पल तुला कर्षादीनि प्रमाणनाम्ना प्रमेयेषूपलम्भात्।

अवयवपदानि यथा। सोऽवयवो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति। तत्रोपचितावयवनिबन्धनानि यथा, गलगण्डः शिलीपदः लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि। अवयवापचयनिबन्धनानि यथा, छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि। संयोगपदानि यथा। स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंयोगभेदात्। द्रव्यसंयोगपदानि यथा, इभ्य गौध दण्डी छत्री गर्भिणी इत्यादीनि द्रव्यसंयोगनिबन्धनत्वात् नामा।

इत्यादि। धवल अन्य अविवक्षित वृक्षोंके रहने पर भी विवक्षित प्रधानतासे आम और नीमके वृक्षोंके कारण आम्रवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमें आते हैं।

जो भाषाभेदसे नाम बोले जाते हैं उन्हें नामपदनाम कहते हैं। जैसे गौड़ आन्ध्र द्रमिल इत्यादि। ये गौड़ आदि नाम गौड़ी आन्ध्री और द्रमिल भाषाओंके नाम • आश्रयसे हैं।

गणना अथवा मापकी अपेक्षासे जो संज्ञायें प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपदनाम कहते हैं। जैसे, सौ, हजार, द्रोण, खारी, पल, तुला, कर्ष इत्यादि। ये सब प्रमाणनाम प्रमेयोंमें पाये जाते हैं, अर्थात् इन नामोंके द्वारा तत्प्रमाण वस्तुका बोध होता है।

अब अवयवपदनाम कहते हैं। अवयव दो प्रकारके होते हैं उपचितावयव और अपचितावयव। रोगादिके निमित्त मिलने पर किसी अवयवके बढ़ जानेसे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें उपचितावयवपदनाम कहते हैं। जैसे गलगंड, शिलीपद, लम्बकर्ण इत्यादि। जो नाम अवयवोंके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते हैं उन्हें अपचितावयवपदनाम कहते हैं। जैसे छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम।

अब संयोगपदनामका कथन करते हैं। द्रव्यसंयोग क्षेत्रसंयोग कालसंयोग और भावसंयोगके भेदसे संयोग चार प्रकारका है। इभ्य गोध दण्डी छत्री गर्भिणी इत्यादि द्रव्यसंयोगपदनाम हैं क्योंकि धन गोधा दण्ड छत्र इत्यादि द्रव्यके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें

नासिपरश्वादयस्तेषामादानपदेऽन्तर्भावात्। सहचरितत्वविवक्षाया भवन्तीति चेन्न, स
रितत्वविवक्षायां तेषां नामपदनाम्नोऽन्तर्भावात्। क्षेत्रसंयोगपदानि, माथुर[1] वा
दाक्षिणात्यः औदीच्य इत्यादीनि, यदि नामत्वेनाविवक्षितानि भवन्ति। कालसंयो
पदानि[2] यथा, शारद वासन्तक इत्यादीनि। न वसन्तशरद्धेमन्तादीनि तेषां नामप
न्तर्भावात्। भावसंयोगपदानि[3], क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादीनि। न शीलमा

आते हैं। असि, परशु इत्यादि द्रव्यसंयोगपदनाम नहीं हैं, क्योंकि, उनका आदानप
अन्तर्भाव होता है।

शंका—सहचारीपनेकी विवक्षामें असि, परशु आदिका संयोगपदनाममें अन्त
हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहचारीपनेकी विवक्षा होने पर उनका नामप
अन्तर्भाव हो जाता है।

माथुर, वालभ, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि क्षेत्रसंयोगपदनाम हैं, क्यों
मथुरा आदि क्षेत्रके संयोगसे माथुर आदि संज्ञाएं व्यवहारमें आती हैं। जब म
आदि संज्ञाएं नामरूपसे विवक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसंयोगपदमें अन्तर्भाव होता
अन्यथा नहीं।

शारद, वासन्तक इत्यादि कालसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, शरद् और वसन्त क
संयोगसे ये संज्ञाएं व्यवहारमें आती हैं। किंतु वसन्त, शरद् हेमन्त इत्यादि संज्ञाओंका क
संयोगपदनामोंमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है।

क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम भावसंयोगपद हैं, क्योंकि, क्रो
मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं। किंतु शी

[illegible]

१ [illegible] अन १, ९३

२ [illegible]

३ [illegible]

निघण्टवप्रमितापिगरणादीनि नामानि तथा नामपदेऽन्तर्भावात्। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्त नामान्यनुपलम्भात् ।

तत्थेदस्स जीवट्ठाणस्स णाम किं पदं ? जीवाणं ट्ठाण-वण्णणादो जीवट्ठाणमिदि गोण्णपदं। मंगलादिसु छसु अहियारेसु वक्खाणिज्जमाणेसु णाम वुत्तमेव। पुणो किमट्ठं

स्वभावकी अपेक्षा कारण है ऐसे यम, सिंह, अग्नि और रावण आदि संज्ञाएं भावसंयोग पदरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव होता है। उक्त दश प्रकारके नामोंसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि, व्यवहारमें इनके अतिरिक्त अन्य नाम नहीं पाये जाते हैं।

विशेषार्थ — यतिवृषभाचार्यने कषायप्राभृतमें नामके केवल छह भेद बताये हैं। वे ये हैं गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद। ऊपर जो नामके दश भेद कह आये हैं। उनमेंसे, यहां पर अनादिसिद्धान्तसम्बन्धी गुणसापेक्ष नामोंका गौण्यपद और आदानपदमें तथा गुणनिरपेक्ष नामोंका नोगौण्यपदमें अन्तर्भाव किया है। प्राधान्यपदनामोंका गौण्यपद और आदानपदमें अन्तर्भाव किया है। प्रमाणपदनामोंका गौण्यपदमें नामपदनामोंका नोगौण्यपदमें और संयोगपदनामोंका आदानपदमें अन्तर्भाव किया है। अवयवपदनामोंका उपचितपदनाम और अपचितपदनामोंमें अन्तर्भाव हो ही जाता है।

शंका — उक्त दश प्रकारके नामपदोंमें यह जीवस्थान कौनसा नामपद है ?

समाधान — जीवोंके स्थानोंका वर्णन करनेसे 'जीवस्थान' यह गौण्य नामपद है।

शंका — पहले मंगलादिक छह अधिकारोंका व्याख्यान करते समय नामपदका

१ णाम छव्विहं ॥ २ ॥ (कसायपाहुडचुण्णिसुत्तं) गोण्णपदं णोगोण्णपदं आदाणपदं पडिवक्खपदं अवचयपदं उवचयपदं चेदि। XXX पाधण्णपदणामाणं कथं तब्भावो? कयंबराणं च बहुसु वण्णेसु संतेसु धवलत्तणादो सेसाओ त्ति जो णामणिद्देसो सो गोण्णपदे णिवददि गुणमुहेण दव्वस्स पउत्तिदंसणादो। कयत्थ णेदाणं अणंतसु संतेसु तत्थ संतस जो एगेण पहाणेण [illegible] णिद्देसो सो आदाणपदे णिवददि वण्णादिदव्वस्स संबंधेण दव्वस्स पउत्तिदंसणादो। [illegible] ... इच्चाइणामाणि आदाणपदे चेव णिवदंति [illegible] अत्थि त्ति विवक्खाए [illegible] णामाणं पउत्तिदंसणादो। अवयवपदणामाणि अवचयपदणामेसु पविसंति [illegible] भेदाभावादो। सुअणासो [illegible] कमलदलणयणा [illegible] इच्चाइणि तहा बाहिराणि अत्थि त्ति ण एदाणि णामाणि समासंतभूदस्स [illegible] दव्वस्स [illegible]। [illegible] गोण्णपदणामेसु [illegible] अणादियगुणसंबंधविसिट्ठ [illegible] जीवो णाणी [illegible] ताणि गोण्णपदं आदाणपदं च णिवदंति। जाणि णोगोण्णपदाणि ताणि णोगोण्णपदणामेसु णिवदंति। पमाणपदणामाणि वि गोण्णपदं चेव [illegible] समाणस्स दव्वस्स [illegible] अरविंदसण्णा णामपदा। सा च अणादियसिद्धंतपदणामेसु [illegible] तस्स तत्थ पवेसिदंसणादो। अणादियसिद्धंतपदणामाणं धम्मकालागास जीवपुग्गलाणि [illegible] एदाणि पविसंति। तदो णाम दसविहं चेव होदि त्ति णिच्छओ [illegible] होदि त्ति घेत्तव्वं। जयध. अ. पृ. ४-५

णवविहदारे णाम उत्तं ति ? ण, एदस्सिस्स णामस्सणेण परूवणादो ।

पमाणं पंचविहं दव्व-खेत्त-काल-भाव-णय-प्पमाण-भेदेहि । तत्थ दव्व-पमाणं संखेज्जमसंखेज्जमणंतयं चेदि । खेत्त-पमाणं एय-पदेसादि । काल-पमाणं समयावलियादि । भाव-पमाणं पंचविहं, आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । णय-प्पमाणं सत्तविहं, णेगम-संगह-ववहारुज्जुसुद-सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-भेदेहि । अहवा णय-प्पमाणमणेयविहं—

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णय-वादा ।
जावदिया णय-वादा तावदिया चेव पर-समया ॥ ६७ ॥ इदि वयणादो[1] ।

कथं नयानां प्रामाण्यम् ? न, प्रमाणकार्याणां नयानामुपचारतः प्रामाण्याविरोधात् ।

व्याख्यान कर ही आये हैं, फिर यहां पर ग्रन्थके प्रारम्भमें नामपदका व्याख्यान किसलिये किया गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि, पूर्वमें कहे गये नामका दशप्रकारके नामपदोंमेंसे किसमें अन्तर्भाव होता है इसका इस कथनके द्वारा ही अन्वेषण किया है।

द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाणके भेदसे प्रमाणके पांच भेद हैं। उनमें, संख्यात असंख्यात और अनन्त यह द्रव्यप्रमाण है। एक प्रदेश आदि क्षेत्रप्रमाण है। एक समय, एक आवली आदि कालप्रमाण है। आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकारका है। अथवा नयप्रमाण निम्न वचनके अनुसार अनेक प्रकारका भी समझना चाहिये।

जितने भी वचन मार्ग हैं, उतने ही नयवाद, अर्थात् नयके भेद हैं। और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं ॥ ६७ ॥

शंका—नयोंमें प्रमाणता कैसे संभव है, अर्थात् उनमें प्रमाणता कैसे आ सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नय प्रमाणके कार्य हैं, इसलिये उपचारसे नयोंमें प्रमाणताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

विशेषार्थ—शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जब नय वस्तुके एक अंशमात्रको ग्रहण करता है सर्वांशरूपसे वस्तुको नहीं जानता है तब उसे प्रमाण कैसे माना जाय। इसका समाधान इसप्रकार किया गया है कि, यद्यपि केवल एक नय नय है प्रमाण नहीं है। किंतु उनमें दूसरे नयोंकी अपेक्षा रहनेसे वे प्रमाणका कार्य करते हैं, इसलिये उपचारसे उनमें प्रमाणता आ जाती है।

[1] गो. क. ८९४, स. त. ३, ४७.

त्थ इदं जीवट्ठाणं एदेसु पंचसु पमाणेसु कदमं पमाणं ? भावपमाणं। तं पि पंचविहं, एत्थ पंचविहेसु भावपमाणेसु सुदभावपमाणं। वक्तृनिरूपणया ग्रन्थस्य प्रामाण्यनिरूपितमिति पुनरस्य प्रामाण्यनिरूपणमनर्थकमिति चेन्न, सामान्येन निर्णीतस्यान्यथानुपपत्तिप्रसङ्गतजीवस्थानप्रामाण्यस्य शिष्यस्य बहुषु भावप्रमाणेष्विदं जीवस्थानं श्रुतभावप्रमाणमिति ज्ञापनार्थत्वात्। अहवा पमाणं छव्विहं, णामट्ठवणादव्वखेत्तकालभावपमाणभेदादो। तत्थ णामपमाणं पमाण-सण्णा। ट्ठवणा पमाणं दुविहं, सब्भाव-ट्ठवणा-पमाणं असब्भाव ट्ठवणा-पमाणमिदि। आकृतिमति सद्भावस्थापना। अनाकृतिमत्यसद्भावस्थापना। दव्वपमाणं दुविहं आगमदो णोआगमदो य। आगमदो पमाण-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, मणिज्जमाणविज्जमाणत्त भइभिण्ण मग्गणाणं वा। णोआगमदो तिविहं, जाणुगसरीर भविय तव्वदिरित्तमिदि। जाणुगसरीरं च भवियं च गदं। तव्वदिरित्त-दव्व पमाणं

शंका— उन पांच प्रकारके प्रमाणोंमेंसे 'जीवस्थान' यह कौनसा प्रमाण है ?

समाधान— यह भावप्रमाण है।

मतिज्ञानादिरूपसे भावप्रमाणके भी पांच भेद हैं। इसलिये उन पांच प्रकारके प्रमाणोंमेंसे इस जीवस्थानको श्रुतभावप्रमाणरूप जानना चाहिये।

शंका— पहले कर्ताका निरूपण कर आये हैं, इसलिये उसके निरूपण कर देनेसे ही इस शास्त्रकी प्रमाणताका निरूपण हो जाता है, अतः फिरसे इसकी प्रमाणताका निरूपण करना निरर्थक है ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, यह जीवस्थान शास्त्र प्रमाण है, अन्यथा यह जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ नहीं हो सकता था। इसप्रकार सामान्यरूपसे इस जीवस्थान शास्त्रकी प्रमाणताका निश्चय करनेवाले शिष्यको, बहुत प्रकारके भाव प्रमाणोंमेंसे यह जीवस्थान शास्त्र श्रुतभावप्रमाणरूप है, इसतरहसे विशेष ज्ञान करानेके लिये यहां पर इसकी प्रमाणताका निरूपण किया।

अथवा, नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाणके भेदसे प्रमाण छह प्रकारका है।

उनमें, प्रमाण ऐसी संज्ञाको नामप्रमाण कहते हैं। सद्भावस्थापनाप्रमाण और असद्भावस्थापनाप्रमाणके भेदसे स्थापनाप्रमाण दो प्रकारका है। आकारवाली वस्तुमें सद्भावस्थापना होती है। और आकाररहित वस्तुमें असद्भावस्थापना होती है। आगमद्रव्यप्रमाण और नोआगमद्रव्यप्रमाणके भेदसे द्रव्यप्रमाण दो प्रकारका है। प्रमाणविषयक शास्त्रका ज्ञायक परन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं। अथवा [illegible] अथवा [illegible] आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं। [illegible] नोआगमद्रव्यप्रमाणके भेदसे तीन प्रकारका है।

तिविहं, संखेज्जमसंखेज्जमणंतमिदि। खेत्त-काल-पमाणाणि पुव्वं व वत्तव्वाणि। भाव-प
पंचविहं, मदि-भाव-पमाणं सुद-भाव-पमाणं ओहि-भाव-पमाणं मणपज्जव-भाव-पमाणं के
भाव-पमाणं चेदि। एदेदं जीवट्ठाणं भावदो सुद-भाव-पमाणं। दव्वदो संखेज्जासंखेज्जा
सरूव-सद्द-पमाणं।

वत्तव्वदा तिविहा, ससमयवत्तव्वदा परसमयवत्तव्वदा तदुभयवत्तव्वदा चे
जम्हि सत्थम्हि स-समयो चेव वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्त
तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा। पर-समयो मिच्छत्तं जम्हि पाहुडे अणियोगे वा वण्णि
परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमयवत्तव्वं, तस्स भावो
समयवत्तव्वदा णाम। जत्थ दो वि परूवेऊण पर-समयो दूसिज्जदि स-समयो थाविज्ज
सा तदुभयवत्तव्वदा णाम भवदि। एत्थ पुण जीवट्ठाणे ससमयवत्तव्वदा ससमय
परूवणादो। अत्थाहियारो तिविहो, पमाणं पमेयं तदुभयं चेदि। एत्थ जीवट्ठाणे प
चेव अत्थाहियारो पमेय-परूवणादो। उवक्कमो गदो।

उनमें, ज्ञायकशरीर और भावि नोआगमद्रव्यका वर्णन पहले कर आये। तद्व्यतिरि
नोआगमद्रव्यप्रमाण संख्यातरूप, असंख्यातरूप और अनन्तरूप भेदकी अपेक्षा तीन प्रकारका
क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाणका वर्णन पहलेके समान ही करना चाहिये। मतिज्ञानप्रमाण, श्रुत
प्रमाण, अवधिज्ञानप्रमाण, मनःपर्ययज्ञानप्रमाण और केवलज्ञानप्रमाणके भेदसे भावप्रमाण पा
प्रकारका है। इनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका शास्त्र भावप्रमाणकी अपेक्षा श्रुतभावप्रमाण
है, और द्रव्यकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्तरूप शब्दप्रमाण है।

वक्तव्यता तीन प्रकारकी है, स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभयव
व्यता। जिस शास्त्रमें स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है अथ
विशेषरूपसे ज्ञान कराया जाता है उसे स्वसमयवक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अथ
उसमें रहनेवाली विशेषताको स्वसमयवक्तव्यता कहते हैं। परसमय मिथ्यात्वको कहते
उसका जिस प्राभृत या अनुयोगमें वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशे
ज्ञान कराया जाता है उस प्राभृत या अनुयोगको परसमयवक्तव्य कहते हैं, और उसके भाव
अर्थात् उसमें होनेवाली विशेषताको परसमयवक्तव्यता कहते हैं। जहां पर स्वसमय और प
समय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दूषित दिखलाया जाता है और स्वसमय
स्थापना की जाती है उसे तदुभयवक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें रहने
विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं। इनमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रमें स्वसमयवक्तव्यता
समझना चाहिये, क्योंकि इसमें स्वसमयका ही निरूपण किया गया है।

प्रमाण, प्रमेय और तदुभयके भेदसे अर्थाधिकार तीन प्रकारका है। इनमेंसे इस जीवस्था
शास्त्रमें एक प्रमेय अर्थाधिकार ही समझना चाहिये, क्योंकि, इसमें प्रमेयका विस्तृत प्ररूपणा
वर्णन किया गया है। इसतरह उपक्रमका प्रकरण समाप्त हुआ।

णिक्खेवो चउव्विहो णाम-ट्ठवणा-दव्व-भाव-जीवट्ठाण-भेएण। णाम-जीवट्ठाणं जीवट्ठाण-सद्दो। ट्ठवण-जीवट्ठाणं बुद्धीए समारोविय-जीवट्ठाण-दव्वं। दव्व-जीवट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगम-भेएण। तत्थ जीवट्ठाण-जाणओ अणुवजुत्तो आगम-दव्व-जीवट्ठाणं। णोआगम-दव्व-जीवट्ठाणं तिविहं जाणुगसरीर-भविय-तव्वदिरित्त-णोआगम-दव्व-जीवट्ठाण-भेएण। आदिल्ल-दुगं सुगमं। तव्वदिरित्त-जीवट्ठाणाहार-भूदागास-दव्वं। भाव-जीवट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगम-भेएण। आगम-भाव-जीवट्ठाणं जीवट्ठाण-जाणओ उवजुत्तो। णोआगम-भाव-जीवट्ठाणं मिच्छाइट्ठियादि-चोद्दस-जीव-समासा। एत्थ णोआगम-भाव-जीवट्ठाणं पयदं। णिक्खेवो गदो।

नयैर्विना लोकव्यवहारानुपपत्तेर्नया उच्यन्ते। तद्यथा, प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः[1]। स द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति[2]। द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्[3], द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः।

नामजीवस्थान, स्थापनाजीवस्थान, द्रव्यजीवस्थान और भावजीवस्थानके भेदसे निक्षेप चार प्रकारका है। 'जीवस्थान' इसप्रकारकी संज्ञाको नामजीवस्थान कहते हैं। जिस द्रव्यमें बुद्धिसे जीवस्थानकी आरोपणा की हो उसे स्थापनाजीवस्थान कहते हैं। आगम जीवस्थान और नोआगमजीवस्थानके भेदसे द्रव्यजीवस्थान दो प्रकारका है। उनमें, जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं। ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यजीवस्थान तीन प्रकारका है। इनमेंसे, आदिके दो अर्थात् ज्ञायकशरीर और भावि सुगम हैं। जीवस्थानोंके अथवा जीवस्थान शास्त्रके आधारभूत आकाशद्रव्यको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं। आगम और नोआगमके भेदसे भावजीवस्थान दो प्रकारका है। जीवस्थान शास्त्रके जानने वाले और वर्तमानमें उसके उपयोगसे युक्त जीवको आगमभावजीवस्थान कहते हैं। और मिथ्यादृष्टि आदि चौदह जीवसमासोंको नोआगमभावजीवस्थान कहते हैं। इनमेंसे, इस जीवस्थान शास्त्रमें नोआगमभावजीवस्थान निक्षेप प्रकृत है। इसतरह निक्षेपका वर्णन हुआ।

नयोंके विना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है इसलिये यहां पर नयोंका वर्णन करते हैं। इन नयोंका खुलासा इसप्रकार है, प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुके एक अंशमें वस्तुका निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है। जो भविष्यत् पर्यायोंको प्राप्त होगा और भूत पर्यायोंको प्राप्त हुआ था उसे द्रव्य

१ अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः। प्र. क. मा. पृ. २ ५

२ ... सामान्यविशेषात्मक ... विषयो द्रव्यार्थिकः। ... विशेष ... पर्यायो वा विषयो यस्य स पर्यायार्थिकः। ... पृ. ५१

३ ... द्रवति ... तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्। ... पृ. २१ निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम्। आ. प. ८७

परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्या-
र्थिकः। तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिविधः, नैगमः संग्रहो व्यवहारश्चेति। विधिव्यतिरि-
प्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य ग्रहणात्संग्रहः। द्र-
व्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः। संग्रहनयाक्षिप्ता-
र्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदनं व्यवहारः[1], व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थ-
यस्मिन् न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः, संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थि-
नैगम[2] इति यावत्। एते त्रयोऽपि नयाः नित्यवादिनः स्वविषये पर्यायाभावतः सामा-

कहते हैं। द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। 'परि
अर्थात् भेदको जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं। वह पर्याय ही जिस नयका प्रयोजन
उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं- नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय। विधि अथ-
[illegible] अर्थात् [illegible] प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये विधिमात्र ही [illegible]
है। इसप्रकारके [illegible] समस्तका ग्रहण करनेवाला होनेसे संग्रहनय कहते
[illegible] द्रव्यसे [illegible] पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये द्रव्य ही तत्व है। इसप्रकारके [illegible]
[illegible] संग्रहनय कहते हैं। संग्रहनयसे ग्रहण किये गये पदार्थोंके विधिपूर्वक [illegible]
[illegible] व्यवहार कहते हैं। उस व्यवहारके आधीन चलनेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं।
[illegible] वह इन दोनों अर्थात् संग्रह और व्यवहारको छोड़कर नहीं रहता है। इसलिए [illegible]
[illegible] ही एक नहीं होता है अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते हैं। अथ-
[illegible] और असंग्रहरूप जो द्रव्यार्थिक नय है वह ही नैगमनय है। ये तीनों ही नय नित्य-
हैं, क्योंकि इन तीनों ही नयोंका विषय पर्याय न होनेसे कारण इन तीनों नयोंके [illegible]

[illegible]

[illegible]

पकालयोरभावात्।

पर्यायार्थिको द्विविधः, अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः कृतो भेदश्चेदुच्यते, ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः। ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनं, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः। स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकसमयाद्वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति यावत्।

मान्य और विशेषकालका अभाव है।

विशेषार्थ — एवंभूतनयसे लेकर ऊपर ऋजुसूत्र नय तक पूर्व पूर्व नय सामान्य रूपसे उत्तरोत्तर नय विशेषरूपसे वर्तमान कालवर्ती पर्यायको विषय करते हैं। इसप्रकार मान्य और विशेष दोनों ही काल द्रव्यार्थिक नयके विषय नहीं होते हैं। इस विवक्षासे ार्थिक नयके तीनों भेदोंको नित्यवादी कहा है। अथवा, द्रव्यार्थिक नयमें कालभेदकी विवक्षा नहीं है, इसलिये उसमें सामान्य और विशेषकालका अभाव कहा है।

अर्थनय और व्यञ्जन (शब्द) नयके भेदसे पर्यायार्थिक नय दो प्रकारका है।

शंका — द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयमें किसप्रकार भेद है?

समाधान — ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेद जिस कालमें होता है, वह ाल) जिन नयोंका मूल आधार है वे पर्यायार्थिकनय हैं। विच्छेद अथवा अन्त जिस ल्म होता है उस कालको विच्छेद कहते हैं। वर्तमानवचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं, और के विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते हैं। वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेद काल जिन नयोंका मूल आधार है उन्हें पर्यायार्थिकनय कहते हैं। अर्थात् ऋजुसूत्रके ादक वचनोंके विच्छेदरूप समयसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय नेवाले पर्यायार्थिकनय हैं। इन पर्यायार्थिक नयोंके अतिरिक्त शेष शुद्धाशुद्धरूप द्रव्यार्थिक

वाधेन कुशला मता वा नैगमः। अथवा नैके गमाः पन्थानो यस्य स नैगमः। तथापि सर्वत्र सदित्यनुगताकारा विबाधहेतुभूता, महासत्तामन्यस्मिन् अननुवृत्तव्यावृत्तावबाधहेतुभूतं च सामान्यविशेषं द्रव्यत्वादि व्यावृत्तावबाधहेतुमनेन्यव्यावृत्तिं च विशेषमिति। स्या. म. पृ. १७१. सिद्धसेनीयाः पुनः षडेव नयानभ्युपगतवन्तः, नैगमस्य व्यवहारसंग्रहान्तर्भावविवक्षणात्। तथाहि — यस्तावन्नैगमः सामान्यप्रतिपत्तिपरस्तदा स संग्रहेऽन्तर्भवति, सामान्यवादिप्रवृत्तत्वात् विशेषास्तु व्यवहारे। आ. म. पृ. ...

[?] द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति ... तद्वत्तल्लक्षणसामान्येनाभिन्नमभिन्नलक्षणमात्रा येन मिश्रमिश्रं च ... इत्यादि द्रव्यार्थिक इति यावत्। पर्यायः ... ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः एव ... पर्यायः। स एव अर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च द्रव्यार्थिकस्य विषयं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदात् प्राक्तन द्रव्यार्थिक इत्यवगन्तव्यम्। जयध. अ. पृ. १७

अपरे शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकाः[1]। तत्रार्थव्यञ्जनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहभेदैरभिन्नं वर्तमानमात्रं वस्त्वध्यवस्यन्तोऽर्थनयाः[2], न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः। व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनो व्यञ्जननयाः[3]। तत्रार्थनयः ऋजुसूत्रः। कुतः? ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूचयतीति तत्सिद्धेः[4]। नैगमसंग्रहव्यवहाराश्चार्थनया इति चेन्न, सन्त्वेतेऽर्थनयाः अर्थव्यापृतत्वात्, किंतु न ते पर्यायार्थिकाः द्रव्यार्थिकत्वात्।

व्यञ्जननयस्त्रिविधः, शब्दः समभिरूढ एवंभूत इति। शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवण

नय हैं। यही उनमें भेद है।

उनमेंसे, अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायसे भेदरूप और लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहके भेदसे अभेदरूप केवल वर्तमान समयवर्ती वस्तुके निश्चय करनेवाले नयोंको अर्थनय कहते हैं। यहां पर शब्दोंके भेदसे अर्थमें भेदकी विवक्षा नहीं है। व्यंजन (शब्द) के भेदसे वस्तुमें भेदका निश्चय करनेवाले नय व्यंजननय कहलाते हैं। इनमें, ऋजुसूत्र नयको अर्थनय समझना चाहिये। क्योंकि, ऋजु सरल अर्थात् वर्तमान समयवर्ती पर्यायमात्रको जो ग्रहण करे अथवा सूचित करे उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। इसतरह वर्तमान पर्यायरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण यह नय अर्थनय है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका—नैगम, संग्रह और व्यवहारनय भी तो अर्थनय हैं, फिर यहां पर अर्थनयोंमें केवल ऋजुसूत्रनयका ही ग्रहण क्यों किया?

समाधान—अर्थको विषय करनेवाले होनेके कारण वे भी अर्थनय हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है। किंतु वे तीनों नय द्रव्यार्थिकरूप होनेके कारण पर्यायार्थिक नहीं हैं।

व्यंजननय तीन प्रकारका है, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। शब्दको ग्रहण करनेके

१ तत्र शुद्धद्रव्यार्थिकः पर्यायकलङ्करहितः बहुभेदः संग्रहः। (अशुद्ध) द्रव्यार्थिकः पर्यायकलङ्काङ्कितद्रव्यविषयः व्यवहारः। यदस्ति न तद्द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः, शब्दशीलकर्मकार्यकारणाधाराधेयसहचारमानमेयोन्मेयभूतभविष्यद्वर्तमानादिकमाश्रित्य स्थितोपचारविषयः। जयध. अ. पृ. २७.

२ वस्तुनः स्वरूपं स्वधर्मभेदेन भिन्दानः अर्थनयः। अभेदको वा, अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इयर्ति एति गच्छतीति अर्थनयः। जयध. अ. पृ. २७.

३ शब्दपृष्ठतोऽर्थविच्छेदाभ्युपगमपरः वस्तुनः वाचकभेदेन भेदको व्यञ्जननयः। जयध. अ. पृ. २७.

४ ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः। स. सि. १, ३३. सूत्रपातवदृजुसूत्रः। यथा ऋजुः सूत्रपातस्तथा ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयति ऋजुसूत्रः। त. रा. वा. १, ३३. ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु सत्सूत्रयेदृजु। प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात्सतः॥ त. श्लो. वा. १, ३३, ६१. ऋजु प्राञ्जलं (स्पष्टं) वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीत्यृजुसूत्रः। प्र. क. मा. पृ. २०५. तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याच्छुद्धपर्यायसंश्रिता। नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः॥ अतीतानागताकारकालसंस्पर्शवर्जितम्। वर्तमानतया सर्वमृजुसूत्रेण सूत्र्यते॥ स. त. टी. पृ. ३११, ३१२.

शब्दनयः लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् । लिङ्गव्यभिचारस्तावदुच्यते । स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानं अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानं वीणा आतोद्यमिति । नपुंसके स्त्र्यभिधानं आयुधं शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति । नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधानं आयुधं परशुरिति । संख्याव्यभिचारः, एकत्वे द्वित्वं नक्षत्रं पुनर्वसू इति । एकत्वे बहुत्वं नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्वे एकत्वं गोदौ ग्राम इति । द्वित्वे बहुत्वं पुनर्वसू

शब्दनय कहते हैं, क्योंकि, यह नय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला है।

स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिंगका कथन करना और पुल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करना आदि लिंगव्यभिचार है। जैसे, 'तारका स्वाति' स्वाति नक्षत्र तारका है। यहां पर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुल्लिंग है। इसलिये स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिंग कहनेसे लिंगव्यभिचार है। 'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है। यहां पर अवगम शब्द पुल्लिंग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है। इसलिये पुल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंग कहनेसे लिंगव्यभिचार है। 'वीणा आतोद्यम्' वीणा बाजा आतोद्य कहा जाता है। यहां पर वीणा शब्द स्त्रीलिंग और आतोद्य शब्द नपुंसकलिंग है। इसलिये स्त्रीलिंगके स्थानपर नपुंसकलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है। 'आयुधं शक्ति' शक्ति आयुध है। यहां पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। इसलिये नपुंसकलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है। 'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है। यहां पर पट शब्द पुल्लिंग और वस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है। इसलिये पुल्लिंगके स्थानपर नपुंसकलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है। 'आयुधं परशु' फरसा आयुध है। यहां पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और परशु शब्द पुल्लिंग है। इसलिये नपुंसकलिंगके स्थानपर पुल्लिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है।

एक वचनकी जगह द्विवचन आदिका कथन करना संख्याव्यभिचार है। जैसे, 'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसु नक्षत्र है। यहां पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है। इसलिये एकवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'नक्षत्रं शतभिषजः' शतभिषज नक्षत्र है। यहां पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और शतभिषज् शब्द बहुवचनान्त है। इसलिये एकवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है

१ लिङ्गसंख्यासाधन[illegible] [illegible] शब्दनय । स. सि. १, ३३. [illegible]
[illegible] । त. रा. वा. [illegible] । स. [illegible] । [illegible] शब्दनय [illegible] ॥
त. श्लो. वा. १, ३. [illegible] [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] [illegible] ॥ स. त. टी. पृ. ३१२.

पञ्चतारका इति । बहुत्वे एकत्वं आम्राः वनमिति । बहुत्वे द्वित्वं देवमनुष्या उभौ राशी इति । कालव्यभिचारः, विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता, भविष्यदर्थे भूतप्रयोगः । भावि-कृत्यमासीदिति भूते भविष्यत्प्रयोग इत्यर्थः । साधनव्यभिचारः, ग्राममधिशेते इति । पुरुषव्यभिचारः, एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पितेति । उपग्र

'गोदौ ग्राम' गायोंको देनेवाले ग्राम है। यहां पर गोद शब्द द्विवचनान्त और ग्राम श एकवचनान्त है। इसलिये द्विवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'पुनर्वसू पञ्च तारका' पुनर्वसू पांच तारे हैं। यहां पर पुनर्वसू द्विवचनान्त और पंचतारका शब्द बहुवचनान्त है। इसलिये द्विवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'आम्रा वनम्' आमोंके वृक्ष वन हैं। यहां पर आम्र शब्द बहुवचनान्त और वन श एकवचनान्त है। इसलिये बहुवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है। 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं। यहां पर देव मनुष्य शब्द बहुवचनान्त और राशि शब्द द्विवचनान्त है। इसलिये बहुवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है।

भविष्यत् आदि कालके स्थानपर भूत आदि कालका प्रयोग करना कालव्यभिचार है। जैसे 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्वको देख लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा। यहां पर विश्वका देखना भविष्यत् कालका कार्य है, परंतु उसका भूतकालके प्रयोगद्वारा कथन किया गया है। इसलिये यहां पर भविष्यत् कालका कार्य भूतकालमें कहनेसे काल व्यभिचार है। इसी तरह 'भाविकृत्यमासीत्' आगे होनेवाला कार्य हो चुका। यहां पर भी भूतकालके स्थानपर भविष्यत् कालका कथन करनेसे कालव्यभिचार है।

एक साधन अर्थात् एक कारकके स्थानपर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधनव्यभि-चार कहते हैं। जैसे 'ग्राममधिशेते' वह ग्राममें शयन करता है। यहां पर सप्तमी कारकके स्थानपर द्वितीया कारकका प्रयोग किया गया है इसलिये यह साधनव्यभिचार है।

उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुष और मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष आदिके

[illegible]

व्यभिचारः, रमते विरमति, तिष्ठति संतिष्ठते, विशति निविशत इति । एवमादयो व्यभिचारा न युक्ताः अन्यार्थस्यान्यार्थेन सम्बन्धाभावात् । ततो यथालिङ्गं यथासंख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानमिति ।

नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः । इन्दनादिन्द्रः पूर्दारणात्पुरन्दरः शकनाच्छक्र इति भिन्नार्थवाचकत्वान्नैते एकार्थवर्तिनः । न पर्यायशब्दाः सन्ति भिन्नपदानामेकार्थ-

कथन करनेको पुरुषव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' आओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊंगा परंतु अब न जाओगे, तुम्हारा पिता चला गया । यहां पर 'मन्यसे' के स्थानपर 'मन्ये' यह उत्तमपुरुषका और 'यास्यामि' के स्थानपर 'यास्यसि' यह मध्यमपुरुषका प्रयोग हुआ है । इसलिये पुरुषव्यभिचार है ।

उपसर्गके निमित्तसे परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर परस्मैपदके कथन कर देनेको उपग्रहव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'रमते' के स्थानपर 'विरमति' 'तिष्ठति' के स्थानपर 'संतिष्ठते' और विशतिके स्थानपर 'निविशते' का प्रयोग किया जाता है ।

इसतरह जितने भी लिंग आदि व्यभिचार ऊपर दे आये हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि, अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है । इसलिये समान लिंग, समान संख्या और समान साधन आदिका कथन करना ही उचित है ।

शब्दभेदसे जो नाना अर्थोंमें अभिरूढ होता है उसे समभिरूढ नय कहते हैं । जैसे 'इन्दनात्' अर्थात् परम ऐश्वर्यशाली होनेके कारण इन्द्र 'पूर्दारणात्' अर्थात् नगरोंका विभाग करनेवाला होनेके कारण पुरन्दर और 'शकनात्' अर्थात् सामर्थ्यवाला होनेके कारण शक्र । ये तीनों शब्द भिन्नार्थवाचक होनेसे इन्हें एकार्थवर्ती नहीं समझना चाहिये । इस नयकी दृष्टिमें पर्यायवाची शब्द नहीं होते हैं, क्योंकि, भिन्न पदोंका एक पदार्थमें रहना स्वीकार कर लेनेमें

लयात् अन्यतुल्य साधनाभ्युपगमात् [illegible] । त. श्लो. वा. पृ. २७२. तथा पुरुषभेदेऽपि नैकान्तिक तद् वस्तु इति [illegible] इत्यादि । [illegible] न युक्त अपि तु [illegible] यथा रथेन यास्यामि इत्यनेन [illegible] । स. त. पृ. [illegible] प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च पा. १. ४. १०६. 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इति प्रहासे यथाप्राप्तमेव [illegible] नाम प्रसिद्धार्थविपर्यासं [illegible] रथेन यास्यामि [illegible] । नहि यास्यसि इति [illegible] । अतः [illegible] इति [illegible] इति एकवचनमेव । [illegible] हेम. ३. ३. १०.

१ स. सि. १. ३३. त. रा. वा. १. ३३. पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नयः समभिरूढः स्यात् [illegible] ॥ त. श्लो. वा. [illegible] २. ७. नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः । [illegible] पृ. २ [illegible] । [illegible] ॥ स. त. टी. पृ. ३१२.

२ प्रतिषु [illegible] ।

वृत्तिविरोधात्। नाविरोधः पदानामेकत्वापत्तेरिति। नानार्थस्य भावो नानार्थता त
समभिरूढत्वात्समभिरूढः।

एवं भेदे भवनादेवम्भूतः। न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थ
वर्तिनां चैकत्वविरोधात्। न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदान
भिन्नपदापेक्षायोगात्। ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम्। ततः पदमेकमेकार्थस्य वाचक
मित्यध्यवसायः एवम्भूतनयः[3]। एतस्मिन्नये एको गोशब्दो नानार्थे न वर्तते एकस्यैक
स्वभावस्य बहुषु वृत्तिविरोधात्। पदगतवर्णभेदाद्वाच्यभेदस्याध्यवसायकोऽप्येवम्भूत

विरोध आता है। यदि भिन्न पदोंकी एक पदार्थमें वृत्ति हो सकती है इसमें कोई विरोध नह
है, ऐसा मान लिया जावे तो समस्त पदोंको एकत्वकी आपत्ति आ जावेगी। इससे यह तात्प
निकला कि जो नय शब्दभेदसे अर्थमें भेद स्वीकार करता है उसे समभिरूढ नय कहते ह
नाना पदार्थोंके भाव अर्थात् विशेषताको नानार्थता कहते हैं। और उस नानार्थताके प्रति ज
अभिरूढ है उसे समभिरूढ नय कहते हैं।

एवंभेद अर्थात् जिस शब्दका जो वाच्य है वह तद्रूप क्रियासे परिणत समयमें ही पाय
जाता है। उसे जो विषय करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं। इस नयकी दृष्टिसे पदोंका समास
नहीं हो सकता है, क्योंकि, भिन्न भिन्न कालवर्ती और भिन्न भिन्न अर्थवाले शब्दोंमें एकपनेक
विरोध है। इसीतरह शब्दोंमें परस्पर सापेक्षता भी नहीं है, क्योंकि, वर्ण, अर्थ, संख्या आ
कालादिकके भेदसे भेदको प्राप्त हुए पदोंके दूसरे पदोंकी अपेक्षा नहीं बन सकती है। जब भि
एक पद दूसरे पदकी अपेक्षा नहीं रखता है तो इस नयकी दृष्टिमें वाक्य भी नहीं बन सकता

१ 'नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः' इति पाठमभिरूढस्य निरुक्तिं सम्यगनभिदधाति।

२ येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवंभूतः। स. सि. १, ३३. त. रा. वा. १, ३३. तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्त
थैवेति विनिश्चयात्। एवंभूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुखः। त. श्लो. वा. १, ३३. ७५. एवमित्थं विवक्षितक्रियापरिणाम
प्रकारेण भूतं परिणतमर्थं यो भिप्रैति स एवम्भूतो नयः। (क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्यम्भावाः। टिप्पणी) प्र. क
मा. पृ. २०. एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते। क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते॥ स. त
टी. पृ. ३१८.

३ एवमेवनादेवम्भूतः। अस्मिन्नये न पदानां समासोऽस्ति स्वरूपतः कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वाभावात्।
न पदानामेककालवृत्तिः समासः क्रमोत्पन्नानां क्षणभङ्गिनां तदनुपपत्तेः। नैकार्थे वृत्तिः समासः भिन्नपदानामेकार्थे
वृत्त्यनुपपत्तेः। न वर्णसमासोऽप्यस्ति, तत्रापि पदसमासोक्तदोषप्रसङ्गात्। तत एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्ण
मात्रार्थ एकार्थ इत्येवंभूताभिप्रायवान् एवंभूतनयः। जयध. अ. पृ. २९. यथा क्रियाविशिष्टशब्देनोच्यते, तामेव क्रियां
कुर्वद्वस्त्वेवंभूतमुच्यते। एवंशब्देनाभ्यन्तरचेष्टाक्रियादिकः प्रकारः, तमेवम्भूतं प्राप्तमिति कृत्वा तदर्थभूतवस्तुप्रतिपादक
मेवान्यस्मिन्नुपचारगत्यभावेन। अथवा एवंशब्देनाभ्यन्तरचेष्टाक्रियादिकः प्रकारः तद्विशिष्टमेव वस्तुनाऽभ्युपगमात्
प्राप्त एवंभूत इत्युपचारमन्तरेणापि न्याय्यं यतः स एवंभूतो नयः। अ. रा. कोष (एवंभू.)

एवम्भूते समुपलम्भात्। एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः, अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येयाः। एते च पुनर्व्यवहर्तृभिरवश्यमवगन्तव्याः अन्यथार्थप्रतिपादनावगमानुपपत्तेः। उक्तं च—

णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति[1] ॥ ६८ ॥
तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जइयव्वं।
अत्थगई वि य णयवादगहणलीणा दुरहियम्मा[2] ॥ ६९ ॥

एवं णयपरूवणा गदा। अणुगमं वत्तइस्सामो—

एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति ॥ २ ॥

है यह बात सिद्ध हो जाती है। इसलिये एक पद एक ही अर्थका वाचक होता है। इसप्रकारके विषय करनेवाले नयको एवंभूतनय कहते हैं। इस नयकी दृष्टिमें एक भी शब्द नाना अर्थोंमें नहीं रहता है, क्योंकि, एकस्वभाववाले एक पदका अनेक अर्थोंमें रहना विरुद्ध है। अथवा, पदमें रहनेवाले वर्णोंके भेदसे वाच्यभेदका निश्चय करानेवाला भी एवंभूतनय है, क्योंकि, यह नय इसी रूपमें उत्पन्न होता है। इसतरह ये नय संक्षेपसे सात प्रकारके और अवान्तर भेदोंसे असंख्यात प्रकारके समझना चाहिये। व्यवहारकुशल लोगोंको इन नयोंका स्वरूप अवश्य समझ लेना चाहिये। अन्यथा, अर्थात् नयोंके स्वरूपको समझे बिना पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिपादन और उसका ज्ञान अथवा पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिपादनका ज्ञान नहीं हो सकता है। कहा भी है—

'जिनेन्द्रभगवान्‌के मतमें नयवादके बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिये जो मुनि नयवादमें निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्तके ज्ञाता समझने चाहिये। अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागमको भलेप्रकार जान लिया है उसे ही अर्थसंपादनमें अर्थात् नय और प्रमाणके द्वारा पदार्थके परिज्ञान करनेमें प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि पदार्थोंका परिज्ञान भी नयवादरूपी जंगलमें अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य अर्थात् जाननेके लिये कठिन है ॥ ६८, ६९ ॥ इसतरह नयप्ररूपणाका वर्णन समाप्त हुआ।

अब अनुगमका निरूपण करते हैं।

इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप प्रमाणसे इन चौदह गुणस्थानोंके अन्वेषणरूप प्रयोजनके होने पर ये चौदह ही मार्गणास्थान जानने योग्य हैं ॥ २ ॥

१ णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि। आसज्ज उ सोयारं णए णयविसारओ बूया ॥ आ. नि. ६६१

२ सुत्तं अत्थनिमेणं न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती। अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ॥ तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं। आयरियधीरहत्था हंदि महाणं विलंबेंति ॥ स. त. ३, ६४, ६५

'एत्तो' एतस्मादित्यर्थः। कस्मात्, प्रमाणात्। कुत एतदवगम्यते? प्रमाणस्य जीवस्थानस्याप्रमाणादवतारविरोधात्। नानलात्मकहिमवतो निपतज्जलात्मकगङ्गया व्यभिचारः अवयविनोऽवयवस्याव वियोगापायस्य विवक्षितत्वात्। नावयविनोऽवयवो भिन्नो विरोधात्। तदपि प्रमाणं द्विविधं द्रव्यभावप्रमाणभेदात्। द्रव्यप्रमाणात् संख्येया-

---

'एत्तो' अर्थात् इससे।

शंका—यहां पर 'एतद्' पदसे किसका ग्रहण किया है?

समाधान—यहां पर 'एतद्' पदसे प्रमाणका ग्रहण किया है, इसलिये 'इससे' अर्थात् 'प्रमाणसे' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये।

शंका—यह कैसे जाना, कि यहां पर 'एत्तो' पदका 'प्रमाणसे' यह अर्थ लिया गया है?

समाधान—क्योंकि प्रमाणरूप जीवस्थानका अप्रमाणसे अवतार अर्थात् उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इससे यह जाना जाता है कि यहां पर 'एत्तो' इस पदमें स्थित 'एतद्' शब्दसे प्रमाणका ग्रहण किया गया है।

यहां पर यदि कोई यह कहे कि कार्यमें कारणानुकूल ही गुणधर्म पाये जाते हैं, क्योंकि, वह कार्य है। इस अनुमानमें जो कार्यस्वरूप हेतु है, वह प्रमाणरूप कारणसे उत्पन्न हुए प्रमाणात्मक जीवस्थानरूप साध्यमें पाया जाता है, और अजलस्वरूप हिमवान्से उत्पन्न हुए जलात्मक गंगानदीरूप विपक्षमें भी पाया जाता है। अतएव इस कार्यस्वरूप हेतुके पक्षमें रहते हुए भी विपक्षमें चले जानेके कारण व्यभिचार दोष आता है। अतः यह कहना कि प्रमाणरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है, संगत नहीं है। इस शंकाको मनमें विचार करके आचार्य आगे उत्तर देते हैं कि इसतरह अजलात्मक हिमवान्से निकली हुई जलात्मक गंगा नदीसे भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर अवयवीसे वियोगापायरूप अपाय(?) अवयवसे संयोगको प्राप्त हुआ अवयव विवक्षित है। इसका कारण यह है कि अवयवीसे अवयव भिन्न नहीं है, क्योंकि, अवयवीसे अवयवको सर्वथा भिन्न मान लेनेमें विरोध आता है।

विशेषार्थ—यद्यपि हिमवान् पर्वत अजलात्मक है। परंतु उस पर्वतके जिस भागसे गंगा नदी निकली है वह भाग जलमय ही है। इसलिये यहां पर हिमवान् पर्वतका उतना जलात्मक अवयव ग्रहण करना चाहिये। इससे जो पहले व्यभिचार दोष दे आये हैं वह दूर हो जाता है, क्योंकि यहां पर हिमवान् पर्वतका जलात्मक भाग ही ग्रहण किया गया है जिस भागसे गंगा नदी निकली है। अतएव इस विषयमें समाधान [illegible] है। [illegible] इसतरह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाणस्वरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है।

द्रव्यप्रमाण और भावप्रमाणके भेदसे वह प्रमाण दो प्रकारका है। द्रव्यप्रमाणसे [illegible] [illegible] संख्यात, असंख्यात और अनंतरूप [illegible]

मण्णमाणत्तादो [illegible] । भावपमाणं पंचविहं आभिणिबोहियणाणपमाणं, सुदणाणपमाणं ओहिणाणपमाणं मणपज्जवणाणपमाणं केवलणाणपमाणं चेदि ।

तत्थ आभिणिबोहियणाणं णाम पंचिंदिय-णोइंदिएहिं [illegible] य ओग्गहेहावायधारणाओ सद्द-परिस-रूव-रस-गंधेहि [illegible] बहुविह-खिप्पाणिस्सियाणुत्त-धुवेदरभेएण तिण्णिसय-छत्तीसभेया । सुदणाणं णाम [illegible] पडिवाहियमत्थं [illegible] । ओहिणाणं णाम दव्व-खेत्त-काल-भावे [illegible] । [illegible] जहण्णेण जाणदि [illegible] । उक्कस्सेण परमाणुं जाणदि । [illegible] जाणदि । [illegible] जाणदि । [illegible] जाणदि । [illegible] जाणदि । [illegible]

[illegible] हुआ है । भावप्रमाण पांच प्रकार है, आभिनिबोधिकज्ञानप्रमाण, श्रुतज्ञानप्रमाण, अवधिज्ञानप्रमाण, मनःपर्ययज्ञानप्रमाण और केवलज्ञानप्रमाण ।

[illegible] पांच इन्द्रियों और [illegible] से [illegible] पैदा हुआ, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप [illegible] बहु, बहुविध, क्षिप्र, [illegible] आदि [illegible] तीनसौ छत्तीस भेदवाला आभिनिबोधिक ज्ञान होता है ।

जिस ज्ञानमें [illegible]

[illegible]

[illegible]

जहण्णेण आवलियाए असंखेज्जदि-भागं भूदं भविस्सं च जाणदि। उक्कस्सेण असंखेज्ज-लोगमेत्त-समएसु अदीदमणागयं च जाणदि। दोण्हं पि विचालमजहण्ण-अणुक्कस्सं जाणदि। भावदो पुव्व-णिरूविद-दव्वस्स सत्तिं जाणदि।

मणपज्जवणाणं णाम पर-मणो-गयाइं मुत्ति-दव्वाइं तेण मणेण सह पच्चक्खं जाणदि। दव्वदो जहण्णेण एग-समय-ओरालिय-सरीर-णिज्जरं जाणदि। उक्कस्सेण एग-समय-पडिबद्धस्स कम्मइय-दव्वस्स अणंतिम-भागं जाणदि। खेत्तदो जहण्णेण गाउव-पुधत्तं उक्कस्सेण माणुस-खेत्तस्संतो जाणदि, णो बहिद्धा। कालदो जहण्णेण दो तिण्णि भ[illegible]

अनन्त पर्यायोंको जानता है। अजघन्य और अनुत्कृष्ट (मध्यम) अवधिज्ञान, जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत कालभेदोंको जानता है। भावकी अपेक्षा अवधिज्ञान द्रव्यप्रमाणमें पहले निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है।

जो दूसरोंके मनोगत मूर्तिक द्रव्योंको उस मनके साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। मनःपर्ययज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे एक समयमें होनेवाले औदारिकशरीरके निर्जरारूप द्रव्यतकको जानता है। उत्कृष्टरूपसे कार्माणद्रव्यके अर्थात् आठ कर्मोंके एक समयमें बंधे हुए समयप्रबद्धरूप द्रव्यके अनन्त भागोंमेंसे एक भागतकको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यरूपसे गव्यूतिपृथक्त्व, अर्थात् दो, तीन कोस तक क्षेत्रको जानता है और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर तक जानता है मनुष्यक्षेत्रके बाहिर नहीं जानता है। (यहांपर मनुष्यक्षेत्रसे प्रयोजन विष्कम्भरूप मनुष्यक्षेत्रसे है, वृत्तरूप मनुष्यक्षेत्रसे नहीं है।) कालकी अपेक्षा जघन्यरूपसे दो, तीन भवोंका ग्रहण करता है, और उत्कृष्टरूपसे असंख्यात [illegible]

[illegible]

ग्गहणाणि। उवसमेण असंखेज्जाणि भव-ग्गहणाणि जाणदि। केवलणाणं णाम, सव्व-दव्वाणि अदीदाणागय-वट्टमाणाणि सपज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि।

एत्थ किमाभिणिबोहिय-पमाणादो, किं सुद-पमाणादो, किमोहि-पमाणादो, किं मणपज्जव-पमाणादो, किं केवल-पमाणादो? एवं पुच्छा सव्वेसिं। ण ताव आभिणिबोहिय-पमाणादो, णो ओहि-पमाणादो, णो मणपज्जव-पमाणादो। सय सुद-पमाणादो, अधवा केवल-पमाणादो।

पर्यायोंको ग्रहण करता है, अर्थात् जानता है। मनःपर्यय अथवा मनःपर्ययज्ञान द्रव्यप्रमाणके द्वारा निरूपण किये गये द्रव्योंकी शक्तिको जानता है।

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायोंसहित संपूर्ण द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

यहांपर क्या आभिनिबोधिक प्रमाणसे प्रयोजन है, क्या श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या अवधिप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या मनःपर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, अथवा क्या केवलप्रमाणसे प्रयोजन है? इसतरह सबके विषयमें पृच्छा करना चाहिये और इसतरह पूछे जानेपर यहांपर न तो आभिनिबोधिकप्रमाणसे प्रयोजन है, न अवधिप्रमाणसे प्रयोजन है और न मनःपर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, किंतु यहांपर अथवा श्रुतप्रमाणसे और अथवा केवल

[illegible]

एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च बिदियादो, अत्थं प
पंचमादो केवलणाणादो। पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च चउत्था
सुद-पमाणादो। अत्थं पडुच्च पढमादो केवलादो। जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमा
सुदणाणादो केवलणाणादो य। सुदणाणमिदि गुणणामं, अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति
यादीहि संखेज्जमत्थदो अणंतं। एदस्स तदुभयवत्तव्वदा।

अत्थाहियारो दुविहो, अंगबाहिरो अंगपविट्ठो चेदि। तत्थ अंगबाहिरस्स चो
अत्थाहियारा। तं जहा, सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम
दसवेयालियं उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरी
णिसिहियं चेदि। तत्थ जं सामाइयं तं णाम-ट्ठवणा-दव्व-खेत्त-काल-भावेसु समत्त
विहाणं वण्णेदि। चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयराणं वंदण-विहाणं तण्णाम-संठाणुस्से
पंच-महाकल्लाण-चोत्तीस-अइसय-सरूवं तित्थयर-वंदणाए सहलत्तं च वण्णेदि

प्रमाणसे प्रयोजन है, ऐसा उत्तर देना चाहिये।

यहांपर पूर्वानुपूर्वीसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा तो दूस
श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा पांचवें केवलज्ञानप्रमाणसे प्रयोजन है। पश्चान
पूर्वीसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा चौथे श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है अ
अर्थकी अपेक्षा प्रथम केवलप्रमाणसे प्रयोजन है। यथातथानुपूर्वीसे गणना करनेपर श्रुतप्रमा
और केवलप्रमाण इन दोनोंसे प्रयोजन है।

श्रुतज्ञान यह सार्थक नाम है। यह अक्षर, पद, संघात और प्रतिपत्ति आदिकी अपे
संख्यातभेदरूप है और अर्थकी अपेक्षा अनन्त है।

तीन वक्तव्यताओंमेंसे इस श्रुतप्रमाणकी तदुभयवक्तव्यता (स्वसमय-परसमयवक्तव्यता
जानना चाहिये।

अर्थाधिकार दो प्रकारका है, अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। उन दोनोंमेंसे, अंगबाह्यके चौ
अर्थाधिकार हैं। वे इसप्रकार हैं, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयि
कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरी
महापुण्डरीक और निषिद्धिका। उनमेंसे, सामायिक नामका अंगबाह्य अर्थाधिकार नाम
स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदोंद्वारा समताभावके विधानका वर्णन कर
है। चतुर्विंशतिस्तव अर्थाधिकार उस उस कालसम्बन्धी चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करने
विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पांच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशयोंके स्वरूप औ
तीर्थंकरोंकी वन्दनाकी सफलताका वर्णन करता है।

१ [illegible]।

वंदणा एग-जिण-जिणालय-विसय-वंदणाए णिरवज्ज-भावं वण्णेइ। पडिक्कमणं काल-पुरिसे च अस्सिऊण सत्तविह-पडिक्कमणाणि वण्णेइ। वेणइयं णाण-दंसण-चरित्त-तवोवयार-विणए वण्णेइ। किदियम्मं अरहंत-सिद्ध-आइरिय-बहुसुद-साहूणं पूजा-विहाणं वण्णेइ। दसवेयालियं आयार-गोयर-विहिं वण्णेइ। उत्तरज्झयणं उत्तर-पदाणि वण्णेइ। कप्प-

वन्दना नामका अर्थाधिकार एक जिनेन्द्रदेवसंबन्धी और उन एक जिनेन्द्रदेवके अवलम्बनसे जिनालयसंबन्धी वन्दनाका निरवद्यभावसे अर्थात् प्रशस्तरूपसे सांगोपांग वर्णन करता है। (प्रमादकृत दैवसिक आदि दोषोंका निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमार्थिकके भेदसे सात प्रकारका है।) इन सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका प्रतिक्रमण नामका अर्थाधिकार दुःषमादि काल और छह संहननसे युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाववाले पुरुषोंका आश्रय लेकर वर्णन करता है। वैनयिक नामका अर्थाधिकार ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय इसतरह इन पांच प्रकारकी विनयोंका वर्णन करता है। कृतिकर्म नामका अर्थाधिकार अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुकी पूजाविधिका वर्णन करता है। विशिष्ट कालको विकाल कहते हैं। उसमें जो विशेषता होती है उसे वैकालिक कहते हैं। वे वैकालिक दश हैं। उन दश वैकालिकोंका दशवैकालिक नामका अर्थाधिकार वर्णन

१ प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम्। तच्च दैवसिकरात्रिकपाक्षिक-चातुर्मासिकसांवत्सरिकैर्यापथिकौत्तमार्थिकभेदात्सप्तविधम्। भरतादिक्षेत्रं दुःषमादिकालं षट्संहननसमन्वितस्थिरास्थिरादि पुरुषभेदांश्चाश्रित्य तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि प्रतिक्रमणम्। गो. जी. जी. प्र., टी. ३६७

२ कृतेः क्रियायाः कर्म विधानं अस्मिन् वर्ण्यते इति कृतिकर्म। तच्च अर्हत्सिद्धाचार्यबहुश्रुतसाध्वादिनव-देवतावन्दनानिमित्तमात्माधीनताप्रादक्षिण्यत्रिवारनिर्वृत्तिचतुःशिरोनतिद्वादशावर्तादिलक्षणनित्यनैमित्तिकक्रियाविधानं च वर्णयति। गो. जी. जी. प्र. टी. ३६७

३ आचारो मोक्षमार्गानुष्ठानं तस्य गोचरो विषय आचारगोचरः (आचा. ७ अ. १ उ.) आचारस्य ज्ञानादिविषयस्य पञ्चधा गोचरस्य भिक्षाचर्यायाश्चाचारगोचरं ज्ञानाचारादिर्भिक्षाचर्या च (नं.) आचारः श्रुतज्ञानविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादि गोचरो भिक्षाटनं तयोः समाहारद्वन्द्वः आचारगोचरम् (सू. २ श्रु. १ अ.) अभि. रा. को. (आयारगोयर)

४ विशिष्टाः कालाः विकालाः तेषु भवानि वैकालिकानि दश वैकालिकानि वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति दशवैकालिकम्। तच्च मुनिजनानां आचरणगोचरविधिं वर्णयति। गो. जी. जी. प्र. टी. ३६७ तदुक्तं दशवैकालिकनिर्युक्तौ — [illegible] ॥ [illegible] ॥ [illegible] ॥ अभि. रा. को. (दसवेयालिय)

५ उत्तराणि अधीत्य पठ्यन्ते अस्मिन्निति उत्तराध्ययनम्। तच्च चतुर्विधोपसर्गाणां द्वाविंशतिपरीषहाणां च

ववहारो साहूणं जोग्गमाचरणं अकप्पसेवणाए पायच्छित्तं च वण्णेइ। कप्पाकप्पि[यं] साहूणं जं कप्पदि जं च ण कप्पदि तं सव्वं वण्णेदि। महाकप्पियं काल-संघडणा[णि] अस्सिऊण साहु-पाओग्ग-दव्व-खेत्तादीणं वण्णणं कुणइ। पुंडरीयं चउव्विह-देवेसुववा[द-] कारण-अणुट्ठाणाणि वण्णेइ। महापुंडरीयं सयलिंद-पडिंदेसु उप्पत्ति-कारणं वण्णेइ। णिसि[-] हियं बहुविह-पायच्छित्त-विहाण-वण्णणं कुणइ।

करता है। तथा यह मुनियोंकी आहारविधि और गोचरविधिका भी वर्णन करता है। [ब्रिम...] अनेक प्रकारके उत्तर पढ़नेको मिलते हैं उसे उत्तराध्ययन अर्थाधिकार कहते हैं। इसमें चार प्र[कार-] के उपसर्गोंको कैसे सहन करना चाहिये? बाईस प्रकारके परीषहोंके सहन करनेकी विधि क[्या] है? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरोंका वर्णन किया गया है। कल्प्यव्यवहार साधुओंके योग्य आचरण[का] और अयोग्य आचरणके होने पर प्रायश्चित्तविधिका वर्णन करता है। कल्प्य नाम योग्य[का] है और व्यवहार नाम आचारका है। कल्प्याकल्प्य द्रव्य, क्षेत्र, काल औ[र] भावकी अपेक्षा मुनियोंके लिये यह योग्य है और यह अयोग्य है, इसत[रह] इन सबका वर्णन करता है। महाकल्प्य काल और संहननका आश्रय[कर] साधुओंके योग्य द्रव्य और क्षेत्रादिकका वर्णन करता है। [इसमें, उत्कृष्ट संहननादि[-] विशिष्ट द्रव्य क्षेत्र काल और भावका आश्रय लेकर प्रवृत्ति करनेवाले जिनकल्पी साधुओं[के] त्रिकालयोग आदि अनुष्ठानका और स्थविरकल्पी साधुओंकी दीक्षा, शिक्षा, गणपोष[ण,] आत्मसंस्कार, सल्लेखना आदिका विशेष वर्णन है।] पुण्डरीक भवनवासी, व्यन्तर, ज्योति[षी] और कल्पवासी इन चार प्रकारके देवोंमें उत्पत्तिके कारणरूप दान, पूजा, तपश्चरण, अकाम[-] निर्जरा, सम्यग्दर्शन और संयम आदि अनुष्ठानोंका वर्णन करता है। महापुण्डरीक समस्त इ[न्द्र] और प्रतीन्द्रोंमें उत्पत्तिके कारणरूप तपोविशेष आदि आचरणका वर्णन करता है। प्रमाद[जन्य] दोषोंके निराकरण करनेको निषिद्धि कहते हैं, और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकारके प्रा[य-] श्चित्तके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको निषिद्धिका कहते हैं।

[illegible]

अंगपविट्ठस्स अत्थाहियारो बारसविहो। तं जहा, आयारो सूदयदं ठाणं समवाओ वियाहपण्णत्ती णाहधम्मकहा उवासयज्झयणं अंतयडदसा अणुत्तरोववादियदसा पण्हवायरणं विवागसुत्तं दिट्ठिवादो चेदि। तत्थायारंगमट्ठारह-पद-सहस्सेहि १८०००—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झइ॥ ७० ॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ॥ ७१ ॥

एवमादियं मुणीणमायारं वण्णेदि।

सूदयदं णाम अंगं छत्तीस-पद-सहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पाकप्प-छेदोवट्ठावण-ववहारधम्मकिरियाओ परूवेइ ससमय-परसमय-सरूवं च परूवेइ।

अंगप्रविष्टके अर्थाधिकार बारह प्रकारके हैं। वे ये हैं, आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। इनमेंसे आचारांग अठारह हजार पदोंके द्वारा—

किसप्रकार चलना चाहिये? किसप्रकार खड़े रहना चाहिये? किसप्रकार बैठना चाहिये? किसप्रकार शयन करना चाहिये? किसप्रकार भोजन करना चाहिये? किसप्रकार संभाषण करना चाहिये? और किसप्रकार पापकर्म नहीं बंधता है? (इसतरह गणधरके प्रश्नोंके अनुसार) यत्नसे चलना चाहिये, यत्नसे खड़े रहना चाहिये, यत्नसे बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये, और यत्नसे संभाषण करना चाहिये। इसप्रकार आचरण करनेसे पापकर्मका बंध नहीं होता है ॥ ७०, ७१ ॥ इत्यादि रूपसे मुनियोंके आचारका वर्णन करता है।

सूत्रकृतांग छत्तीस हजार पदोंद्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रियाका प्ररूपण करता है। तथा यह स्वसमय और परसमयका भी निरूपण

[illegible]

ठाणं णाम अंगं बादालीस-पद-सहस्सेहि ४२००० एगादि-एगुत्तर-ट्ठाणाणि वण्णेदि। तस्सोदाहरणं—

> एक्को चेव महप्पो सो दुवियप्पो ति-लक्खणो भणिओ।
> चदु-संकमणा-जुत्तो पंचग्ग-गुण-प्पहाणो य ॥ ७२ ॥
> छक्कापक्कम-जुत्तो कमसो सो सत्त-भंगि-सब्भावो।
> अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दस-ट्ठाणिओ भणिओ ॥ ७३ ॥

करता है। स्थानांग ब्यालीस हजार पदोंके द्वारा एकको आदि लेकर उत्तरोत्तर एक एक अधिक स्थानोंका वर्णन करता है। उसका उदाहरण—

महात्मा अर्थात् यह जीव द्रव्य निरन्तर चैतन्यरूप धर्मसे उपयुक्त होनेके कारण उसकी अपेक्षा एक ही है। ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है। कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतनासे लक्ष्यमान होनेके कारण तीन भेदरूप है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके भेदसे तीन भेदरूप है। चार गतियोंमें परिभ्रमण करनेकी अपेक्षा इसके चार भेद हैं। औपशमिक आदि पांच प्रधान गुणोंसे युक्त होनेके कारण इसके पांच भेद हैं। भवान्तरमें संक्रमणके समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इसतरह छह संक्रमलक्षण अपक्रमोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा छह प्रकारका है। अस्ति, नास्ति इत्यादि सात भंगोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा सात प्रकारका है। ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंके आस्रवसे युक्त होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका है। अथवा ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका तथा आठ गुणोंका आश्रय होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका है। जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला, अथवा जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंरूप परिणमन करनेवाला, होनेकी अपेक्षा नौ प्रकारका है। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजातिके भेदसे दश स्थानगत होनेकी अपेक्षा दश प्रकारका कहा गया है ॥ ७२-७३ ॥

[illegible]

[illegible]

समवायो णाम अंगं चउसट्ठि-सहस्सब्भहिय-एग-लक्ख-पदेहि १६४००० सव्व-पयत्थाणं समवायं वण्णेदि । सो वि समवायो चउव्विहो, दव्व-खेत्त-काल-भाव-समवायो चेदि । तत्थ दव्व-समवायो धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-लोगागास-एगजीव-पदेसा च समा । खेत्तदो सीमंतणिरय-माणुसखेत्त-उडुविमाण-सिद्धिखेत्तं च समा । कालदो समयो समएण मुहुत्तो मुहुत्तेण समो । भावदो केवलणाणं केवलदंसणेण समं णेयप्पमाणं णाणमेत्त-चेयणोवलंभादो । वियाहपण्णत्ती णाम अंगं दोहि लक्खेहि अट्ठावीस-सहस्सेहि पदेहि २२८००० किमत्थि जीवो, किं णत्थि जीवो, इच्चेवमाइयाइं सट्ठि-वायरण-सहस्साणि परूवेदि । णाहधम्मकहा णाम[3] अंगं पंच-लक्ख-छप्पण्ण-सहस्स-पदेहि ५५६०००

समवाय नामका अंग एक लाख चौंसठ हजार पदोंके द्वारा संपूर्ण पदार्थोंके समवायका वर्णन करता है, अर्थात् सादृश्यसामान्यसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जीवादि पदार्थोंका ज्ञान कराता है। वह समवाय चार प्रकारका है, द्रव्यसमवाय, क्षेत्रसमवाय, कालसमवाय और भावसमवाय। उनमेंसे, द्रव्यसमवायकी अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश समान हैं। क्षेत्रसमवायकी अपेक्षा प्रथम नरकके प्रथम पटलका सीमन्तक नामका इन्द्रक बिल, ढाई द्वीपप्रमाण मनुष्यक्षेत्र, प्रथम स्वर्गके प्रथम पटलका ऋजु नामका इन्द्रक विमान और सिद्धक्षेत्र समान हैं। कालकी अपेक्षा एक समय एक समयके बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्तके बराबर है। भावकी अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शनके समान ज्ञेयप्रमाण है, क्योंकि, ज्ञानप्रमाण ही चेतनाशक्तिकी उपलब्धि होती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका अंग दो लाख अट्ठाईस हजार पदोंद्वारा क्या जीव है? क्या जीव नहीं है? इत्यादिक रूपसे साठ हजार प्रश्नोंका व्याख्यान करता है। नाथधर्मकथा अथवा ज्ञातृधर्मकथा नामका अंग पांच लाख छप्पन हजार पदोंद्वारा सूत्रपौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधिसे

१ समवाए णं ससमया सूइज्जंति xx दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समणुगाहिज्जइ, ठाणगसयस्स बारसविहवित्थरस्स सुयणाणस्स जगजीवहियस्स भगवओ समासेणं समायारे आहिज्जति । तत्थ य णाणाविहप्पगारा जीवाजीवा य वण्णिया वित्थरेण अवरे वि अ बहुविहा विसेसा नरग-तिरिय-मणुअ-सुरगणाणं आहारुस्सास-लेसा-आवास-संख-आययप्पमाण-उववाय-चवण-उग्गहणोवहि-वेयणविहाण-उवओग-जोग-इंदिय-कसाय, विविहा य जीवजोणी विक्खंभुस्सेहपरिरयप्पमाणं विहिविसेसा य मंदरादीणं महीधराणं कुलगर-तित्थगर-गणहराणं सम्मत्तभरहाहिवाण चक्कीण चेव चक्कहर-हलहराण य वासाण य निग्गमा य समाए एए अण्णे य एवमाइ एत्थ वित्थरेणं अत्था समासिज्जंति xx । सम. सू. १३९.

२ वियाहे णं नाणाविहसुरनरिंदरायरिसिविविहसंसइयपुच्छियाणं जिणेणं वित्थरेण भासियाणं दव्वगुणखेत्तकालपज्जवपदेसपरिणामजहत्थिभावअणुगमनिक्खेवणयप्पमाणसुनिउणोवक्कमविविहप्पकारपगडपयासियाणं xxx छत्तीसं सहस्समणूणयाणं वागरणाणं दंसणाओ xxx पण्णत्ति जाव । सम. सू. १४०.

३ नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं उज्जाणाइं ... धम्मकहाओ ...

सुत्त-पोरिसीसु तित्थयराणं धम्म-देसणं गणहरदेवस्स जाद-संसयस्स संदेह-छिंदण-विहाणं, बहुविह-कहाओ उवकहाओ च वण्णेदि। उवासयज्झयणं णाम अंगं एक्कारस-लक्ख-सत्तरि-सहस्स-पदेहि ११७००००—

दंसण-वद-सामाइय-पोसह-सचित्त राइभत्ते य।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरदी य ॥ ७४ ॥

इदि एक्कारस-विह-उवासगाणं लक्खणं तेसिं चेव वदारोवण-विहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि। अंतयडदसा णाम अंगं तेवीस-लक्ख-अट्ठावीस-सहस्स-पदेहि २३२८०००

स्वाध्यायकी प्रस्थापना हो इसलिये, तीर्थंकरोंकी धर्मदेशनाका, सन्देहको प्राप्त गणधरदेवके सन्देहको दूर करनेकी विधिका तथा अनेक प्रकारकी कथा और उपकथाओंका वर्णन करता है। उपासकाध्ययन नामका अंग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदोंके द्वारा दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन ग्यारह प्रकारके श्रावकोंके लक्षण, उन्हींके व्रत धारण करनेकी विधि और उनके आचरणका वर्णन करता है। अन्तकृद्दशा नामका अंग तेवीस लाख अट्ठाईस हजार पदोंके द्वारा एक एक तीर्थंकरके तीर्थमें नानाप्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहनकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेषोंको प्राप्तकर निर्वाणको प्राप्त हुये दश दश अन्त-

---

नन्तकेवलज्ञानमहाम्भोधिमध्यगुणमणिविभूषितमहिम्नः तीर्थकरस्य पूर्वाह्नमध्याह्नापराह्नार्धरात्रेषु षट्षट्घटिकाकालपर्यन्तं द्वादशगणसभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति अन्यकालेऽपि गणधरशक्रचक्रधरप्रश्नानन्तरं चोद्भवति। एवं समुद्भूतो दिव्यध्वनिः समस्तासन्नश्रोतृगणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादिलक्षणं रत्नत्रयात्मकं वा धर्मं कथयति। अथवा ज्ञातुर्गणधरदेवस्य जिज्ञासमानस्य प्रश्नानुसारेण तदुत्तरवाक्यरूपा धर्मकथा तत्पृष्टास्तित्वनास्तित्वादिस्वरूपकथनं। अथवा ज्ञातृणां तीर्थकरगणधरशक्रचक्रधरादीनां धर्मानुबन्धिकथोपकथाकथनं नाथधर्मकथा ज्ञातृधर्मकथा नाम वा षष्ठमंगम्। गो. जी., जी. प्र., टी. ३५६. णायाधम्मकहासु णं णायाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं परियागा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाई पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति ××। सम. सू. १४१.

१ सुत्तपोरिसी-सूत्रपौरुषी सिद्धान्तविधिना स्वाध्यायप्रस्थापनम्। अभि. रा. को.

२ गो. जी. ४०७

३ उवासगदसासु णं समणोवासयाणं रिद्धिविसेसा परिसा। वित्थरधम्मसवणाणि बोहिलाभ अभिगम-सम्मत्तविसुद्धया थिरत्तं मूलगुण-उत्तरगुणाइयारा ठिइविसेसा य बहुविसेसा पडिमाभिग्गहग्गहण-पालणा उवसग्गाहियासणा णिरुवसग्गा य तवा य विचित्ता सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासा अपच्छिममारणंतिया य संलेहणाझोसणाओ अप्पाणं जह य भावइत्ता ×× कप्पवरविमाणुत्तमेसु अणुभवंति ×× अणेगाइं भासाइं। एवं अहं च ×× आघविज्जंति। सम. सू. १४२.

एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण णिव्वाणं गदे दस दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये—संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमि-मतङ्ग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्कंविल-पालम्बाष्टपुत्रा इति एते दश वर्धमान-तीर्थंकर-तीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं दश दशानगारा दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो दशास्यां वर्ण्यन्त इति अन्तकृद्दशा। अणुत्तरोववादियदसा णाम अंगं बाणउदि-लक्ख-चोयाल-सहस्स-पदेहि ९२४४००० एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण अणुत्तर-विमाणं गदे दस दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये—उपपादो जन्म प्रयोजनमेषां त इमे औपपादिकाः,

कृत्केवलियोंका वर्णन करता है, तत्त्वार्थभाष्यमें भी कहा है—

जिन्होंने संसारका अन्त किया उन्हें अन्तकृत्केवली कहते हैं। वर्धमान तीर्थंकरके तीर्थमें नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंविल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दश अन्तकृत्केवली हुए हैं। इसीप्रकार ऋषभदेव आदि तेवीस तीर्थंकरोंके तीर्थमें और दूसरे दश दश अनगार दारुण उपसर्गोंको जीतकर संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे अन्तकृत्केवली हुए। इन सबकी दशाका जिसमें वर्णन किया जाता है उसे अन्तकृद्दशा नामका अंग कहते हैं।

अनुत्तरौपपादिकदशा नामका अंग बानवे लाख चवालीस हजार पदोंद्वारा एक एक तीर्थमें नानाप्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशयविशेषोंको प्राप्त करके पांच अनुत्तर विमानोंमें गये हुए दश दश अनुत्तरौपपादिकोंका वर्णन करता है। तत्त्वार्थभाष्यमें भी कहा है—

उपपादजन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त

१ संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः [illegible] पुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे। [illegible]

[illegible]

विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजित-सर्वार्थसिद्ध्याख्यानि पञ्चानुत्तराणि । अनुत्तरेष्वौपपादिका अनुत्तरौपपादिकाः, ऋषिदास-धन्य-सुनक्षत्र-कार्तिकेयानन्द-नन्दन-शालिभद्राभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे । एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये एवं दश दशानगारा दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्य वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशा । पण्हवायरणं णाम अंगं तेणउदि-लक्ख-सोलह-सहस्स-पदेहि ९३१६००० अक्खेवणी णिक्खेवणी संवेयणी णिव्वेयणी

जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं। जो अनुत्तरोंमें उपपाद जन्मसे पैदा होते हैं, उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरौपपादिक वर्धमान तीर्थंकरके तीर्थमें हुए हैं। इसीतरह ऋषभनाथ आदि तेवीस तीर्थंकरोंके तीर्थमें अन्य दश दश महासाधु दारुण उपसर्गोंको जीतकर विजयादिक पांच अनुत्तरोंमें उत्पन्न हुए। इसतरह अनुत्तरोंमें उत्पन्न होनेवाले दश साधुओंका जिसमें वर्णन किया जावे उसे अनुत्तरौपपादिकदशा नामका अंग कहते हैं।

प्रश्नव्याकरण नामका अंग तेरानवे लाख सोलह हजार पदोंके द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओंका तथा (भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल संबन्धी धन, धान्य, लाभ, अलाभ, जीवित, मरण, जय और पराजय संबन्धी प्रश्नोंके पूछनेपर उनके) उपायका वर्णन करता है।

१ [illegible] । [illegible] ‘ कार्तिकेय नंद ’ [illegible]
[illegible] १५०

२ [illegible]

चेदि चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि । तत्थ अक्खेवणी णाम छद्दव्व-णव-पयत्थाणं सरूवं दिगंतर-समयांतर-णिराकरणं सुद्धिं करेंती परूवेदि । विक्खेवणी[1] णाम पर-समएण स-समयं दूसंती पच्छा दिगंतर-सुद्धिं करेंती स-समयं थावंती छद्दव्व-णव-पयत्थे परूवेदि । संवेयणी[2] णाम पुण्ण-फल-संकहा । काणि पुण्ण-फलाणि ? तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहरिद्धीओ । णिव्वेयणी[3] णाम पाव-फल-संकहा । काणि पाव-फलाणि ? णिरय-तिरिय-कुमाणुस-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि । संसार-सरीर-भोगेसु वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम । उक्तं च —

जो नाना प्रकारकी एकान्त दृष्टियोंका और दूसरे समयोंका निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ प्रकारके पदार्थोंका प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जिसमें पहले परसमयके द्वारा स्वसमयमें दोष बतलाये जाते हैं । अनन्तर परसमयकी आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना की जाती है और छह द्रव्य नौ पदार्थोंका प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। पुण्यके फलका वर्णन करनेवाली कथाको संवेदनी कथा कहते हैं।

शंका — पुण्यके फल कौनसे हैं ?

समाधान — तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरोंकी ऋद्धियां पुण्यके फल हैं।

पापके फलका वर्णन करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं।

शंका — पापके फल कौनसे हैं ?

समाधान — नरक, तिर्यंच और कुमानुषकी योनियोंमें जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र आदिकी प्राप्ति पापके फल हैं।

अथवा, संसार, शरीर और भोगोंमें वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं। कहा भी है—

१ प्रथम[illegible]करण[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पराजयार्[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । अथवा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]नी निवजना[illegible] कथा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । गो. जी. जी. प्र. टी. ३५७.

२ प्रथमानुयोग[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]निभमपचारि[illegible] [illegible] [illegible] कथा । गो. जी. जी. प्र. टी. ३५७.

३ प्रमाणनया[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कथा । गो. जी. जी. प्र. टी. ३५७.

४ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कथा । गो. जी. जी. प्र. टी. ३५७.

५ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

आक्षेपणीं तत्त्वविधानभूतां विक्षेपणीं तत्त्वदिगन्तशुद्धिम् ।
संवेगिनीं धर्मफलप्रपञ्चां निर्वेगिनीं चाह कथां विरागाम् ॥ ७५ ॥

एत्थ विक्खेवणी णाम कहा जिण-वयणमयाणंतस्स ण कहेयव्वा, अगहिद-ससमय-सब्भावो पर-समय-संकहाहि वाउलिद-चित्तो मा मिच्छत्तं गच्छेज्ज त्ति तेण तस्स विक्खेवणिं मोत्तूण सेसाओ तिण्णि वि कहाओ कहेयव्वाओ। तदो गहिद-समयस्स उवलद्ध-पुण्ण-पावस्स जिण-सासणे अट्ठि-मज्जाणुरत्तस्स जिण-वयण-णिव्विदिगिंछस्स भो...

तत्त्वोंका निरूपण करनेवाली आक्षेपणी कथा है। तत्त्वसे दिगन्तरको प्राप्त हुई दृष्टियोंका शोधन करनेवाली अर्थात् परमतकी एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना करनेवाली विक्षेपणी कथा है। विस्तारसे धर्मके फलका वर्णन करनेवाली संवेगिनी कथा है और वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेगिनी कथा है।

इन कथाओंका प्रतिपादन करते समय जो जिनवचनको नहीं जानता है, अर्थात् जिसका जिनवचनमें प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिसने स्वसमयके रहस्यको नहीं जाना है और परसमयकी प्रतिपादन करनेवाली कथाओंके सुननेसे व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्वको स्वीकार न कर लेवे, इसलिये स्वसमयके रहस्यको नहीं जाननेवाले पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश न देकर शेष तीन कथाओंका उपदेश देना चाहिये। उक्त तीन कथाओंद्वारा जिसने स्वसमयको भलीभांति समझ लिया है, जो पुण्य और पापके स्वरूपको जानता है, जिसतरह मज्जा अर्थात् हड्डियोंके मध्यमें रहनेवाला

कथनरूपा निर्वेदना कथा। गो जी, जी प्र, टी ३ ७

१ आक्षिप्यन्ते [illegible] । चतुर्विधा सा आचाराक्षेपणी [illegible] प्रज्ञप्त्याक्षेपणी, दृष्टिवादाक्षेपणी। आचारः लोचास्नानादि [illegible] [illegible] [illegible] ॥ [illegible] (आक्षेपणी)

२ विक्षिप्यते [illegible] । सा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा (१) ससमयं कहेत्ता परसमयं कहइ। (२) परसमयं कहेत्ता ससमयं ठावित्ता भवइ। (३) सम्मावायं कहेइ, सम्मावायं कहेत्ता मिच्छावायं कहेइ। (४) मिच्छावायं कहेत्ता सम्मावायं ठावइत्ता भवइ॥ [illegible] ॥ [illegible] [विक्षेपणी]

[illegible] विक्खेवणी [illegible] ॥ [illegible] ६, ६५६

४ [illegible] विक्खेवणी [illegible] ॥ [illegible] [संवेदनी]

५ [illegible] ॥ [illegible] ७२६

[illegible] जिणस्स [illegible] जिणवयणस्स [illegible] विसयरागी [illegible] । [illegible] [illegible]संपयमिम [illegible] । तम्हा पुरिसं पप्प गमणेण कहा कहेयव्वा। [illegible] एदं सहि [illegible] सुहं [illegible] जीविय मरण जय पराजय-णाम दव्वायु [illegible] । विवागसुत्तं णाम अंगं [illegible] [illegible]णोदि [illegible] पदेहि १८४०००८० [illegible] विवाय [illegible]। [illegible] पद-समासो [illegible] ८१५०२००० । दिट्ठिवादो णाम अंग [illegible] । तस्स [illegible] । कोत्कल काणेविद्धि कौशिक हरिश्मश्रु मान्दपिक रोमश हारित मुण्ड अश्वलायनादीनां क्रियावाद दृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचि

[illegible] होता है। [illegible] होता है, उसका [illegible] जो जिनशासनमें अनुरक्त है, जिन वचनमें जिसकी [illegible] नहीं रहा है, जो भोग और रतिसे विरक्त है और [illegible] और नियमसे युक्त है ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका उपदेश देना चाहिये। [illegible] उत्तमरूपसे ज्ञान करानेवालेके लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है। इसलिये योग्य पुरुषको प्राप्त करके ही साधुको कथाका उपदेश देना चाहिये। यह प्रश्नव्याकरण नामका अंग प्रश्नके अनुसार हत नष्ट मुष्टि चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्याका भी प्ररूपण करता है। विपाक सूत्र नामका अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदोंके द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मोंके फलोंका वर्णन करता है। ग्यारह अंगोंके कुल पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पद है। दृष्टिवाद नामका बारहवां अंग है। आगे उसके स्वरूपका निरूपण करते हैं। दृष्टिवाद नामके अंगमें कौत्कल काणेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु मांधपिक, रोमश, हारित, मुण्ड और अश्वलायन आदि क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी मतोंका, मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति,

[illegible] धातुविनियोगः [illegible]

[illegible] जिनशासनगत [illegible] ।

[illegible] ([illegible])

[illegible] ॥ [illegible] ॥ [illegible] तथा सद्धिंता ॥ [illegible] १५ १५७

[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible] १४

[illegible] ।

[illegible] पापीर,

कपिलोलूक गार्ग्य व्याघ्रभूति-वाद्वलि माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीति, शाकल्य वल्कल कुथुमि सात्यमुग्रि नारायण कण्व माध्यन्दिन मोद-पैप्पलाद-बादरायण-स्वेष्टकृदैतिकायन वसु जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ पाराशर जतुकर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षणी सत्यदत्त व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।

एत्थ किमायारादो, एवं पुच्छा सव्वेसिं। णो आयारादो, एवं वारणा सव्वासिं, दिट्ठिवादादो। तस्स उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णाम पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। तत्थ आणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि।

वाद्वलि, माठर और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियोंके चौरासी मतोंका, शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, बादरायण स्वेष्टकृत्, ऐतिकायन वसु और जैमिनी आदि अज्ञानवादियोंके सरसठ मतोंका तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि वैनयिकवादियोंके बत्तीस मतोंका वर्णन और निराकरण किया गया है। ऊपर कहे हुए क्रियावादी आदिके कुल भेद तीनसौ त्रेसठ होते हैं।

इस शास्त्रमें क्या आचारांगसे प्रयोजन है, क्या सूत्रकृतांगसे प्रयोजन है, इसतरह बारह अंगोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। और इसतरह पूछे जाने पर यहां पर न तो आचारांगसे प्रयोजन है, न सूत्रकृतांग आदिसे प्रयोजन है इसतरह सबका निषेध करके यहां पर दृष्टिवाद अंगसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये। उसका उपक्रम पांच प्रकारका है, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। इनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। यहां पूर्वानुपूर्वीसे गिनने पर बारहवें

परिकम्म सुत्ताइं पुव्वगय अणुओगो चूलिया। परिकम्मे सत्तविहे XXX। सुत्ताइं अट्ठासीति भवंतीति मक्खायाइं XXX। पुव्वगयं चउद्दसविहं पण्णत्तं। अणुओगे दुविहे पण्णत्ते XXX। पढमं चउण्हं पुव्वाणं चूलियाओ सेसाइं पुव्वाइं अचूलियाइं सेत्तं चूलियाओ। सम. सू. १४७

१ कौत्कलकाण्ठेविद्धिकौशिकहरिश्मश्रुमांछपिकरोमशहारितमुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतं। मरीचिकुमारकपिलोलूकगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाद्वलिमाठरमौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः। शाकल्यवल्कलकुथुमिसात्यमुग्रिनारायणकठमाध्यन्दिनमोदपैप्पलादबादरायणाम्बष्ठिकृदौरिकायनवसुजैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः। वशिष्ठपाराशरजतुकर्णवाल्मीकिरोमहर्षिणसत्यदत्तव्यासएलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। त. रा. वा. पृ. ५१. राजवार्तिके 'माध्यंदिन' स्थाने 'माध्यदिन', 'कण्व' स्थाने 'कठ', 'स्वेष्टकृत्' स्थाने 'अम्बष्ठि', 'जतुकर्ण' स्थाने 'जतुकर्ण', 'अयस्थूण' स्थाने 'अगस्त्य' पाठ उपलब्धः। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६०

एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बारसमादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पढमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दिट्ठिवादादो। णामं, दिट्ठीओ वददीदि दिट्ठिवादं त्ति गुणणामं। पमाणं, अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जं अत्थदो अणंतं। वत्तव्वदा, तदुभयवत्तव्वदा। तस्स पंच अत्थाहियारा हवंति, परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगयं चूलिया चेदि। जं तं परियम्मं तं पंचविहं। तं जहा, चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायरपण्णत्ती वियाहपण्णत्ती चेदि। तत्थ चंदपण्णत्ती णाम छत्तीस-लक्ख-पंच-पद-सहस्सेहि ३६०५००० चंदायु-परिवारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेह-वण्णणं कुणइ।

अंगसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनने पर पहलेसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनने पर दृष्टिवाद अंगसे प्रयोजन है।

नाम—इसमें अनेक दृष्टियोंका वर्णन किया गया है, इसलिये इसका 'दृष्टिवाद' यह गौण्यनाम है।

प्रमाण—अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग आदिकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है।

वक्तव्यता—इसमें तदुभयवक्तव्यता है।

उस दृष्टिवादके पांच अधिकार हैं, परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। उनमेंसे, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इसतरह परिकर्मके पांच भेद हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म छत्तीस लाख पांच हजार पदोंके द्वारा चन्द्रमाकी आयु,

१ [illegible] गणित [illegible] सूत्राणि यत्र [illegible] परिकर्म। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६१.

२ सूत्रयति [illegible] दर्शनानि सूत्रम्। जीव अबन्धक अकर्ता निर्गुण अभोक्ता [illegible] [illegible] इत्यादि क्रियाक्रियाज्ञानविनय [illegible] मिथ्यादर्शनानि पूर्वपक्षतया कथयति। गो. जी. जी. प्र. टी. ३६१.

३ प्रथमं [illegible] प्रतिपादमाश्रित्य प्रवृत्तोऽधिकारः प्रथमानुयोगः। [illegible] चतुर्विंशतितीर्थकर [illegible] पुराणानि कथयति। गो. जी. जी. प्र. टी. ३६१.

४ [illegible] गणधरान् [illegible] पूर्व पूर्वगतं [illegible] गणधरा पुनः [illegible] आचाराङ्गादिकं [illegible] पूर्वं [illegible] तस्मात् [illegible]

म. सू. पृ. २४

[illegible] अ. पृ. ५०२ [illegible] स. पृ. २४६

६ [illegible] परिवार [illegible] वर्णयति।

गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२

सूरपण्णत्ती पंच-लक्ख-तिण्णि-सहस्सेहि ५०३००० सूरस्सायु-भोगोवभोग-परिवारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेह-दिण-किरणुज्जोव-वण्णणं कुणइ। जंबूदीवपण्णत्ती तिण्णि-लक्ख-पंचवीस-सहस्सेहि ३२५००० जंबूदीवे णाणाविह-मणुयाणं भोग-कम्म-भूमियाणं अण्णेसिं च पव्वद-दह-णइ-वेइयाण वस्सावासाकट्टिम-जिणहरादीणं वण्णणं कुणइ। दीवसायरपण्णत्ती बावण्ण-लक्ख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ५२३६००० उद्धार-पल्ल-पमाणेण दीव-सायर-पमाणं अण्णं पि दीव-सायरंतब्भूदत्थं बहु-भेयं वण्णेदि। वियाहपण्णत्ती णाम चउरासीदि-लक्ख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ८४३६००० रूवि-अजीव-दव्वं अरूवि-अजीव-दव्वं भवसिद्धिय-अभवसिद्धिय-रासिं च वण्णेदि। सुत्तं अट्ठासीदि-लक्ख-पदेहि ८८००००० अबंधओ अवलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो

परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्बकी ऊंचाई आदिका वर्णन करता है। सूर्यप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म पांच लाख तीन हजार पदोंके द्वारा सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्बकी ऊंचाई, दिनकी हानि वृद्धि, किरणोंका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन करता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदोंके द्वारा जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए नानाप्रकारके मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदिका और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदिका वर्णन करता है। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा उद्धारपल्यसे द्वीप और समुद्रोंके प्रमाणका तथा द्वीपसागरके अन्तर्भूत नानाप्रकारके दूसरे पदार्थोंका वर्णन करता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरूपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव, इन सबका वर्णन करता है,

दृष्टिवाद अंगका सूत्र नामका अर्थाधिकार अठासी लाख पदोंके द्वारा जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणुप्रमाण ही है, जीव नास्तिस्वरूप ही है, जीव अस्तिस्वरूप ही है, पृथिवी आदिक पांच भूतोंके समुदायरूपसे जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञानके बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है

[illegible] (गो. जी., जी. प्र., टी. ३६१)

[illegible] (गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२)

[illegible]

[illegible]

णिचो अणिचो अप्पेत्ति वण्णेदि । तेरासिय' णियदिवाद' विण्णाणवाद' सद्दवाद' पहाणवाद दव्ववाद' पुरिसवाद च वण्णेदि । उत्तं च—

इत्यादि रूपसे क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियोंके तीनसौ त्रेसठ मतोंका पूर्वपक्षरूपसे वर्णन करता है। इसमें त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद, और पुरुषवादका भी वर्णन है। कहा भी है—

१ तेरासिय (त्रैराशिक) आजीविका पाखण्डिनः ... उच्यन्ते । ... इह ते सर्व वस्तु त्र्यात्मकमिच्छन्ति । तद्यथा जीवोऽजीवो जीवाजीवश्च, लोका अलोका लोकालोकाः, सद् असद् सदसद्। नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति । तद्यथा द्रव्यास्तिकं पर्यायास्तिकमुभयास्तिकं च । ततस्त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिकाः । न. स. पृ. २३९

२ णियदिवाद (दववाद) जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा । तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥ गो. क. ८८२. ये तु नियतिवादिनस्ते एवमाहुः नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमनुवते नान्यथा । तथाहि यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते अन्यथा कार्यकारणव्यवस्था प्रतिनियतव्यवस्था च न भवेत् नियामकाभावात् । तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते ? मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः । अभि. रा. को. (णियइ)

३ विण्णाणवाद (विज्ञानवाद) प्रतिभासमानस्याखिलस्य वस्तुनो ज्ञानस्वरूपान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः संवेदनमेव पारमार्थिकं तत्त्वम् । तथाहि, यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि अवभासन्ते च भावा इति । × × × तथा यद्वेद्यते तद्धि ज्ञानादभिन्नम् यथा ज्ञानस्वरूपम् वेद्यन्ते च नीलादय इत्यतोऽपि विज्ञानाद्वैतसिद्धिः । स्या. म. पृ. ११९. बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्यन्ते ते विज्ञानवादिनः । इति एतन्मतं विज्ञानवाद । अभि. रा. को. (विण्णाणवाद)

४ सद्दवाद (शब्दब्रह्मवाद) सकलं ... शब्दब्रह्मणः ... प्रपञ्चं ... स्यात् ... तद्भावं तथा नागरूपमिति ... । स्या. म. पृ. १२९. १४

५ पहाणवाद (प्रधानवाद) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम् । प्रधानस्य ... । सांख्यानां हि ... एव ... । अभि. रा. को. (पहाणवाद)

६ दव्ववाद ... [illegible]

७ पुरिसवाद ... [illegible]

[illegible]

अग्गामा[1]-अहियारेसु चउण्हमहियाराणमत्थि णिद्देसो ।
पढमो अबंधयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धव्वो ॥ ७६ ॥
तदियो य णियइ-पक्खे हवइ चउत्थो ससमयम्मि ॥

पढमाणियोगो पंच-सहस्स-पदेहि ५००० पुराणं वण्णेदि । उत्तं च—

बारसविहं पुराणं जगदिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं ।
तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य ॥ ७७ ॥
पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्टि-वंसो दु ।
विज्जहराणं तदियो चउत्थयो वासुदेवाणं ॥ ७८ ॥
चारण-वंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्ण-समणाणं ।
सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरिवंसो ॥ ७९ ॥
णवमो य इक्खयाणं दसमो वि य कासियाण बोद्धव्वो ।
वाईणेक्कारसमो बारसमो णाह-वंसो दु ॥ ८० ॥

पुव्वगयं पंचाणउदि-कोडि पण्णास-लक्ख-पंच पदेहि ९५५०००००५ उप्पाय[illegible]

इस सूत्र नामक अर्थाधिकारके अठासी अधिकारोंमेंसे चार अधिकारोंका नामनिर्देश मिलता है । उनमें पहला अधिकार अबन्धकोंका, दूसरा त्रैराशिकवादियोंका, तीसरा नियति-वादका समझना चाहिये । तथा चौथा अधिकार स्वसमयका प्ररूपक है ॥ ७६ ॥

दृष्टिवाद अंगका प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पांच हजार पदोंके द्वारा पुराणोंका वर्णन करता है । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवने जगतमें बारह प्रकारके पुराणोंका उपदेश दिया है । अत वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशोंका वर्णन करते हैं । पहला अरिहन्त अर्थात् तीर्थंकरोंका, दूसरा चक्रवर्तियोंका, तीसरा विद्याधरोंका, चौथा नारायण, प्रतिनारायणोंका, पांचवा चारणोंका, छट्ठा प्रज्ञाश्रमणोंका वंश है । इसीतरह सातवां कुरुवंश, आठवां हरिवंश, नववां इक्ष्वाकुवंश, दशवां काश्यपवंश, ग्यारहवां वादियोंका वंश और बारहवां नाथवंश है ॥ ७७-८० ॥

दृष्टिवाद अंगका पूर्वगत नामका अर्थाधिकार पंचानवे करोड पचास लाख और पांच [illegible]

---

१ [illegible] । त जहा उज्जं पाणिणपाणिणं बहुभागं [illegible] [[illegible]] [illegible] [[illegible]] [illegible] [[illegible]] [illegible] [[illegible]] [illegible] [illegible] सम. सू. १४७

२ अ [illegible] प्रतिषु [illegible] ।

पद-पुव्वगाणं वण्णणं कुणइ। चूलिया पंचविहा, जलगया थलगया मायागया रूवगया आयासगया चेदि। तत्थ जलगया दो-कोडि-णव-लक्ख-एऊणणउइ-सहस्स-बे-सद-पदेहि २०९८९२०० जलगमण-जलत्थंभण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि[1]। थलगया णाम तत्तिएहि चेव पदेहि २०९८९२०० भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि-संबंधमण्णं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि[2]। मायागया तत्तिएहि चेव पदेहि २०९८९२०० इंदजालं वण्णेदि[3]। रूवगया तत्तिएहि चेव पदेहि २०९८९२०० सीह-हय-हरिणादि-रूवायारेण परिणमण-हेदु-मंत-तंत-तवच्छरणाणि चित्त-कट्ठ-लेप्प-लेण-कम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि[4]। आयासगया णाम तत्तिएहि चेव पदेहि २०९८९२०० आगास-गमण-णिमित्त-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि[5]। चूलिया-सव्व-पद-समासो दस-

पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदिका वर्णन करता है।

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगताके भेदसे चूलिका पांच प्रकारकी है। उनमेंसे, जलगता चूलिका दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसौ पदोंद्वारा जलमें गमन और जलस्तम्भनके कारणभूत मन्त्र तन्त्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदिका वर्णन करती है। स्थलगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा पृथिवीके भीतर गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र, और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदिका तथा वास्तुविद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ अशुभ कारणोंका वर्णन करती है। मायागता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा (मायारूप) इन्द्रजाल आदिके कारणभूत मन्त्र तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। रूपगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा सिंह, घोड़ा और हरिणादिके स्वरूपके आकाररूपसे परिणमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका तथा चित्र कर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदिके लक्षणका वर्णन करती है। आकाशगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। इन पांचों ही चूलिकाओंके पदोंका जोड़ दश करोड़ उनचास लाख

१ जलगता चूलिका जलस्तम्भनजलगमनाग्निस्तम्भनाग्निभक्षणाग्न्यासनाग्निप्रवेशनादिकारणमंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२

२ स्थलगता चूलिका मेरुकुलशैलभूम्यादिषु प्रवेशनशीघ्रगमनादिकारणमंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२

३ मायागता चूलिका मायारूपेन्द्रजालविक्रियाकारणमंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२

४ रूपगता चूलिका सिंहकरितुरगरुरुनरतरुहरिणशशकवृषभव्याघ्रादिरूपपरावर्तनकारणमंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् चित्रकाष्ठलेप्योत्खननादिलक्षणं धातुवादरसवादखन्यावादादींश्च वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२

आकाशगता चूलिका आकाशगमनकारणमंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२

कोडीओ एगूण-पचास लक्ख छायाल सहस्स पदाणि १०४९४६०००।

एत्थ किं परियम्मादो, किं सुत्तादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं। णो परियम्मादो, णो सुत्तादो, एवं वारणा सव्वेसिं। पुव्वगयादो। तस्स उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णाम पमाण वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। तत्थाणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि। एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बिदियादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पुव्वगयादो। पुव्वाणं गयं पत्तं पुव्वसरूवं वा पुव्वगयमिदि गुणणाम। अक्खर पद संघाद पडिवत्ति अणियोगद्दारेहि संखेज्जं, अत्थदो पुण अणंतं। वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा। अत्थाहियारो चोद्दसविहो। तं जहा, उत्पादपूर्वं अग्रायणीयं वीर्यानुप्रवादं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति।

तत्थ उप्पादपुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० बे-सद-पाहुडाणं २०० कोडि-पदे

छयालीस हजार पद हैं।

इस जीवस्थान शास्त्रमें क्या परिकर्मसे प्रयोजन है ? क्या सूत्रसे प्रयोजन है ? इसतरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। यहां पर परिकर्मसे प्रयोजन नहीं है, सूत्रसे प्रयोजन नहीं है इसतरह सबका निषेध करके यहां पर पूर्वगतसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये। उसका उपक्रम पांच प्रकारका है, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। उनमेंसे पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। यहां पूर्वानुपूर्वीसे गिनने पर चौथे भेदसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिननेपर दूसरे भेदसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनने पर पूर्वगतसे प्रयोजन है। जो पूर्वोंको प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वोंके स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते हैं। इसतरह 'पूर्वगत' यह गौण्यनाम है। वह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारकी अपेक्षा संख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्त प्रमाण है। तीनों वक्तव्यताओंमेंसे यहां स्वसमयवक्तव्यता समझना चाहिये। अर्थाधिकारके चौदह भेद हैं। वे ये हैं, उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व।

उनमेंसे, उत्पादपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके एक करोड पदोंद्वारा जीव, काल

---

१ वस्तुन [illegible]। तत्र जीवादि[illegible] नानानय[illegible] [illegible] नवधा भवन्ति। [illegible] [illegible] [illegible] भवति। [illegible] गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६

१००००००० जीव-पोग्गलाणमुप्पाद-वय-धुवत्तं वण्णेइ । अग्गेणियं णाम पुव्वं चोद्दसण्हं वत्थूणं १४ वे-सयासीदि पाहुडाणं २८० छण्णउइ-लक्ख-पदेहि ९६००००० अंगाणमग्गं वण्णेइ । वीरियाणुपवादं णाम पुव्वं अट्ठण्हं वत्थूणं ८ सट्ठि-सय-पाहुडाणं १६० सत्तरि-लक्ख-पदेहि ७०००००० अप्प-विरियं पर-विरियं उभय-विरियं खेत्त-विरियं भव-विरियं तव-विरियं वण्णेइ । अत्थिणत्थिपवादं णाम पुव्वं अट्ठारसण्हं वत्थूणं १८ सट्ठि-ति-सद-पाहुडाणं ३६० सट्ठि-लक्ख-पदेहि ६०००००० जीवाजीवाणं अत्थि-णत्थित्तं वण्णेदि । तं जहा, जीवः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यादस्ति, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यान्नास्ति, ताभ्यामक्रमेणादिष्टः स्यादवक्तव्यः, प्रथमद्वितीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति च, प्रथमतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, द्वितीयतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, प्रथमद्वितीयतृतीयधर्मैः

और पुद्गल द्रव्यके उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका वर्णन करता है। (अग्र अर्थात् द्वादशांगोंमें प्रधानभूत वस्तुके अयन अर्थात् ज्ञानको अग्रायण कहते हैं, और उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणीपूर्व कहते हैं।) यह पूर्व चौदह वस्तुगत दोसौ अस्सी प्राभृतोंके छयानवे लाख पदों द्वारा अंगोंके अग्र अर्थात् प्रधानभूत पदार्थोंका कथन करता है। वीर्यानुप्रवादपूर्व आठ वस्तुगत एकसौ साठ प्राभृतोंके सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भववीर्य और तपवीर्यका वर्णन करता है। अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व अठारह वस्तुगत तीनसौ साठ प्राभृतोंके साठ लाख पदोंद्वारा जीव और अजीवके अस्तित्व और नास्तित्वधर्मका वर्णन करता है। जैसे जीव स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है। परद्रव्य परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है। जिससमय वह स्वद्रव्यचतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टयद्वारा अक्रमसे अर्थात् युगपत् विवक्षित होता है उससमय स्यादवक्तव्यरूप है। स्वद्रव्यादिरूप प्रथमधर्म और परद्रव्यादिरूप द्वितीयधर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति नास्तिरूप है। स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति अवक्तव्यरूप है। स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिस समय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् नास्ति अवक्तव्यरूप है। स्यादस्तिरूप प्रथम

क्रमेणार्पितः स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीव इति। एवमवशिष्टा अपि वक्तव्याः। णाणपवादं णाम पुव्वं बारसण्हं वत्थूणं १२ बि-सय-चालीस-पाहुडाणं २४० एगूण-कोडि-पदेहि ९९९९९९९ पंच णाणाणि तिण्णि अण्णाणाणि वण्णेदि। दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिय-णयं पडुच्च अणादि-अणिहण-अणादि-सणिहण-सादि-अणिहण-सादि-सणिहणादि वण्णेदि, णाणं णाणसरूवं च वण्णेदि।

सच्चपवादं पुव्वं बारसण्हं वत्थूणं १२ बि-सय-चालीस-पाहुडाणं २४० छहिय-एग-कोडि-पदेहि १०००००६ वाग्गुप्तिः वाक्संस्कारकारणं प्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्च अनेकप्रकारं मृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र निरूपितस्तत्सत्यप्रवादम्। व्यलीकनिवृत्तिर्वाचां संयमत्वं वा वाग्गुप्तिः। वाक्संस्कारकारणानि शिरःकण्ठादीन्यष्टौ स्थानानि। वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणः सुगमः। अभ्याख्यानकलहपैशुन्याबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यग्मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा। अयमस्य कर्तेति अनिष्टकथनमभ्याख्यानम्। कलहः प्रतीतः। पृष्ठतो दोषाविष्करणं

धर्म, स्याद्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्याद्वक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यरूप जीव है। इसीतरह अवशिष्ट भंगोंका भी कथन करना चाहिये। ज्ञानप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोंके एक कम एक करोड पदोंद्वारा पांच ज्ञान और तीन अज्ञानोंका वर्णन करता है। तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त, सादि अनन्त और सादि-सान्तरूप विकल्पोंका तथा इसीतरह ज्ञान और ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करता है। सत्यप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोंके एक करोड छह पदोंद्वारा वचनगुप्ति, वाक्संस्कारके कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकारकी भाषा, अनेक प्रकारके वक्ता, अनेक प्रकारके असत्यवचन और दश प्रकारके सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है। असत्य नहीं बोलनेको अथवा वचन संयम अर्थात् मौनके धारण करनेको वचनगुप्ति कहते हैं। मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वाका मूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचनसंस्कारके कारण हैं। शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचनप्रयोगका स्वरूप सरल है। अभ्याख्यानवचन, कलहवचन, पैशुन्यवचन, अबद्धप्रलापवचन, रतिवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निकृतिवचन, अप्रणतिवचन, मोषवचन, सम्यग्दर्शनवचन और मिथ्यादर्शनवचनके भेदसे भाषा बारह प्रकारकी है। यह इसका कर्ता है इसतरह अनिष्ट कथन करनेको अभ्याख्यानभाषा कहते हैं। कलहका अर्थ स्पष्ट ही है। (परस्पर विरोधके

---

१ ज्ञानानां प्रवादः प्ररूपणमस्मिन्निति ज्ञानप्रवादम्। तत्र मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि पंच सम्यग्ज्ञानानि। कुमतिकुश्रुतविभंगाख्यानि त्रीण्यज्ञानानि स्वरूपसंख्याविषयफलानि आश्रित्य तेषां प्रामाण्याप्रामाण्यविभागं च वर्णयति। गो. जी. जी. प्र., टी. ३६६

२ इत आरभ्य उपधिवाक्पर्यन्तं यावत् समग्रपाठः किंचिद्रूपेण तत्त्वार्थराजवार्तिके पृ. ५२ पंक्ति ८ तः आरभ्य १८ पंक्तिपर्यन्तं सदृश उपलभ्यते।

पैशुन्यम् । धर्मार्थकाममोक्षासम्बद्धा वागबद्धप्रलापः । शब्दादिविषयेषु रत्युत्पादिका रतिवाक् । तेष्वेवारत्युत्पादिकारतिवाक् । यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक् । वणिग्व्यवहारे यामवधार्य निकृतिप्रवण आत्मा भवति स निकृतिवाक् । यां श्रुत्वा तपोविज्ञानाभ्यधिकेष्वपि न प्रणमति साप्रणतिवाक् । यां श्रुत्वा स्तेये प्रवर्तते सा मोषवाक् । सम्यग्मार्गोपदेष्ट्री सम्यग्दर्शनवाक् । तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक् । वक्तारश्चाविष्कृतवक्तृपर्याया द्वीन्द्रियादयः । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनृतम् । दशविधः सत्यसद्भावः नाम-रूप-स्थापना-प्रतीत्य-संवृति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समय-सत्यभेदेन । तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे संव्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, यथेन्द्र इत्यादि । यदर्थासन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादिष्वसत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि । असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्ष

करानेवाले वचनोंको कलहवचन कहते हैं।) पीछेसे दोष प्रगट करनेको पैशून्यवचन कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धसे रहित वचनोंको अबद्धप्रलापवचन कहते हैं। इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग उत्पन्न करनेवाले वचनोंको रतिवचन कहते हैं। इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें अरतिको उत्पन्न करनेवाले वचनोंको अरतिवचन कहते हैं। जिस वचनको सुनकर परिग्रहके अर्जन और रक्षण करनेमें आसक्ति उत्पन्न होती है उसे उपधिवचन कहते हैं। जिस वचनको अवधारण करके जीव वाणिज्यमें ठगनेरूप प्रवृत्ति करनेमें समर्थ होता है उसे निकृतिवचन कहते हैं। जिस वचनको सुनकर तप और ज्ञानसे अधिक गुणवाले पुरुषोंमें भी जीव नम्रीभूत नहीं होता है उसे अप्रणतिवचन कहते हैं। जिस वचनको सुनकर चौर्यकर्ममें प्रवृत्ति होती है उसे मोषवचन कहते हैं। समीचीन मार्गका उपदेश देनेवाले वचनको सम्यग्दर्शनवचन कहते हैं। मिथ्यामार्गका उपदेश देनेवाले वचनको मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं। जिनमें वक्तृपर्याय प्रगट हो गई है ऐसे द्वीन्द्रियसे आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत्य अनेक प्रकारका है। नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्यके भेदसे सत्यवचन दस प्रकारका है।

मूल पदार्थके नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्यके व्यवहारके लिये जो संज्ञा की जाती है उसे नामसत्य कहते हैं। जैसे ऐश्वर्यादि गुणोंके न होने पर भी किसीका नाम इन्द्र ऐसा रखना नामसत्य है। पदार्थके नहीं होने पर भी रूपकी मुख्यतासे जो वचन कहे जाते हैं उसे रूपसत्य कहते हैं। जैसे चित्रलिखित पुरुष आदिमें चैतन्य और उपयोगादिरूप अर्थके नहीं रहने पर भी पुरुष इत्यादि कहना रूपसत्य है। मूल पदार्थके नहीं रहने पर भी कार्यके लिये जो द्यूतसम्बन्धी अक्ष (पासा) आदिमें स्थापना की जाती है उसे स्थापनासत्य

[illegible]

दिषु तत् स्थापनासत्यम्। सादिनादीनौपशमिकादीन् भावान् प्रतीत्य यद्वचस्तत्प्रतीत्यसत्यम्। यल्लोके संवृत्याश्रितं वचस्तत्संवृतिसत्यम्, यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजमित्यादि। धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्ममकरहंससर्वतोभद्रक्रौञ्चव्यूहादिषु इतरेतरद्रव्याणां[1] यथाविभागविधिसन्निवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम्। द्वात्रिंशज्जनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जनपदसत्यम्। ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादिधर्माणां व्यपदेष्टृ यद्वचस्तद्देशसत्यम्। छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमिदमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यम्। प्रतिनियतषट्तयद्रव्यपर्यायाणामागमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्वचस्तत्समयसत्यम्।

आदपवादं सोलसण्हं वत्थूणं १६ वीसुत्तर-ति-सय-पाहुडाणं ३२० छव्वीस-कोडि-पदेहि २६०००००० आदं वण्णेदि वेदे त्ति वा विण्हु त्ति वा भोत्ते त्ति वा बुद्ध त्ति वा इच्चादि-सरूवेण। उत्तं च—

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो॥ ८१॥

कहते हैं। सादि और अनादिरूप औपशमिक आदि भावोंकी अपेक्षा जो वचन बोला जाता है उसे प्रतीत्यसत्य कहते हैं। लोकमें जो वचन संवृति अर्थात् कल्पनाके आश्रित बोले जाते हैं उन्हें संवृतिसत्य कहते हैं। जैसे, पृथिवी आदि अनेक कारणोंके रहने पर भी जो पंक अर्थात् कीचड़में उत्पन्न होता है उसे पंकज कहते हैं इत्यादि। धूपके सुगन्धी चूर्णके अनुलेपन और प्रघर्षणके समय, अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौंच आदिरूप व्यूहरचनाके समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्योंके विभागानुसार विधिपूर्वक रचनाविशेषके प्रकाशक जो वचन हैं उन्हें संयोजनासत्य कहते हैं। आर्य और अनार्यके भेदसे बत्तीस देशोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्राप्त करानेवाले वचनको जनपदसत्य कहते हैं। ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल आदिके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जो वचन हैं उन्हें देशसत्य कहते हैं। छद्मस्थोंका ज्ञान यद्यपि द्रव्यकी यथार्थताका निश्चय नहीं कर सकता है तो भी अपने गुण अर्थात् धर्मके पालन करनेके लिये यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है इत्यादि रूपसे जो संयत और श्रावकके वचन हैं उन्हें भावसत्य कहते हैं। आगमगम्य प्रतिनियत छह प्रकारका द्रव्य और उनकी पर्यायोंकी यथार्थताके प्रगट करनेवाले जो वचन हैं उन्हें समयसत्य कहते हैं।

आत्मप्रवादपूर्व सोलह वस्तुगत तीनसौ वीस प्राभृतोंके छब्बीस करोड़ पदोंद्वारा जीव वेत्ता है विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है, इत्यादि रूपसे आत्माका वर्णन करता है। कहा भी है—

जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गलरूप है, वेत्ता है, विष्णु है, स्वयंभू है,

१ 'सचेतनेतरद्रव्याणां' इति पाठः। त. रा. वा. पृ. ५२

सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो ।
असंकडो य खेत्तण्णू अंतरप्पा तहेव य ॥ ८२ ॥

एदेसिमत्थो वुच्चदे । तं जहा, जीवदि जीविस्सदि पुव्वं जीविदो त्ति जीवो । सुहम सुहं करेदि त्ति कत्ता । सच्चमसच्चं सच्चमसच्चं वददि त्ति वत्ता । पाणा एयस्स संति त्ति पाणी । अमर-णर-तिरिय-णारय-भेएण चउव्विहे संसारे कुसलमकुसलं भुंजदि त्ति भोत्ता । छव्विह-संठाण बहुविह-देहेहि पूरदि गलदि त्ति पोग्गलो । सुख दुक्खं वेददि त्ति वेदो, वेत्ति जानातीति वा वेदः । उपात्तदेहं व्याप्नोतीति विष्णुः । स्वयमेव भूतवानिति

शरीरी है, मानव है, सक्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योगसहित है, संकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है ॥ ८१-८२ ॥

आगे इन्हीं दोनों गाथाओंका अर्थ कहते हैं । यह दशप्राणोंसे जीता है, जीता रहेगा और पहले जीवित था, इसलिये जीव है । शुभ और अशुभ कार्योंको करता है, इसलिये कर्ता है । सत्य असत्य और योग्य अयोग्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता है । इसके दश प्राण पाये जाते हैं, इसलिये प्राणी है । देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकके भेदसे चार प्रकारके संसारमें पुण्य और पापका भोग करता है, इसलिये भोक्ता है । नानाप्रकारके शारीरिक द्वारा छह प्रकारके संस्थानको पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिये पुद्गल है । सुख और दुःखका वेदन करता है, इसलिये वेद है । अथवा जानता है, इसलिये वेद है । प्राप्त हुए शरीरको व्याप्त करता है

१ सदा स्थान ... [illegible]

२ [illegible] ... निश्चयवा ... [illegible]
... ३११

३ आवरि ... [illegible]
... १११

४ [illegible]

५ [illegible]

६ [illegible]

[illegible]

स्वयम्भू । सरीरमेयस्स अत्थि त्ति सरीरी[1] । मनु ज्ञानं, तत्र भव इति मानवः[2] । सजण-संबंध-मित्त-वग्गादिसु सजदि त्ति सत्ता[3] । चउग्गइ-संसारे जायदि जणयदि त्ति जंतू[4] । माणो एयस्स अत्थि त्ति माणी[5] । माया अत्थि त्ति मायी[6] । जोगो अत्थि त्ति जोगी[7] । अइसण्ह-देह-पमाणेण संकुडदि त्ति संकुडो[8] । सव्वं लोगागासं वियापदि त्ति असंकुडो[9] । क्षेत्रं स्वस्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः[10] । अट्ठ-कम्मब्भंतरो त्ति अंतरप्पा[11] ।

इसलिये विष्णु है। स्वतः ही उत्पन्न हुआ है इसलिये स्वयम्भू है। संसार अवस्थामें इसके शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीरी है। मनु ज्ञानको कहते हैं। उसमें यह उत्पन्न हुआ है, इसलिये मानव है। स्वजनसम्बन्धी मित्र आदि वर्गमें आसक्त रहता है, इसलिये सक्ता है। चार गतिरूप संसारमें उत्पन्न होता है, इसलिये जन्तु है। इसके मानकषाय पाई जाती है, इसलिये मानी है। इसके मायाकषाय पाई जाती है इसलिये मायी है। इसके तीन योग होते हैं, इसलिये योगी है। अतिसूक्ष्म देह मिलनेसे संकुचित होता है इसलिये संकुट है। संपूर्ण लोकाकाशको व्याप्त करता है इसलिये असंकुट है। लोकालोकरूप क्षेत्रको और अपने स्वरूपको जानता है इसलिये क्षेत्रज्ञ है। आठ कर्मोंके भीतर रहता है इसलिये अन्तरात्मा है।

१ यद्यपि व्यवहारेण कर्मवशात् भवे भवे भवति परिणमति, तथापि निश्चयेन स्वयं स्वकीयेन [illegible] स्वरूपेणैव भवति परिणमति इति स्वयम्भूः । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

२ व्यवहारेण औदारिकादिशरीरमस्यास्तीति शरीरी, निश्चयेनाशरीरः । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

३ व्यवहारेण मानवादिपर्यायपरिणतो मानवः उपलक्षणमात्रत्वात् [illegible] [illegible] । निश्चयेन [illegible] [illegible] । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

४ व्यवहारेण स्वजनमित्रादिपरिग्रहेषु सजतीति सक्ता, निश्चयेनासक्ता । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

५ व्यवहारेण चतुर्गतिसंसारे नानायोनिषु जायते इति जन्तुः संसारीत्यर्थः । निश्चयेनाजन्तुः । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

६ व्यवहारेण मानः अहंकारोऽस्यास्तीति मानी, निश्चयेनामानी । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

७ व्यवहारेण माया वञ्चना अस्यास्तीति मायी, निश्चयेनामायी । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

८ व्यवहारेण [illegible] [illegible] अस्यास्तीति योगी, निश्चयेनायोगी । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

९, १० [illegible] । निश्चयेन [illegible] । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

११ [illegible] । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

१२ [illegible] । निश्चयेन [illegible] । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

कम्मपवादं णाम पुव्वं वीसण्हं वत्थूणं २० चत्तारि-सय पाहुडाणं ४०० एग-कोडि असीदि-लक्ख पदेहि १८०००००० अट्ठविहं कम्मं वण्णेदि । पच्चक्खाण णामधेयं तीसण्हं वत्थूणं ३० छस्सय पाहुडाणं ६०० चउरासीदि लक्ख-पदेहि८४००००० दव्व-भाव-परिमियापरिमिय पच्चक्खाणं उववासविहिं पंच समिदीओ तिण्णि गुत्तीओ च परूवेदि । विज्जाणुवादं णाम पुव्वं पण्णारसण्हं वत्थूणं १५ तिण्णि-सय-पाहुडाणं ३०० एग-कोडि दस-लक्ख-पदेहि ११०००००० अङ्गुष्ठप्रसेनादीनां अल्पविद्यानां सप्तशतानि रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि अन्तरिक्षभौमाङ्गस्वरस्वप्नलक्षणव्यञ्जनछिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति । कल्लाण-णामधेयं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० बि-सद-पाहुडाणं २०० छव्वीस-कोडि-पदेहि २६०००००००० रविशशिग्रहनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगति-विपर्ययफलानि शकुनव्याहृतमर्हद्बलदेववासुदेवचक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि

कर्मप्रवादपूर्व बीस वस्तुगत चारसौ प्राभृतोंके एक करोड़ अस्सी लाख पदोंद्वारा आठ प्रकारके कर्मोंका वर्णन करता है। प्रत्याख्यानपूर्व तीस वस्तुगत छहसौ प्राभृतोंके चौरासी लाख पदोंद्वारा द्रव्य, भाव आदिकी अपेक्षा परिमितकालरूप और अपरिमितकालरूप प्रत्याख्यान, उपवासविधि, पांच समितियों और तीन गुप्तियोंका वर्णन करता है। विद्यानुवादपूर्व पन्द्रह वस्तुगत तीनसौ प्राभृतोंके एक करोड़ दस लाख पदोंद्वारा अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ अल्प विद्याओंका रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओंका और अन्तरीक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिन्ह इन आठ महानिमित्तोंका वर्णन करता है। कल्याणवादपूर्व दस वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके छब्बीस करोड़ पदोंद्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणोंके चारक्षेत्र, उपपादस्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलोंका, पक्षीके शब्दोंका और अरिहंत अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदिके गर्भ-

१ [illegible]

२ [illegible]

३ [illegible]

४ [illegible]

५ [illegible]

च कथयति । पाणावाय णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० बि-सद-पाहुडाणं २०० तेर
कोडि पदेहि १३०००००००० कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदं भूतिकर्म जाङ्गुलिप्रक्रमं प्राण
पानविभागं च विस्तरेण कथयति[२] । किरियाविसालं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० बि-स
पाहुडाणं २०० णव कोडि-पदेहि ९०००००००० लेखादिकाः द्वासप्ततिकलाः स्त्रैणांश्चतु
पष्टिगुणान् शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रिया छन्दोविचितिक्रिया च कथयति[३] । लो
बिंदुसारं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० बि सय-पाहुडाणं बारह-कोडि पण्णास-लक्
पदेहि १२५०००००० अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षगमनक्रिया मोक्षसु
च कथयति[४] । सयल वत्थु समासो पंचाणउदि-सदं १९५ सयल पाहुड-समासो तिण्णि
सहस्सा णवय सया ३९०० ।

चतार आदि महाकल्याणकोंका वर्णन करता है। प्राणावायपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतों
तेरह करोड पदोंद्वारा शरीरचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, अर्थात् शरीर आदि
रक्षाके लिये किये गये भस्मलेपन सूत्रबंधनादि कर्म, जांगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम
भेद प्रभेदोंका विस्तारसे वर्णन करता है। क्रियाविशालपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके न
करोड पदोंद्वारा लेखनकला आदि बहत्तर कलाओंका, स्त्रीसंबन्धी चौसठ गुणोंका, शिल्पकला
काव्यसंबन्धी गुण दोषविधिका और छन्दनिर्माणकलाका वर्णन करता है । लोकबिं
सारपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके बारह करोड पचास लाख पदोंद्वारा आठ प्रकार
व्यवहारोंका, चार प्रकारके बीजोंका, मोक्षको ले जानेवाली क्रियाका और मोक्षसुखका वर्ण
करता है। इन चौदह पूर्वोंमें संपूर्ण वस्तुओंका जोड एकसौ पचानवे है, और संपूर्ण प्राभृतों
जोड तीन हजार नौसो है।

१ शरीरमाण्डरक्षार्थं भस्मसूत्रादिना यत्परित्राणकरणं तद् भूतिकर्म । उक्तं च ' भूइए मट्टियाइ व सुत्तेण
होइ भूइकम्मं तु । वसहीसरीरभंडयरक्खा अभिओगमाईआ । प्र सा पू पृ १८१

२ प्राणानां आवादः प्ररूपणमस्मिन्निति प्राणावादं द्वादशं पूर्वम् । तच्च कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदं भूतकर्म
जांगुलिप्रक्रमं इलापिंगलासुषुम्नादिबहुप्रकारप्राणापानविभागं दशप्राणानां उपकारकापकारकद्रव्याणि गत्याद्यनुसारेण
वर्णयति । गो जी जी प्र, टी ३६६

३ क्रियाभिः नृत्यादिभिः विशालं विस्तीर्णं शोभमानं वा क्रियाविशालं त्रयोदशं पूर्वम् । तच्च संगीत
शास्त्रच्छन्दोऽलंकारादिद्वासप्ततिकला चतुःषष्टिस्त्रीगुणान् शिल्पादिविज्ञानानि चतुरशीतिगर्भाधानादिकाः अष्टोत्तरशतं सम्य
ग्दर्शनादिकाः पञ्चविंशतिं देववन्दनादिकाः नित्यनैमित्तिकाः क्रियाश्च वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६७

४ त्रिलोकबिन्दुसार इति पाठः । त्रिलोकानां बिन्दुः अवयवः सारश्च वर्ण्यते अस्मिन्निति त्रिलोकबिन्दुसारं ।
तच्च त्रिलोकस्वरूपं षट्त्रिंशत्परिकर्माणि अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षस्वरूपं तद्गमनकारणक्रिया मोक्षसुख
स्वरूपं च वर्णयति ॥ गो जी, जी प्र, टी ३६७ यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्मराशिक्रियाविभागश्च
सर्वश्रुतसंपदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारम् । त रा वा पृ ५३.

एत्थ किमुप्पायपुव्वादो, किमग्गेणियादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं । णो उप्पायपुव्वादो, एवं वारणा सव्वेसिं । अग्गेणियादो । तस्स अग्गेणियस्स पंचविहो उवक्कमो, आणुपुव्वी णाम पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । आणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बिदियादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे तेरसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे अग्गेणियादो । अग्गाणमंगपदं वण्णेदि त्ति अग्गेणियं गुणणामं । अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा ।

अत्थाधियारो चोद्दसविहो । तं जहा, पुव्वंते अवरंते धुवे अद्धुवे चयणलद्धी अद्धुवसंपणिधिकप्पे अट्ठे भोम्मावयादीए सव्वट्ठे कप्पणिज्जाणे तीदे अणागए काले सिद्धे बज्झए त्ति चोद्दस वत्थूणि । एत्थ किं पुव्वंतादो, किं अवरंतादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं कायव्वा । णो पुव्वंतादो णो अवरंतादो, एवं वारणा सव्वेसिं कायव्वा । चयणलद्धीदो ।

इस जीवस्थान शास्त्रमें क्या उत्पादपूर्वसे प्रयोजन है, क्या अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है? इसतरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। यहां पर न तो उत्पादपूर्वसे प्रयोजन है और न दूसरे पूर्वोंसे प्रयोजन है इसतरह सबका निषेध करके यहां पर अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है, इसतरहका उत्तर देना चाहिये।

उस अग्रायणीयपूर्वके पांच उपक्रम हैं, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर दूसरेसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर तेरहवेंसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है। अंगोंके अग्र अर्थात् प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेवाला होनेके कारण 'अग्रायणीय' यह गौण्यनाम है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्तरूप है। इसमें स्वसमयका ही कथन किया गया है, इसलिये स्वसमयवक्तव्यता है।

अग्रायणीयपूर्वके अर्थाधिकार चौदह प्रकारके हैं। वे इसप्रकार हैं, पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, चयनलब्धि, अध्रुवसंप्रणिधिकल्प, अर्थ, भौम, व्रतादिक, सर्वार्थ, कल्पनिर्याण, अतीतकालमें सिद्ध और बद्ध, अनागतकालमें सिद्ध और बद्ध। इनमेंसे यहां पर क्या पूर्वान्तसे प्रयोजन है, क्या अपरान्तसे प्रयोजन है? इसतरह सबके विषयमें पृच्छा करना चाहिये। यहां पर पूर्वान्तसे प्रयोजन नहीं, अपरान्तसे प्रयोजन नहीं, इत्यादि रूपसे सबका निषेध कर देना चाहिये। किन्तु चयनलब्धिसे यहां पर प्रयोजन है इसप्रकार उत्तर देना चाहिये। चयनलब्धि

[illegible]

[illegible]

तस्स उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णाम पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। तत्थ आणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि। पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पंचमादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चयणलद्धीदो। णामं चयण-विहिं लद्धि-विहिं च वण्णेदि तेण चयणलद्धि त्ति गुणणामं। पमाणमक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं। वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा। अत्थाधियारो वीसदिविहो। एत्थ किं पढम-पाहुडादो, किं विदिय-पाहुडादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं णेयव्वा। णो पढम-पाहुडादो णो विदिय-पाहुडादो, एवं वारणा सव्वेसिं णेयव्वा। चउत्थ-पाहुडादो। तस्स उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णाम पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। तत्थ आणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि। पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे सत्तारसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे कम्मपयडिपाहुडादो। णामं कम्माणं पयडि-सरूवं वण्णेदि तेण कम्मपयडिपाहुडे त्ति गुणणामं। वेयणकसिणपाहुडे त्ति वि तस्स विदियं णाममत्थि।

उपक्रम पांच प्रकारका है, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। उन तीनोंमेंसे, यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर पांचवें अर्थाधिकारसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर दशवें अर्थाधिकारसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर चयनलब्धि नामके अर्थाधिकारसे प्रयोजन है। यह अर्थाधिकार चयनविधि और लब्धिविधिका वर्णन करता है इसलिये चयनलब्धि यह गौण्यनाम है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यात तथा अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है। स्वसमयका कथन करनेवाला होनेके कारण यहां पर स्वसमयवक्तव्यता है। चयनलब्धिके अर्थाधिकार बीस प्रकारके हैं। उनमें यहां क्या प्रथम प्राभृतसे प्रयोजन है, क्या दूसरे प्राभृतसे प्रयोजन है ? इसतरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। यहां पर प्रथम प्राभृतसे प्रयोजन नहीं है, दूसरे प्राभृतसे प्रयोजन नहीं है, इसप्रकार सबका निषेध कर देना चाहिये। किन्तु यहां पर चौथे प्राभृतसे प्रयोजन है, ऐसा उत्तर देना चाहिये।

उसका उपक्रम पांच प्रकारका है, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर चौथे प्राभृतसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर सत्रहवें प्राभृतसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर कर्मप्रकृतिप्राभृतसे प्रयोजन है। यह कर्मोंकी प्रकृतियोंके स्वरूपका वर्णन करता है, इसलिये कर्मप्रकृतिप्राभृत यह गौण्यनाम है। इसका 'वेदनाकृत्स्नप्राभृत' यह दूसरा नाम भी है। कर्मोंके उदयको वेदना कहते हैं। उसका स

वेयणा कम्माणमुदयो त्ति कम्मिण णिरवसेसं वण्णेदि, अण्णे वेयणकसिणपाहुडमिदि एदस्स वि गुणणाममेव। पमाणमक्खर-पय-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जं, अत्थदो अणंतं। वत्तव्वं ससमयो। अत्थाहियारो चउवीसदिविहो। तं जहा, कदी वेदणाए फासे कम्मे पयडी बंधणे णिबंधणे पक्कमे उवक्कमे उदए मोक्खे संकमे लेस्सा लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे सादमसादे दीहे रहस्से भवधारणीए पोग्गलत्ता णिधत्तमणिधत्ते णिकाचिदमणिकाचिदे कम्मट्ठिदी पच्छिमक्खंधे त्ति। अप्पाबहुगं च सव्वत्थ, जेण चउवीसण्हमणियोगद्दाराणं साहारणो तेण पुध अहियारो ण होदि त्ति। एत्थ किं कदीदो, किं वेयणादो? एवं पुच्छा सव्वत्थ कायव्वा। णो कदीदो णो वेयणादो, एवं सव्वेसिं णेयव्वा। बंधणादो। तस्स उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णाम पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। तत्थ आणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि। तत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे एक्कारस, पच्छाणुपुव्वीए

निरवशेषरूपसे वर्णन करता है, इसलिये वेदनाकृत्स्नप्राभृत यह भी गौण्यनाम है। यह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है। स्वसमयका ही कथन करनेवाला होनेके कारण इसमें स्वसमयवक्तव्यता है।

कर्मप्रकृतिप्राभृतके अर्थाधिकार चौबीस प्रकारके हैं वे इसप्रकार हैं। कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बन्धन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्त, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित-अनिकाचित, कर्मस्थिति और पश्चिमस्कन्ध। इन चौबीस अधिकारोंमें अल्पबहुत्व लगा लेना चाहिये, क्योंकि चौबीस ही अधिकारोंमें अल्पबहुत्व साधारण अर्थात् समानरूपसे है। इसलिये अल्पबहुत्वनामका पृथक् अधिकार नहीं हो सकता है।

यहां पर क्या कृतिसे प्रयोजन है, क्या वेदनासे प्रयोजन है? इसतरह सब अधिकारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। यहां पर न तो कृतिसे प्रयोजन है, न वेदनासे प्रयोजन है, इसतरह सबका निषेध कर देना चाहिये। किन्तु बन्धन अधिकारसे प्रयोजन है, इसतरह उत्तर देना चाहिये। उस बन्धन नामके अधिकारका उपक्रम पांच प्रकारका है, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। उनमेंसे पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। उन तीनोंमेंसे पूर्वानुपूर्वीसे गणना कर

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

गणिज्जमाणे एगूणवीसदिमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बंधणादो । णा बंधणणादो बंधणो त्ति गुणणामं । पमाणमक्खर-पय-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा । अत्थाहियारो चउव्विहो तं जहा, बंधो बंधगो बंधणिज्जं बंधविधाणं चेदि । एत्थ किं बंधादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं कायव्वा । णो बंधादो णो बंधणिज्जादो । बंधगादो बंधविधाणादो च । एत्थ बंधगे त्ति अहियारस्स एक्कारस अणियोगद्दाराणि । तं जहा, एगजीवेण सामित्तं एगजीवेण कालो एगजीवेण अंतरं णाणाजीवेहि भंगविचयो दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो णाणाजीवेहि कालाणुगमो णाणाजीवेहि अंतराणुगमो भागाभागाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि । एत्थ किं एगजीवेण सामित्तादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं णो एगजीवेण सामित्तादो, एवं वारणा सव्वेसिं । पंचमादो । दव्वपमाणादो दव्वपमाणाणुगमो णिग्गदो ।

छठे अधिकारसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिननेपर उन्नीसवें अधिकारसे और यथातथानुपूर्वीसे गिननेपर बन्धन नामके अधिकारसे प्रयोजन है । यह बन्धन नामका अधिकार बन्धका वर्णन करता है, इसलिये इसका 'बन्धन' यह गौण्यनाम है । यह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है । स्वसमयका वर्णन करनेवाला होनेसे इसमें स्वसमयवक्तव्यता है ।

इसके अर्थाधिकार चार प्रकारके हैं, बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । यहांपर क्या बन्धसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे चारों अधिकारोंके विषयमें पृच्छा करना चाहिये । यहांपर बन्धसे प्रयोजन नहीं है और बन्धनीयसे भी प्रयोजन नहीं है, किन्तु बन्धक और बन्धविधानसे यहांपर प्रयोजन है ।

इन बन्ध आदि चार अधिकारोंमेंसे बन्धक इस अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं । वे इसप्रकार हैं एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगम, एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम, एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगम, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगम भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । यहांपर क्या एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे ग्यारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहांपर एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन नहीं है, इत्यादि रूपसे सबका निषेध करके उत्तर देना चाहिये । किन्तु यहां पांचवें द्रव्यप्रमाणानुगमसे प्रयोजन है, इसप्रकार उत्तर देना चाहिये ।

इस अग्रायणीय पूर्वमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामका अधिकार है, वह इस बन्धक अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामक पांचवें अधिकारसे निकला है ।

बंधविहाणं चउव्विहं । तं जहा, पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि । तत्थ जो सो पयडिबंधो सो दुविहो, मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि । तत्थ जो सो मूलपयडिबंधो सो थप्पो । जो सो उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, एगेगुत्तरपयडिबंधो अव्वोगाढउत्तरपयडिबंधो चेदि । तत्थ जो सो एगेगुत्तरपयडिबंधो तस्स चउवीसं अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति । तं जहा, समुक्कित्तणा सव्वबंधो णोसव्वबंधो उक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो सादियबंधो अणादियबंधो धुवबंधो अद्धुवबंधो बंधसामित्तविचयो बंधकालो बंधंतरं बंधसण्णियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागाणुगमो परिमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि । एदेसु समुक्कित्तणादो पयडिसमुक्कित्तणा ट्ठाणसमुक्कित्तणा तिण्णि महादंडया णिग्गया । तेवीसदिमादो भावो णिग्गदो । जो सो अव्वोगाढुत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, भुजगारबंधो पयडिट्ठाणबंधो चेदि । जो सो भुजगारबंधो तस्स अट्ठ अणियोगद्दाराणि सो थप्पो । जो सो पयडिट्ठाणबंधो तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि । तं जहा, संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि । एदेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु छ अणियोगद्दाराणि णिग्गयाणि । तं जहा, संतपरूवणा

बन्धविधान चार प्रकारका है, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध। उन चार प्रकारके बन्धमेंसे मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदसे प्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है। उनमेंसे, मूलप्रकृतिबन्धका वर्णन स्थगित करके उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदोंका वर्णन करते हैं। वह उत्तरप्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है, एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबन्ध। उनमेंसे जो एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध है उसके चौबीस अनुयोगद्वार होते हैं। वे इसप्रकार हैं, समुत्कीर्तन सर्वबन्ध नोसर्वबन्ध उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध अजघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादिबन्ध ध्रुवबन्ध अध्रुवबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसन्निकर्ष, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम अन्तरानुगम, भावानुगम, और अल्पबहुत्वानुगम। इन चौबीस अधिकारोंमें जो समुत्कीर्तन नामका अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डक निकले हैं और तेवीसवें भावानुगमसे भावानुगम निकला है।

जो अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबन्ध है वह दो प्रकारका है, भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। उनमेंसे भुजगारबन्धके आठ अनुयोगद्वारोंके वर्णनको स्थगित करके प्रकृतिस्थानबन्धमें जो आठ अनुयोगद्वार होते हैं उनका वर्णन करते हैं। वे इसप्रकार हैं, सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छह अनुयोगद्वार निकले हैं। वे इसप्रकार हैं, सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा,

खेत्तपरूवणा फोसणपरूवणा कालपरूवणा अंतरपरूवणा अप्पाबहुगपरूवणा चेदि। एवमेदे पुव्विल्लाणि दोण्णि एक्कदो मेलिदे जीवट्ठाणस्स अट्ठ अणियोगद्दाराणि हवंति। पयडिट्ठाणबंधे वुत्त-संतादि-छ-अणियोगद्दाराणि पयडिट्ठाणबंधस्स वुत्ताणि। पुणो जीवट्ठाणस्स संतादि-छ-अणियोगद्दाराणि चोद्दसण्हं गुणट्ठाणाणं वुत्ताणि। कधं तेहिंतो एदस्स समवदारो त्ति? ण एस दोसो, एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठी अत्थि। एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठी एवदि खेत्ते। एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधगे मिच्छाइट्ठिणो एवदियं खेत्तं फोसिंति। एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठिणो मिच्छत्त-गुणमछंडंता जहण्णेण एत्तियं कालमुक्कस्सेण एत्तियं कालमच्छंति। तारिसंतर-कालो जहण्णुक्कस्सेण एत्तिओ होदि। एवं सेसगुणट्ठाणं च भणिऊण पुणो तेसिं अप्पाबहुगं उत्तं। तेण तेहि पयडिट्ठाणम्हि उत्त-छहि अणियोगद्दारेहि सह एयत्तं ण विरुज्झए।

स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा। ये छह और पूर्व अधिकारके ग्यारह अधिकार हैं, उनमेंसे द्रव्यप्रमाणानुगममेंसे निकला हुआ द्रव्यप्रमाणानुगम, बन्धनानुयोगद्वारसे निकले जो चौंतीस अधिकार हैं उनमेंसे तेतीसवें भावानुगममेंसे निकला हुआ भावप्रमाणानुगम, इसप्रकार इन सबको एक जगह मिला देने पर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार हो जाते हैं।

शंका—प्रकृतिस्थानबन्धमें जो छह अनुयोगद्वार कहे गये हैं, वे प्रकृतिस्थानबन्ध संबन्धी कहे गये हैं। और जीवस्थानके जो सत्प्ररूपणा आदि छह अनुयोगद्वार हैं वे गुणस्थानसम्बन्धी कहे गये हैं। ऐसी हालतमें प्रकृतिस्थानबन्धसम्बन्धी छह अनुयोगद्वारोंमें गुणस्थानसंबन्धी छह अनुयोगद्वारोंका अवतार कैसे हो सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव हैं। मिथ्यादृष्टि जीव इतने प्रमाण इस प्रकृतिस्थानके बन्धक होते हैं। इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीवोंने इतना क्षेत्र स्पर्श किया है। इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव इस मिथ्यात्व गुणस्थानको नहीं छोड़ते हुए जघन्यकी अपेक्षा इतने कालतक और उत्कृष्टकी अपेक्षा इतने कालतक मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहते हैं। इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीवोंका जघन्य अन्तरकाल इतना और उत्कृष्ट अन्तरकाल इतना होता है। इसीप्रकार शेष गुणस्थानोंका कथन करके फिर उनका अल्पबहुत्व कहा गया है। इसलिये उन प्रकृतिस्थानबन्धमें कहे गये छह अनुयोगद्वारोंके साथ जीवस्थानमें कहे गये छह अनुयोगद्वारोंका एकत्व अर्थात् समानता विरोधको प्राप्त नहीं होती है।

विशेषार्थ—जीवस्थानके सत्प्ररूपणादि छह अनुयोग प्रकृतिस्थानबन्धसे आये हैं, और इस जीवस्थानमें प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा कथन उन अनुयोगोंमें पाया जाता है। इसलिये प्रकृतिस्थानबन्धके छह अनुयोगोंके जीवस्थानके छह अनुयोगोंमें अन्तर्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

एत्थतण-दव्वाणियोगस्स वि किं ण गहणं कीरदि त्ति उत्ते ण, मिच्छाइट्ठि-आदि-गुणट्ठाणेहि विणा एयस्स बंधट्ठाणस्स बंधया जीवा एत्तिया इदि सामण्णेण उत्तादो। बंधगे उत्त-दव्वाणियोगस्स गहणं कीरदि, तत्थ बंधगा मिच्छाइट्ठी एत्तिया सासणादिया एत्तिया इदि उत्तत्तादो। बंधमजोगि-गुणट्ठाणस्स अबंधगस्स दव्व-पमाणं परूविज्जदि त्ति ण एस दोसो, भूद-पुव्व-गइमस्सिऊण तस्स पमाण-समवत्तादो। अहवा पयडि-सत्त-बंधमस्सिऊण उत्तमिदि वा। एवं भावस्स वि वत्तव्वं। एवं जीवट्ठाणस्स अट्ठ अणियोगद्दार-परूवणं गदं।

प्रकृतिस्थान अधिकारमें कहे गये द्रव्यानुयोगका ग्रहण इस जीवस्थानमें क्यों नहीं किया है। अर्थात् प्रकृतिस्थान अधिकारके सदादि छह अनुयोगोंमेंसे जिसप्रकार जीवस्थानके सदादि छह अनुयोगद्वारोंकी उत्पत्ति बतलाई है, उसीप्रकार प्रकृतिस्थानाधिकारके द्रव्यानुयोगमेंसे जीवस्थानके द्रव्यानुयोगकी उत्पत्तिका कथन क्यों नहीं किया गया है। इसप्रकारकी शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रकृतिस्थानके द्रव्यानुयोग अधिकारमें मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षाके बिना 'इस बन्धस्थानके बन्धक जीव इतने हैं' ऐसा केवल सामान्यरूपसे कथन किया गया है। और बन्धक अधिकारके द्रव्यानुयोग प्रकरणमें इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव इतने हैं, सासादनसम्यग्दृष्टि जीव इतने हैं ऐसा विशेषरूपसे कथन किया गया है। इसलिये बन्धक अधिकारमें कहे गये द्रव्यानुयोगका ग्रहण इस जीवस्थानमें किया है। अर्थात् बन्धक अधिकारके द्रव्यानुयोग प्रकरणसे जीवस्थानका द्रव्यप्रमाणानुगम प्रकरण निकला है।

शंका — अयोगी गुणस्थानमें कर्मप्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, इसलिये उसकी कर्मप्रकृतिबन्धकी अपेक्षा द्रव्यसंख्या कैसे कही जायेगी ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भूतपूर्व न्यायका आश्रय लेकर अयोगी गुणस्थानमें भी द्रव्यसंख्याका कथन संभव है। अर्थात् जो जीव पहले मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें प्रकृतिस्थानोंके बन्धक थे वे ही अयोगी हैं। इसलिये अयोगी गुणस्थानमें भी द्रव्यसंख्याका प्रतिपादन किया जा सकता है। अथवा, जीवके सत्त्वरूप प्रकृतिस्थानका आश्रय लेकर अयोगी गुणस्थानमें द्रव्यसंख्याका प्ररूपण किया गया है।

भावानुगमका कथन भी इसीप्रकार समझ लेना चाहिये।

विशेषार्थ — जीवस्थानकी भावप्ररूपणा प्रकृतिस्थानके भावानुयोगद्वारसे न निकल कर सर्वबन्धोदयप्रकृतिस्थान जो बन्धक अधिकार है उसके भावानुयोगद्वारसे निकली है। इसका कारण यह है कि प्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका सामान्यरूपसे कथन है और सर्वबन्धोदयप्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका विशेषरूपसे कथन है। इसप्रकार जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंका निरूपण किया।

तत्थ ट्ठिदिबंधो दुविहो, मूलपयडिट्ठिदिबंधो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो चेदि। तत्थ जो सो मूलपयडिट्ठिदिबंधो सो थप्पो। जो सो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्दाराणि। तं जहा, अद्धाछेदो सव्वबंधो णोसव्वबंधो उक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो सादियबंधो अणादियबंधो धुवबंधो अद्धुवबंधो बंधसामित्तविचयो बंधकालो बंधंतरं बंधसण्णियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागाणुगमो परिमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। तत्थ अद्धाछेदो दुविहो, जहण्णट्ठिदिअद्धाछेदो उक्कस्सट्ठिदिअद्धाछेदो चेदि। जहण्णट्ठिदिअद्धाछेदादो जहण्णट्ठिदी णिग्गदा। उक्कस्सट्ठिदिअद्धाछेदादो उक्कस्सट्ठिदी णिग्गदा। पुणो सुत्तादो सम्मत्तुप्पत्ती णिग्गया। वियाहपण्णत्तीदो गदिरागदी णिग्गदा। संपहि पुव्व उत्तपयडिसमुक्कित्तणा ट्ठाणसमुक्कित्तणा तिण्णि महादंडया एदाणि पंच सुत्ताणि संपहि पुव्वुत्त-जहण्णट्ठिदिअद्धाछेद उक्कस्सट्ठिदिअद्धाछेद सम्मत्तुप्पत्ति गदिरागदीओ च पक्खित्ते चूलियाए णव अहियारा भवंति। एवं सव्वमवि मणेण अवहारिय 'एत्तो' इदि उत्तं भयवदा पुप्फयंतेण।

स्थितिबन्ध दो प्रकारका है, मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। उनमेंसे मूलप्रकृतिस्थितिबन्धका वर्णन स्थगित करके जो उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध है उसके चौबीस अनुयोगद्वार हैं उनका कथन करते हैं। वे इसप्रकार हैं, अर्धच्छेद, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध व अजघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसंनिकर्ष, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इनमें अर्धच्छेद दो प्रकारका है, जघन्यस्थिति अर्धच्छेद और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेद। इनमें जघन्यस्थिति अर्धच्छेदसे जघन्यस्थिति निकली है और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेदसे उत्कृष्टस्थिति निकली है। पुनः सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामका अधिकार निकला है और व्याख्याप्रज्ञप्तिसे गति-आगति नामका अधिकार निकला है।

अब जो चूलिकाके नौ अधिकारोंका उपसंहार बताते हैं, पहले जो प्रकृतिसमुत्कीर्तना अधिकारके अन्तर्गत ... प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डक ये पांच अधिकार कह आये हैं, उनमें अभी कहे गये जघन्यस्थिति अर्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति-अर्धच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति आगति इन चार अधिकारोंके मिला देने पर चूलिकाके नौ अधिकार हो जाते हैं। इस समस्त कथनको मनमें विचार करके भगवान् पुष्पदन्तने 'इससे आगे' ऐसा पद कहा।

'इमेसिं' एतेषाम्। न च प्रत्यक्षनिर्देशोऽनुपपन्नः आगमाहितसंस्कारस्याचार्यस्यापरोक्षचतुर्दशभावजीवसमासस्य तदविरोधात्। जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः। चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसमासाः। तेषां चतुर्दशानां जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः। तेषां मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थः। मार्गणा एवार्थः प्रयोजनं मार्गणार्थस्तस्य भावो मार्गणार्थता तस्यां मार्गणार्थतायाम्। तस्यामिति तत्र। 'इमानि' इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षीभूतानि निर्दिश्यन्ते, नार्थमार्गणस्थानानि तेषां देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः। तानि च मार्गणस्थानानि चतुर्दशैव भवन्ति, मार्गणस्थानसंख्यायाः न्यूनाधिकभावप्रतिषेधफल एवकारः। किं मार्गणं नाम? चतुर्दश जीवसमासाः सदादिविशिष्टाः मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणम्। उक्तं च —

'एत्तो' इत्यादि सूत्रमें जो 'इमेसिं' पद आया है उससे जो प्रत्यक्षभूत पदार्थोंका निर्देश होता है वह अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि, जिनकी आत्मा आगमाभ्याससे संस्कृत है उन आचार्यके भावरूप चौदह जीवसमास प्रत्यक्षीभूत हैं। अतएव 'इमेसिं' इस पदके प्रयोग करनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अनन्तानन्त जीव और उनके भेद प्रभेदोंका जिनमें संग्रह किया जाय उन्हें जीवसमास कहते हैं। वे जीवसमास चौदह होते हैं। उन चौदह जीवसमासोंसे यहां पर चौदह गुणस्थान विवक्षित हैं। अर्थात् जीवसमासका अर्थ यहां पर गुणस्थान लेना चाहिये। मार्गणा, गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। मार्गणारूप प्रयोजनको मार्गणार्थ कहते हैं। मार्गणार्थके भाव अर्थात् मार्गणारूप प्रयोजनके भाव अर्थात् विशेषभावको मार्गणार्थता कहते हैं। उस मार्गणारूप प्रयोजनकी विषयता होने पर, यहां पर इसी अर्थमें 'तम्ह' यह पद आया है। 'इमानि' इस पदसे प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानोंका ग्रहण करना चाहिये। द्रव्यमार्गणाओंका ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि द्रव्यमार्गणाएं देश, काल और स्वभावकी अपेक्षा दूरवर्ती हैं। अतएव अल्पज्ञानियोंको उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। वे मार्गणास्थान भी चौदह ही होते हैं। यहां सूत्रमें जो 'चेव' पद दिया है उसका फल या प्रयोजन मार्गणास्थानकी संख्याके न्यूनाधिकभावका निषेध करना है।

शंका — मार्गणा किसे कहते हैं?

समाधान — सत् संख्या आदि अनुयोगद्वारोंसे युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं। कहा भी है —

१ [illegible] गो. जी. [illegible]

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुदणाणे मग्गणा होंति ॥ ८३ ॥

तं जहा ॥ ३ ॥

'तच्छब्दः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी' इति न्यायात् 'तत्' मार्गणाविधानम् । 'जहा' यथेति यावत् । एवं पृष्टवतः शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ॥ ४ ॥

गताविन्द्रिये काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने संयमे दर्शने लेश्यायां भव्ये सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे च जीवसमासाः मृग्यन्ते । 'च' शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते समुच्चयार्थः । 'इति' शब्दः समाप्तौ वर्तते । सप्तमीनिर्देशः किमर्थः ? तेषामधिकरणत्वप्रतिपादनार्थः ।

श्रुतज्ञान अर्थात् द्रव्यश्रुतरूप परमागममें जीव पदार्थ जिसप्रकार देखे गये हैं उसी प्रकारसे वे जिन नारकत्वादि पर्यायोंके द्वारा अथवा जिन नारकत्वादिरूप पर्यायोंमें खोजे जाते हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं । और वे चौदह होती हैं ऐसा जानो ॥ ८३ ॥

वे चौदह मार्गणास्थान कौनसे हैं ? ॥ ३ ॥

'तत् शब्द पूर्व प्रकरणमें आये हुए अर्थका परामर्शक होता है' इस न्यायके अनुसार 'तत्' इस शब्दसे मार्गणाओंके भेदोंका ग्रहण करना चाहिये । 'जहा' इस पदका अर्थ 'जैसे' होता है । वे जैसे? इसतरह पूछनेवाले शिष्यके सन्देहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएं हैं और इनमें जीव खोजे जाते हैं ॥ ४ ॥

गतिमें, इन्द्रियमें, कायमें, योगमें, वेदमें, कषायमें, ज्ञानमें, संयममें, दर्शनमें, लेश्यामें, भव्यत्वमें, सम्यक्त्वमें, संज्ञीमें और आहारमें जीवसमासोंका अन्वेषण किया जाता है । इस सूत्रमें 'च' शब्द समुच्चयार्थक है, इसलिये प्रत्येक पदके साथ उसका सम्बन्ध कर लेना चाहिये । और 'इति' शब्द समाप्तिरूप अर्थमें है । जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि मार्गणाएं चौदह ही होती हैं ।

---

१ गो. जी. १४१. गत्यादिमार्गणा यत्र एकेन्द्रियत्व-नारकत्वादिपर्यायस्वरूपा विवक्षितास्तदा 'याभिः' इति तृतीया विभक्तिः । यदा एकेन्द्रिय इति पर्यायाणामधिकरणता विवक्षा तदा 'यासु' इत्यधिकरणे सप्तमी विभक्तिः, विवक्षावशात् कारकप्रवृत्तिरिति न्यायस्य सद्भावात् । जी. प्र. टी. श्रुत ज्ञाने [illegible] श्रुतज्ञान, वर्णपदवाक्यरूपे [illegible] द्रव्यश्रुते [illegible] अविच्छिन्नप्रवाहेण प्रवर्तमानत्वात् । [illegible] यथा [illegible] तथा [illegible] परमागमे [illegible] अनुक्रमेण प्रदर्शितमानाय । मं. प्र. टी.

तृतीयानिर्देशोऽप्यविरुद्ध स कथं लभ्यते ? न, देशामर्शकत्वान्निर्देशस्य। यत्र च गत्यादौ विभक्तिर्न श्रूयते तत्रापि 'आइ-मज्झंत-वण्ण सर लोवो' इति लुप्ता विभक्तिरित्यभ्यूह्यम्। अहवा 'लस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए' चेदि एकपदत्वादवयवविभक्तयः श्रूयन्ते।

अथ स्याज्जगति चतुर्भिर्मार्गणा निष्पाद्यमानोपलभ्यते। तद्यथा, मृगयिता मृग्य मार्गण मार्गणोपाय इति। नात्र ते सन्ति, ततो मार्गणमनुपपन्नमिति। नैष दोष, तेषामप्यत्रोपलम्भात्। तद्यथा, मृगयिता भव्यपुण्डरीक तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीव, चतुर्गगुण

शंका— सूत्रमें गति आदि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्तिका निर्देश क्यों किया गया है ?

समाधान—उन गति आदि मार्गणाओंको जीवोंका आधार बतानेके लिये सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है।

इसीतरह सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ तृतीया विभक्तिका निर्देश भी हो सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—जब कि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्ति पाई जाती है तो फिर तृतीया विभक्ति कैसे संभव है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ जो सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है वह देशामर्शक है, इसलिये तृतीया विभक्तिका भी ग्रहण हो जाता है।

सूत्रोक्त गति आदि जिन पदोंमें विभक्ति नहीं पायी जाती है वहां पर भी 'आइमज्झंतवण्णसरलोवो' अर्थात् आदि, मध्य और अन्तके वर्ण और स्वरका लोप हो जाता है। इस प्राकृतव्याकरणके सूत्रके नियमानुसार विभक्तिका लोप हो गया है ऐसा समझना चाहिये। अथवा 'लेस्साभवियसम्मत्तसण्णिआहारए' यह एक पद समझना चाहिये। इसलिये लेश्या आदि प्रत्येक पदमें विभक्तियां देखनेमें नहीं आती हैं।

शंका—लोकमें अर्थात् व्यावहारिक पदार्थोंका विचार करते समय भी चार प्रकारसे अन्वेषण देखा जाता है। वे चार प्रकार ये हैं, मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय। परन्तु यहां लोकोत्तर पदार्थके विचारमें ये चारों प्रकार तो पाये नहीं जाते हैं इसलिये मार्गणाका कथन करना नहीं बन सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकरणमें भी वे चारों प्रकार पाये जाते हैं। वे इसप्रकार हैं, जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भव्यपुण्डरीक मृगयिता

१ ननु लोके व्यावहारिकपदार्थ विचारे मृगयितृमृग्य [illegible] दृष्टाः [illegible] इति चतुष्टयमस्ति। अत्र लोकोत्तरे तु पदार्थविचारे मृगयिता भव्यपुण्डरीक [illegible]। [illegible] जीवा [illegible]। [illegible] इति। गो. जी. म. प्र. टी. १४.

विशिष्टजीवा मृग्याः, मृग्यस्याधारतामास्कन्दन्ति मृगयितुः करणतामादधानानि वा मार्गणानि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणोपाय इति। सूत्रे शेषत्रितयं परिहृत्य मार्गणमेवोक्तमिति चेन्न, तस्य देशामर्शकत्वात्, तन्नान्तरीयकत्वाद्वा।

गम्यत इति गतिः[1]। नातिव्याप्तिर्दोषः सिद्धैः प्राप्यगुणाभावात्। न केवलज्ञानादयः प्राप्यास्तथात्मकैकस्मिन् प्राप्यप्रापकभावविरोधात्। कषायादयो हि प्राप्याः औपाधिकत्वात्। गम्यत इति गतिरित्युच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादी-

अर्थात् लोकोत्तर पदार्थोंका अन्वेषण करनेवाला है। चौदह गुणस्थानोंसे युक्त जीव मृग्य अर्थात् अन्वेषण करने योग्य हैं। जो मृग्य अर्थात् चौदह गुणस्थानविशिष्ट जीवोंके आधारभूत हैं, अथवा अन्वेषण करनेवाले भव्य जीवको अन्वेषण करनेमें अत्यन्त सहायक कारण हैं ऐसी गति आदिक मार्गणा हैं। शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणाके उपाय हैं।

शंका—इस सूत्रमें मृगयिता, मृग्य और मार्गणोपाय इन तीनको छोड़कर केवल मार्गणाका ही उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति आदि मार्गणावाचक पद देशामर्शक हैं, इसलिये इस सूत्रमें कही गई मार्गणाओंसे तत्सम्बन्धी शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है। अथवा मार्गणा पद शेष तीनोंका अविनाभावी है, इसलिये भी केवल मार्गणाका कथन करनेसे शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है।

जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं। गतिका ऐसा लक्षण करनेसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणोंका अभाव है। यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जावे, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि, केवलज्ञानस्वरूप एक आत्मामें प्राप्य प्रापकभावका विरोध है। उपाधिजन्य होनेसे कषायादिक भावोंको ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है। परन्तु वे सिद्धोंमें पाये नहीं जाते हैं, इसलिये सिद्धोंके साथ तो अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है।

शंका—जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं। गतिका ऐसा लक्षण करने पर गमनरूप क्रियामें परिणत जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिकको भी गति यह संज्ञा प्राप्त हो जायेगी, क्योंकि, गमनक्रियापरिणत जीवके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते हैं?

१ गम्यत इति गतिः, एवमुच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेशः स्यात्? तत्र गतिनामकर्मोदयोत्पन्नजीवपर्यायस्यैव गतित्वाभ्युपगमात्। गमनं वा गतिः। एवं सति ग्रामारामादिगमनस्यापि गतित्वप्रसंगः? न, भवाद् भवसंक्रान्तेर्विवक्षितत्वात्। गमनहेतुत्वात् गतिरिति भण्यमाने [illegible] गतित्व [illegible]। तत्र [illegible] गतिनाम्नोऽभ्युपगमात्। [illegible] गो. जी., जी. प्र., टी. १४६

नामपि गतिव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, गतिकर्मणः समुत्पन्नस्यात्मपर्यायस्य ततः कथञ्चिद्भेदादविरुद्धप्राप्तितः प्राप्तकर्मभावस्य गतित्वाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषानुपपत्तेः। भवाद्भवसङ्क्रान्तिर्वा गतिः। सिद्धगतिस्तद्विपर्यासात्। उक्तं च—

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति त्ति य गई होइ ॥ ८४ ॥

प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणि। अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा। तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरसरूपगन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत्। भावेन्द्रियकार्यत्वाद् द्रव्यस्येन्द्रियव्यपदेशः। नेयमदृष्टपरिकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति नामकर्मके उदयसे जो आत्माके पर्याय उत्पन्न होती है वह आत्मासे कथंचित् भिन्न है अतः उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है। और इसीलिये प्राप्तिरूप क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त नारकादि आत्मपर्यायके गतिपना मान लेनेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

अथवा, एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कहते हैं। ऊपर जो गतिनामा नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्यायविशेषको अथवा एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कह आए हैं, ठीक इससे विपरीत स्वभाववाली सिद्धगति होती है। कहा भी है—

गतिनामा नामकर्मके उदयसे जो जीवकी चेष्टाविशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं। अथवा, जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमें जाते हैं उसे गति कहते हैं ॥ ८४ ॥

जो प्रत्यक्षमें व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। जिनका खुलासा इसप्रकार है, अक्ष इन्द्रियको कहते हैं, और जो अक्ष अक्षके प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो कि इन्द्रियोंका विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है। उस इन्द्रियविषय अथवा इन्द्रिय-ज्ञानरूप प्रत्यक्षमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। वे इन्द्रियां शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नामके ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंके होने पर ही द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कारण हैं और द्रव्येन्द्रियां कार्य हैं और इसलिये द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। अथवा, उपयोगरूप भावेन्द्रियोंकी उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कार्य हैं और द्रव्येन्द्रियां कारण हैं। इसलिये भी द्रव्येन्द्रियोंको इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्टकल्पना नहीं है क्योंकि कार्यगत धर्मका कारणमें और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगत्में प्रसिद्धरूपसे पाया जाता है।

१ गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई। [illegible]

विशिष्टजीवा मृग्य, मृग्यस्याधारतामास्कन्दन्ति मृगयितुः करणतामास्थानानि वा गत्यादि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणोपाय इति । अत्र मार्गणस्यैव परिगणनमिति मार्गणमेवोक्तमिति चेन्न, तस्य देशामर्शकत्वात्, तदन्तर्भावित्वाद्वा ।

गम्यत इति गतिः । नातिव्याप्तिरपि सिद्धैः प्राप्यगुणाभावात् । न केवलज्ञानादयः प्राप्यास्तथाभेदे तस्मिन् प्राप्यप्रापकभावविरोधात् । कषायादयो हि प्राप्या औपाधिकत्वात् । गम्यत इति गतिरित्युच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादी-

अर्थात् लोकोत्तर पदार्थोंका अन्वेषण करनेवाला है। चौदह गुणस्थानोंसे युक्त जीव मृग्य अर्थात् अन्वेषण करने योग्य हैं। जो मृग्य अर्थात् चौदह गुणस्थानविशिष्ट जीवोंके आधारभूत हैं, अथवा अन्वेषण करनेवाले भव्य जीवको अन्वेषण करनेमें अत्यन्त सहायक कारण हैं ऐसी गति आदिक मार्गणा हैं। शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणाके उपाय हैं।

शंका—इस सूत्रमें मृगयिता, मृग्य और मार्गणोपाय इन तीनको छोड़कर केवल मार्गणाका ही उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति आदि मार्गणावाचक पद देशामर्शक हैं, इसलिये इस सूत्रमें कही गई मार्गणाओंसे तत्सम्बन्धी शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है। अथवा मार्गणा पद शेष तीनोंका अविनाभावी है, इसलिये भी केवल मार्गणाका कथन करनेसे शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है।

जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं। गतिका ऐसा लक्षण करनेसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणोंका अभाव है। यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जावे, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि, केवलज्ञानस्वरूप एक आत्मामें प्राप्य प्रापकभावका विरोध है। उपाधिजन्य होनेसे कषायादिक भावोंको ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है। परंतु वे सिद्धोंमें पाये नहीं जाते हैं, इसलिये सिद्धोंके साथ तो अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है।

शंका—जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं। गतिका ऐसा लक्षण करने पर गमनरूप क्रियामें परिणत जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिकको भी गति यह संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, गमनक्रियापरिणत जीवके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते हैं?

१ 'गम्यत इति गतिः' एवमुच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेशः स्यात्? तन्न, गतिनामकर्मोदयापादितजीवपर्यायस्यैव गतित्वाभ्युपगमात्। गमनं वा गतिः। एवं सति ग्रामारामादिगमनस्यापि गतित्वं प्रसज्यते। तन्न, भवाद् भवसंक्रान्तेर्विवक्षितत्वात्। गमनहेतुर्वा गतिः। तथोच्यमाने चक्रादयोऽपि गतित्वं प्राप्नोति। तन्न, भवान्तरगमनहेतोर्गतिनामकर्मणो गतित्वाभ्युपगमात्। जी. प्र. टी. अत्र मार्गणाप्रकरणे गतिनामकर्म न गृह्यते, वक्ष्यमाणनारकादिगतिविशेषस्य नारकादिपर्यायस्यैव संभवात्। गो. जी., म. प्र., टी. १४६

नामपि गतिव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, गतिकर्मणः समुत्पन्नस्यात्मपर्यायस्य तत्र कथञ्चिद्भेदादविरुद्धप्राप्तितः प्राप्तकर्मभावस्य गतित्वाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषानुपपत्तेः। भवाद्भवसंक्रान्तिर्वा गतिः। सिद्धगतिस्तद्विपर्यासात्। उक्तं च—

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति त्ति य गई होइ ॥ ८४ ॥

प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणि। अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा। तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरसरूपगन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत्। भावेन्द्रियकार्यत्वाद् द्रव्यस्येन्द्रियव्यपदेशः। नेयमदृष्टपरिकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति नामकर्मके उदयसे जो आत्माके पर्याय उत्पन्न होती है वह आत्मासे कथंचित् भिन्न है, अतः उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है। और इसीलिये प्राप्तिरूप क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त नारकादि आत्मपर्यायके गतिपना मानलेने पर पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

अथवा, एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कहते हैं। ऊपर जो गतिनामा नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्यायविशेषको अथवा एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कह आये हैं, ठीक इससे विपरीत स्वभाववाली सिद्धगति होती है। कहा भी है—

गतिनामा नामकर्मके उदयसे जो जीवकी चेष्टाविशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं। अथवा जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमें जाते हैं उसे गति कहते हैं॥ ८४॥

जो प्रत्यक्षमें व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। जिसका खुलासा इसप्रकार है, अक्ष इन्द्रियको कहते हैं, और जो अक्ष अक्षके प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो कि इन्द्रियोंका विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है। उस इन्द्रिय-विषय अथवा इन्द्रिय-ज्ञानरूप प्रत्यक्षमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। वे इन्द्रियां शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नामके ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंके होने पर ही द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कारण हैं और द्रव्येन्द्रियां कार्य हैं और इसलिये द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। अथवा, उपयोगरूप भावेन्द्रियोंकी उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कार्य हैं और द्रव्येन्द्रियां कारण हैं, इसलिये भी द्रव्येन्द्रियोंको इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्ट कल्पना नहीं है, क्योंकि कार्यगत धर्मका कारणमें और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगमें प्रसिद्ध रूपसे पाया जाता है।

१ [illegible]

सुप्रसिद्धस्योपलम्भात् । इन्द्रियवैकल्यमनोऽनवस्थानानध्यवसायालोकाद्यभावावस्थायां क्षयोपशमस्य प्रत्यक्षविषयव्यापाराभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितस्य गोशब्दस्यागच्छद्गोपदार्थेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भात् । भवतु तत्र रूढिबललाभादिति चेदत्रापि तल्लाभादेवास्तु, न कश्चिद्दोषः । नियामकाभावतस्तेषां सङ्कर[2]व्यतिकररूपेण व्यापृतिः प्राप्नोतीति चेन्न, प्रत्यक्षे '[3]नीतिनियमिते रतानीति प्रतिपादनात् । सङ्करव्यतिकराभ्यां व्यापृतिनिराकरणाय स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि इति वा वक्तव्यम् । स्वेषां विषयः स्वविषयस्तत्र निश्चयेन निर्णयेन रतानीन्द्रियाणि । सामान्यविषय

शंका—इन्द्रियोंकी विकलता, मनकी चञ्चलता, और अनध्यवसायके सद्भावमें तथा प्रकाशादिकके अभावरूप अवस्थामें क्षयोपशमका प्रत्यक्ष विषयमें व्यापार नहीं हो सकता है, इसलिये उस अवस्थामें आत्माके अनिन्द्रियपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो गमन करती है उसे गौ कहते हैं। इसतरह 'गो' शब्दकी व्युत्पत्ति हो जाने पर भी, नहीं गमन करनेवाले गौ पदार्थमें भी उस शब्दकी प्रवृत्ति पाई जाती है।

शंका—भले ही गोपदार्थमें रूढिके बलसे गमन नहीं करती हुई अवस्थामें भी गो शब्दकी प्रवृत्ति होओ। किंतु इन्द्रियवैकल्यादिरूप अवस्थामें आत्माके इन्द्रियपना प्राप्त नहीं हो सकता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो आत्मामें भी इन्द्रियोंकी विकलता आदि कारणोंके रहने पर रूढिके बलसे इन्द्रिय शब्दका व्यवहार मान लेना चाहिये। ऐसा मान लेनेमें कोई दोष नहीं आता है।

शंका—इन्द्रियोंके नियामक विशेष कारणोंका अभाव होनेसे उनका संकर और व्यतिकररूपसे व्यापार होने लगेगा। अर्थात् या तो वे इन्द्रियां एक दूसरी इन्द्रियके विषयको ग्रहण करेंगी या समस्त इन्द्रियोंका एक ही साथ व्यापार होगा ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियां अपने नियमित विषयमें ही रत हैं, अर्थात् व्यापार करती हैं, ऐसा पहले ही कथन कर आये हैं। इसलिये संकर और व्यतिकर दोष नहीं आता है।

अथवा, संकर और व्यतिकरद्वारा विषयमें व्यापाररूप दोषके निराकरण करनेके लिये इन्द्रियां अपने अपने विषयमें रत हैं, ऐसा लक्षण कहना चाहिये। अपने अपने विषयको स्वविषय कहते हैं। उसमें जो निश्चयसे अर्थात् अन्य इन्द्रियके विषयमें प्रवृत्ति न करके केवल अपने विषयमें ही रत हैं उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

१ इत आरभ्य 'इन्द्रिय' शब्दस्य व्याख्यानं यावत्समग्रपाठो गो. जीवकाण्डस्य 'मदि आवरण' इत्यादि १६५ तमगाथाया जीवतत्त्वप्रदीपिकाटीकया प्रायेण समानः ।

२ सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः । परस्परविषयगमनं व्यतिकरः । न्या. कु. च. पृ. ३६०

३ 'नीति' इति पाठो नास्ति । गो. जी., जी. प्र., टी. १६५

पारस्थायां निर्णयात्मकरतेरभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, रूढिबललाभादुभयत्र प्रवृत्त्यविरोधात्। अथवा स्ववृत्तिरतानीन्द्रियाणि। संशयविपर्ययनिर्णयादौ वर्तनं वृत्तिः, तस्यां स्ववृत्तौ रतानीन्द्रियाणि। निर्व्यापारावस्थायां नेन्द्रियव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्। अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि। अर्यत इत्यर्थः, तस्मिन्नर्थे च निरतानीन्द्रियाणि, निरवद्यत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति। अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि। उक्तं च—

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहं ति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदिए जाण[1] ॥ ८५ ॥

शंका—संशय और विपर्ययरूप ज्ञानकी अवस्थामें निर्णयात्मक रति अर्थात् प्रवृत्तिका अभाव होनेसे उस अवस्थामें आत्माको अनिन्द्रियपनेकी प्राप्ति हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, रूढिके बलसे निर्णयात्मक और अनिर्णयात्मक इन दोनों अवस्थाओंमें इन्द्रिय शब्दकी प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है।

अथवा, अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। इसका खुलासा इसप्रकार है। संशय और विपर्ययज्ञानके निर्णय आदिके करनेमें जो प्रवृत्ति होती है उसे वृत्ति कहते हैं। उस अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं।

शंका—जब इन्द्रियां अपने विषयमें व्यापार नहीं करती हैं तब उन्हें व्यापाररहित अवस्थामें इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं कि रूढिके बलसे ऐसी अवस्थामें भी इन्द्रिय-व्यवहार होता है।

अथवा, जो अपने अर्थमें निरत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। 'अर्यते' अर्थात् जो निश्चित किया जाय उसे अर्थ कहते हैं। उस अपने विषयरूप अर्थमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। इन्द्रियोंका यह लक्षण निर्दोष होनेके कारण इस विषयमें अधिक वक्तव्य कुछ भी नहीं है। अर्थात् इन्द्रियोंका यह लक्षण इतना स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोषोंको यहां अवकाश ही नहीं है।

अथवा, अपने अपने विषयका स्वतन्त्र आधिपत्य करनेसे इन्द्रियां कहलाती हैं। कहा भी है—

जिसप्रकार ग्रैवेयकादिमें उत्पन्न हुए अहमिन्द्र देव मैं सेवक हूं अथवा स्वामी हूं इत्यादि

१ याव० स्वामिनः। [illegible] तथा [illegible] देव वनि तादिन्द्रियं ॥ गो. जी. जी. प्र. १६४ [illegible] दुःखानाम्। भावाः भवानामिह तस्मिन् भवाभो ॥ वि. भा. [illegible] इन्दनात् [illegible] आत्मा (जीव) सर्वविषयोपलब्धि (ज्ञान) [illegible] अभिधानाद् [illegible] लिङ्गमिन्द्रियम्। अभि [illegible]

२ [illegible] स्वातन्त्र्यादिविशिष्टत्व [illegible]

चीयत इति कायः। नेष्टकादिचयेन व्यभिचारः पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेषणात्। औदारिकादिकर्मभिः पुद्गलविपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यादिकर्मणां सहकारिणामभावे तत्चयनानुपपत्ते। कार्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चित नोकर्मपुद्गलाभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्। अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः। अत्रापि स दोषो न निवर्तत

विशेषभावसे रहित अपनेको मानते हुए एक एक होकर अर्थात् कोई किसीकी आज्ञा आदिके पराधीन न होते हुए स्वयं स्वामीपनेको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार इन्द्रियां भी अपने अपने स्पर्शादिक विषयका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित हैं, अतएव अहमिन्द्रोंकी तरह इन्द्रियां जानना चाहिये।

जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं। यहां पर जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं ऐसी व्याप्ति बना लेने पर कायको छोड़कर ईंट आदिके संचयरूप विपक्षमें भी यह व्याप्ति घटित हो जाती है, अतएव व्यभिचार दोष आता है। ऐसी शंका मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह ईंट आदिके संचयके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मोंके उदयसे इतना विशेषण जोड़कर ही 'जो संचित किया जाता है' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गई है।

शंका—पुद्गलविपाकी औदारिक आदि कर्मोंके उदयसे जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, कायकी ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गई है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहकारीरूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव रहने पर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नोकर्मवर्गणाओंका संचय नहीं हो सकता है।

शंका—कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके पृथिवी आदिके द्वारा संचित हुए नोकर्म पुद्गलका अभाव होनेसे अकायपना प्राप्त हो जायगा?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, नोकर्मरूप पुद्गलोंके संचयका कारण पृथिवी आदि कर्मसहकृत औदारिकादि नामकर्मका उदय कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें भी पाया जाता है, इसलिये उस अवस्थामें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है।

अथवा, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं।

शंका—कायका इसप्रकारका लक्षण करने पर भी पहले जो दोष दे आये हैं, वह दूर नहीं होता है। अर्थात् इसतरह भी जीवके कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें अकायपनेकी प्राप्ति होती है।

एकैकं भूत्वा आत्मानं अपरवशतया स्वयं ईश्वरं प्रभवति स्वामिभावं श्रयति, तथा स्पर्शनादीन्द्रियाण्यपि स्पर्शादि स्वस्वविषयेषु ज्ञानमुत्पादयितुमात्मनः परानपेक्षया प्रभवन्ति, तत कारणादहमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि ज्ञेयानि। गो. जी. म. टी.

१

इति चेन्न, आत्मप्रवृत्त्युपचितकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्र सत्त्वात्। आत्मप्रवृत्त्युप[illegible]नोकर्म पुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वात् तस्य [illegible]व्यपदेश इति चेन्न, त[illegible]पक्षसत्त्वापेक्षया तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः। उक्तं च—

[illegible] ॥ ८६ ॥

[illegible] ॥ ८७ ॥

युज्यत इति योगः। न युज्यमानपट्टाग्निना व्यभिचार[illegible]। न

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे [illegible] हुए कर्मरूप पुद्गलपिण्डका कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है। [illegible] कार्मणकाययोगकी अवस्थामें होता है उस समय उसके [illegible] और कर्मोंका सद्भाव रहता ही है, इसलिये इस अपेक्षासे उसके कायपना बन जाता है।

शंका—कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे [illegible] हुए नोकर्म पुद्गलपिण्डका असत्त्व होनेके कारण कार्मणकाययोगमें [illegible] व्यपदेश नहीं बन सकता है?

समाधान—[illegible] कार्मणकाय[illegible] अवस्थामें सद्भाव होनेसे कार्मणकाययोगमें [illegible] है। कहा भी है—

योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे [illegible] समझना चाहिये। यह काय [illegible] प्रकारका कहा गया है। और वे पृथिवी आदि [illegible] होते हैं [illegible]

[illegible]

[illegible]

कषायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मागमनहेतुत्वाभावात्। अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिबन्धनवीर्योत्पादो योगः। अथवात्मप्रदेशानां सङ्कोचविकोचो योगः। उक्तं च—

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरिय-परिणामो।
जीवस्स प्पणिजोओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो॥ ८८॥

वेद्यत इति वेदः। अष्टकर्मोदयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोतीति चेन्न, 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति विशेषावगतेः। 'रूढितन्त्रा व्युत्पत्तिः' इति वा। अथवात्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः। अत्रापि मोहोदयस्य सकलस्य वेद [illegible]

[illegible] होनेसे यद्यपि सयोगकेवली प्राप्त होनेवाले [illegible] निराकरण हो [illegible] नहीं हो सकता है क्योंकि, कषाय आत्माका [illegible] भी प्राप्त होता है। इसलिये जो जो सयोगकेवली प्राप्त हो उसे योग कहते हैं [illegible] भी [illegible] होती है, अतएव कषायोंके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है। [illegible] आचार्य कहते हैं कि इसतरह कषायके साथ भी व्यभिचार [illegible] कर्मोंके [illegible] कारण नहीं पड़ती है। अथवा, [illegible] कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत [illegible] योग कहते हैं। [illegible] कहा भी है—

[illegible] प्रतियोग अर्थात् [illegible] ॥ ८८ ॥

[illegible]

[illegible]

दश स्यादिति चेन्न, अत्रापि मतिश्रुताज्ञानाभ्यां कर्मणामन्यत्र वेद्यत्वाभावात्। अथवा आत्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः। उक्तं च—

> वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुण णियच्छदे बहुसो।
> इत्थी-पुंस-णउंसय वेयं ति तओ हवदि वेदो ॥ ८९ ॥

सुखदुःखबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः। 'कषन्तीति कषायाः' इति किमिति न व्युत्पादितः कषायशब्दश्चेत्, तत्र कषायाणां प्रतिपत्तिरनुपपत्तेः। उक्तं च—

अथवा, आत्मप्रवृत्ति अर्थात् आत्माके चैतन्यरूप पर्यायमें सम्मोह अर्थात् राग-द्वेषरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको मोह कहते हैं। यहां पर मोह शब्द वेदका पर्यायवाची है।

शंका—इसप्रकारके लक्षणके करने पर भी संपूर्ण मोहके उदयको वेद संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोहका भी व्यामोहको उत्पन्न करना है?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, शब्दोंकी प्रवृत्ति रूढिके अनुसार होती है, इसलिये केवल वेदकर्मके उदयको ही वेद संज्ञा प्राप्त है।

अथवा, आत्मप्रवृत्ति अर्थात् आत्माके चैतन्यरूप पर्यायमें मैथुनरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं। कहा भी है—

वेदकर्मकी उदीरणासे यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चांचल्यको प्राप्त होता है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव तथा नपुंसकभावका वेदन करता है। इसलिये उस वेदकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले भावको वेद कहते हैं ॥ ८९ ॥

सुख, दुःखरूपी नाना प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती हैं, अर्थात् फल उत्पन्न करनेके योग्य करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं।

शंका—यहां पर कषाय शब्दकी 'कषन्तीति कषायाः' अर्थात् जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं, इसप्रकारकी व्युत्पत्ति क्यों नहीं की?

समाधान—जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं, कषाय शब्दकी इसप्रकारकी व्युत्पत्ति करने पर कसनेवाले किसी भी पदार्थको कषाय माना जायगा। अतः कषायोंके स्वरूप समझनेमें संशय उत्पन्न हो सकता है, इसलिये जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं, इसप्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई। तथा उक्त व्युत्पत्तिसे कषायोंके स्वरूप समझनेमें बाधा आती है, इसलिये भी जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं, कषाय शब्दकी इसप्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की। कहा भी है—

[illegible]

सुह-दुक्ख-सुबहु-सस्सं कम्म-क्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसार-दूर-मेरं तेण कसाओ त्ति णं बेंति ॥ ९० ॥

भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम् । मिथ्यादृष्टीनां कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां प्रकाशस्य समानतोपलम्भात् । कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयात्प्रतिभासितेऽपि वस्तुनि संशयविपर्ययानध्यवसायानिवृत्तितस्तेषामज्ञानितोक्तेः । एवं सति दर्शनावस्थायां ज्ञानाभावः स्यादिति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् । [illegible]

सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती है उन्हें कषाय कहते हैं ॥ ९० ॥

सत्यार्थका प्रकाश करनेवाली शक्तिविशेषको ज्ञान कहते हैं ।

शंका—मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान भूतार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है ।

शंका—यदि दोनोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वस्तुके प्रतिभासित होनेपर भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी निवृत्ति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहा है ।

शंका—इसतरह मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी मानने पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानोपयोगका अभाव इष्ट ही है ।

शंका—यदि ऐसा मान लिया जावे तो इस कथनका कालानुयोगमें आये हुए 'एगसम

१ गो. जी. २८२. अत्र मिथ्यात्वादिविपाकस्य [illegible] लक्षणं [illegible] उक्ता कषायादिकषायनामा [illegible] पुनरपि [illegible] अनाद्यनिधनसंसारदूरमानि यथा [illegible] भवति तथा [illegible] कर्षति इति [illegible] धातोर्विलक्षणार्थं [illegible] निरुक्तिपूर्वकं कषायशब्दस्यार्थनिरूपणं आचार्येण [illegible] । जी. प्र. टी. [illegible] पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति [illegible] । [illegible] इति कषायाः । [illegible] कषाया इव कषायाः यथा [illegible] तथा [illegible] आत्मनि कर्म [illegible] जायते, तदा यथा [illegible] । जी. [illegible]
(समाप्त)

२ [illegible] कालानुयोगात् [illegible] । [illegible] ज्ञानाभिमानिनां [illegible] प्रतिपादि[illegible] ।

विरोधः स्यादिति चेन्न, तत्र क्षयोपशमस्य प्राधान्यात्। विपर्ययः कथं भूतार्थप्रकाशक इति चेन्न, चन्द्रमस्युपलभ्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्त्वतस्तस्य भूतार्थत्वोपपत्तेः। अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्। एतेन संशयविपर्ययानध्यवसायावस्थासु ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात्, शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्। ततो मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिन इति सिद्धम्। द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम्। अभिन्नस्य कथं करणत्वमिति चेन्न, सर्वथा भेदाभेदे च स्वरूपहानिप्रसङ्गादनेकान्ते स्वरूपोपलम्भात्

पडुच्च अणादिओ अपज्जवसिदो' इत्यादि सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं आता है? अर्थात् कालानुयोगमें ज्ञानका काल एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्त आदि आता है। परंतु यहां पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव बतलाया है इसलिये यह कथन परस्पर विरुद्ध है। अतः दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव कैसे माना जा सकता है, क्योंकि इस कथनको कालानुयोगके सूत्रसे विरोध आता है?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि कालानुयोगमें जो ज्ञानके अस्तित्वका कथन किया है, वहां क्षयोपशमकी प्रधानता है।

शंका—विपर्ययज्ञान (मिथ्याज्ञान) सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे पदार्थोंमें सत्त्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञानमें भूतार्थता बन जाती है।

अथवा, सद्भाव अर्थात् वस्तु स्वरूपका निश्चय करानेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं। ज्ञानका इसप्रकारका लक्षण करनेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामें ज्ञानका (सम्यग्ज्ञानका) अभाव प्रतिपादित हो जाता है। कारण कि शुद्ध निश्चयनयकी विवक्षामें वस्तुस्वरूपका उपलम्भ करानेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है। इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानी नहीं हो सकते हैं। इसप्रकार जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायोंको जानते हैं उसे ज्ञान कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका—ज्ञान तो आत्मासे अभिन्न है इसलिये वह पदार्थोंके जाननेमें साधकतम कारण कैसे हो सकता है?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा भेद अथवा अभेद माननेपर स्वरूपकी हानि होती है। किन्तु कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्नस्वरूप अनेकान्तके मान लेने पर वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि होती है। इसलिये आत्मासे कथंचित् अभिन्नरूप ज्ञानको आत्मरूप क्रियाके प्रति साधकतम कारण

[illegible]

करणत्वाविरोध इति । उक्तं च—

> जाणइ तिकालसहिए दव्व-गुणे पज्जए य बहु-भेए ।
> पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणे त्ति णं बेंति ॥ ९१ ॥

संयमनं संयमः । न द्रव्ययमः संयमस्तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात् । यमेन समितयः सन्ति, तास्वसतीषु संयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'सं' शब्देनात्मसात्कृताशेषसमितित्वात् । अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः । उक्तं च—

होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ—यदि धर्मको धर्मीसे सर्वथा भिन्न माना जावे तो दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जानेके कारण यह धर्म है और यह धर्मी है अथवा यह धर्म इस धर्मीका है, इसप्रकारका व्यवहार ही नहीं बन सकता है। इसलिये निश्चित धर्मके अभावमें वस्तुके विनाशका प्रसंग आता है। और यदि धर्मको धर्मीसे सर्वथा अभिन्न माना जावे तो धर्म और धर्मी इसप्रकारका भेदरूप व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, सर्वथा अभेद मानने पर इन दोनोंमेंसे किसी एकका ही अस्तित्व सिद्ध होगा। उनमेंसे यदि केवल धर्मका ही अस्तित्व मान लिया जाय तो उसके लिये आधार चाहिये, क्योंकि, कोई भी धर्म आधारके बिना नहीं रह सकता है। और यदि केवल धर्मीका अस्तित्व मान लिया जावे तो धर्मके बिना उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती है। इसलिये धर्मको धर्मीसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिये। इसतरह अनेकान्तके मानने पर ही धर्म-धर्मी व्यवस्था बन सकती है और धर्म-धर्मी व्यवस्थाके सिद्ध हो जाने पर ज्ञानको साधकतम कारण माननेमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता है। कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य उनके गुण और उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाने उसको ज्ञान कहते हैं ॥ ९१ ॥

संयमन करनेको संयम कहते हैं। संयमका इसप्रकारका लक्षण करने पर द्रव्य यम अर्थात् भावचारित्रशून्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयम शब्दमें ग्रहण किये गये 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है।

शंका—यहां पर यमसे समितियोंका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, समितियोंके नहीं होने पर संयम नहीं बन सकता है?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, संयममें दिये गये 'सं' शब्दसे संपूर्ण समितियोंका ग्रहण हो जाता है।

अथवा, पांच व्रतोंका धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियोंके विषयोंका जीतना संयम है। कहा भी है—

वद-समिदि-कसायाणं दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जया संजमो भणिओ[1] ॥ ९२ ॥

दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् । नाक्ष्णालोकेन चातिप्रसङ्गस्तयोरनात्मधर्मत्वात् । दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञानदर्शनयोरविशेषः स्यादिति चेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्वविरोधात्[2] । किं तच्चैतन्यमिति चेत्त्रिकालगोचरानन्तपर्यायात्मकस्य जीवस्वरूपस्य स्वक्षयोपशमवशेन संवेदनं चैतन्यम् । स्वतो व्यतिरिक्त

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोंका धारण करना। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग इन पांच समितियोंका पालना। क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायोंका निग्रह करना। मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियोंका जय, इसको संयम कहते हैं ॥ ९२ ॥

जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते हैं। दर्शनका इसप्रकारका लक्षण करने पर चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी देखनेमें सहकारी होनेसे उनमें दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिप्रसंग दोष आता है। शंकाकारकी इसप्रकारकी शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह चक्षु इन्द्रिय और आलोकके साथ अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय और आलोक आत्माके धर्म नहीं हैं। यहां चक्षुसे द्रव्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिये।

शंका—जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं। दर्शनका इसप्रकार लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके एक होनेमें विरोध आता है।

शंका—वह चैतन्य क्या वस्तु है?

समाधान—त्रिकालविषयक अनन्तपर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते हैं।

शंका—अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख

१ गो. जी. ४६५

२ [illegible]

बाह्यार्थावगतिः प्रकाश इत्यन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्यनेनात्मानं बाह्यमर्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति चेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात्। तर्ह्यस्त्वन्तर्बाह्यसामान्यग्रहणं दर्शनम्, विशेषग्रहणं ज्ञानमिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात्। सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विरोध इति चेन्न, 'हंदि दुवे णत्थि उवजोगा' इत्यनेन सह विरोधात्। अपि च न ज्ञानं प्रमाणं सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्वं प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात्। न तस्य ग्रहणमपि सामान्यव्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि कर्तृकर्मरूपाभावात्। तत एव न दर्शनमपि

चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाशक होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूपको और पर पदार्थोंको जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। इसप्रकारकी व्याख्याके सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शनमें एकता आ जाती है, इसलिये उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जिसतरह ज्ञानके द्वारा यह घट है, यह पट है इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिनियत कर्मकी व्यवस्था होती है उसतरह दर्शनके द्वारा नहीं होती है, इसलिये इन दोनोंमें भेद है।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिये?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य और विशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना ही ग्रहण होता है।

शंका—यदि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना ही ग्रहण होता है तो वह भी रहा आवे, ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि 'छद्मस्थोंके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं' इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है।

दूसरी बात यह है कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ है। और जो अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है। अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्यरहित अवस्तुरूप केवल विशेषमें कर्ताकर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता है। इसतरह केवल विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध नहीं होनेसे केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाले दर्शनको भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। अर्थात् जब कि सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य वस्तुरूपसे सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं?

[illegible]

प्रमाणम्। अस्तु प्रमाणाभाव इति चेन्न, प्रमाणाभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात्। ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं, तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्। तथा च 'जं सामण्णं गहणं तं दंसणं' इति वचनेन विरोधः स्यादिति चेन्न, तत्रात्मनः सकलबाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात्। तदपि कथमवसीयत इति चेन्न, 'भावाणं णेव कट्टु आयारं' इति वचनात्। तद्यथा, भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद्दर्शनम्। अस्यैवार्थस्य पुनरपि

शंका—यदि ऐसा है, तो प्रमाणका अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जाय?

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमाणका अभाव मान लेने पर प्रमेय, प्रमाता आदि सभीका अभाव मानना पड़ेगा।

शंका—यदि प्रमेयादि सभीका ही अभाव होता है तो होओ?

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमेयादिका अभाव देखनेमें नहीं आता है किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टिगोचर होता है। अतः सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्यविशेषात्मक आत्मस्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—उक्त प्रकारसे दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मान लेने पर 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं' परमागमके इस वचनके साथ विरोध आता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंमें साधारणरूपसे पाया जाता है, इसलिये उक्त वचनमें सामान्य संज्ञाको प्राप्त आत्माका ही सामान्य पदसे ग्रहण किया गया है।

शंका—यह कैसे जाना जाय कि यहां पर सामान्य पदसे आत्माका ही ग्रहण किया है?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि 'पदार्थोंके आकार अर्थात् भेदको नहीं करके' इस वचनसे उक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है। इसीको स्पष्ट करते हैं भावोंके, अर्थात् बाह्य पदार्थोंके आकाररूप प्रतिकर्मव्यवस्थाको नहीं करके अर्थात् भेदरूपसे प्रत्येक पदार्थको ग्रहण नहीं करके जो (सामान्य) ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं। फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं कि 'यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक रूप

[illegible]

दृढीकरणार्थमाह, 'अविसेसिऊण अट्ठे' इति, अर्थानविशेष्य यद् ग्रहणं तद्दर्शनमिति न बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनमित्याशङ्कनीयं तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात्। न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यत्वमास्कन्दतीत्यतिप्रसङ्गात्। सत्येवमनध्यवसायो दर्शनं स्यादिति चेन्न, स्वाध्यवसायस्यानध्यवसितबाह्यार्थस्य दर्शनत्वात्। दर्शनं प्रमाणमेव अविसंवादित्वात्, प्रतिभासः प्रमाणश्चाप्रमाणश्च विसंवादाविसंवादोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात्। आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका, आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आलो-

....

है' इत्यादि रूपसे पदार्थोंकी विशेषता न करके जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। इस कथनसे यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि बाह्य पदार्थोंमें रहनेवाले सामान्यको ग्रहण करना दर्शन है, तो उसकी ऐसी आशङ्का करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, विशेषकी अपेक्षा रहित केवल सामान्य अवस्तुस्वरूप है, इसलिये वह दर्शनके विषयभावको (कर्मपनेको) नहीं प्राप्त हो सकता है। उसीप्रकार सामान्यके विना केवल विशेष भी ज्ञानके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि, अवस्तुरूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्यका ग्रहण मान लिया जावे तो अतिप्रसङ्ग दोष आता है।

शंका—दर्शनके लक्षणको इसप्रकारका मान लेने पर अनध्यवसायको दर्शन मानना पड़ेगा?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थका निश्चय न करते हुए भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला दर्शन है, इसलिये वह अनध्यवसायरूप नहीं है। ऐसा दर्शन अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण ही है। और अनध्यवसायरूप जो प्रतिभास है वह प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि, उसमें विसंवाद और अविसंवाद ये दोनों रूप पाये जाते हैं। (जैसे, मार्गमें चलते हुए तृणस्पर्शके होने पर 'कुछ है' यह ज्ञान निश्चयात्मक है, और 'क्या है' यह ज्ञान अनिश्चयात्मक है। इसलिये अनध्यवसायको उभयरूप कहा है।)

अथवा आलोकन अर्थात् आत्माके व्यापारको दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो अवलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं। और वर्तन अर्थात् व्यापारको वृत्ति कहते हैं। तथा आलोकन अर्थात् आत्माकी वृत्ति अर्थात् वेदनरूप व्यापारको

[illegible]

ज्ञानस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः। प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका, प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम्। विषयविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः। उक्तं च —

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए ॥ ९३ ॥

लिम्पतीति लेश्या। न भूमिलेपिकयातिव्याप्तिदोषः कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षित्वात्। अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या। नात्रातिप्रसङ्गदोषः प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायत्वात्। अथवा कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या। ततो न केवल

आलोकनवृत्ति या स्वसंवेदन कहते हैं, और उसीको दर्शन कहते हैं। यहां पर दर्शन इस शब्दसे लक्ष्यका निर्देश किया है। अथवा, प्रकाशवृत्तिको दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ इसप्रकार है कि प्रकाश ज्ञानको कहते हैं और उस ज्ञानके लिये जो आत्माका व्यापार होता है उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं, और वही दर्शन है। अर्थात् विषय और विषयीके योग्य देशमें होनेकी पूर्वावस्थाको दर्शन कहते हैं। कहा भी है—

सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थोंको अलग अलग भेदरूपसे ग्रहण नहीं करके जो सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूपमात्रका अवभासन होता है उसको परमागममें दर्शन कहा है ॥९३॥

जो लिम्पन करता है उसे लेश्या कहते हैं। यहां पर जो लिम्पन करता है यह लक्षण भूमिलेपिका (जिसके द्वारा जमीन लीपी जाती है) में चला जाता है, इसलिये लक्ष्यभूत लेश्याको छोड़कर लक्षणके अलक्ष्यमें चले जानेके कारण अतिव्याप्ति दोष आता है। ऐसी शंकाको मनमें उठाकर आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर भी अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है, क्योंकि, इस लक्षणमें 'कर्मोंसे आत्माको' इतना अध्याहार रूप अपेक्षा है। इसका यह तात्पर्य है, कि जो कर्मोंसे आत्माको लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं। अथवा, जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्मका सम्बन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं। इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है। अथवा, कषायसे अनुरंजित कायवाग् योग और मनोयोगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर केवल

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

कषायो लेश्या, नापि योगः, अपि तु कषायानुविद्धा योगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम्। ततो न वीतरागाणां योगो लेश्येति न प्रत्यवस्थेयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तन्त्रं विशेषणत्वतस्तस्य प्राधान्याभावात्। उक्तं च—

लिंपइ अप्पीकीरइ एदाए णियय पुण्ण पावं च।
जीवो त्ति होइ लेस्सा लेस्सा-गुण-जाणय-क्खादा ॥ ९४ ॥

निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः। उक्तं च—

सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण उ मल-विगमे णियमो ताणं कणगोवलाणमिव ॥ ९५ ॥

कषाय और केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियोंके केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि, लेश्यामें योगकी प्रधानता है। कषाय प्रधान नहीं है, क्योंकि, वह योगप्रवृत्तिका विशेषण है। अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है। कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं, ऐसा लेश्याके स्वरूपको जाननेवाले गणधरदेव आदिने कहा है ॥ ९४ ॥

जिसने निर्वाणको पुरस्कृत किया है, अर्थात् जो सिद्धिपद प्राप्त करनेके योग्य है उसको भव्य कहते हैं। कहा भी है—

जो जीव सिद्धत्व, अर्थात् सर्व कर्मसे रहित मुक्तिरूप अवस्था पानेके योग्य हैं उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं। किंतु उनके कनकोपल अर्थात् स्वर्णपाषाणके समान मलका नाश होनेका नियम नहीं है।

विशेषार्थ—सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जो भव्य होते हुए भी सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिये यह कारण बतलाया है कि जिसप्रकार स्वर्णपाषाणमें सोना रहते हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चित नहीं है, उसीप्रकार सिद्ध अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामग्रीके नहीं मिलनेसे सिद्ध पदकी प्राप्ति नहीं होती है।

१ गो. जी. ४८८. । किंतु 'णिययपुण्णपावं च' इत्यत्र 'णियअपुण्णपुण्णं च' पाठः।

२ गो. जी. ५५८. किंतु 'सिद्धत्तणस्स' इति स्थाने 'भवत्तणस्स' इति पाठः।

३ भव्वा [illegible] जीवत्तण [illegible] भव्वा। जइ [illegible] दाडिम [illegible] ॥ जइ वा स एव पाहाणकणगजोगा विओगजोगा वि। [illegible] ॥ किं पुण जा सुयता [illegible] । तो नो [illegible] नियमा [illegible] ॥
वि. भा. २३१३,-२३१५

तद्विपरीतोऽभव्यः। सुगममेतत्।

प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम्। सत्येवमसंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्याभावः स्यादिति चेत्सत्यमेतत् शुद्धनये समाश्रीयमाणे। अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अस्य गमनिकोच्यते, आप्तागमपदार्थास्तत्त्वार्थास्तेषु श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः। कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य लक्षणस्य न विरोधश्चेन्नैष दोषः, शुद्धाशुद्धनयसमाश्रयणात्। अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम् अशुद्धतरनयसमाश्रयणात्। उक्तं च —

जिन्होंने निर्वाणको पुरस्कृत नहीं किया है उन्हें अभव्य कहते हैं। इसका अर्थ सरल है।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी अभिव्यक्ति ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं।

शंका—इसप्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेने पर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका अभाव हो जायगा?

समाधान—यह कहना शुद्ध निश्चयनयके आश्रय करने पर ही सत्य कहा जा सकता है।

अथवा, तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि आप्त आगम और पदार्थको तत्त्वार्थ कहते हैं। और उनके विषयमें श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहां पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। तथा आप्त, आगम और पदार्थका श्रद्धान लक्षण है।

शंका—पहले कहे हुए सम्यक्त्वके लक्षणके साथ इस लक्षणका विरोध क्यों न माना जाय? अर्थात् पहले लक्षणमें प्रशमादि गुणोंकी अभिव्यक्तिको सम्यक्त्व कह आये हैं और इस लक्षणमें आप्त आदिके विषयमें श्रद्धाको सम्यक्त्व कहा है। इसलिये ये दोनों लक्षण भिन्न भिन्न अर्थको प्रगट करते हैं, इन दोनोंमें अविरोध कैसे हो सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शुद्ध और अशुद्ध नयकी अपेक्षासे ये दोनों लक्षण कहे गये हैं। अर्थात् प्रशमादि रूप लक्षण शुद्धनयकी अपेक्षासे है और तत्त्वार्थश्रद्धान रूप लक्षण अशुद्धनयकी अपेक्षासे है। इसलिये इन दोनों लक्षणोंके कथनमें दृष्टिभेद होनेके कारण कोई विरोध नहीं आता है।

अथवा, तत्त्वरुचिको सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षा जानना चाहिये। कहा भी है—

[illegible]

छप्पंच णव विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ९६ ॥

सम्यग् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी । नैकेन्द्रियादिनातिप्रसङ्गस्तस्य मनसोऽभावात् । अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही[2] संज्ञी । उक्तं च —

सिक्खा-किरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीदो असण्णी दु ॥ ९७ ॥

शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः । सुगममेतत् । उक्तं च —

आहरदि सरीराणं तिण्हं एगदर-वग्गणाओ य ।
भासा-मणस्स णियदं तम्हा आहारओ भणिओ[4] ॥ ९८ ॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आज्ञा अर्थात् आप्तवचनके आश्रयसे अथवा अधिगम अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप और निरुक्तिरूप अनुयोगद्वारोंसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ ९६ ॥

जो भलीप्रकार जानता है उसको संज्ञ अर्थात् मन कहते हैं। वह मन जिसके पाया जाता है उसको संज्ञी कहते हैं। यह लक्षण एकेन्द्रियादिकमें चला जायगा, इसलिये अतिप्रसंग दोष आजायगा यह बात भी नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियादिकके मन नहीं पाया जाता है। अथवा, जो शिक्षा, क्रिया उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसको संज्ञी कहते हैं। कहा भी है—

जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं। और जो इन शिक्षा आदिको ग्रहण नहीं कर सकता है उसको असंज्ञी कहते हैं ॥ ९७ ॥

औदारिकादि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। इसका अर्थ सरल है। कहा भी है—

औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे उदयको प्राप्त हुए किसी

१ [illegible] प्रमाणात्मनिर्विना [illegible] । [illegible] नि [illegible] । [illegible] । गो. [illegible]

२ [illegible] । [illegible] क्रिया । [illegible] । [illegible] । [illegible]
गो. जी., जी. प्र., [illegible]

३ [illegible]

४ [illegible]

तद्विपरीतोऽनाहारः । उक्तं च—

> विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदा अजोगी य ।
> सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥ ९९ ॥

अन्विष्यमाणगुणस्थानानामनुयोगद्वारप्ररूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ ५ ॥

'तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि' एतावता सूत्रावयवेन नान्तरीयकत्वादिति चेन्न दोषः मन्दबुद्धिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा वार्तिकमित्यर्थः । उक्तं च—

एक शरीरके योग्य तथा भाषा और मनके योग्य पुद्गलवर्गणाओंको जो नियमसे ग्रहण करता है उसको आहारक कहते हैं ॥ ९८ ॥

औदारिक आदि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण नहीं करनेको अनाहार कहते हैं। कहा भी है—

विग्रहगतिको प्राप्त होनेवाले चारों गतिके जीव, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त हुए सयोगिकेवली तथा अयोगिकेवली और सिद्ध ये नियमसे अनाहारक होते हैं। शेष जीवोंको आहारक समझना चाहिये ॥ ९९ ॥

अन्वेषण किये जानेवाले गुणस्थानोंके आठ अनुयोगद्वारोंके प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन ही चौदह जीवसमासोंके (गुणस्थानोंके) निरूपण करने रूप प्रयोजनके होनेपर यहां आगे कहे जानेवाले ये आठ अनुयोगद्वार समझना चाहिये ॥ ५ ॥

शंका — 'तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि' इतना सूत्र बनाना तो व्यर्थ था, क्योंकि, सूत्रका शेष भाग इसका अविनाभावी है। अतएव उसका स्वयं ग्रहण हो जाता है। उसे सूत्रमें निहित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि प्राणियोंके अनुग्रहके लिये शेष भागको सूत्रमें ग्रहण किया गया है।

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ये पांचों पर्यायवाची नाम हैं। कहा भी है—

[illegible]

अणियोगो य णियोगो भास विभासा य वट्टिया चेय ।
एदे अणिओअस्स दु णामा एयट्ठा पंच ॥ १०० ॥

सूई मुद्दा पडिहो संभवदल वट्टिया चेय ।
अणियोग णिरुत्तीए दिट्ठंता होंति पंचेय ॥ १०१ ॥

एते अष्टावधिकाराः अवश्य ज्ञातव्याः भवन्त्यन्यथा जीवसमासागमानुपपत्ते-

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ये पांच अनुयोगके एकार्थवाची नाम जानना चाहिये ॥ १०० ॥

अनुयोगकी निरुक्तिमें सूची, मुद्रा, प्रतिघ, संभवदल और वर्तिका ये पांच दृष्टान्त होते हैं ॥ १०१ ॥

विशेषार्थ—अनुयोगकी निरुक्तिमें जो पांच दृष्टान्त दिये हैं वे लकड़ी आदिके कामको लक्ष्यमें रखकर दिये गये प्रतीत होते हैं। जैसे, लकड़ीसे किसी वस्तुको तैयार करनेके लिये पहले लकड़ीके निरुपयोगी भागको निकालनेके लिये उसके ऊपर एक रेखामें डोरा डाला जाता है, इसे सूचीकर्म कहते हैं। अनन्तर उस डोरासे लकड़ीके ऊपर चिह्न कर दिया जाता है, इसे मुद्राकर्म कहते हैं। इसके बाद लकड़ीके निरुपयोगी भागको छांटकर निकाल दिया जाता है, इसे प्रतिघ या प्रतिघातकर्म कहते हैं। फिर उस लकड़ीके कामके लिये उपयोगी जितने भागोंकी आवश्यकता होती है उतने भाग कर लिये जाते हैं इसे संभवदलकर्म कहते हैं। और अन्तमें वस्तु तैयार करके उसके ऊपर प्रदा आदिसे पालिश कर दिया जाता है, यही वर्तिका कर्म है। इसतरह इन पांच कर्मोंसे जैसे विवक्षित वस्तु तैयार हो जाती है, उसीप्रकार अनुयोग शब्दसे भी आगमानुकूल संपूर्ण अर्थका ग्रहण होता है। नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ये चारों अनुयोग शब्दके द्वारा प्रगट होनेवाले अर्थको ही उत्तरोत्तर विशद करते हैं, अतएव ये अनुयोगके ही पर्यायवाची नाम हैं ॥ १०१ ॥

ये आठ अधिकार अवश्य ही जानने योग्य हैं, क्योंकि, इनके परिज्ञानके विना जीव

नियोगः यथा [illegible] इत्यवमादि। भाषणं भाषा [illegible] तद्यथा, [illegible] इत्येवमादि। विविधा भाषा विभाषा [illegible] इत्येवमादि। 'वार्तिक' [illegible] । अनुयोगस्य पुनरमूनि [illegible] । वि. भा., गा. १३९२

१ आ. नि. १२५

२ [illegible] (नि. १२६) [illegible] ॥ [illegible] वि. भा. १४३३, १४३५ [illegible]

विनिर्भूतस्य शिष्यस्य संदिग्धविपर्यस्तस्य सन्देहापोहनार्थमिति ज्ञात्वा पृच्छासूत्रमाह–

तं जहा ॥ ६ ॥

अनन्तरत्वादिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः। 'तद्' अष्टानामनुयोगद्वाराणां निर्देशः। यथेति पृच्छा। एवं पृष्टवतः शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह––

संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥

अट्ठाणमणियोगद्दाराणमादिम्हि किमिदि संतपरूवणा चेव उच्चदे? ण, संताणियोगो सेसाणिओगद्दाराणं जेण जोणीभूदो तेण पढमं संताणियोगो चेव भण्णदे।

समर्थोंका ह्रास नहीं है, सकता है। ऐसा सुननेवाले शिष्यके उन आठ अनुयोगद्वारोंके नामोंके विषयमें सन्देह उत्पन्न हो सकता है। इसप्रकारका विचार होनेपर आचार्य पृच्छासूत्रको कहते हैं—

वे आठ अधिकार कौनसे हैं ॥ ६ ॥

यहां अनेकोंका निर्देश करनेवाला होनेसे 'अनन्तरो नपुंसकम्' इस नियमको ध्यानमें रखकर आचार्यने 'तद्' यह नपुंसकलिंग निर्देश किया है, जो कि आगे कहे जानेवाले उन आठों ही अनुयोगद्वारोंका निर्देश करता है। 'यथा' यह पद पृच्छाको सूचित करता है। अर्थात् वे आठ अनुयोगद्वार कौनसे हैं' इसप्रकार पूछनेवाले शिष्यके संदेहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार होते हैं ॥ ७ ॥

शंका—आठ अनुयोगद्वारोंके आदिमें सत्प्ररूपणा ही क्यों कही गई है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, सत्प्ररूपणारूप अनुयोगद्वार जिस कारणसे शेष अनुयोगद्वारोंका योनिभूत (मूलकारण) है, उसी कारणसे सबसे पहले सत्प्ररूपणाका ही निरूपण किया है।

१ [illegible]

संतपरूवणाणंतरं किमिदि दव्वपमाणाणुगमो उच्चदे ? ण, णिय-संखा-गुणिदोगाहण-खेत्तं खेत्तं उच्चदे दि । एदं चेव अदीद-फुसणेण सह फोसणं उच्चदे । तदो दो वि अहियारा संखा-जोणिणो । णाणेग-जीवे अस्सिऊण उच्चमाण-कालंतर-परूवणा वि संखा-जोणी । इदं थोवमिदं च बहुगमिदि भण्णमाणं अप्पाबहुगं पि संखा-जोणी । तेण एदाणमादिम्हि दव्वपमाणाणुगमो भणण-जोग्गो । एत्थ भावो किमिदि ण उच्चदे ? ण, तस्स बहु-वण्णणादो । कधं भावो बहु-वण्णणीयो ? ण, कम्म-कम्मोदय-परूवणाहि विणा तस्स परूवणाभावादो । छ वड्ढि हाणि ट्ठिय भाव-समवत्तेण भाव-वण्णणाणुववत्तीदो वा । वट्टमाण-फासं वण्णेदि खेत्तं । फासणं पुण अदीदं वट्टमाणं च वण्णेदि । अणागय-वट्टमाण-फासो सुहेण दो वि पच्छा णावदु त्ति पोसणपरूवणादो हेट्ठा णाम पुव्वं खेत्तस्स

शंका—सत्प्ररूपणाके बाद द्रव्यप्रमाणानुगमका कथन क्यों किया गया है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्रानुगम कहते हैं। और अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्र ही भूतकालीन स्पर्शनके साथ स्पर्शनानुगम कहा जाता है। इसलिये इन दोनों ही अधिकारोंका संख्याधिकार (द्रव्यप्रमाणानुगम) योनिभूत है। उसीप्रकार नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली कालप्ररूपणा और अन्तरप्ररूपणाका भी संख्याधिकार योनिभूत है। तथा यह अल्प है, यह बहुत है, इसप्रकार कहे जानेवाले अल्पबहुत्वानुयोगद्वारका भी संख्याधिकार योनिभूत है। इसलिये इन सबके आदिमें द्रव्यप्रमाणानुगमका ही कथन करना योग्य है।

शंका—यहां भावप्ररूपणाका वर्णन क्यों नहीं किया गया है ?

समाधान—उसका वर्णन करने योग्य विषय बहुत है, इसलिये यहां भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं किया गया है।

शंका—यह कैसे जाना जाय कि भावप्ररूपणा बहुवर्णनीय है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि कर्म और कर्मोदयके निरूपणके बिना भावानुयोगद्वारका निरूपण नहीं हो सकता है, इसलिये भाव बहुवर्णनीय है यह स्पष्ट है। अथवा, षड्गुणी हानि और षड्गुणी वृद्धिमें स्थित भावका समवायके बिना भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं हो सकता है, इसलिये भी यहां भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं किया गया है।

शंका—क्षेत्रानुयोग वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। और स्पर्शनानुयोग अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। [illegible] वर्तमानकालीन स्पर्शका ज्ञान [illegible] लिया है यह समझकर सरलतापूर्वक अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका ज्ञान हो [illegible]

१ [illegible]

परूवणा, ण पुण कालंतरेहिंतो? इदि ण, अणवगय खेत्त-फोसणस्स तदंतर-जाणणुवाया-भावादो। ण च अणवगयत्थमागमो ण परूवेइ तस्स अत्थावत्तिप्पसंगादो। पच्छा पुण तदंतर पडिवज्जंति चेएण, तप्पढणे विरोहाभावादो। तहा भावप्पाबहुगाणं पि परूवणा खेत्त-फोसणाणुगममंतरेण ण तव्विसया होंति त्ति पुव्वमेव खेत्त-फोसण-परूवणा कायव्वा। सेसाहियारेसु संतेसु वि मोत्तूण किमट्ठं कालो पुव्वमेव उच्चदे? ण ताव अंतरपरूवणा एत्थ भणण-जोग्गा काल-णाणिज्जादो। ण भावो वि तस्स तत्थ ट्ठिदि-अहियार-णोइज्जादो। ण अप्पाबहुगं पि तस्स वि समाणियाणं णाणिज्जादो। परिसेसादो कालो चेव तत्थ परूवणा जोग्गा त्ति। भावप्पाबहुगाणं जाणिज्जादो पुव्वमंतरपरूवणा

स्पर्शन प्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन रहा आवे इसमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु काल और अन्तरप्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन संभव नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है उसे तत्संबन्धी काल और अन्तरके जाननेका कोई भी उपाय नहीं प्राप्त हो सकता है। और आगम, जिस प्रकारसे वस्तु व्यवस्था है, उसीप्रकारसे प्ररूपण नहीं करे यह हो नहीं सकता है। यदि ऐसा नहीं माना जावे तो उस आगमको अर्थापत्त्य अर्थात् अनर्थकपनेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

शंका—तो भी क्षेत्र और स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात् काल और अन्तरप्ररूपणाका कथन प्राप्त नहीं होता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, क्षेत्र और स्पर्शनके बाद काल और अन्तर प्ररूपणाके कथन करनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

उसीप्रकार भाव और अल्पबहुत्वकी भी प्ररूपणा क्षेत्र और स्पर्शनानुगमके बिना क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती है, इसलिये इन सबके पहले ही क्षेत्र और स्पर्शनानुगमका कथन करना चाहिये।

शंका—अन्तरादि शेष अधिकारोंके रहते हुए भी उन्हें छोड़कर कालानुयोगका कथन पहले क्यों किया गया है?

समाधान—यहांपर (स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात्) अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया नहीं जा सकता है, क्योंकि अन्तरप्ररूपणाका मूल आधार (कारण) कालप्ररूपणा है। स्पर्शनप्ररूपणाके बाद भावप्ररूपणाका भी कथन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि कालप्ररूपणाके [illegible] आधार (अन्तरादि) भावप्ररूपणा [illegible] प्ररूपणाके बाद अल्पबहुत्वप्ररूपणाका [illegible] (आधार) [illegible] इसलिये [illegible] भाव और अल्पबहुत्व [illegible] [illegible]

वुत्ता । अप्पाबहुगं ओघादेसेहि पुव्वमेव भावपरूवणा उच्चदे । सुत्ते तहा परूवणा किमिदि ण णिद्दिट्ठा ? ण, सुत्तस्स देसामासयत्तादो । तहाइरिया किमिदि ण वक्खाणेंति ? ण, अत्थावगमसमत्थाणं सिस्साणं सपहि अभावादो तहोवएसाभावादो वा । अत्थित्तं पडिवण्णाणं संताणियोगो । संताणियोगम्हि जमत्थित्तं उत्तं तस्स पमाणं परूवेदि दव्वाणियोगो । तदो अवगय-संत-पमाणाणं वट्टमाणोगाहणं परूवेदि खेत्ताणियोगो । पुणो तेहिंतो वट्टमाण-खेत्तादो अदीद-काल-विसिट्ठ-फासं परूवेदि फोसणाणुगमो । तेसिं अवगय-संत-पमाण-खेत्त-फोसणाणं ट्ठिदिं परूवेदि कालाणियोगो । तेसिं चेव विरहं परूवेदि अंतराणियोगो । तेसिं चेव भावं परूवेदि भावाणियोगो । तेसिं चेव थोव-बहुत्तं परूवेदि अप्पाबहुगमिदि । उक्तं च —

अत्थित्तं पुण संतं अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं ।
पच्चुप्पण्णं खेत्तं अदीद-पदुप्पण्णणं फुसणं ॥ १०२ ॥

संतप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणाकी योनि होनेसे इन दोनोंका पहले ही उल्लेख किया है । तथा अल्पबहुत्वकी योनि होनेसे इसका पहले ही [illegible] कथन किया है ।

शंका — सूत्रमें प्ररूपणाओंका वर्णन इसप्रकार क्यों नहीं दिखाई देता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं, क्योंकि सूत्रका कार्य अर्थकी सूचना करना रहा है ।

शंका — यदि ऐसा है तो इसप्रकार [illegible] प्ररूपणाओंका व्याख्यान क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान — ऐसा तो नहीं कहना चाहिये, क्योंकि [illegible]

[illegible]

सन परूवणाणुयोगद्दारे गुणाणगमण

कालो णिदि अन्तरण भवर विदा य गुण्ण का । य ।
भावा खलु परिणामो सन्नाम सिद्ध खु अप्पर ॥ १०३ ॥

प्रथमानुयोगस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमाह—

संतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य

चतुर्दशजीवसमासानामित्यनुवर्तते, तेनैवमभिसम्बन्ध क्रियते चतु
समासाना सत्प्ररूपणायामिति। सत्सत्त्वमित्यर्थ । कथम्? अन्तर्भावितभावत्वात्।
निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत्। चतुर्दशजीवसमासानां सत्प्ररूपणायामित्यर्थ । सत्
शोभनवाचक, यथा सदभिधान सत्यमित्यादि । अस्ति अस्तित्ववाचक, सनि

अस्तित्वका ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थोंके परिमाणका कथन करनेवाली संख्या
है। वर्तमान क्षेत्रका वर्णन करनेवाली क्षेत्रप्ररूपणा है। अतीतकाल और वर्तमान
वर्णन करनेवाली स्पर्शनप्ररूपणा है। जिसमें पदार्थोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति
हो उसे कालप्ररूपणा कहते हैं। जिसमें विरहकाल अथवा शून्यकालका कथन हो उसे
प्ररूपणा कहते हैं। जो पदार्थोंके परिणामोंका वर्णन करे वह भावप्ररूपणा है। तथा
बहुत्वप्ररूपणा अपने नामसे ही सिद्ध है ॥ १०२-१०३ ॥

अब पहले सदनुयोगके स्वरूपका निरूपण करनेके लिए सूत्र कहते हैं।

सत्प्ररूपणामें ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी
अपेक्षासे इसतरह दो प्रकारका कथन है ॥ ८ ॥

इस सूत्रमें 'चतुर्दशजीवसमासानाम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है इसलिये उ
पदके साथ ऐसा संबन्ध कर लेना चाहिये कि 'चौदह जीवसमासोंकी सत्प्ररूपणामें
यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व है।

शंका—यहां सत्का अर्थ सत्त्व करनेका क्या कारण है?

समाधान—क्योंकि इसमें भावरूप अर्थ अन्तर्भूत है इसलिये यहां पर सत्का अर्थ
सत्त्व लिया गया है।

प्ररूपणा निरूपणा और प्रज्ञापना ये सब पर्यायवाची नाम हैं। इसलिये सत्प्ररूपणा
हुए इस पदका अर्थ यह हुआ कि चौदह जीवसमासोंके सत्त्वका निरूपण करनेमें। सत्
शब्द शोभन अर्थात् सुन्दर अर्थका भी वाचक है। जैसे सदभिधान अर्थात् शोभनरूप कथन

[illegible]

प्रतीत्यादि। अत्रास्तित्ववाचको ग्राह्यः। निर्देशः प्ररूपणं विवरणं व्याख्यानमिति यावत्। स द्विविधो द्विप्रकारः, ओघेन आदेशेन च। ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः। अपर आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति। न च प्ररूपणायास्तृतीयः प्रकारोऽस्ति सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात्। विशेषव्यतिरिक्तसामान्याभावादादेशप्ररूपणाया एव ओघावगतिः स्यादिति न द्विविधं व्याख्यानमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररुचिद्रव्यपर्यायार्थिकसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। जीवसमास इति किम्? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः। क्वासते? गुणेषु। के गुणाः? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक

सत्य कहते हैं। कहीं पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक भी पाया जाता है। जैसे, यह सत्क अस्तित्व अर्थात् सद्भाव सत्ता है। इनमेंसे यहां पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक ही लेना चाहिये।

निर्देश, प्ररूपण, विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची नाम हैं। वह निर्देश ओघ और आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है। ओघ, सामान्य या अभेदसे निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है, और आदेश, भेद या विशेषरूपसे निरूपण करना दूसरी आदेशप्ररूपणा है। इन दो प्रकारकी प्ररूपणाओंको छोड़कर वस्तुके विवेचनका और कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि, वस्तुमें सामान्य और विशेष धर्मको छोड़कर और कोई तीसरा धर्म नहीं पाया जाता है।

शंका — विशेषको छोड़कर सामान्य स्वतन्त्र नहीं पाया जाता है, इसलिये आदेशप्ररूपणाके कथनसे ही सामान्यप्ररूपणाका ज्ञान हो जायगा। अतएव दो प्रकारका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है?

समाधान — यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि, जो संक्षेपरुचि शिष्य होते हैं वे द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यप्ररूपणाके द्वारा तत्त्वको जानना चाहते हैं। और जो विस्ताररुचि होते हैं वे पर्यायार्थिक अर्थात् विशेषप्ररूपणाके द्वारा तत्त्वको जानना चाहते हैं, इसलिये इन दोनों प्रकारके प्राणियोंके अनुग्रहके लिये यहां पर दोनों प्रकारकी प्ररूपणाओंका कथन किया है।

शंका — जीवसमास किसे कहते हैं?

समाधान — जिसमें जीव भले प्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास कहते हैं।

शंका — जीव कहां रहते हैं?

समाधान — गुणोंमें जीव रहते हैं।

शंका — वे गुण कौनसे हैं?

समाधान — [illegible]

पारिणामिका इति गुणाः। अस्य गमनिका, कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः, तेषामुपशमादौपशमिकः, क्षयात्क्षायिकः, तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः। गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञा प्रतिलभते। उक्तं च—

जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहि ॥ १०४ ॥

ओघनिर्देशार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी ॥ ९ ॥

यथोद्देशस्तथा निर्देशः इति न्यायात् ओघाभिधानमन्तरेणापि ओघोऽवगम्यत

प्रकारके गुण अर्थात् भाव हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है। जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं। जो कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं। जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। जो वर्तमान समयमें सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके सदवस्थारूप उपशमसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जो कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षाके बिना जीवके स्वभावमात्रसे उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। इन गुणोंके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है। कहा भी है—

दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंके उदय, उपशम आदि अवस्थाओंके होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणसंज्ञावाला कहा है ॥ १०४ ॥

अब ओघ अर्थात् गुणस्थान प्ररूपणाका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे गुणस्थानकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥ ९ ॥

शंका— उद्देशके अनुसार ही निर्देश होता है, इस न्यायके अनुसार 'ओघ' इस पदके कहे बिना भी ओघका ज्ञान हो ही जाता है, इसलिये उसका सूत्रमें ग्रहण

तस्येह पुनरुच्चारणमनर्थकमिति न, तस्य दुर्मेधोजनानुग्रहार्थत्वात्। सर्वसत्त्वानुग्रहकारिणो हि जिना वीतरागत्वात्। सन्ति मिथ्यादृष्टयः। मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयः।

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव परसमया ॥ १०५ ॥

इति वचनान्न मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पञ्चविधं मिथ्यात्वमिति। अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः। उक्तं च —

मिच्छत्तं वेयंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ १०६ ॥

उच्चारण करना निष्प्रयोजन है ?

समाधान — ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि या मूर्ख शिष्योंके अनुग्रहके लिये सूत्रमें 'अस्ति' शब्दका उल्लेख किया है। जिनदेव संपूर्ण प्राणियोंका अनुग्रह करनेवाले होते हैं क्योंकि, वे वीतराग हैं।

'मिथ्यादृष्टि जीव हैं' यहां पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची शब्द हैं। दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवोंके विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

जितने भी वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद अर्थात् नयके भेद होते हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (अन्यमतोंके मत) होते हैं ॥ १०५ ॥

इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पांच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना चाहिये, किन्तु मिथ्यात्व पांच प्रकारका है यह कहना उपलक्षणमात्र है। अथवा, मिथ्या [illegible] अर्थ [illegible] रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है। इसलिये जिन जीवोंकी [illegible] होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। कहा भी है —

मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वभावका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानवाला होता है। जिसप्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मधुर रस भी अच्छा मालूम

[illegible]

[illegible]

तं मिच्छत्तं जहमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं ।
संसइदमभिग्गहियं अणभिग्गहियं ति तं तिविहं ॥ १०७ ॥

इदानीं द्वितीयगुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रमाह—

सासणसम्माइट्ठी ॥ १० ॥

आसादनं सम्यक्त्वविराधनम्, सह आसादनेन वर्तत इति सासादनः। विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते। अथ स्यान्न मिथ्यादृष्टिरयं मिथ्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टिः सम्यग्रुचेरभावात्, न सम्यग्मिथ्यादृष्टिरुभयविषयरुचेरभावात्। न च चतुर्थी दृष्टिरस्ति

नहीं होता है उसीप्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता है ॥ १०६ ॥

जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे तत्वार्थके विषयमें अश्रद्धान उत्पन्न होता है अथवा विपरीत श्रद्धान होता है उसको मिथ्यात्व कहते हैं। उसके संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत इसप्रकार तीन भेद हैं ॥ १०७ ॥

अब दूसरे गुणस्थानके कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सासादनसम्यग्दृष्टि जीव हैं ॥ १० ॥

सम्यक्त्वकी विराधनाको आसादन कहते हैं। जो इस आसादनसे युक्त है उसे सासादन कहते हैं। अनन्तानुबन्धी किसी एक कषायके उदयसे जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किंतु जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप परिणामोंको नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थानके अभिमुख है उसे सासादन कहते हैं।

शंका—सासादन गुणस्थानवाला जीव मिथ्यात्वकर्मका उदय नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टि नहीं है, समीचीन रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, तथा इन दोनोंको विषय करनेवाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इसके

सम्यगसम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्त्वनुपलम्भात्। ततोऽसन् एष गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतोऽसदृष्टित्वात्। तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं नास्य सासादनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। किमिति मिथ्यादृष्टिरिति

अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुसे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है। इसलिये सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप ही है। अर्थात् सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे असदृष्टि ही समझना चाहिये।

शंका—यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किंतु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता है इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, केवल सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

विशेषार्थ—विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित। उनमेंसे दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है।

१ यदि तत्त्वरुचिस्तदा सम्यग्दृष्टित्वम्। [illegible] । [illegible] मिथ्याभिनिवेशात्, यथावस्थितरुचिस्तदा आसमभाव स्यात्। [illegible] १९

२ ननु सम्यग्दर्शनघातकस्यानन्तानुबन्धिन [illegible] इति चेत् न [illegible] प्रमाणभागमहिमा चारित्रमोहस्यैव पर्यायः। [illegible] सम्यग्दर्शनस्य [illegible] इति चेत् [illegible] पर्यायविरूपत्वात् [illegible] मिथ्यात्वस्य [illegible] निरपेक्षया सासादनस्य भवनाति पारिणामिकभावत्वमुक्तम्। पारिणामिकत्वं [illegible] पारिणामिक [illegible] कथमनन्तानुबन्धी [illegible] इति चेत् न [illegible] अनन्तानुबन्ध्युदयस्य सम्यग्दर्शनविनाशकत्वेन तदुदयात् [illegible] इति वचनात् [illegible] सम्यक्त्वविनाशसामर्थ्यनियमात् [illegible] मिथ्यादृष्टित्वम् [illegible] सिद्धान्त [illegible]
गो., जी., टी. १९

न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत। यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात्। तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात्। सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यर्पितनयापेक्षः। विवक्षितदर्शनमोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिकः सासादनगुणः।

शंका—ऊपरके कथनानुसार जब यह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ—सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी द्विस्वभावता बतलाई गई है, वह द्विस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी द्विस्वभावता है। इसी कथनकी पुष्टि यहां पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की गई है। दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिसप्रकार सम्यक्त्वके विघातमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करती है, उसप्रकार वह मिथ्यात्वके उत्पादमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है। इसप्रकारकी द्विस्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता। तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें जो विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका आवरण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है। इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है।

शंका—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे उभयरूप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है?

समाधान—यह आक्षेप ठीक नहीं, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है। फिर भी परमागममें मुख्य नयकी अपेक्षा इसतरहका उपदेश नहीं दिया है।

सासादन गुणस्थान विवक्षित कर्मके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके विना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है। अब असंयतसम्यग्दृष्टि

सम्यगसम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्त्वनुपलम्भात्। ततोऽसन्नेष गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतोऽसदृष्टित्वात्। तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं नास्य सासादनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। किमिति मिथ्यादृष्टिरिति

अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है। इसलिये सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप ही है। अर्थात् सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे असदृष्टि ही समझना चाहिये।

शंका—यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किंतु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, केवल सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

विशेषार्थ—विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित। उनमेंसे दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है।

१ [illegible]

२ [illegible]

पदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिना द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। न च दर्शन
ीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन
ादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत। यस्माच्च विपरीताभिनि
ऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात्। तस्योभयप्रतिबन्ध
दुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात्। सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यर्पितनयापेक्षः।
ितदर्शनमोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात् पारिणामिकः सासादनगुणः।

शंका—ऊपरके कथनानुसार जब यह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं कहा गया है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्ता धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ—सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी स्वभावता बतलाई गई है, वह द्विस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो अनन्ता धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी स्वभावता है। इसी कथनकी पुष्टि यहां पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की है। दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिसप्रकार सम्यक्त्वके विघातमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करती सप्रकार वह मिथ्यात्वके उत्पादमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है। इसप्रकार स्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम त्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा ग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता। तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें जो रीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका रण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है। इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है।

शंका—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे रूप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है?

समाधान—यह आरोप ठीक नहीं, क्योंकि यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्ता को सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है। फिर भी परमागममें मुख्य की अपेक्षा इसप्रकारका उपदेश नहीं दिया है।

सासादन गुणस्थान विवक्षित कर्मके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय र क्षयोपशमके बिना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है। अन्य [illegible]

सम्यगसम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्त्वनुपलम्भात्। ततोऽसन्नेव गुण इति चेन्न, विपरीताभिनिवेशतोऽसदृष्टित्वात्। तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं नास्य सासादनत्वमिति चेन्न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः[1], किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। किमिति मिथ्यादृष्टिरिति

अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है। इसलिये सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप ही है। अर्थात् सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे असदृष्टि ही समझना चाहिये।

शंका—यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किंतु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, केवल सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

विशेषार्थ—विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित। उनमेंसे दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है।

१ यदि तत्त्वरुचिरहिता सम्यग्दृष्टिर्नाम [illegible] मिथ्यादृष्टिर्नाम [illegible] मिथ्यादृष्टिर्नाम [illegible] सासादनः स्यात्। गो. जी., म. प्र. टी. १९.

२ [illegible] सम्यग्दर्शनघातकस्यानन्तानुबन्धिनः [illegible] सासादन [illegible] तस्य चारित्रघातक [illegible] समानसामर्थ्यात् चारित्रमोहत्वं [illegible]। [illegible] सम्यग्दर्शन [illegible] अनन्तानुबन्ध [illegible] मिथ्यात्वकर्मोदयाभावात् [illegible] सम्यग्दर्शन [illegible] निरपेक्षतया सासादनत्व [illegible] पारिणामिकभाव [illegible]। पारिणामिकत्वभावं [illegible] पारिणामिक [illegible]। [illegible] अनन्तानुबन्ध्युदयस्य सम्यग्दर्शन [illegible] इति [illegible]। किं बहुना [illegible] सम्यक्त्व [illegible] मिथ्यात्वोदया [illegible] सिद्धान्त [illegible]। गो., म. प्र., टी. १९.

न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनो द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत। यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात्। तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात्। सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यर्पितनयापेक्षः। विवक्षितदर्शनमोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिकः सासादनगुणः।

शंका—ऊपरके कथनानुसार जब यह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ—सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी द्विस्वभावता बतलाई गई है, वह द्विस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी द्विस्वभावता है। इसी कथनकी पुष्टि यहां पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की गई है। दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिसप्रकार सम्यक्त्वके विघातमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करता है, उसप्रकार यह मिथ्यात्वके उत्पादमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है। इसप्रकारकी द्विस्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता। तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें जो विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका आवरण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है। इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है।

शंका—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे उभयरूप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है?

समाधान—यह आरोप ठीक नहीं, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है। फिर भी परमागममें मुख्य नयकी अपेक्षा इसतरहका उपदेश नहीं दिया है।

सासादन गुणस्थान विवक्षित कर्मके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय उपशम, क्षय और क्षयोपशमके विना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है। और आसादनासहित

सम्यगसम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्त्वनुपलम्भात्। ततोऽसन्नेव गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतोऽसद्दृष्टित्वात्। तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं नास्य सासादनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। किमिति मिथ्यादृष्टिरिति

अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है। इसलिये सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप ही है। अर्थात् सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे असद्दृष्टि ही समझना चाहिये।

शंका—यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किंतु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, केवल सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

विशेषार्थ—विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित। उनमेंसे दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है।

१ यदि तत्त्वरुचिस्तदा सम्यग्दृष्टित्वमेव। यदि तत्त्वारुचिस्तदा मिथ्यादृष्टित्वमेव। यद्युभयरुचिस्तदा सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वमेव। यद्युभयारुचिस्तदा आत्माभाव स्यात्। गो. जी., म. प्र., टी. १९

२ ननु सम्यग्दर्शनघातकस्यानंतानुबंधिनः कथं दर्शनमोहत्वाभावः? इति चेत् न, तस्य चारित्रमोहत्वेऽपि समानमागममहिम्ना चारित्रमोहत्वस्यैव प्रसिद्धत्वात्। तर्हि तस्मात् सम्यग्दर्शनविनाशः? इति चेत्, अनन्तानुबन्ध्युदय एव पञ्चाविंशतिकषायोदयविधाने वि मिथ्यात्वकर्मोदयाभिमुखस्य सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनाविनाशसमर्थात्। अतएव मिथ्यात्व निरपेक्षतया सासादनत्वं भवति पारिणामिकभावत्वमनम्। पारिणामः स्वभावः, तस्मादेव पारिणामिक इति यथा। नन्वेवं कथमनन्तानुबन्ध्युदयप्रभवस्य [illegible] इत्युच्यते? इति चेत् न, मिथ्यात्वोदयाभिमुखस्य [illegible] अनन्तानुबन्ध्युदयस्य सम्यग्दर्शनविनाशमात्रे तदुदयात्तत्त्वेन इति ववत्नाद्यघात। किं बहुना, अनन्तानुबन्धस्य सम्यक्त्वविनाशसामर्थ्यप्रतिपादकमेव वि मिथ्यात्वोदयाभिमुखस्य एवं तत्सामर्थ्ययतिनिति सिद्धान्त सिद्धान्त। गो. जी., म. प्र., टी. १९

न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत। यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात्। तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात्। सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यर्पितनयापेक्षः। विवक्षितदर्शनमोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिकः सासादनगुणः।

शंका—ऊपरके कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ—सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी द्विस्वभावता बतलाई गई है, वह द्विस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी द्विस्वभावता है। इसी कथनकी पुष्टि यहां पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की गई है। दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिसप्रकार सम्यक्त्वके विघातमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करती है, उसप्रकार वह मिथ्यात्वके उत्पादमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है। इसप्रकारकी द्विस्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता। तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें जो विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका आवरण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है। इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है।

शंका—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे उभयरूप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है?

समाधान—यह आरोप ठीक नहीं, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है। फिर भी परमागममें मुख्य नयकी अपेक्षा इसतरहका उपदेश नहीं दिया है।

सासादन गुणस्थान विवक्षित कर्मके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय उपशम, क्षय और क्षयोपशमके विना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है। और आसादनासहित

सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः । विपरीताभिनि-
कथं सम्यग्दृष्टित्वमिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेरिति ।

सम्मत्त-रयण-पव्वय-सिहरादो मिच्छ-भूमि-समभिमुहो ।
णासिय-सम्मत्तो सो सासण-णामो मुणेयव्वो ॥ १०८ ॥

सम्यग्मिथ्यात्वगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठी ॥ ११ ॥

दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत् । समीचीना च मिथ्या च दृ-
सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । अथ स्यादेकस्मिन् जीवे नाक्रमेण समीचीनासमीचीन-
समस्तो विरोधात् । न क्रमेणापि सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणयोगात्सम्भावितेति ।

सम्यग्दृष्टि होनेके कारण उसे सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं ।

शंका—सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्रायसे दूषित है, इसलिये उसके सम्य-
पना कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्यग्दृष्टि था, इसलिये भूतपूर्व न्यायकी अ-
उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है । कहा भी है—

सम्यग्दर्शनरूपी रत्नगिरिके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमिके अभिमु-
है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है परन्तु मिथ्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है, उस-
सासन या सासादनगुणस्थानवर्ती समझना चाहिये ॥ १०८ ॥

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥ ११ ॥

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं । जिस जीवके समीचीन और
मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं ।

शंका—एक जीवमें एकसाथ सम्यक् और मिथ्यारूप दृष्टि संभव नहीं है, क्योंकि इन
दोनों दृष्टियोंका एक जीवमें एकसाथ रहनेमें विरोध आता है । यदि कहा जाय कि ये दोनों
दृष्टियां क्रमसे एक जीवमें रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नामक स्वतन्त्र

१ गो. जी. २०.

२ दर्शनमोहनीयसम्यक्त्वेन आवलिविशेषकाल मध्यवर्तिना मिथ्यात्वकर्मोदयाभाव... धा करोति ... विशुद्ध यति । ... रसावधिः जिनधर्मानुराग ... भवति तन ... सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान ... का (सम्यग्मिथ्यादृष्टिहृदय)

सम्यग्मिथ्यात्वात्मको जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति प्रतिजानीमहे। न विरोधोऽप्यनेकान्ते आत्मनि भूयसां धर्माणां सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः। नात्मनोऽनेकान्तत्वमसिद्धमनेकान्तत्वमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वानुपपत्तेः। अनेकान्तेऽप्यात्मनि भूयसां सहानवस्थानप्रत्यविरुद्धानां समवायो नाशेषाणामिति चेन्न एवमाह समस्तानामप्यवस्थितिरिति चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमेणैकात्मन्यवस्थितिप्रसङ्गात्। किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्क्वचिदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे। अस्ति चानयोः श्रद्धयोः क्रमेणैकस्मिन्नात्मनि सम्भवस्ततोऽक्रमेण तत्र कदाचित्तयोः सम्भवेन भवितव्यमिति। न चैतत्काल्पनिकं पूर्वस्वीकृतदेवतापरित्यागेनार्हन्नपि देव इत्यभिप्रायवतः पुरुषस्योपलम्भात्। पञ्चसु गुणेषु कोऽयं गुण इति चेत्क्षायोपशमिकः।

गुणस्थानोंमें ही अन्तर्भाव मानना चाहिये। इसलिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामका तीसरा गुणस्थान नहीं बनता है?

समाधान—युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है ऐसा मानते हैं। और ऐसा माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि आत्मा अनेक-धर्मात्मक है इसलिये उसमें अनेक धर्मोंका सहानवस्थानलक्षण विरोध असिद्ध है। अर्थात् एक साथ अनेक धर्मोंके रहनेमें कोई बाधा नहीं आती है। यदि कहा जाय कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है यह बात ही असिद्ध है। सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनेकान्तके बिना उसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता है।

शंका—जिन धर्मोंका एक आत्मामें एकसाथ रहनेमें विरोध नहीं है वे रहें, परन्तु संपूर्ण धर्म तो एकसाथ एक आत्मामें रह नहीं सकते हैं?

समाधान—कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहना संभव है? यदि संपूर्ण धर्मोंका एकसाथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य अचैतन्य भव्यत्व अभव्यत्व आदि धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहनेका प्रसंग आ जायगा। इसलिये संपूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मामें रहते हैं, अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये। किन्तु अनेकान्तका यह अर्थ समझना चाहिये कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यन्त अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मामें किसी काल और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं ऐसा हम मानते हैं। इसप्रकार जब कि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओंका क्रमसे एक आत्मामें रहना सम्भव है तो कदाचित् किसी आत्मामें एकसाथ भी उन दोनोंका रहना बन सकता है। यह सब कथन काल्पनिक नहीं है, क्योंकि पूर्व स्वीकृत अन्य देवताके अपरित्यागके साथ साथ अरिहंत भी देव है ऐसी सम्यग्मिथ्यात्वरूप श्रद्धावाला पुरुष पाया जाता है।

शंका—पांच प्रकारके भावोंमेंसे तीसरे गुणस्थानमें कौनसा भाव है?

१ [illegible]

कथं मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य क्षायोपशमिकत्वं । तद्यथा, मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः । सम्यग्मिथ्यात्वस्योदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयादिवोतः सम्यक्त्वस्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात् । सम्यग्दृष्टेर्निरन्वयविनाशाकारिणः सम्यग्मिथ्यात्वस्य कथं सर्वघातित्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टेः साकल्यप्रतिबन्धितामपेक्ष्य तस्य तथोपदेशात् । मिथ्यात्वक्षयोपशमादिवानन्तानुबन्धिनामपि सर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य चारित्रप्रतिबन्धक-

समाधान—तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव है ।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके क्षायोपशमिक भाव कैसे संभव है ?

समाधान—वह इसप्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय होनेसे, सत्तामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है ।

शंका—तीसरे गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वहां औदयिक भाव क्यों नहीं कहा है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जिसप्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय नाश होता है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है, इसलिये तीसरे गुणस्थानमें औदयिक भाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव कहा है ।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शनका निरन्वय विनाश तो करता नहीं है, फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, वह सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिबन्ध करता है, इस अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्वघाती कहा है ।

शंका—जिसतरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति बतलाई है उसीप्रकार वह अनन्तानुबन्धी कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशमसे होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा ?

१ मिथ्यात्वस्य अर्हदादिश्रद्धानाभावः सम्यक्त्वे, आप्तादिश्रद्धानात्मकत्वं मिश्रे च युगपत् मिश्रकस्य तत्त्वार्थ-श्रद्धानाश्रद्धानात्मकत्वात् । गो. जी. म. प्र., टी. २२

२ अ प्रतौ ' दिवा ' इति पाठः ।

त्वात्। ये त्वनन्तानुबन्धिक्षयोपशमादुत्पत्तिं प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदयिकः स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात्। अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमेन च सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यग्मिथ्यात्वगुण उत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः। सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते बालजनव्युत्पादनार्थम्। वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागमपदार्थविषयरुचिहननं प्रत्यसमर्थस्योदयात्सदसद्विषयश्रद्धोत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः सम्यग्मिथ्यात्वगुणः। अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र सम्यक्त्वमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात्। तत्रोदयाभावलक्षण उपशमोऽस्तीति चेन्न, तस्यौपशमिकत्वप्रसङ्गात्।

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रका प्रतिबन्ध करती है, इसलिये यहां उसके क्षयोपशमसे तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है।

जो आचार्य अनन्तानुबन्धी कर्मके क्षयोपशमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतसे सासादन गुणस्थानको औदयिक मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानको औदयिक नहीं माना गया है।

अथवा सम्यक्प्रकृतिकर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है। यहां इसतरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्तके पाठका प्रारम्भ करनेवालोंके परिज्ञान करानेके लिये ही कहा है। वास्तवमें तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूपसे आप्त आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ है, किन्तु उसके उदयसे सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है। यदि इस गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सत् और असत् पदार्थको विषय करनेवाली मिश्र रुचिरूप क्षयोपशमता न मानी जावे तो उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होने पर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमें आये हुए जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है।

शंका—उपशम सम्यक्त्वसे आये हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि इसतरह तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानना पड़ेगा।

अस्तु चेन्न, तथाप्रतिपादकस्यार्षस्याभावात्। अपि च यथैव क्षयोपशम इष्यते, मिथ्यात्वमपि क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुदयप्राप्तस्पर्धकानां क्षयात्सतामुदयाभावलक्षणोपशमान्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्च मिथ्यात्वगुणस्य प्रादुर्भावोपलम्भादिति। उक्तं च—

> दहि-गुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
> एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥ १०९ ॥

सम्यग्दृष्टिगुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

असंजदसम्माइट्ठी ॥ १२ ॥

शंका—तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव भी मान लिया जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भावका प्रतिपादन करनेवाला कोई आर्षवाक्य नहीं है। अर्थात् आगममें तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव नहीं बताया है।

दूसरे, यदि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व आदि कर्मोंके क्षयोपशमसे क्षयोपशम भावकी उत्पत्ति मान ली जावे तो मिथ्यात्व गुणस्थानको भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा, क्योंकि, सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके उदय अवस्थाको प्राप्त हुए स्पर्धकोंका क्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हींका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे तथा मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति पाई जाती है। इतने कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धीके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रकृतिके उदयसे मिश्रभाव होता है। कहा भी है—

जिसप्रकार दही और गुड़को मिला देने पर उनको अलग अलग नहीं किया जा सकता है, किन्तु मिले हुए उन दोनोंका रस मिश्रभावको प्राप्त हो जाता है, उसीप्रकार एक ही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामोंको मिश्र गुणस्थान कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे असंयतसम्यग्दृष्टि जीव होते हैं ॥ १२ ॥

१ [illegible]

२ [illegible]

समीचीना दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च असंयत-सम्यग्दृष्टिः। सो वि सम्माइट्ठी तिविहो, खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि। दंसण-मोहणीय-कम्म-खएण अणंताणुबंधि-पयडीओ मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि दंसणमोह-पयडीओ च एदासिं सत्तण्हं णिरवसेस-क्खएण खइयसम्माइट्ठी उच्चइ। एदासिं सत्तण्हं पयडीणमुवसमेण उवसमसम्माइट्ठी होइ। सम्मत्त-देसघादि-फद्दयस्स उदएण वेदगसम्माइट्ठी णाम। तत्थ खइय-सम्माइट्ठी ण कयाइ वि मिच्छत्तं गच्छइ, ण कुणइ संदेहं पि, मिच्छत्तुब्भवं दट्ठूण णो विम्हयं जायदि। एरिसो चेय उवसमसम्माइट्ठी, किंतु परिणाम-पच्चएण मिच्छत्तं गच्छइ, सासणगुणं पि पडिवज्जइ, सम्मामिच्छत्तगुणं पि ढुक्कइ, वेदगसम्मत्तं पि समल्लियइ। जो पुण वेदगसम्माइट्ठी सो सिढिल-सद्दहणो थेरस्स लट्ठिग्गहणं व सिढिलग्गाहो

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और संयमरहित सम्यग्दृष्टिको असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारके हैं, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिकसम्यग्दृष्टि। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन दोनोंका घात करनेवाली चार अनन्तानुबन्धी प्रकृतियां, और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीयकी प्रकृतियां इसप्रकार इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा विनाशसे जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उपशमसे जीव उपशमसम्यग्दृष्टि होता है। तथा जिसकी सम्यक्त्व नाम है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्मकी भेदरूप प्रकृतिके उदयसे वह जीव वेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है। उनमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता है, किसी प्रकारके सन्देहको भी नहीं करता है और मिथ्यात्वजन्य अतिशयोंको देखकर विस्मयको भी प्राप्त नहीं होता है। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसीप्रकारका होता है, किन्तु परिणामोंके निमित्तसे उपशम सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वको जाता है, कभी सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त करता है, कभी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको भी पहुंच जाता है और कभी वेदकसम्यक्त्वसे मेल कर लेता है। तथा जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव है वह शिथिलश्रद्धानी होता है, इसलिये वृद्ध पुरुष जिसप्रकार अपने हाथमें लकड़ीको शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसीप्रकार वह भी तत्वार्थके विषयमें शिथिलग्राही होता है,

खय वि ण पावइ सम्मत्तं। अदिसयजाणं ण अवहेरइ। ण वि बज्झइ। आत. स. ८४ (क्षायिकसम्य. प्रति)

वयणेहि वि हेदूहि वि इंदियभयआणएहि रूवेहि। बीभच्छदुगुंछाहि य तेलोक्केण वि ण चालेज्जो॥

१ आ. १४७

दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। चलमलिणमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे॥ गो. जी. २

कुहेउ-कुदिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ। पंचसु गुणेसु के गुणे अस्सिऊण असंजदसम्माइट्ठि-गुणस्सुप्पत्ती जादेत्ति पुच्छिदे उच्चदे, सत्त-पयडि-क्खएणुप्पण्ण-सम्मत्तं खइयं। तेसिं चेव सत्तण्हं पयडीणमुवसमेणुप्पण्ण-सम्मत्तमुवसमियं। सम्मत्त-देसघाइ-वेदय-सम्मत्तस्सुदएणुप्पण्ण-वेदय-सम्मत्तं खओवसमियं। मिच्छत्ताणंताणुबंधीणं सव्वघाइ-फद्दयाणं उदय-क्खएण तेसिं चेव सदोवसमेण अहवा सम्मामिच्छत्त-सव्वघाइ-फद्दयाणं उदय-क्खएण तेसिं चेव सदोवसमेण उइयस्स सम्मत्त-देसघाइ-फद्दयाणमुदएणुप्पज्जइ जदो तदो वेदयसम्मत्तं खओवसममियमिदि केसिंचि आइरियाणं वक्खाणं तं किमिदि णेच्छिज्जदि, इदि चेत्तण्ण, पुव्वं उत्तुत्तरादो। 'असंजद' इदि जं सम्माइट्ठिस्स विसेसण-वयणं तमंतदीवयत्तादो

वह कुहेतु और कुदृष्टान्तसे उसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेमें देर नहीं लगती है।

पांच प्रकारके भावोंमेंसे किन किन भावोंके आश्रयसे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है। इसप्रकार पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह क्षायिक है, उन्हीं सात प्रकृतियोंके उपशमसे उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व उपशमसम्यग्दर्शन होता है और सम्यक्त्वप्रकृति एकदेश घातरूपसे घात करने वाली सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला वेदकसम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

शंका—मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके सर्वघाती स्पर्धकोंके सदवस्थारूप उपशम अथवा सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे तथा [illegible] सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा कितने ही आचार्योंका कथन है उसे यहां पर क्यों नहीं स्वीकार किया है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर पहले दे चुके हैं।

विशेषार्थ—जिसप्रकार मिश्र गुणस्थानकी उत्पत्ति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे [illegible] इसप्रकार यहां पर भी सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे [illegible] सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयकी मुख्यता न मान कर [illegible] उत्पत्ति [illegible] मिथ्यात्व [illegible] क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा। [illegible] सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयकी मुख्यता समझना चाहिये।

[illegible]

[illegible]

हेट्ठिल्लाणं सयल-गुणट्ठाणाणमसंजदत्तं परूवेदि। उवरि असंजमभावं किण्ण परूवेदि त्ति उत्ते ण परूवेदि, उवरि सव्वत्थ संजमासंजम-संजम-विसेसणोवलंभादो त्ति। उत्तं च —

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरु-णियोगा[1] ॥ ११० ॥
णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो[2] ॥ १११ ॥

एदं सम्माइट्ठि-वयणं उवरिम-सव्व-गुणट्ठाणेसु अणुवट्टइ गंगा-णई-पवाहो व्व। देसविरइ-गुणट्ठाण-परूवणट्ठमुत्तर-सुत्तमाह —

संजदासंजदा ॥ १३ ॥

संयताश्च ते असंयताश्च संयतासंयताः। यदि संयतः, नासावसंयतः। अथासंयतः,

लिये यह अपनेसे नीचेके भी समस्त गुणस्थानोंके असंयतपनेका निरूपण करता है।

यह असंयत पद ऊपर अर्थात् पांचवें आदि गुणस्थानोंमें असंयमभावका प्ररूपण क्यों नहीं करता है, इसप्रकारकी शंकाके होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि पांचवें आदि गुणस्थानोंमें यह असंयत पद असंयमभावका प्ररूपण नहीं करता है, क्योंकि, ऊपर सब जगह संयमासंयम और संयम विशेषण ही पाया जाता है। कहा भी है —

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है, किंतु किसी तत्वको नहीं जानता हुआ गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर लेता है ॥ ११० ॥

जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरत नहीं है, किंतु जिनेन्द्रदेवद्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥ १११ ॥

इस सूत्रमें जो सम्यग्दृष्टि पद है वह गंगा नदीके प्रवाहके समान ऊपरके समस्त गुणस्थानोंमें अनुवृत्तिको प्राप्त होता है। अर्थात् पांचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन पाया जाता है।

अब देशविरति गुणस्थानके प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सामान्यसे संयतासंयत जीव होते हैं ॥ १३ ॥

जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं उन्हें संयतासंयत कहते हैं।

शंका — जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है, और जो असंयत

१ गो. जी. २७.

२ गो. जी. २९. अविरत [illegible]

नासौ संयत इति विरोधान्नायं गुणो घटत इति चेदस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो विरोध इष्टत्वात्, अन्यथा तेषां स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। न गुणानां सहानवस्थानलक्षणो विरोधः सम्भवति, सम्भवे वा न वस्त्वस्ति तस्यानेकान्तनिबन्धनत्वात्। यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु। सा च नैकान्ते एकानेकाभ्यां प्राप्तनिरूपितावस्थाभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। न चैतन्याचैतन्याभ्यामनेकान्तस्तयोर्गुणत्वाभावात्। सहभुवो हि गुणाः, न चानयोः सहभूतिरस्ति असति विबन्धर्यनुपलम्भात्। भवति च विरोधः समाननिबन्धनत्वे सति। न चात्र विरोधः संयमासंयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोस्त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात्। औदयिकादिषु पञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्य संयमासंयमगुणः समुत्पन्न इति चेत्क्षायोपशमिकोऽयं गुणः अप्रत्याख्याना

होता है वह संयत नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयमभाव और असंयमभावका परस्पर विरोध है। इसलिये यह गुणस्थान नहीं बनता है।

समाधान—विरोध दो प्रकारका है, परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्थालक्षण विरोध। इनमेंसे एक द्रव्यके अनन्त गुणोंमें परस्परपरिहारलक्षण विरोध इष्ट ही है, क्योंकि, यदि गुणोंका एक दूसरेका परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है। परन्तु इतने मात्रसे गुणोंमें सहानवस्थालक्षण विरोध संभव नहीं है। यदि नाना गुणोंका एकसाथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जावे तो वस्तुका अस्तित्व ही नहीं बन सकता है, क्योंकि, वस्तुका सद्भाव अनेकान्त निमित्तक ही होता है। जो अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है वह वस्तु है। परन्तु वह अर्थक्रिया एकान्तपक्षमें नहीं बन सकती है, क्योंकि, अर्थक्रियाको यदि एकरूप माना जावे तो पुनः पुनः उसी अर्थक्रियाकी प्राप्ति होनेसे, और यदि अनेकरूप माना जावे तो अनवस्था दोष आनेसे एकान्तपक्षमें अर्थक्रियाके होनेमें विरोध आता है।

ऊपरके कथनसे चैतन्य और अचैतन्यके साथ भी अनेकान्त दोष नहीं आता है, क्योंकि, चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं। जो सहभावी होते हैं उन्हें गुण कहते हैं। परन्तु ये दोनों सहभावी नहीं हैं, क्योंकि बन्धरूप अवस्थाके नहीं रहने पर चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों एकसाथ नहीं पाये जाते हैं। दूसरे विरुद्ध दो धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण यदि समान अर्थात् एक मान लिया जावे तो विरोध आता है, परन्तु संयमभाव और असंयमभाव इन दोनोंको एक आत्मामें स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, उन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भिन्न भिन्न हैं। संयमभावकी उत्पत्तिका कारण त्रसहिंसासे विरतिभाव है और असंयमभावकी उत्पत्तिका कारण स्थावरहिंसासे अविरतिभाव है। इसलिये संयतासंयत नामका पांचवां गुणस्थान बन जाता है।

शंका—औदयिक आदि पांच भावोंमेंसे किस भावके आश्रयसे संयमासंयम भाव पैदा होता है?

समाधान—संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है, क्योंकि, अप्रत्याख्यानावरणीय

वरणीयस्य सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात् सतां चोपशमात् प्रत्याख्यानावरणीयोदयादप्रत्याख्यानोत्पत्तेः। संयमासंयमधाराधिकृतसम्यक्त्वानि कियन्तीति चेत्क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकानि त्रीण्यपि भवन्ति पर्यायेण नान्यतरेणाप्रत्याख्यानस्योत्पत्तिविरोधात्। सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो दृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाङ्क्षस्यानिवृत्तविषयपिपासस्याप्रत्याख्यानानुपपत्तेः। उक्तं च —

> जो तस-वहाउ विरदो अविरदओ तह य थावर-वहादो।
> एक्क-समयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई॥ ११२॥

संयतानामादिगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह —

पमत्तसंजदा॥ १४॥

प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सं सम्यग् यताः विरताः संयताः। प्रमत्ताश्च ते संयताश्च

कषायके वर्तमान कालिक सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षय होनेसे, और आगामी कालमें उदयमें आने योग्य उन्हींके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयसे संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान चारित्र उत्पन्न होता है।

शंका — संयमासंयमरूप देशचारित्रकी धारासे संबन्ध रखनेवाले कितने सम्यग्दर्शन होते हैं?

समाधान — क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीनोंमेंसे कोई एक सम्यग्दर्शन विकल्पसे होता है, क्योंकि, उनमेंसे किसी एकके विना अप्रत्याख्यान चारित्रका प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता है।

शंका — सम्यग्दर्शनके विना भी देशसंयमी देखनेमें आते हैं?

समाधान — नहीं, क्योंकि, जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित हैं और जिनकी विषय-पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यानसंयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कहा भी है —

जो जीव जिनेन्द्रदेवमें अद्वितीय श्रद्धाको रखता हुआ एक ही समयमें त्रसजीवोंकी हिंसासे विरत और स्थावर जीवोंकी हिंसासे अविरत होता है उसको विरताविरत कहते हैं॥ ११२॥

अब संयतोंके प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सामान्यसे प्रमत्तसंयत जीव होते हैं॥ १४॥

प्रकर्षसे मत्त जीवोंको प्रमत्त कहते हैं, और अच्छी तरहसे विरत या संयमको प्राप्त जीवोंको संयत कहते हैं। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्तसंयत कहते हैं।

१ गो. जी. ३१. ... [illegible] सम्यक्त्वं विना ... [illegible]

प्रमत्तसंयताः। यदि प्रमत्ताः, न संयताः, स्वरूपासंवेदनात्। अथ संयताः, न प्रमत्ताः, संयमस्य प्रमादपरिहाररूपत्वादिति नैष दोषः, संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः गुप्तिसमित्यनुरक्षितः, नासौ प्रमादेन विनाश्यते तत्र तस्मान्मलोत्पत्तेः। संयमस्य मलोत्पादक एवात्र प्रमादो विवक्षितो न तद्विनाशकः इति कुतोऽवसीयत इति चेत् संयमाविनाशान्यथानुपपत्तेः। न हि मन्दतमः प्रमादः क्षणक्षयी संयमविनाशकोऽसति निबन्धर्यनुपलम्भे। प्रमत्तवचनमन्तदीपकत्वाच्छेषातीतसर्वगुणेषु प्रमादास्तित्वं सूचयति। पञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्याय प्रमत्तसंयतगुणः उत्पन्न इति चेत्संयमापेक्षया क्षायोपशमिकः। कथम्? प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पर्धकोदयक्षयात्तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमात्

शंका—यदि छठवें गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, प्रमत्त जीवोंको अपने स्वरूपका संवेदन नहीं हो सकता है। यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, संयमभाव प्रमादके परिहारस्वरूप होता है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापोंसे विरतिभावको संयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पांच समितियोंसे अनुरक्षित है। वह संयम वास्तवमें प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, संयममें प्रमादसे केवल मलकी ही उत्पत्ति होती है।

शंका—छठवें गुणस्थानमें संयममें मल उत्पन्न करनेवाला ही प्रमाद विवक्षित है, संयमका नाश करनेवाला प्रमाद विवक्षित नहीं है, यह बात कैसे निश्चय की जाय?

समाधान—छठवें गुणस्थानमें प्रमादके रहते हुए संयमका सद्भाव अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिये निश्चय होता है कि यहां पर मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद ही अभीष्ट है। दूसरे छठवें गुणस्थानमें होनेवाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयमका नाश भी नहीं कर सकता है, क्योंकि, सकलसंयमका उत्कटरूपसे प्रतिबन्ध करनेवाले प्रत्याख्यानावरणके अभावमें संयमका नाश नहीं पाया जाता।

यहां पर प्रमत्त शब्द अन्तदीपक है, इसलिये वह छठवें गुणस्थानसे पहलेके संपूर्ण गुणस्थानोंमें प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है।

शंका—पांच भावोंमेंसे किस भावका आश्रय लेकर यह प्रमत्तसंयत गुणस्थान उत्पन्न होता है?

समाधान—संयमकी अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

शंका—प्रमत्तसंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक किस प्रकार है?

समाधान—क्योंकि, वर्तमानमें प्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामीकालमें उदयमें आनेवाले सत्तामें स्थित उन्हींके उदयमें न आनेरूप उपशमसे तथा संज्वलन कषायके उदयसे प्रत्याख्यान (संयम) उत्पन्न होता है, इसलिये

...ञ्ज्वलनादपाय प्रत्याख्यानमभुत्पत्ते । सञ्ज्वलनोदयात्संयमो भवतीत्यौदयिक व्यप-
देशोऽस्य किं न स्यादिति चेन्न तत संयमस्योत्पत्तेरभावात् । क तद् व्याप्रियत इति
चे प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पर्द्धकोदयक्षयसमुत्पन्नसंयममलोत्पादने तस्य व्यापार ।
संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकगुणनिबन्धन । सम्यक्त्व-
न्तरेणापि संयमोपलम्भनार्थं सम्यक्त्वानुवर्तनेनेति चेन्न, आप्तागमपदार्थेष्वनुत्पन्नश्रद्धस्य
त्रिमूढालीढचेतस संयमानुपपत्ते । द्रव्यसंयमस्य नात्रोपादानमिति कुतोऽवगम्यत
इति चेत्सम्यग् ज्ञात्वा श्रद्धाय यत संयत इति व्युत्पादितत्वात् । उक्तं च—

...क्षायोपशमिक है ।

शंका—संज्वलन कषायके उदयसे संयम होता है, इसलिये उसे औदयिक नामसे
क्यों नहीं कहा जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संज्वलन कषायके उदयसे संयमकी उत्पत्ति नहीं
होती है ।

शंका—तो संज्वलनका व्यापार कहां पर होता है?

समाधान—प्रत्याख्यानावरण कषायके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षयसे (और
...सदवस्थारूप उपशमसे) उत्पन्न हुए संयममें मलके उत्पन्न करनेमें संज्वलनका व्यापार
...होता है ।

संयमके कारणभूत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो यह गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक
और औपशमिक भावनिमित्तक है ।

शंका—यहां पर सम्यग्दर्शनपद की जो अनुवृत्ति बतलाई है उससे क्या यह तात्पर्य
निकलता है कि सम्यग्दर्शनके बिना भी संयमकी उपलब्धि होती है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि आप्त आगम और पदार्थोंमें जिस जीवके श्रद्धा
उत्पन्न नहीं हुई, तथा जिसका चित्त तीन मूढताओंसे व्याप्त है उसके संयमकी उत्पत्ति नहीं
हो सकती है ।

शंका—यहां पर द्रव्यसंयमका ग्रहण नहीं किया है, यह कैसे जाना जाय?

समाधान—क्योंकि, भलेप्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यमसहित है उसे संयत
कहते हैं । संयत शब्दकी इसप्रकार व्युत्पत्ति करनेसे यह जाना जाता है कि यहां पर द्रव्य-
संयमका ग्रहण नहीं किया है । कहा भी है—

१ [illegible]
[illegible]
[illegible] गो. जी. ... , गा. ४४

वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजओ होइ ।
सयल-गुण-सील-कलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥ ११३ ॥
विकहा तहा कसाया इंदिय-णिद्दा तहेव पणयो य ।
चदु-चदु-पणमेगेगं होंति पमादा य पण्णरसा ॥ ११४ ॥

क्षायोपशमिकसंयमेषु शुद्धसंयमोपलक्षितगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह —

अप्पमत्तसंजदा ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयताः पूर्वोक्तलक्षणाः, न प्रमत्तसंयताः अप्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमादरहितसंयता इति यावत् । शेषाशेषसंयतानामत्रैवान्तर्भावाच्छेषसंयतगुणस्थानानामभावः स्यादिति चेन्न, संयतानामुपरिष्टात्प्रतिपद्यमानविशेषणविशिष्टानामप्रमादानामिह

जो व्यक्त अर्थात् स्वसंवेद्य और अव्यक्त अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानियोंके ज्ञानद्वारा जानने योग्य प्रमादमें वास करता है, जो सम्यक्त्व, ज्ञानादि संपूर्ण गुणोंसे और व्रतोंके रक्षण करनेमें समर्थ ऐसे शीलोंसे युक्त है, जो (देशसंयतकी अपेक्षा) महाव्रती है और जिसका आचरण प्रमादमिश्रित है, अथवा चित्रल सारंगको कहते हैं, इसलिये जिसका आचरण सारंगके समान शबलित अर्थात् अनेक प्रकारका है, अथवा, चित्तमें प्रमादको उत्पन्न करनेवाला जिसका आचरण है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं ॥ ११३ ॥

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा ये चार विकथाएं क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां, निद्रा और प्रणय इसप्रकार प्रमाद पन्द्रह प्रकारका होता है ॥ ११४ ॥

अब क्षायोपशमिक संयमोंमें शुद्ध संयमसे उपलक्षित गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे अप्रमत्तसंयत जीव होते हैं ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयतोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं, अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवोंके पन्द्रह प्रकारका प्रमाद नहीं पाया जाता है, उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिये ।

शंका—बाकीके संपूर्ण संयतोंका इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये शेष संयतगुणस्थानोंका अभाव हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो आगे चलकर प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणादि

१ गो. जी. ३३. चित्रं प्रमादमिश्रं लाति गृह्णाति चित्रलं, चित्रलं आचरणं यस्यासौ चित्रलाचरणः । अथवा चित्रलः सारंगः तद्वत् शबलं आचरणं यस्य स चित्रलाचरणः । अथवा चित्तं लाति चित्तलं, चित्तलं आचरणं यस्यासौ चित्तलाचरणः । जी. प्र. टी.

२ गो. जी. ३४

ग्रहणात्। तत्कथमवगम्यत इति चेन्न, उपरिष्टाच्चतनसंयतगुणस्था[illegible]
नुपपत्तितस्तदवगतेः। सोऽपि गुणः क्षायोपशमिकः प्रत्या[illegible]
कर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सतां पूर्ववदुपशमात् [illegible]
प्रत्याख्यानोत्पत्तेः। संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया सम्यक्त्वप्रतिबन्ध[illegible]
क्षयोपशमोपशमजगुणनिबन्धनः। उक्तं च—

> णट्ठासेस पमाओ वय गुण सी[illegible] मंडिओ णाणी।
> अणुवसमओ अक्खवओ झाण [illegible] ॥ ११[illegible]

चारित्रमोहोपशमकक्षपकेषु प्रथमगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह —

अपुव्वकरण पविट्ठ सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा [illegible]

विशेषणोंसे विशेषित, अर्थात् भेदको प्राप्त नहीं होने से और जिनका प्रमाद नष्ट हो [illegible]
संयतोंका ही यहां पर ग्रहण किया है। इसलिये आगेके समस्त संयतगुणस्थानों [illegible]
अन्तर्भाव नहीं होता है।

शंका — यह कैसे जाना जाय कि यहां पर आगे प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरण [illegible]
णोंसे भेदको प्राप्त होनेवाले संयतोंका ग्रहण नहीं किया गया है?

समाधान — नहीं, क्योंकि यदि यह न माना जाय तो आगेके संयत गुणस्था[illegible]
निरूपण बन नहीं सकता है। इसलिये यह मालूम पड़ता है कि यहां पर अपूर्वकरण [illegible]
विशेषणोंसे रहित केवल अप्रमत्त संयत गुणस्थानका ही ग्रहण किया गया है।

वर्तमान समयमें प्रत्याख्यानावरणीय कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयक्षय [illegible]
[illegible]र आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे तथा [illegible]
कषायके मन्द उदय होनेसे प्रत्याख्यान उत्पन्न होता है, इसलिये यह गुणस्थान भी [illegible]
पशमिक है। संयमके कारणभूत सम्यक्त्वकी अपेक्षा सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक कर्मोंके [illegible]
क्षयोपशम और उपशमसे यह [illegible] है, इसलिये क्षायिक क्षायोपशमिक और
औपशमिक भी है। कहा भी है —

[illegible]

[illegible] ॥ ११[illegible] ॥

अब आगे [illegible] उपशमक [illegible]
प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

अपूर्वकरण [illegible]

करणाः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः। नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धासंख्येयलोकपरिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्विवक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्यसमयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत्। अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणाः। एतेनापूर्वविशेषणेन अधःप्रवृत्तपरिणामव्युदासः कृत इति द्रष्टव्यः, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात्। अपूर्वशब्दः प्रागप्रतिपन्नार्थवाचको नासमानार्थवाचक इति चेन्न, पूर्वसमानशब्दयोरेकार्थत्वात्। तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां ते अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धयः। के ते? संयताः। तेषु संयतेषु 'अत्थि' सन्ति। नदीस्रोतोन्यायेन

... जीव होते हैं ॥ १६ ॥

करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है, कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिसे लेकर प्रत्येक समयमें क्रमसे बढ़ते हुए असंख्यात लोकप्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवोंको छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवोंके द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं। अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं। इसतरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें दिये गये अपूर्व विशेषणसे अधःप्रवृत्त परिणामोंका निराकरण किया गया है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहां पर उपरितन समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणामोंके साथ सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ऐसे अधःप्रवृत्तमें होनेवाले परिणामोंमें अपूर्वता नहीं पाई जाती है।

शंका—अपूर्व शब्द पहले कभी नहीं प्राप्त हुए अर्थका वाचक है, असमान अर्थका वाचक नहीं है, इसलिये यहां पर अपूर्व शब्दका अर्थ असमान या विसदृश नहीं हो सकता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व और समान ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, इसलिये अपूर्व और असमान इन दोनों शब्दोंका अर्थ भी एक ही समझना चाहिये। ऐसे अपूर्व परिणामोंमें जिन जीवोंकी शुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं।

शंका—ये अपूर्वकरणरूप परिणामोंमें विशुद्धिको प्राप्त करनेवाले कौन होते हैं?

समाधान—ये संयत ही होते हैं, अर्थात् संयतोंमें ही अपूर्वकरण गुणस्थानवाले जीवोंका सद्भाव होता है। और उन संयतोंमें उपशमक और क्षपक भी होते हैं।

शंका—नदीस्रोतन्यायसे 'संति' इस पदकी अनुवृत्ति चली आती है, इसलिये

१ [illegible]

सन्तीत्यनुवर्तमाने पुनरिह तदुच्चारणमनर्थकमिति चेन्न, अन्यार्थत्वात्। कथम्? स गुणस्थानसत्त्वप्रतिपादकः, अयं तु संयतेषु क्षपकोपशमकभावप्रतिपादक [illegible] इति। अपूर्वकरणानामन्तः प्रविष्टशुद्ध्य क्षपकोपशमकसंयताः सर्वे सम्भूय एको गुण 'अपूर्वकरण' इति। किमिति नामनिर्देशो न कृतश्चेत्, नाम [illegible]। अ [illegible] पञ्चमहाना [illegible], भाविनि भूतवदुपचारतस्तत्सिद्धेः। [illegible]

उसका फिरसे इस सूत्रमें ग्रहण करना निरर्थक है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहां पर 'सन्ति' पदका दूसरा [illegible] लिया गया है।

शंका—वह दूसरा अर्थ किसप्रकारका है?

समाधान—पहले जो 'सन्ति' पद आया है, वह गुणस्थानोंके अस्तित्वका प्रतिपादक है, और यह संयतोंमें क्षपक और उपशमक भावके भिन्न भिन्न [illegible] बतानेके लिये है।

जिन्होंने अपूर्वकरणरूप परिणामोंमें विशुद्धि प्राप्त कर लिया है ऐसे क्षपक और उपशमक संयमी जीव होते हैं, और वे सब मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थानवाले हैं।

शंका—तो फिर यहां पर इसप्रकार नामनिर्देश क्यों नहीं किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह बात [illegible] हो जाती है। [illegible] अपूर्वकरणको प्राप्त हुए उन सब क्षपक और उपशमक जीवोंके परिणामोंमें अपूर्वपनेकी अपेक्षा समानता पाई जाती है इसलिये वे सब मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थानवाले होते हैं [illegible] अपने आप सिद्ध है।

शंका—आठवें गुणस्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही, फिर इस गुणस्थानवर्ती जीवोंको क्षपक और उपशमक कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भावी अर्थमें भूतकालीन अर्थके समान उपचार कर लेनेसे आठवें गुणस्थानमें क्षपक और उपशमक व्यवहारकी सिद्धि हो जाती है।

शंका—इसप्रकार मानने पर तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त हो जाता है?

[illegible]

स्यादिति चेन्न, अप्रतिबन्धिनि मरणे नियमेन चारित्रमोहक्षपणोपशमकारिणां तदुन्मुखानामुपचारभाजामुपलम्भात् । क्षपणोपशमननिबन्धनत्वाद् भिन्नपरिणामानां कथमेकत्वमिति चेन्न, क्षपकोपशमकपरिणामानामपूर्वत्वं प्रति साम्यात्तदेकत्वोपपत्तेः । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्रतनगुणश्चेत्क्षपकस्य क्षायिकः, उपशमकस्यौपशमिकः । कर्मणां क्षयोपशमाभ्यामभावे कथं तयोरत्र सत्त्वमिति चेन्नैष दोषः, तयोरत्र सत्त्वस्योपचारनिबन्धनत्वात् । सम्यक्त्वापेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको भावः दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः । उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिको वा भावः, दर्शनमोहोपशम

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रतिबन्धक मरणके अभावमें नियमसे चारित्रमोहका उपशम करनेवाले तथा चारित्रमोहका क्षय करनेवाले अतएव उपशमन और क्षपणके सन्मुख हुए और उपचारसे क्षपक या उपशमक संज्ञाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके आठवें गुणस्थानमें भी क्षपक या उपशमक संज्ञा बन जाती है।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणीमें तो मरण होता ही नहीं है, इसलिये यहां प्रतिबन्धक मरणका सर्वथा अभाव होनेसे क्षपकश्रेणीके आठवें गुणस्थानवाला आगे चलकर नियमसे चारित्रमोहनीयका क्षय करनेवाला है। अतः क्षपकश्रेणीके आठवें गुणस्थानवर्ती जीवके क्षपक संज्ञा बन जाती है। तथा उपशमश्रेणीस्थ आठवें गुणस्थानके पहले भागमें तो मरण नहीं होता है। परंतु द्वितीयादिक भागोंमें मरण संभव है, इसलिये यदि ऐसे जीवके द्वितीयादिक भागोंमें मरण न हो तो वह भी नियमसे चारित्रमोहनीयका उपशम करता है। अतः इसके भी उपशमक संज्ञा बन जाती है।

शंका—पांच प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव पाया जाता है ?

समाधान—क्षपकके क्षायिक और उपशमकके औपशमिक भाव पाया जाता है।

शंका—इस गुणस्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही होता है ऐसी अवस्थामें यहां पर क्षायिक या औपशमिक भावका सद्भाव कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानमें क्षायिक और औपशमिक भावका सद्भाव उपचारसे माना गया है।

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो क्षपकके क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं किया है वह क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है। और उपशमकके औपशमिक या क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका उपशम अथवा क्षय

१ [illegible]

समाप्त्या विनोपशमक्षपणारोहणानुपलम्भात् । उक्तं च—

> भिण्ण-समय-ट्ठिएहि दु जीवेहि ण होइ सव्वदा सरिसो ।
> करणेहि एक्क-समय-ट्ठिएहि सरिसो विसरिसो य ॥ ११६ ॥
> एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिस-समय-ट्ठिएहि जीवेहि ।
> पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥ ११७ ॥
> तारिस-परिणाम-ट्ठिय-जीवा हु जिणेहि गलिय-तिमिरेहि ।
> मोहस्स पुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया ॥ ११८ ॥

इदानीं बादरकषायेषु चरमगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १७ ॥

समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः । अथवा निवृत्ति-

---

नहीं किया है, वह उपशमश्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है । कहा भी है—

अपूर्वकरण गुणस्थानमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सदृशता नहीं पाई जाती है, किन्तु एक-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा सदृशता और विसदृशता दोनों ही पाई जाती हैं ॥ ११६ ॥

इस गुणस्थानमें विसदृश अर्थात् भिन्न भिन्न समयमें रहनेवाले जीव जो पूर्वमें कभी भी नहीं प्राप्त हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोंको ही धारण करते हैं (इसलिये इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है ।) ॥ ११७ ॥

पूर्वोक्त अपूर्व परिणामोंको धारण करनेवाले जीव मोहनीय कर्मकी शेष प्रकृतियोंके क्षपण अथवा उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं ऐसा अज्ञानरूपी अन्धकारसे सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ११८ ॥

अब बादर कषायवाले गुणस्थानोंमें अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अनिवृत्ति-बादर-साम्परायिक प्रविष्ट शुद्धि संयतोंमें उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं ॥ १७ ॥

समान-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं । अथवा

---

१ गो. जी. ५१
२ गो. जी. ५२
३ गो. जी. ५४
[illegible]

र्व्यावृत्ति, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः । अपूर्वकरणा [illegible] तर्हि सन्तीति तेषामप्ययं व्यपदेशः प्राप्नोतीति चेन्न, तेषां नियमाभावात् । समानसमयस्थितजीव-परिणामानामिति कथमधिगम्यत इति चेत्, 'अपूर्वकरण' इत्यनुवर्तनादेव द्वितीयादि-समयवर्तिभिः सह परिणामापेक्षया भेदसिद्धेः । साम्परायाः कषायाः, बादराः स्थूलाः, बादराश्च ते साम्परायाश्च बादरसाम्परायाः । अनिवृत्तयश्च ते बादरसाम्परायाश्च अनिवृत्ति-बादरसाम्परायाः । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां तेऽनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्ट-शुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । ते सर्व एको गुणोऽनिवृत्तिरिति । यावन्तः परिणामास्तावन्त एव गुणाः किन्न भवन्तीति चेन्न, तथा व्यवहारानुपपत्तितो

निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामोंकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं।

शंका — अपूर्वकरण गुणस्थानमें भी तो कितने ही परिणाम इसप्रकारके होते हैं, अतएव उन परिणामोंको भी अनिवृत्ति संज्ञा प्राप्त होनी चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, उनके निवृत्तिरहित होनेका कोई नियम नहीं है।

शंका — इस गुणस्थानमें जो जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्ति बतलाई है, वह समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी ही विवक्षित है यह कैसे जाना?

समाधान — 'अपूर्वकरण' पदकी अनुवृत्तिसे ही यह सिद्ध होता है, कि इस गुणस्थानमें प्रथमादि समयवर्ती जीवोंका द्वितीयादि समयवर्ती जीवोंके साथ परिणामोंकी अपेक्षा भेद है। (अतएव इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि 'अनिवृत्ति' पदका सम्बन्ध एकसमयवर्ती परिणामोंके साथ ही है।)

साम्पराय शब्दका अर्थ कषाय है, और बादर स्थूलको कहते हैं, इसलिये स्थूल कषायोंको बादर-साम्पराय कहते हैं। और अनिवृत्तिरूप बादर साम्परायको अनिवृत्तिबादरसाम्पराय कहते हैं। उन अनिवृत्तिबादरसाम्परायरूप परिणामोंमें जिन संयतोंकी विशुद्धि प्रविष्ट हो गई है उन्हें अनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं। ऐसे संयतोंमें उपशमक और क्षपक दोनों प्रकारके जीव होते हैं। और उन सब संयतोंका मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है।

शंका — जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं?

समाधान — नहीं, क्योंकि, जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि मान

१ [illegible] गुणस्थानक [illegible] अनिवृत्ति । [illegible] गुणस्थानकमारूढानां [illegible] अध्यवसायस्थान [illegible] × × [illegible] अध्यवसायस्थानानि [illegible] । [illegible] अध्यवसायस्थान [illegible] । अभि. रा. को. ([illegible])

द्रव्यार्थिकनयसमाश्रयणात्। बादरग्रहणमन्तदीपकत्वाद् गताशेषगुणस्थानानि बादरकषायाणीति प्रज्ञापनार्थम्, 'सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति न्यायात्। संयतग्रहणमनर्थकमिति चेन्नैष दोषः, संयमस्य पञ्चस्वपि गुणेषु सम्भव एव न व्यभिचार इत्यस्यान्यस्याधिगमोपायस्याभावतस्तदुक्तेः। अत्र संयतग्रहणमनुवर्तते, ततस्तदवसीयत इति चेत्सत्यं तु जडजनानुग्रहार्थमिति। यद्येवमुपशान्तकषायादिष्वपि संयतग्रहणमस्त्विति चेन्न, सकषायत्वेन संयतानामसंयतैः साधर्म्यमस्तीति मन्दधियामध संशयोत्पत्तिसम्भवात्। नोपशान्तकषायादिषु मन्दधियामप्याशङ्कोत्पद्यते। क्षीणोपशान्तकषायाः संयताः, भावतोऽसंयतैस्संयतानां साधर्म्याभावात्। चारित्रप्रकृतीरुपशमयन्ति,

जाय तो व्यवहार ही नहीं चल सकता है, इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नियत-संख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये हैं।

सूत्रमें जो 'बादर' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तदीपक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थान बादरकषाय हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिये ग्रहण किया है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहां पर विशेषण संभव हो अर्थात् लागू पड़ता हो और न देने पर व्यभिचार आता हो, ऐसी जगह दिया गया विशेषण सार्थक होता है, ऐसा न्याय है।

शंका — इस सूत्रमें संयत पदका ग्रहण करना व्यर्थ है?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, संयम पांचों ही गुणस्थानोंमें संभव है, इसमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, इसप्रकार जाननेका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे यहां संयम पदका ग्रहण किया है।

शंका — 'प्रमत्तसंयत' इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी यहां अनुवृत्ति होती है, और उससे ही उक्त अर्थका ज्ञान भी हो जाता है, इसलिये फिरसे इस पदका ग्रहण करना व्यर्थ है?

समाधान — यदि ऐसा है तो संयत पदका यहां पुनः प्रयोग मन्दबुद्धि जनोंके अनुग्रहके लिये समझना चाहिये।

शंका — यदि ऐसा है तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें भी संयत पदका ग्रहण करना चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, दशवें गुणस्थानतक सभी जीव कषायसहित होनेके कारण कषायकी अपेक्षा संयतोंकी असंयतोंके साथ समानता पाई जाती है, इसलिये वहां दशवें गुणस्थानतक मन्दबुद्धि जनोंको संशय उत्पन्न होनेकी संभावना है। अतः संशयके निवारणके लिये संयत विशेषण देना आवश्यक है। किंतु ऊपरके उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें मन्दबुद्धि जनोंको भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहां पर संयत क्षीणकषाय अथवा उपशान्तकषाय ही होते हैं, इसलिये भावोंकी अपेक्षा भी संयतोंकी असंयतोंसे समानता नहीं पाई जाती है। अतएव वहां पर संयत विशेषण देना आवश्यक नहीं है।

काश्चिदुपरिष्टादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽयं गुणः। काश्चित् प्रकृतीः क्षपयति काश्चिदुपरिष्टात् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च। सम्यक्त्वापेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक एव गुणस्तत्रान्यस्यासम्भवात्। उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिकश्चोभयोरपि तत्राविरोधात्। क्षपकोपशमकयोर्द्वित्वं किमिति नेष्यत इति चेन्न, गुणनिबन्धनानिवृत्तिपरिणामसाम्यप्रदर्शनार्थं तदेकत्वोपपत्तेः। उक्तं च —

एक्कम्मि कालसमए संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तह च्चिय परिणामेहिं मिहो जे हु ॥ ११९ ॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयर-झाण-हुयवह-सिहाहि णिद्दड्ढ-कम्म-वणा ॥ १२० ॥

इस गुणस्थानमें जीव मोहकी कितनी ही प्रकृतियोंका उपशमन करता है, और कितनी ही प्रकृतियोंका आगे उपशम करेगा, इस अपेक्षासे यह गुणस्थान औपशमिक है। और कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, तथा कितनी ही प्रकृतियोंका आगे क्षय करेगा, इसलिए क्षायिक भी है। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्रमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप ही है, क्योंकि, क्षपकश्रेणीमें दूसरा भाव संभव ही नहीं है। तथा चारित्रमोहनीयका उपशम करनेवालेके यह गुणस्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप है, क्योंकि, उपशमश्रेणीकी अपेक्षा वहां पर दोनों भाव संभव हैं।

शंका — क्षपकका स्वतन्त्र गुणस्थान और उपशमकका स्वतन्त्र गुणस्थान, इसतरह अलग अलग दो गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये हैं?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी समानता दिखानेके लिये उन दोनोंमें एकता बन जाती है। अर्थात् उपशमक और क्षपक इन दोनोंके अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी अपेक्षा समानता है। कहा भी है —

अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव जिसप्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि बाह्यरूपसे और ज्ञानोपयोग आदि अन्तरंग रूपसे परस्पर भेदको प्राप्त होते हैं, उसप्रकार जिन परिणामोंके द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं। और उनके प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए) परिणाम पाये जाते हैं।

१ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इदानीं कुशीलेषु पाश्चात्यगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥१८॥

सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः। तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः। तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च। अत्र तु एको गुणः सूक्ष्मसाम्परायत्वं प्रत्यभेदात्। अपूर्व इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च। ततस्ताभ्यां सूक्ष्मसाम्परायो विशेषयितव्यः। अन्यथातीतगुणेभ्यस्तस्याधिक्यानुपपत्तेः। प्रकृती

तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओंसे कर्मवनको भस्म करनेवाले होते हैं ॥ ११९, १२० ॥

अब कुशील जातिके मुनियोंमें अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्म साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयतोंमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं ॥ १८ ॥

सूक्ष्म कषायको सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। उसमें जिन संयतोंकी शुद्धिने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्मसाम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं। और सूक्ष्मसाम्परायकी अपेक्षा उनमें भेद नहीं होनेसे उपशमक और क्षपक इन दोनोंका एक ही गुणस्थान होता है। इस गुणस्थानमें अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणोंकी अनुवृत्ति होती है। इसलिये ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्म साम्पराय शुद्धि संयतके साथ जोड़ लेना चाहिये। अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे इस गुणस्थानकी कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है।

विशेषार्थ — यदि दशवें गुणस्थानमें अपूर्व विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं होती तो इसमें प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकती। और अनिवृत्ति विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं मानने पर एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें समानता और कर्मोंके क्षपण और उपशमनकी योग्यता सिद्ध नहीं होती। इसलिये पूर्व गुणस्थानोंसे इसमें सर्वथा भिन्न जातिके ही परिणाम होते हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिये अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणोंकी अनुवृत्ति कर लेना चाहिये। इसप्रकार इस गुणस्थानमें अपूर्वता और अनिवृत्तिपनाके साथ सूक्ष्मसाम्परायसंयतकी विशेषता सिद्ध हो जाती है।

कश्चित्क्षपयति क्षपयिष्यति क्षपितवांश्चेति क्षायिकगुणः। कश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमितवांश्चेत्यौपशमिकगुणः[1]। सम्यग्दर्शनापेक्षया क्षपकः क्षायिकगुणः, उपशमकः औपशमिकगुणः क्षायिकगुणो वा द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वाभ्यामुपशमश्रेण्यारोहणसम्भवात्। संयतग्रहणस्य पूर्ववत्साफल्यमुपदेष्टव्यम्। उक्तं च —

> पुव्वापुव्वय-फद्दय-अणुभागादो अणंत-गुण-हीणे।
> लोहाणुम्हि ट्ठियओ हंद सुहुम-सांपराओ सो[1] ॥ १२१ ॥

साम्प्रतमुपशमश्रेण्यन्तगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ॥ १९ ॥

उपशान्तः[2] कषायो येषां ते उपशान्तकषायाः। वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः। छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। वीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च वीतरागछद्मस्थाः। एतेन सरागछद्मस्थनिराकृतिरवगन्तव्या। उपशान्तकषायाश्च ते वीत

इस गुणस्थानमें जीव कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, आगे क्षय करेगा और पूर्वमें क्षय कर चुका, इसलिये इसमें क्षायिकभाव है। तथा कितनी ही प्रकृतियोंका उपशम करता है, आगे उपशम करेगा और पहले उपशम कर चुका, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षपक श्रेणीवाला क्षायिकभावसहित है। और उपशमश्रेणीवाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावोंसे युक्त है, क्योंकि, दोनों ही सम्यक्त्वोंसे उपशमश्रेणीका चढ़ना संभव है। इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी पूर्ववत् अर्थात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें बतलाई गई संयत पदकी सार्थकताके समान सार्थकता समझ लेना चाहिये। कहा भी है—

पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकके अनुभागसे अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले सूक्ष्म लोभमें जो स्थित है उसे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये ॥ १२१ ॥

अब उपशमश्रेणीके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादनके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव होते हैं ॥ १९ ॥

जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्तकषाय कहते हैं। जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं। छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरणको कहते हैं, उनमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ होते हैं उन्हें वीतरागछद्मस्थ कहते हैं। इसमें आये हुए वीतराग विशेषणसे दशम गुणस्थान तकके सरागछद्मस्थोंका निराकरण समझना चाहिये। जो उपशान्तकषाय होते हुए भी वीतरागछद्मस्थ होते हैं उन्हें

1 [illegible] ५९.

2 [illegible]

ागछद्मस्थाश्च उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थाः। एतेनोपरितनगुणस्थानाभावोऽवगन्तव्यः। तस्योपशमिताशेषकषायत्वादौपशमिकः, सम्यक्त्वापेक्षया क्षायिक औपशमिको वा गुणः। उक्तं च —

> सकदकहलं जलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
> सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि ॥ १२२ ॥

निर्ग्रन्थगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था ॥ २० ॥

क्षीणः कषायो येषां ते क्षीणकषायाः। क्षीणकषायाश्च ते वीतरागाश्च क्षीणकषाय

उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। इससे (उपशान्तकषाय विशेषणसे) आगेके गुणस्थानोंका निराकरण समझना चाहिये।

इस गुणस्थानमें संपूर्ण कषायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है। तथा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं। कहा भी है —

निर्मली फलसे युक्त जल अथवा शरद् ऋतुमें सरोवरका पानी जिस प्रकार निर्मल होता है, उसी प्रकार संपूर्ण मोहनीय कर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं ॥ १२२ ॥

अब निर्ग्रन्थ गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सामान्यसे क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ जीव होते हैं ॥ २० ॥

जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं। जो क्षीणकषाय होते हुए

वीतरागाः। छद्मनि आवरणे तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। क्षीणकषायवीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः। छद्मस्थग्रहणमन्तदीपकत्वादतीताशेषगुणानां सावरणत्वस्य सूचकमित्यवगन्तव्यम्। क्षीणकषाया हि वीतरागा एव व्यभिचाराभावाद्वीतरागग्रहणमनर्थकमिति चेन्न, नामादिक्षीणकषायविनिवृत्तिफलत्वात्। पञ्चसु गुणेषु कस्मादस्य प्रादुर्भाव इति चेद् द्रव्यभावद्वैविध्यादुभयात्मकमोहनीयस्य निरन्वयविनाशात्क्षायिकगुणनिबन्धनः। उक्तं च —

णिस्सेस-खीण-मोहो फलिहामल-भायणुदय-समचित्तो।
खीण-कसाओ भण्णइ णिग्गंथो वीयराएहिं ॥ १२३ ॥

स्नातकगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

सजोगकेवली ॥ २१ ॥

वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकषायवीतराग कहते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणमें रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। इस सूत्रमें आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है, इसलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानोंके सावरणपनेका सूचक समझना चाहिये।

शंका — क्षीणकषाय जीव वीतराग ही होते हैं, इसमें किसी प्रकारका भी व्यभिचार नहीं आता, इसलिये सूत्रमें वीतराग पदका ग्रहण करना निष्फल है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, नाम, स्थापना आदि रूप क्षीणकषायकी निवृत्ति करना यह इस सूत्रमें वीतराग पदके ग्रहण करनेका फल है। अर्थात् इस गुणस्थानमें नाम स्थापना और द्रव्यरूप क्षीणकषायका ग्रहण नहीं है, किन्तु भावरूप क्षीणकषायोंका ही ग्रहण है, इस बातके प्रगट करनेके लिये सूत्रमें वीतराग पद दिया है।

शंका — पांच प्रकारके भावोंमेसे किस भावसे इस गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है?

समाधान — मोहनीय कर्मके दो भेद हैं, द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय। इस गुणस्थानके पहले दोनों प्रकारके मोहनीय कर्मोंका निरन्वय (सर्वथा) नाश हो जाता है, अतएव इस गुणस्थानकी उत्पत्ति क्षायिक गुणसे है। कहा भी है —

जिसने सम्पूर्ण अर्थात् प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश बन्धरूप मोहनीय कर्मका नष्ट कर दिया है, अतएव जिसका चित्त स्फटिकमणिके निर्मल भाजनमें रक्खे हुए स्वच्छ सलिलके समान निर्मल है ऐसे निर्ग्रन्थ साधुको वीतरागियोंने क्षीणकषाय कहा है ॥ १२३ ॥

अब स्नातकोंके गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सयोगकेवली सयोगकेवली जीव होते हैं ॥ २१ ॥

[illegible]

[illegible]

केवलं केवलज्ञानम्। कथं नामैकदेशात्केवलनाम्ना प्रतिपद्यमानस्यार्थस्यावगम इति चेन्न, बलदेवशब्दवाच्यस्यार्थस्य तदेकदेशदेवशब्दादपि प्रतीयमानस्योपलम्भात्। न च दृष्टेऽनुपपन्नता अनवस्थापत्तेः। केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्, तदेषामस्तीति केवलिनः। मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्योगः, योगेन सह वर्तन्त इति सयोगाः। सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः। सयोगग्रहणमधस्तनसकलगुणानां सयोगत्वप्रतिपादकमन्तदीपकत्वात्। क्षपिताशेषघातिकर्मत्वान्निराकृतवेदनीयसामर्थ्यत्वान्नष्टाष्टकर्मावयवषष्टिकर्मत्वाद्वा क्षायिकगुणः। उक्तं च—

केवलणाण-दिवायर-किरण-कलाव-प्पणासिअण्णाणो।
णव-केवल-लद्धुग्गम-सुजणिय-परमप्प-ववएसो॥ १२४॥

केवल पदसे यहां पर केवलज्ञानका ग्रहण किया है।

शंका— नामके एकदेशके कथन करनेसे संपूर्ण नामके द्वारा कहे जानेवाले अर्थका बोध कैसे संभव है?

समाधान— नहीं, क्योंकि बलदेव शब्दके वाच्यभूत अर्थका उसके एकदेशरूप देव शब्दसे भी बोध होना पाया जाता है। और इसतरह प्रतीति-सिद्ध बातमें 'यह नहीं बन सकता है' इसप्रकार कहना निष्फल है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायगी।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मनकी अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं। वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है, उन्हें केवली कहते हैं। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं। जो योगके साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं। इसतरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं। इस सूत्रमें जो सयोग पदका ग्रहण किया है वह अन्तदीपक होनेसे नीचेके संपूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है। चारों घातिया कर्मोंके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके निःशक्त कर देनेसे अथवा आठों ही कर्मोंके अवयवरूप साठ उत्तर कर्म प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है।

विशेषार्थ— यद्यपि अरहंत परमेष्ठीके चारों घातिया कर्मोंकी सैंतालीस, नामकर्मकी तेरह और आयुकर्मकी तीन इसतरह त्रेसठ प्रकृतियोंका अभाव होता है। फिर भी यहां साठ प्रकृतियोंका अभाव बतलाया है, इसका ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि आयुकी तीन प्रकृतियोंके नाशके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवके मनुष्यायुको छोड़कर अन्य आयुकी सत्ता ही नहीं पाई जाती है, इसलिये यहां पर आयुकर्मकी प्रकृतियोंकी अविवक्षा करके साठ प्रकृतियोंका नाश बतलाया गया है। कहा भी है—

जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट

असहाय-णाण-दंसण सहिओ इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तो त्ति सजोगो इदि अणाइ णिहणारिसे उत्तो[1] ॥ १२५ ॥

साम्प्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमर्हन्मुखोद्गतार्थं गणधरदेवग्रथितशब्दसन्दर्भं प्रवाहरूपतयानिधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलङ्कमुत्तरसूत्रं पुष्पदन्तभट्टारकः प्राह—

अजोगकेवली ॥ २२ ॥

न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः । केवलमस्यास्तीति केवली । अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली । केवलीत्यनुवर्तमाने पुनः केवलिग्रहणं न कर्तव्यमिति चेन्नैष दोषः, समनस्केषु ज्ञानं सर्वत्र सर्वदा मनोनिबन्धनत्वेन प्रतिपन्नं प्रतीयते च । सति चैवं नायोगिनां केवलज्ञानमस्ति तत्र मनसोऽसत्त्वादिति विप्रतिपन्नस्याशिष्यस्य तदस्तित्व

हो गया है, और जिसने नव केवललब्धियोंके प्रगट होनेसे 'परमात्मा' इस संज्ञाको प्राप्त कर लिया है, वह इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ऐसे असहाय ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, तीनों योगोंसे युक्त होनेके कारण सयोगी और घाति कर्मोंसे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्षमें कहा है। ॥ १२४, १२५ ॥

अब पुष्पदन्त भट्टारक अन्तिम गुणस्थानके स्वरूपके निरूपण करनेके लिये, अर्हन्तपरमेष्ठीके मुखसे निकले हुए, गणधरदेवके द्वारा गूंथे गये शब्दरचनावाले, प्रवाहरूपसे कभी भी नाशको नहीं प्राप्त होनेवाले और संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष, ऐसे आगेके सूत्रको कहते हैं—

सामान्यसे अयोगकेवली जीव होते हैं ॥ २२ ॥

जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं। जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते हैं। जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते हैं।

शंका—पूर्वसूत्रसे केवली पदकी अनुवृत्ति होने पर इस सूत्रमें फिरसे केवली पदका ग्रहण नहीं करना चाहिये?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके सर्वदेश और सर्व कालमें मनके निमित्तसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञान प्रतीत होता है, इसप्रकारके नियमको मान लेने पर, अयोगियोंके केवलज्ञान नहीं होता है, क्योंकि, वहां पर मन नहीं पाया जाता है। इसप्रकार विपर्यस्त शिष्यको अयोगियोंमें केवलज्ञानके अस्तित्वके प्रतिपादनके लिये

१ गो. जी. ६४.

२ [illegible] । गो. जी. जी. प्र. टी. १

प्रतिपादकत्वात्। कथं वचनादस्तित्वमवगम्यत इति चेच्चक्षुषा स्तम्भादेरस्तित्वं कथमवगम्यते? तत्प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेश्चक्षुषा समुपलब्धमस्तीति चेत्तर्ह्यत्रापि वचनस्य प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः समस्ति वचनवाच्यमिति समानमेतत्। वचनस्य प्रामाण्यमसिद्धं तस्य क्वचिद् विसंवाददर्शनादिति चेन्न, चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमसिद्धं तस्य क्वचिद्विसंवाददर्शनस्य प्रति तयोरविशेषात्। यदविसंवादि चक्षुस्तत्प्रमाणमिति चेन्न, सर्वथापि चक्षुषः सर्वत्र सर्वदा अविसंवादस्यानुपलम्भात्। यत्र यदाविसंवादः समुपलभ्यते चक्षुषस्तत्र तदा तस्य प्रामाण्यमिति चेद्यदि क्वचित्कदाचिदविसंवादिनश्चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमिष्यते प्रत्यक्षपरोक्षविषये सर्वत्र सर्वदाविसंवादिनो वचनस्य प्रामाण्यं किमिति नेष्यते?

इस सूत्रमें दिये गये केवली पदका ग्रहण किया।

शंका—इस सूत्रमें केवली इस वचनके ग्रहण करनेमात्रसे अयोगी-जिनके केवलज्ञानका अस्तित्व कैसे जाना जाता है?

समाधान—यदि यह पूछते हो तो हम भी पूछते हैं कि चक्षुसे स्तंभ आदिके अस्तित्वका ज्ञान कैसे होता है? यदि कहा जाय कि चक्षुज्ञानमें अन्यथा प्रमाणता नहीं आ सकती, इसलिये चक्षुद्वारा गृहीत स्तम्भादिकका अस्तित्व है, ऐसा मान लेते हैं। तो हम भी कह सकते हैं कि अन्यथा वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, इसलिये वचनके रहने पर उसका वाच्य भी विद्यमान है, ऐसा भी क्यों नहीं मान लेते हो, क्योंकि, दोनों बातें समान हैं।

शंका—वचनकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, कहीं पर वचनमें विसंवाद देखा जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस पर तो हम भी ऐसा कह सकते हैं, कि चक्षुकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, वचनके समान चक्षुमें भी कहीं पर विसंवाद प्रतीत होता है।

शंका—जो चक्षु अविसंवादी होता है उसे ही हम प्रमाण मानते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, किसी भी चक्षुका सब देश और सब कालमें अविसंवादीपना नहीं पाया जाता है।

शंका—जिस देश और जिस कालमें चक्षुका अविसंवाद उपलब्ध होता है, उस देश और उस कालमें उस चक्षुमें प्रमाणता रहती है?

समाधान—यदि किसी देश और किसी कालमें अविसंवादी चक्षुकी प्रमाणता मानते हो तो प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयमें सर्वदेश और सब कालमें अविसंवादी ऐसे विवक्षित वचनको प्रमाण क्यों नहीं मानते हो।

१ [illegible] ७५

अदृष्टविषये क्वचिद्विसंवादोपलम्भान्न तस्य सर्वत्र सर्वदा प्रामाण्यमिति चेन्न, तत्र वचनस्यापराधाभावात्स्वरूपानवगन्तुः पुरुषस्य तत्रापराधोपलम्भात्। न ह्यन्यदोषोऽन्यस्य परिगृह्यते अव्यवस्थापत्तेः। वक्तुरेव तत्रापराधो न वचनस्येति कथमवगम्यत इति चेन्न, तस्मादन्यस्य वा तत्रैव प्रवृत्तस्य पश्चादर्थप्राप्त्युपलम्भात्। अप्रतिपन्नविसंवादाविसंवादस्य वचनस्य प्रामाण्यं कथमवसीयत इति चेन्नैष दोषः, आप्तवचनत्वेन प्रतिपन्नाविसंवादिवचनेन सहार्थान्तरस्यानुपलब्धेरेकवचनस्य सत्यत्वावगतेः। इषुण्डवनानाम्

शंका— किसी परोक्ष विषयमें विसंवाद पाया जाता है, इसलिये सर्वदेश और सर्व कालमें वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है?

समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उसमें वचनका अपराध नहीं है किंतु परोक्ष विषयक स्वरूपको नहीं समझनेवाले पुरुषका ही उसमें अपराध पाया जाता है। दूसरे पुरुषके दोषसे दूसरा तो पकड़ा नहीं जा सकता है, अन्यथा अव्यवस्था प्राप्त हो जाती।

शंका— परोक्ष विषयमें जो विसंवाद उत्पन्न होता है, उसमें वक्ताका ही दोष है वचनका नहीं यह कैसे जाना?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उसी वक्ताके पुनः अथवा निर्णयमें प्रवृत्ति करनेवाले [illegible] किसी दूसरे पुरुषके दूसरी बार अर्थकी प्राप्ति बराबर देखी जाती है। [illegible] है कि उस पर [illegible] विसंवाद उत्पन्न होता है वहां पर वक्ताका ही दोष है वचनका नहीं।

शंका— जिस वचनकी विसंवादकता या अविसंवादकताका निर्णय नहीं हुआ उसकी [illegible] निश्चय कैसे किया जाय?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिसकी अविसंवादकताका निर्णय [illegible] [illegible]

[illegible] है।

[illegible] प्रमाणता भी आती है।

[illegible]

किंच स्यादिति चेन्न, वाच्यवाचकभेदेन तस्य नानात्वाभ्युपगमात्। तद्वत्सत्यासत्यकृतभेदोऽपि तस्यास्त्विति चेन्न, अवयविद्वारेणैकस्य प्रवाहरूपेणापौरुषेयस्यागमस्यासत्यत्वविरोधात्। अथवा न तावदयं वेदः स्वस्यार्थं स्वयमाचष्टे सर्वेषामपि तदवगमप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्नैव, तथानुपलम्भात्।

अथान्ये व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा नेति विकल्पद्वयावतारे ? न द्वितीयविकल्पः ज्ञानस्याचरणरहितस्य व्याख्यातृत्वविरोधात्। अविरोधे वा सर्वे सर्वस्य व्याख्यातारः स्युरविशेषात्। प्रथमविकल्पेऽपि सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा ? न द्वितीयविकल्पः, ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातृवचनस्य प्रामाण्याभावात्।

लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वाच्य-वाचकके भेदसे उसमें नानापना माना ही गया है।

शंका—जिसप्रकार वाच्य-वाचकके भेदसे आर्ष वचनोंमें भेद माना जाता है, उसी प्रकार वचनोंमें सत्य असत्यकृत भी भेद मान लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवयवीरूपसे प्रवाह-क्रमसे आये हुए अपौरुषेय एक आगममें असत्यपना स्वीकार करनेमें विरोध आता है।

अथवा, यह वेद (आगम) अपने वाच्यभूत अर्थको स्वयं नहीं कहता है। यदि यह स्वयं कहने लगे तो सभीको उसका ज्ञान हो जानेका प्रसंग आ जायगा, इसलिये भी वक्ताके दोषसे वचनमें दोष मानना चाहिये।

शंका—यदि सभाको वेदका ज्ञान स्वयं हो जाय तो इसमें क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसप्रकारकी उपलब्धि नहीं होती है।

कोई लोग ऐसा व्याख्यान करते हैं कि वक्ताओंको वेदके वाच्यभूत विषयका परिज्ञान है या नहीं ? इसतरह दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। इनमेंसे दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता है, क्योंकि जो वक्ता अर्थ-ज्ञानसे रहित हैं उनको वेदका व्याख्याता माननेमें विरोध आता है। यदि कहो कि इसमें कोई विरोध नहीं है तो सबको संपूर्ण शास्त्रोंका व्याख्याता हो जाना चाहिये, क्योंकि अज्ञपना सभीमें बराबर है। यदि प्रथम विकल्प लेते हो, तो वक्ताको वेदका अर्थज्ञान है तो वह वक्ता सर्वज्ञ है कि असर्वज्ञ ? इनमेंसे दूसरा विकल्प तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं प्रमाणताको प्राप्त नहीं किया उस व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं।

[illegible]

ननु तत्र तदुक्तस्य नाप्रामाण्यम्, नागमस्य पुरुषव्यापारनिरपेक्षत्वादिति चेत्, [illegible] स्वार्थप्रतिपादकस्य तस्य [illegible] [illegible]विरोधात्। तस्मादागम पुरुषोक्त्यैवार्थप्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम्। तथा च 'वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायादप्रमाणपुरुषप्रणीतस्यागमस्य [illegible] कथं न स्यात्? तस्मात् हिंसादोषदूषितत्वात् प्राणातिपातस्तुति[illegible] [illegible] प्रतीयतामिदम् [illegible] पौरुषेयत्वप्रामाण्यमनहम्। [illegible] [illegible]। [illegible] हिंसादोषदूषित[illegible] [illegible] [illegible] हिंसादोषदूषित[illegible]

६४ — [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

त्वेन श्रद्धाप्यमानस्योपलम्भात्। अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः आरातीयपुरुषव्याख्यातार्थत्वादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नतया प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थत्वात्। कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातृणां तदविरोधात्। प्रमाणीभूतगुरुपर्वक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमवसीयत इति चेन्न, दृष्टविषये सर्वत्राविसंवादात्, अदृष्टविषयेऽप्यविसंवादिनागमभावेनैकत्वे सति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नभूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा तदवगतेः। न च भूयांसः साधवो विसंवदन्ते तथानुपलम्भात्। प्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थत्वात् स्थितं वचनस्य प्रामाण्यम्। ततो मनसोऽभावेऽप्यस्ति केवलज्ञानमिति सिद्धम्। अथवा न केवलाना-

योग्य है ऐसे आगमकी आज भी उपलब्धि होती है।

शंका—आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योंकि, अर्वाचीन पुरुषोंने इसके अर्थका व्याख्यान किया है?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इस कालसंबन्धी ज्ञान विज्ञानसे सहित होनेके कारण प्रमाणताको प्राप्त आचार्योंके द्वारा इसके अर्थका व्याख्यान किया गया है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है।

शंका—छद्मस्थोंके सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, श्रुतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्योंके प्रमाणता माननेमें कोई विरोध नहीं है।

शंका—आगमका यह विवक्षित अर्थ प्रामाणिक गुरुपरम्पराके क्रमसे आया हुआ है, यह कैसे निश्चय किया जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्यक्षभूत विषयमें तो सब जगह विसंवाद उत्पन्न नहीं होनेसे निश्चय किया जा सकता है। और परोक्ष विषयमें भी, जिसमें परोक्ष विषयका वर्णन किया गया है वह भाग अविसंवादी आगमके दूसरे भागके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको प्राप्त होने पर अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा बाधक प्रमाणोंके अभावका सुनिश्चय होनेसे उसका निश्चय किया जा सकता है। [illegible] उसकी प्रमाणता जानी जाती है। और बहुतसे साधु इस विषयमें विसंवाद नहीं करते हैं, क्योंकि, इसमें विसंवाद नहीं पाया जाता है। अतएव आगमके अर्थके व्याख्याता प्रमाणभूत पुरुष हैं, इस बातके निश्चित हो जानेसे आगमके वचनोंकी प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है। और इस प्रकार मनके अभावमें भी केवलज्ञान होता है यह बात भी सिद्ध हो जाती है।

अथवा, केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ न तो [illegible]

मनसः समुत्पद्यमानमुपलभ्यते श्रुतं वा, येनैवमाशङ्क्येत । क्षायोपशमिकं हि ज्ञानं संज्ञिनि मनस उत्पद्यते । मनसोऽभावात्तत्र तस्याभावः, न केवलस्य तस्मात्तस्याप्रादुर्भावात् । सयोगस्य केवलिनः केवलं मनसः समुत्पद्यमानं समुपलभ्यत इति चेन्न, स्वावरणक्षयादुत्पन्नस्याक्रमस्य पुनरुत्पत्तिविरोधात् । ज्ञानत्वान्मत्यादिज्ञानवत्कारकमपेक्षते केवलमिति चेन्न, क्षायिकक्षायोपशमिकयोः साधर्म्याभावात् । प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि केवलं कथं परिच्छिनत्तीति चेन्न, ज्ञेयसमविपरिवर्तिनः केवलस्य तदविरोधात् । ज्ञेयपरतन्त्रतया विपरिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुनर्नैवोत्पत्तिरिति चेन्न, केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात् । विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोकमनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात् । केवलमसहायत्वान्न तत्सहायमपेक्ष

किसीने सुना ही, जिससे कि यह शंका उत्पन्न हो सके। क्षायोपशमिक ज्ञान अवश्य ही संज्ञी जीवोंके (संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें) मनसे उत्पन्न होता है। इसलिये सयोगकेवलीके मनका अभाव होनेसे क्षायोपशमिक ज्ञानका ही अभाव सिद्ध होगा, न कि केवलज्ञानका, क्योंकि, सयोगकेवलियोंके मनसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका—सयोगकेवलीके तो केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न है और जो अक्रमवर्ती है, उसकी मनसे पुनः उत्पत्ति मानना विरुद्ध है।

शंका—जिसप्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा करते हैं, उसीप्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा करनी चाहिये।

समाधान—नहीं, क्योंकि, क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञानमें साधर्म्य नहीं पाया जाता है।

शंका—अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयमें परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे जानता है?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके लिये तदनुकूल परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानके ऐसे परिवर्तनके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—ज्ञेयकी परतन्त्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवलज्ञानरूप उपयोग सामान्यकी अपेक्षा केवलज्ञानकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग) इन्द्रिय, मन और आलोकसे उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे केवलज्ञानमें इन्द्रियादिककी सहायता माननेमें विरोध आता है।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान स्वयं असहाय है, इसलिये वह इन्द्रियादिकोंकी

स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । प्रमेयमपि मैवमंक्षिप्तासहायत्वादिति चेन्न, तस्य तत्स्वभावत्वात् । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः अव्यवस्थापत्तेरिति । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति चेत्क्षीणाशेषघातिकर्मत्वान्निरस्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको गुणः । उक्तं च—

> सेलेसिं संपत्तो णिरुद्ध-णिस्सेस-आसवो जीवो ।
> कम्म-रय-विप्पमुक्को गय-जोगो केवली होइ ॥ १२६ ॥

मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य समारातीतगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा ज्ञानके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आ जायगा।

शंका—यदि केवलज्ञान असहाय है तो वह प्रमेयको भी मत जाने?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, पदार्थोंको जानना उसका स्वभाव है। और वस्तुके स्वभाव दूसरोंके प्रश्नोंके योग्य नहीं हुआ करते हैं। यदि स्वभावमें भी प्रश्न होने लगें तो फिर वस्तुओंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी।

शंका—पांच प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव है?

समाधान—संपूर्ण घातिया कर्मोंके क्षीण हो जानेसे और थोड़े ही समयमें अघातिया कर्मोंके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव है। कहा भी है—

जिन्होंने अठारह हजार शीलके स्वामीपनेको प्राप्त कर लिया है, अथवा जो मेरुके समान निष्कम्प अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्होंने संपूर्ण आस्रवका निरोध कर दिया है, जो नूतन बंधनेवाले कर्म-रजसे रहित हैं, और जो मन, वचन तथा काय योगसे रहित होते हुए केवलज्ञानसे विभूषित हैं उन्हें अयोगकेवली परमात्मा कहते हैं ॥ १२६ ॥

मोक्षके सोपानीभूत चौदह गुणस्थानोंका प्रतिपादन करके अब संसारसे अतीत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१ [illegible] पृ. २३. २३७ [illegible] पृ. ११२ ११६ [illegible]।

२ प्रतेषु [illegible] इति पाठः ।

३ शिलामिलत [illegible]

४ [illegible]

सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

सिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्याः सिद्धसाध्या इति यावत्। निराकृताशेषकर्माणो बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखाः निरुपलेपाः अविचलितस्वरूपाः सकलावगुणातीताः निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात्किञ्चिन्न्यूनस्वदेहाः कोशविनिर्गतसायकोपमाः लोकशिखरनिवासिनः सिद्धाः। उक्तं च—

अट्ठविह-कम्म-वियडा सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा ॥ १२७ ॥

सव्वत्थ 'अत्थि' त्ति सम्बन्धो कायव्वो। 'च' सद्दो समुच्चयट्ठो। 'इदि' सद्दो एत्तियाणि चेव गुणट्ठाणाणि त्ति गुणट्ठाणाण समत्ति-वाचओ।

सामान्यसे सिद्ध जीव होते हैं ॥ २३ ॥

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य ये एकार्थवाची नाम हैं। जिन्होंने समस्त कर्मोंका निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रहित अनन्त, अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुखको प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अचल स्वरूपको प्राप्त हैं, संपूर्ण अवगुणोंसे रहित हैं, सर्व गुणोंके निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्माका आकार चरम शरीरसे कुछ न्यून है, जो कोशसे निकले हुए बाणके समान विनिःसंग हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। कहा भी है—

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हैं, शान्तिमय (सब प्रकारकी शीतलताको प्राप्त) हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु इन आठ गुणोंसे युक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं ॥ १२७ ॥

'अत्थि' इस पदका [illegible] 'सिद्धा चेदि' इस सूत्र तक [illegible] सम्बन्ध कर लेना चाहिये। 'सिद्धा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थका वाचक है और 'इति' शब्द गुणस्थान इतने ही होते हैं इसलिये गुणस्थानोंकी समाप्तिका वाचक है।

चोद्दसण्हं गुणट्ठाणाणं ओघ परूवणं काऊण आदेस परूवणट्ठं सुत्तमाह—

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ २४ ॥

आदेशग्रहणं सामर्थ्यलभ्यमिति न वाच्यमिति चेन्न, स्पष्टीकरणार्थत्वात्। [illegible] लक्षणा, तस्याः कथनं वादः। प्रसिद्धस्याचार्यपरम्परागतस्यार्थस्य अनु पश्चात् [illegible] वादः। गतेरनुवादो गत्यनुवादः, तेन गत्यनुवादेन। 'हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु [illegible] निरतास्तेषां गतिर्निरतगतिः। अथवा नरान् प्राणिनः कायति पातयति खलीकरोति [illegible] नरकं कर्म, तस्य नरकस्यापत्यानि नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः। अथवा [illegible] सकलाशुभकर्मणामुदयस्य सहकारिकारणं भवति सा नरकगतिः। अथवा [illegible]

चौदह गुणस्थानोंका सामान्य प्ररूपण करके अब विशेष प्ररूपणके [illegible] कहते हैं—

आदेश प्ररूपणाकी अपेक्षा गत्यनुवादसे नरकगति, तिर्यंचगति [illegible] और सिद्धगति है ॥ २४ ॥

शंका— आदेश पदका ग्रहण सामर्थ्य-लभ्य है, इसलिये इस सूत्रमें [illegible] ग्रहण नहीं करना चाहिये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, स्पष्टीकरण करनेके लिये [illegible] किया है।

गतिका लक्षण पहले कह आये हैं। उसके कथन करनेको [illegible] परासे आये हुए प्रसिद्ध अर्थका तदनुसार कथन करना [illegible] आचार्य परंपराके अनुसार कथन करना गत्यनुवाद है, उससे [illegible] आदि गतियां होती हैं। जो हिंसादिक असमीचीन कार्योंमें [illegible] और उनकी गतिको निरतगति कहते हैं। अथवा, जो [illegible] है अर्थात् गिराता है, पीसता है उसे नरक कहते हैं। नरक [illegible] उत्पत्ति होती है उनको नारक कहते हैं और उनकी [illegible] अथवा जिस गतिका उदय संपूर्ण अशुभ कर्मोंके उदयका [illegible] है कहते हैं। अथवा जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावमें [illegible] है [illegible]

१ अधस्तनस्य भ्रमण गो. जीवकाण्डस्य गा. १४७ [illegible]

[illegible] । [illegible]

[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible] गति । [illegible] तिरश्च । [illegible] गति । उक्तं च —

[illegible] ।

[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible] मनुष्यगति । [illegible] कारणोपचारान्मनुष्यगति । अथवा मनसा निपुणा मनसा

[illegible] नहीं करते हैं उन्हें नारत कहते हैं और उनकी गतिको नारकगति कहते हैं। कहा भी है—

जिस कारणसे [illegible] और आत्मामें जो [illegible] कभी भी प्रीतिको प्राप्त नहीं होते [illegible] उनको नारत कहते हैं ॥ [illegible] ॥

समस्त जातिके तिर्यंचोंमें उत्पत्तिका जो कारण है उसे तिर्यंचगति कहते हैं। अथवा तिर्यंचगति कर्मके उदयसे प्राप्त हुए तिर्यंच पर्यायोंके समूहको तिर्यंचगति कहते हैं। अथवा तिरस् पद [illegible] कुटिल व [illegible] नाम है, इसलिये यह अर्थ हुआ कि जो कुटिलभावको प्राप्त होते हैं उन्हें तिर्यंच कहते हैं, और उनकी गतिको तिर्यंचगति कहते हैं। कहा भी है—

जो मन, वचन और कायकी कुटिलताको प्राप्त हैं, जिनकी आहारादि संज्ञाएं सुव्यक्त हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके अत्यधिक पापकी बहुलता पाई जाय उनको तिर्यंच कहते हैं ॥ [illegible] ॥

जो मनुष्यकी संपूर्ण पर्यायोंमें उत्पन्न कराती है उसे मनुष्यगति कहते हैं। अथवा, मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य पर्यायोंके समूहको मनुष्यगति कहते हैं। यह लक्षण कार्यमें कारणके उपचारसे किया गया है। अथवा, जो मनसे निपुण हैं, या मनसे

१ नरकगतिनिमित्त [illegible] । [illegible] । गो. जी. म. टी. १४७

२ अथवा [illegible] निरया [illegible] गति निरयगति । गो. जी. जी. प्र. टी. १४७

३ गो. जी. १४७

४ गो. जी. १४८ यस्मात्कारणात् ये जीवाः [illegible] [illegible] तस्मात् कारणात्ते जीवा [illegible] कुटिलभाव मायापरिणाम [illegible] गच्छन्ति इति तिर्यञ्चो भणिता भवन्ति । जी. प्र. टी.

५ प्रतिषु 'कायकारण' इति पाठः ।

उत्कटा इति वा मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः । उक्तं च —

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा ।
मणु-उब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिया ॥ १३० ॥

अणिमाद्यष्टगुणावष्टम्भबलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । देवानां गतिर्देवगतिः । अथवा देवगतिनामकर्मादयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादिका देवगतिः । देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोपचारात् । उक्तं च —

दिव्वंति जदो णिच्चं गुणेहि अट्ठेहि य दिव्वभावेहि ।
भासंत-दिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा ॥ १३१ ॥

सिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः सकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा सा एव गतिः सिद्धिगतिः ।

उत्कट अर्थात् सूक्ष्म विचार आदि सातिशय उपयोगसे युक्त हैं उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गतिको मनुष्यगति कहते हैं। कहा भी है—

जिसकारण जो सदा हेय उपादेय आदिका विचार करते हैं, अथवा, जो मनसे गुण-दोषादिकका विचार करनेमें निपुण हैं अथवा, जो मनसे उत्कट अर्थात् दूरदर्शन, सूक्ष्म विचार, चिरकाल धारण आदि रूप उपयोगसे युक्त हैं, अथवा, जो मनुकी सन्तान हैं, इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं ॥ १३० ॥

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंकी प्राप्तिके बलसे क्रीडा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, और देवोंकी गतिको देवगति कहते हैं। अथवा जो अणिमादि ऋद्धियोंसे युक्त 'देव' इस प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नामकर्मके उदयको देवगति कहते हैं। अथवा देवगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई पर्यायको देवगति कहते हैं। यहां कार्यमें कारणके उपचारसे यह लक्षण किया गया है। कहा भी है—

क्योंकि वे द्रव्य और भावरूप अणिमादि आठ दिव्य गुणोंके द्वारा निरन्तर क्रीडा करते हैं और उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिये उन्हें देव कहते हैं ॥ १३१ ॥

आत्म स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् अपने संपूर्ण गुणोंसे आत्म स्वरूपमें स्थित होनेको सिद्धि कहते हैं। ऐसी सिद्धिस्वरूप गतिको सिद्धगति कहते हैं। (यद्यपि स्वयं सिद्धगति नाम है

[illegible]

[illegible]—

[illegible] ।

[illegible] ॥ ११२ ॥

[illegible] । प्रतिज्ञा[illegible]हेतुप्रयोग [illegible] [illegible] मेकेन परिज्ञानस्य प्रमाणात्, न हि [illegible] [illegible] । नाम्न पाषाण[illegible]मुक्तो[illegible] ।

[illegible]

[illegible] चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी [illegible] असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ २५ ॥

[illegible]) कहा भी है—

[illegible] विनाश, पुण्य, आदारादि [illegible] ॥ १३० ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] । [illegible]

नारकग्रहण मनुष्यादिनिराकरणार्थम् । चतुर्ग्रहण
अस्तिग्रहण प्रतिपत्तिगौरवनिरासार्थम् । नारकाश्चतुर्षु स्थानेषु स
न्मयो मा जनीति तदुत्पत्तिनिराकरणार्थं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणान
मिथ्यादृष्टिगुणे तेषां सत्त्व मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमि स्या
गुणेषु तेषां सत्त्व तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यासत्त्वादिति च
मिथ्यात्वादिरनिरूपायाणां तत्रोत्पत्तिसामर्थ्याभावात् । न च स
निरन्वयविनाश आपविरोधात् । न हि बद्धायुषः सम्यक्त्व सयम
सूत्रविरोधात् । सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्र
न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिस्तद्गुणस्य तत्रोत्पत्त्या सह विरोधात् ।

मनुष्यादिके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें नारक पदका ग्रहण किय
मस्याओंके निराकरण करनेके लिये चतुर् पदका ग्रहण किया है । ज्ञानने
इसलिये अस्ति पदका ग्रहण किया है । नारकी चार गुणस्थानोंमें होते
वचनसे अन्याय न हो जाय कि वे चार गुणस्थान कौन कौनसे हैं, इसलिये
करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नाम-निर्देश किया है ।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकियोंका सत्त्व रहा आवे क्योंकि
कियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है । किंतु दूसरे गुण
रियोंका सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिये, क्योंकि, अन्य गुणस्थानसहित नारकियों
निमित्त कारण मिथ्यात्व नहीं माना गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि नरकायुके बंध बिना मिथ्यादर्शन
कषायका नरकमें उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य नहीं है । और पहले बंधा हुए आयु
न हुए सम्यग्दर्शनसे निरन्वय नाश भी नहीं होता है क्योंकि, ऐसा मान लेने
ध माना है जिन्होंने नरकायुका बंध कर लिया है ऐसे जीव जिसप्रकार सम्य
हो सकते हैं उसीप्रकार सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होते हैं यह बात भी नहीं है
मान लेने पर भी सूत्रसे विरोध आता है ।

शंका—जिन जीवोंने पहले नरकायुका बंध किया और जिन्हें बादमें सम्
हुआ ऐसे बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टियोंका नरकमें उत्पाद होता है इसलिये
सम्यग्दृष्टि भले ही पाये जावें परंतु सासादन गुणस्थानवालोंका (मरकर)
रहा हो सकता है क्योंकि सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ वि
न्य सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है

तत्र सत्त्वमिति चेन्न, पर्याप्तनरकगत्या सहापर्याप्तया इव तस्य विरोधाभावात्। किमित्यपर्याप्तया विरोधश्चेत्स्वभावोऽयम्, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः। तर्ह्यन्यासामपि गतीनामपर्याप्तकालेऽस्य सत्त्वं मा भूत्तेन तस्य विरोधादिति चेन्न, नारकापर्याप्तकेनेव शेषापर्याप्तपर्यायैः सह विरोधासिद्धेः। सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्य पुनः सर्वदा सर्वापर्याप्तकालैर्विरोधस्तत्र तस्य सत्त्वप्रतिपादकार्षाभावात्। किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात्। कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्न, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिसिद्धेः। तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न, इष्टत्वात्।

समाधान — नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उसप्रकार पर्याप्त अवस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है। अर्थात् नारकियोंके पर्याप्त अवस्थामें दूसरा गुणस्थान उत्पन्न हो सकता है। यदि कहो कि नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यों है? तो उसका यह उत्तर है, कि यह नारकियोंका स्वभाव है, और स्वभाव दूसरोंके [illegible] नहीं होते हैं।

शंका — यदि ऐसा है तो अन्य गतियोंके अपर्याप्त कालमें भी सासादन गुणस्थानका सद्भाव मत होओ, क्योंकि, अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है?

समाधान — यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि, जिसतरह नारकियोंके अपर्याप्त कालके [illegible] सासादन गुणस्थानका विरोध है, उसतरह शेष गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है। [illegible] सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका तो सदा ही सभी गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ विरोध है, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका [illegible] आगमका अभाव है।

शंका — आगममें अपर्याप्त कालमें मिश्र गुणस्थानका [illegible] नहीं बताया?

समाधान — नहीं, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है।

शंका — तो फिर सासादन और मिश्र इन दोनों गुणस्थानोंका नरकगतिमें [illegible] है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, परिणामोंके निमित्तसे नरकगतिमें [illegible] उत्पत्ति बन जाती है।

शंका — तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसीप्रकार होते हैं ऐसा मानना चाहिये? अतः

[illegible]

सासादनस्येव सम्यग्दृष्टेरपि तत्रोत्पत्तिमा भूदिति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात्। प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्यापर्याप्ताद्धया सह विरोधात्। नोपरिमगुणानां तत्र सम्भवस्तेषां संयमासंयमसंयमपर्यायेण सहात्र विरोधात्।

तिरश्चां गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति[1] ॥ २६ ॥

तिर्यग्ग्रहणं शेषगतिनिराकरणार्थम्। पञ्चसु गुणस्थानेषु सन्तीति वचनं षष्ठादिगुणस्थानप्रतिषेधफलम्। मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः सामान्यवचनेन

नरकगतिमें पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी भी उत्पत्ति मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियोंकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टियोंका सद्भाव माना गया है।

शंका—जिसप्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि नरकमें उत्पन्न नहीं होते हैं उसीप्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी मरकर नरकमें उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आगममें निषेध नहीं है।

शंका—जिसप्रकार प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार द्वितीयादि पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंकी अपर्याप्त अवस्थाके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है, इसलिये सम्यग्दृष्टि द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं।

इन चार गुणस्थानोंके अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोंका नरकमें सद्भाव नहीं है, क्योंकि, संयमासंयम और संयम-पर्यायके साथ नरकगतिमें उत्पत्ति होनेका विरोध है।

अब तिर्यंच गतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इन पांच गुणस्थानोंमें तिर्यंच होते हैं ॥ २६ ॥

शेष गतियोंके निराकरण करनेके लिये 'तिर्यच्' पदका ग्रहण किया है। छह गुणस्थान आदिके निवारण करनेके लिये 'पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' यह पद दिया है। तिर्यंच

१ [illegible] । [illegible] १२८

२ [illegible]

समुत्पद्यमानसंशयनिरोधार्थः । बद्धायुरसंयतसम्यग्दृष्टिसासादनानामिव न स
म्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां च तत्रापर्याप्तकाले सम्भवः समस्ति तत्र
तयोर्निरोधात् । अथ स्यात्तिर्यञ्चः पञ्चविधाः, तिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्
पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्च्यः पञ्चेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्चः इ
तत्र न ज्ञायते केमानि पञ्च गुणस्थानानि सन्तीति ? उच्यते, न तावदपर्या
पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पञ्च गुणाः सन्ति, लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगु
सम्भवात् । तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत् ' पंचिंदिय तिरिक्ख अपज्जत्त मिच्छाइट्ठी द
पमाणेण केवडिया, असंखेज्जा इदि, तत्रैकस्यैव मिथ्यादृष्टिगुणस्य संख्यायाः प्र

पांच गुणस्थानोंमें होते हैं ' इस सामान्य वचनसे संशय उत्पन्न हो सकता है कि वे प
गुणस्थान कौन कौन हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गु
स्थानोंका नाम निर्देश किया है ।

जिसप्रकार बद्धायुष्क असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थानवालोंका तिर्
गतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतो
तिर्यंचगतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, तिर्यंचगतिमें अपर्याप्त का
साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतका विरोध है ।

शंका — तिर्यंच पांच प्रकारके होते हैं, सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचें
पर्याप्त तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचनी और पंचेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यंच । परंतु यह जान
नहीं आया कि इन पांच भेदोंमेंसे किस भेदमें पूर्वोक्त पांच गुणस्थान होते हैं ?

समाधान — उक्त शंका पर उत्तर देते हैं कि अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें तो प
गुणस्थान होते नहीं हैं, क्योंकि, लब्ध्यपर्याप्तकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर
गुणस्थान ही असंभव हैं ।

शंका — यह कैसे जाना कि लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें पहला ही गुणस्
होता है ?

समाधान — ' पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यप्रमाणकी अ
कितने हैं ' इसप्रकारकी शंका होने पर द्रव्यप्रमाणानुगममें उत्तर दिया कि ' असंख्या
हैं । इसतरह द्रव्यप्रमाणानुगममें लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके एक ही मिथ्यादृष्टि गु
स्थानकी संख्याका प्रतिपादन करनेवाला आगमवचन मिलता है । इससे पता चलता है
लब्ध्यपर्याप्तकोंके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है और शेष चार प्रकारके तिर्यं
पांचों ही गुणस्थान होते हैं । यदि शेष चार भेदोंमें पांच गुणस्थान न माने जाय, तो
चार प्रकारके तिर्यंचोंमें पांच गुणस्थानोंकी संख्या आदिके प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यानु

पादकत्वात् । शेषेषु पञ्चापि गुणस्थानानि सन्ति, अन्यथा तत्र पञ्चानां गुणस्थानानां सङ्ख्यादिप्रतिपादकद्रव्यार्थिकस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अत्र पञ्चविधास्तिर्यञ्चः किन्न निरूपिता इति चेन्न, 'आत्मस्थाशेषविशेषविषयं सामान्यम्' इति द्रव्यार्थिकनयावलम्बनात् । तिरश्चीष्वपर्याप्ताद्धाया मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्षाभावात् । भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां तत्रासत्त्वं पर्याप्ताद्धायामेवेति नियमोपलम्भात् । कथं पुनरसंयतसम्यग्दृष्टीनामसत्त्वमिति न, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात् । तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत्—

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्व-इत्थीसु ।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ॥ १३३ ॥ इत्यार्षात् ।

आदि आगममें अप्रमाणताका प्रसंग आजायगा ।

शंका—यहां तिर्यंचसामान्यके स्थानपर पांच प्रकारके तिर्यंचोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'अपनेमें सभी संपूर्ण विशेषोंको विषय करनेवाला सामान्य होता है' इस न्यायके अनुसार द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्य नयके अवलम्बनसे संपूर्ण भेदोंका तिर्यंच-सामान्यमें अन्तर्भाव कर लिया है, अतएव पांचों भेदोंका अलग अलग निरूपण नहीं किया, किन्तु तिर्यंच इतना सामान्य पद दिया है ।

तिर्यंचनियोंके अपर्याप्तकालमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थानवाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थानवाले नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यंचनियोंके अपर्याप्त-कालमें, शेष तीन गुणस्थानोंका निरूपण करनेवाले आगमका अभाव है ।

शंका—तिर्यंचनियोंके अपर्याप्तकालमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत इन दो गुणस्थानवालोंका अभाव रहा आवे, क्योंकि ये दो गुणस्थान पर्याप्त-कालमें ही पाये जाते हैं, ऐसा नियम मिलता है । परन्तु उनके अपर्याप्त कालमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका अभाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यंचनियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टियोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये उनके अपर्याप्त कालमें चौथा गुणस्थान नहीं पाया जाता है ।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—'जो सम्यग्दृष्टि जीव होता है, वह प्रथम पृथिवीके बिना नीचेकी छह पृथिवियोंमें, ज्योतिषी व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें, और सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता है' ॥ १३३ ॥

१ पंचिंदियतिरिक्खअपज्जत्ता मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी ण मिस्सा य अविरदाय तिरिक्खजोणिणीसु । जी. सं. १, ८७

२ सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता । जी. सं. सू. ८८

मनुष्यगतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह —

मणुस्सा चोद्दससु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासणसम्माइट्ठी, सम्मामिच्छाइट्ठी, असंजदसम्माइट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति ॥[1] २७ ॥

एदस्स सुत्तस्स अत्थो पुव्वं उत्तो त्ति णेदाणिं उच्चदे, जाणिद-जाणावणे फला-भावादो । पुव्वमउत्तमुवसामग-खवग-विहिं एत्थ सवित्थरमुवसामग-खवग-सरूव-णाणट्ठं संखेवदो भणिस्सामो । तं जहा, तत्थ ताव उवसामण-विहिं वत्तइस्सामो । अणंताणुबंधि-कोध-माण-माया-लोभ-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्त पयडीओ असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा सो वा

इस आर्ष वचनसे जानते हैं कि असंयतसम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंचनियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं।

अब मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतोंमें उपशमक और क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतोंमें उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतोंमें उपशमक और क्षपक, उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इसतरह इन चौदह गुणस्थानोंमें मनुष्य पाये जाते हैं ॥ २७ ॥

इस सूत्रका अर्थ पहले कहा जा चुका है इसलिये अब नहीं कहते हैं, क्योंकि जिसका ज्ञान हो गया है उसका फिरसे ज्ञान करानेमें कोई विशेष फल नहीं है। परन्तु उपशमन और क्षपणविधिका स्वरूप नहीं कहा है, इसलिये उपशमक और क्षपकका स्वरूप ज्ञान करानेके लिये यहां पर संक्षेपसे उपशमन और क्षपणविधिका निरूपण करते हैं। वह इसप्रकार है। उनमें भी पहले उपशमनविधिका कथन करते हैं—

अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व और

१ [illegible]

उवसामेदि । सम्म छट्ठिय [illegible] पसादि [illegible] । [illegible]
णियमा उवयाभावा उवसमा [illegible] । [illegible]
पादा । अपुव्वकरणं ण [illegible] वि कम्ममुवसामेदि । [illegible]
मणंतगुणविसोहीए [illegible] द्विदिखंडय [illegible]
सहस्साणि द्विदिखंडयाणि घादेदि, [illegible] द्विदि [illegible] । [illegible]

मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंका [illegible] गुणस्थानोंमें [illegible] उपशम [illegible] है । [illegible] प्रकृतियोंका [illegible] उपशम है । [illegible] प्रकृतियोंका उपशम [illegible] उपशम [illegible] गुणस्थानमें [illegible] उपशम [illegible] है । [illegible] गुणस्थानमें [illegible] उपशम [illegible] है । [illegible] समयमें अनन्तगुणी विशुद्धिसे [illegible] हुआ [illegible] हजार [illegible] है । [illegible]

ट्ठिदि खंडय-कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि अणुभाग-खंडयाणि घादेदि। पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए पदेस-णिज्जरं करेदि। जं अप्पसत्थ-कम्मंसे ण बंधदि तं पि पडिसमयमसंखेज्ज-गुणाए सेढीए अण्ण-पयडीसु बज्झमाणियासु संकामेदि। पुणो अपुव्वकरणं वोलेऊण अणियट्टि गुणट्ठाणं पविसिऊणंतोमुहुत्तमणेणेव विहाणेणच्छिय बारस कसाय णव-णोकसायाणमंतरं अंतोमुहुत्तेण करेदि। अंतरे कदे पढम समयादो उवरि अंतोमुहुत्तं गंतूण असंखेज्ज गुणाए सेढीए णउंसय वेदमुवसामेदि। उवसमो णाम किं? उदय उदीरण-ओकड्डुक्कड्डण-परपयडिसंकम ट्ठिदि-अणुभाग-खंडयघादेहि विणा अच्छणमुवसमो। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण णउंसयवेदमुवसामिद विहाणेणित्थिवेदमुवसामेदि। तदो अंतोमुहुत्तं

घोंको करता है। तथा एक एक स्थिति खण्डके कालमें संख्यात हजार अनुभाग खण्डोंका घात करता है। और प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे प्रदेशोंकी निर्जरा करता है। तथा जिन अप्रशस्त प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है उनकी कर्मवर्गणाओंको उस समय बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें असंख्यातगुणित श्रेणीरूपसे संक्रमण कर देता है। इसतरह अपूर्वकरण गुणस्थानको उल्लंघन करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके, एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधिसे रहता है। तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा बारह कषाय और नौ नोकषाय इनका अन्तर (करण) करता है। (नीचेके व ऊपरके निषेकोंको छोड़कर बीचके कितने ही निषेकोंके द्रव्यको अन्य निषेकोंके द्रव्यमें निक्षेपण करके बीचके निषेकोंके अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं।) अन्तरकरणविधिके हो जाने पर प्रथम समयसे लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा नपुंसकवेदका उपशम करता है।

शंका—उपशम किसे कहते हैं?

समाधान—उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डकघातके विना ही कर्मोंके सत्तामें रहनेको उपशम कहते हैं।

तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुंसकवेदकी उपशमविधिके समान ही स्त्रीवेदका

अ पृ १५४ दर्शनमोहस्य प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामुपशमन [illegible] जात [illegible] उपशमका [illegible] भवति। ल क्ष स टी १०२

१ अन्तर [illegible] गुणा [illegible] तस्स करणमन्तरकरण। [illegible] भागा [illegible] अन्तर्मुहूर्तमात्राणां [illegible] अन्तरकरणाभि [illegible] । [illegible] अ प्र १ १

२ आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशम। यथा [illegible] पङ्कस्य [illegible] । स सि २ १ [illegible] अनन्तरवामाद्य [illegible] भाव। [illegible] ॥ त भा वा २ १ २ उपशमो नाम यथा [illegible] ति ॥ [illegible]

भवति। क म प्र २९७

गंतूण तेणेव विहिणा छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं
तत्तो उवरि समऊण-दो-आवलियाओ गंतूण पुरिसवेद-णवक-बंधमुवसाम
अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण पडिसमयमसंखेज्जाए गुणसेडीए अपच्चक्खाण-पच्चक्
सण्णिदे दोण्णि वि कोधे कोध-संजलण-चिराण-संतकम्मेण सह जुगवमुवसामे
उवरि दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण कोध-संजलण-णवक-बंधमुवसामे
अंतोमुहुत्तं गंतूण तसिं चेव दुविहं माणमसंखेज्जाए गुणसेडीए माण-संजलण
संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि। तदो समऊण-दो-आवलियाओ गंतूण माण
समामेदि। तदो पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेडीए उवसामेंतो अंतोमुहुत्तं गंतू
य माया-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि। तदो दो आवलि
ऊणाओ गंतूण माया-संजलण-णवक-बंधमुवसामेदि। तत्तो समयं पडि असंखेज्जगुणाए
मुवसामेंतो अंतोमुहुत्तं गंतूण लोभ-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह पच्चक्खा
क्खाणावरण-दुविहं लोभं लोभवेदगद्धाए बिदिय-ति-भागे सुहुमकिट्टीओ क

उपशम करता है। फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर उसी विधिसे पुरुषवेदके (एक समय कम आवलीमात्र नवकसमयप्रबद्धोंको छोड़कर बाकीके संपूर्ण) प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके सा छह नोकषायका उपशम करता है। इसके आगे एक समय कम दो आवली काल बिता क पुरुषवेदके नवक समयप्रबद्धका उपशम करता है। इसके पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा संज्वलनक्रोधके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रबद्धको छोड़कर पहलेके सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोधोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें एकसाथ ही उपशम करता है। इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमें क्रोधसंज्वलनके नवक-समयप्रबद्धका उपशम करता है। तत्पश्चात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा संज्वलनमानके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानमानका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है। इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमें संज्वलनमानके नवक-समय प्रबद्धका उपशम करता है। तदनन्तर प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे उपशम करता हुआ माया संज्वलनके नवक समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान मायाका अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है। तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमें माया संज्वलनके नवक समयप्रबद्धका उपशम करता है। तत्पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यात गुणी श्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोंका उपशम करता हुआ लोभवेदक कालके द्वितीय गमें सूक्ष्मकृष्टि करता हुआ संज्वलनलोभके नवक समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यान इन दोनों लोभोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम कर

उवसामेदि। सुहुमकिट्टिं मोत्तूण अवसेसो बादरलोभो फद्दय-गदो सव्वो णवक-बंधुच्छिट्ठावलिय-वज्जो अणियट्टि-चरिम-समए उवसंतो[1]। णउंसयवेदप्पहुडि जाव बादर-लोभ-संजलणो त्ति ताव एदासिं पयडीणमणियट्टी उवसामगो होदि। तदो णंतर-समए सुहुमकिट्टि-सरूवं लोभं वेदंतो णट्ठ-अणियट्टि-सण्णो सुहुमसांपराइओ होदि। तदो सो अप्पणो चरिम-समए लोह-संजलणं सुहुमकिट्टि-सरूवं णिस्सेसमुवसामिय उवसंत-कसाय-वीदराग-छदुमत्थो होदि[2]। एसा मोहणीयस्स उवसामण-विही।

है। इसतरह सूक्ष्मकृष्टिगत लोभको छोड़कर और एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्र- तथा उच्छिष्टावली मात्र निषेकोंको छोड़कर शेष स्पर्द्धकगत संपूर्ण बादरलोभ अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें उपशान्त हो जाता है। इसप्रकार नपुंसकवेदसे लेकर जब तक बादर-संज्वलन-लोभ रहता है तबतक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव इन पूर्वोक्त प्रकृतियोंका उपशम करनेवाला होता है। इसके अनन्तर समयमें जो सूक्ष्मकृष्टिगत लोभका अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्ति इस संज्ञाको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है। तदनन्तर वह अपने कालके चरम समयमें सूक्ष्मकृष्टिगत संपूर्ण लोभसंज्वलनका उपशम करके उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ होता है। इसप्रकार मोहनीयकी उपशमन विधिका वर्णन समाप्त हुआ।

विशेषार्थ—लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही बतलाई है, किन्तु यहां पर उपशमन विधिके कथनके अनुसार उसकी उत्पत्ति असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक किसी भी एक गुणस्थानमें बतलाई गई है। धवलामें प्रतिपादित इस मतका उल्लेख श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित कर्मप्रकृति आदि ग्रंथोंमें देखनेमें आता है।

तथा अनन्तानुबन्धीके अन्य प्रकृतिरूपसे संक्रमण होनेको ग्रन्थान्तरोंमें विसंयोजना कहा है, और यहां पर उसे उपशम कहा है। यद्यपि यह केवल शब्दभेद है और स्वयं वीरसेन स्वामीको द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अभाव इष्ट है। फिर भी उसे विसंयोजना शब्दसे न कहकर उपशम शब्दके द्वारा कहनेका उनका यह अभिप्राय रहा है कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होकर पुनः अनन्तानुबन्धीका बन्ध करने लगता है, और तिन कर्मप्रदेशोंका उसके अन

१ [illegible]

२ [illegible]

[illegible]

१ [illegible]

खवणं णिहि खवइस्सामो। खवणं णाम किं ? अट्ठण्हं कम्माणं मूलुत्तर-भेय

प्रकृतिरूपसे संक्रमण किया था उनका फिरसे अनन्तानुबन्धीरूपसे संक्रमण हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी सत्ता नहीं रहती है, फिर भी उसका पुनः सद्भाव होना संभव है। अतः द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना न कह कर उपशम शब्दका प्रयोग किया हो।

अथवा, द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति कोई आचार्य तो अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनासे मानते हैं, और दूसरे आचार्य अनन्तानुबन्धीके उपशमसे मानते हैं। इस प्रकार दो मत हैं। अनन्तानुबन्धीके उपशमका उक्त प्रकारसे लक्षण बांधते समय संभव है कि धवलाकारकी दृष्टि उन दोनों मतों पर रही हो।

उपशमन और क्षपण विधिमें सर्वत्र एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रबद्धका उल्लेख आया है। और यहां पर यह भी बतलाया है कि इनका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ उपशमन या क्षपण न होकर अनन्तर उतने ही कालमें एक एक निषेक क्रमसे उपशम या क्षय होता है। इसका यह अभिप्राय है कि जिन कर्मप्रकृतियोंका बन्ध, उदय और सत्त्व-व्युच्छित्ति एकसाथ होती है उनके बन्ध और उदय-व्युच्छित्तिके कालमें एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्ध रह जाते हैं, जिनकी सत्त्व-व्युच्छित्ति अनन्तर होती है। वह इस प्रकार है कि विवक्षित (पुरुषवेद आदि) प्रकृतिके उपशमन या क्षपण होनेके दो आवली काल अवशिष्ट रह जाने पर द्विचरमावलीके प्रथम समयमें बंधे हुए द्रव्यका, बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके प्रथम समयसे लेकर प्रत्येक समयमें एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ चरमावलीके अन्त समयमें संपूर्ण फालिसे उपशम या क्षय होता है। तथा द्विचरमावलीके द्वितीय समयमें जो द्रव्य बंधता है उसका चरमावलीके द्वितीय समयसे लेकर अन्त समयतक उपशम या क्षय होता हुआ अन्तिम फालिको छोड़कर सबका उपशम या क्षय होता है। इसीप्रकार द्विचरमावलीके तृतीयादि समयमें बंधे हुए द्रव्यका बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके तृतीयादि समयसे लेकर एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ क्रमसे दो आदि फालिरूप द्रव्यको छोड़कर शेष सबका उपशम या क्षय होता है। तथा चरमावलीके प्रथमादि समयमें बंधे हुए द्रव्यका उपशम या क्षय नहीं होता है, क्योंकि बंधे हुए द्रव्यका एक आवली तक उपशम नहीं होता, ऐसा नियम है। इसप्रकार चरमावलीका संपूर्ण और द्विचरमावलीका एक समय कम आवलीमात्र द्रव्य उपशम या क्षय होनेसे रहता है। इसका प्राचीन सत्ताके साथ उपशम या क्षय न होकर अनन्तर पश्चात् ही उपशम या क्षय होता है।

अब क्षपणाविधिका कथन करते हैं—

शंका— क्षपण किसे कहते हैं ?

समाधान— जिनके भेद... आठ कर्मोंकी मूल और उत्तर प्रकृतियोंके ... अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध जीवसे अलग हो जाते हैं उसको ... क्षपण कहते हैं ...

भिण्ण पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेस-विणासो तं खवणं णाम। अणंताणुबंधि-कोध-माण-माया-लोभ-मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-सम्मत्तमिदि एदाओ सत्त पयडीओ असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदो वा पमत्तसंजदो वा अप्पमत्तसंजदो वा खवेदि। किमक्कमेण किं कमेण खवेदि? ण, पुव्वमणंताणुबंधि-चउक्कं तिण्णि वि करणाणि काऊण अणियट्टिकरण-चरिम-समए अक्कमेण खवेदि। पच्छा पुणो वि तिण्णि करणाणि काऊण अधापवत्त-अपुव्वकरणाणि दो वि बोलाविय अणियट्टिकरणद्धाए संखेज्जे भागे गंतूण मिच्छत्तं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मामिच्छत्तं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मत्तं खवेदि। तदो अधापवत्तकरणं कमेण काऊणंतोमुहुत्तेण अपुव्वकरणो होदि। सो ण एक्कं पि कम्मं खवेदि, किंतु समयं पडि असंखेज्ज-गुण-सेढीए पदेस-णिज्जरं करेदि। अंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडयं घादेंतो अप्पणो कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि ट्ठिदि-खंडयाणि घादेदि। तत्तियाणि चेव ट्ठिदि-बंधोसरणाणि वि

विनाश हो जाता है उसे क्षपण (क्षय) कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत जीव नाश करता है।

शंका — इन सात प्रकृतियोंका क्या युगपत् नाश करता है या क्रमसे?

समाधान — नहीं, क्योंकि, तीन करण करके अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें पहले अनन्तानुबन्धी चतुष्कका एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात् फिरसे तीन करण करके उनमेंसे अधःकरण और अपूर्वकरण इन दोनोंको उल्लंघन करके अनिवृत्तिकरणके संख्यात भाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्वका क्षय करता है। इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर सम्यक्प्रकृतिका क्षय करता है।

इसके बाद क्रमसे अधःप्रवृत्तिकरणको करके अन्तर्मुहूर्तमें अपूर्वकरण गुणस्थानवाला होता है। [illegible] एक भी कर्मका क्षय नहीं करता है, किन्तु [illegible] [illegible]

[illegible]

करेदि। तेहितो असंखेज्ज-सहस्स-गुणे अणुभाग-खंडय-घादं करेदि 'एगाणुभाग-खंडय-उक्कीरण-कालादो एगं ट्ठिदि-खंडय-उक्कीरण-कालो संखेज्ज-गुणो' त्ति सुत्तादो। एवं काऊण अणियट्टि-गुणट्ठाणं पविसिय तत्थ वि अणियट्टि-अद्धाए संखेज्जे भागे अपुव्व-करण-विहाणेण गमिय अणियट्टि-अद्धाए संखेज्जदि-भागे सेसे थीणगिद्धि-तिय-णिरयगइ-तिरिक्खगइ-एइंदिय-बीइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियजादि-णिरयगइ-तिरिक्खगइपाओग्गाणु-पुव्वि-आदावुज्जोव-थावर-सुहुम-साहारणा त्ति एदाओ सोलस पयडीओ खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरण-कोह-माण-माया-लोभे अक्कमेण खवेदि। एसो संत-कम्म-पाहुड-उवएसो। कसाय-पाहुड-उवएसो पुण अट्ठ-कसाएसु खीणेसु पच्छा अंतोमुहुत्तं गंतूण सोलस-कम्माणि खविज्जंति त्ति। एदे दो वि उवएसा सच्चमिदि के वि भणंति, तण्ण घडदे, विरुद्धत्तादो सुत्तादो। दो वि पमाणाइं त्ति वयणमवि ण घडदे, 'पमाणेण पमाणाविरोहिणा होदव्वं' इदि णायादो। णाणा जीवाण

गुणे अनुभागकाण्डकोंका घात करता है, क्योंकि, एक अनुभागकाण्डकके उत्कीरण-कालसे एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरण काल संख्यातगुणा है, ऐसा सूत्र-वचन है। इसप्रकार अपूर्वकरण गुणस्थानसम्बन्धी क्रियाको करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रविष्ट होकर वहां पर भी अनिवृत्तिकरण कालके संख्यात भागोंको अपूर्वकरणके समान स्थितिकाण्डक घात आदि विधिसे बिताकर अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यातभाग शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि निद्रानिद्रा प्रचला प्रचला नरकगति तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति द्वीन्द्रियजाति त्रीन्द्रियजाति चतुरिन्द्रियजाति नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी आताप उद्योत स्थावर सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध मान माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है, यह सत्कर्मप्राभृतका उपदेश है। किन्तु कषायप्राभृतका उपदेश तो इसप्रकार है कि पहले आठ कषायोंके क्षय हो जाने पर पीछे अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह कर्म प्रकृतियोंका क्षय किया जाता है। ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं, ऐसा कितने ही आचार्योंका कहना है। किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है। दोनों ही कथन प्रमाण हैं यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि, एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये ऐसा न्याय है।

णाणाविह-सत्ति-संभवाविरोहादो। केसिं चि जीवाणं पढमेसु अट्ठसु कसाएसु पच्छा सोलस-कम्म-क्खवणे सत्ती समुप्पज्जदि त्ति तेण पच्छा सोलस-कम्म-क्खवणो होदि, 'कारण-कज्जाणुसारी कज्ज-रूवो' त्ति णायादो। केसिं चि जीवाणं पुण सोलस-कम्म-क्खवण-सत्ती समुप्पज्जदि, पच्छा अट्ठ कसाय क्खवणस्स सत्ती उप्पज्जदि त्ति पढमेसु सोलस कम्मेसु पच्छा अंतोमुहुत्ते अदिक्कंते अट्ठ कसाया णस्संति। तदो ण दोण्हं उवएसाणं विरोहो त्ति के वि आइरिया भणंति, तण्ण घडदे। किं कारणं? जेण अणियट्टिणो णाम जे के वि एग-समए वट्टमाणा ते सव्वे वि अदीदाणागद-वट्टमाण-कालेसु समाण-परिणामा, तदो चेव ते समाण-गुणसेढि-णिज्जरा वि। अह भिण्ण-परिणामा हुंति तो ण हवंति ते अणियट्टिणो, भिण्ण-परिणामत्तादो अपुव्वकरणा इव। ण च कम्म-क्खवण

शंका — भगवन्, जीवोंके नाना प्रकारकी शक्तियां संभव हैं, इसलिये कोई विरोध नहीं [illegible]

[illegible] — [illegible]

जमग्गेज्ज गुणसेढीए करण हेदु परिणाम उज्झिऊणण्ण परिणामा हिदि अणुभाग खंडय घादस्स कारणभूदा अत्थि, तम्हि णिच्चय सुत्तारंभो। 'तज्ज गाणत्ता कारण णाणत्तमणुमाणिज्जदि' इदि एस्सदि ण घडदे, ण्याओ मागरो बहु कादि कालोवलभा। तथ वि हादु णाम मोग्गरो गओ, ण तस्स गन्तीणमयत्त, तदा एव करपरसासि पसमाण्णो इदि च ता कम्माहि एत्थ वि भरदु णाम हिदिखंडयघादे अणुभाग खंडयघादे हिदियधामरण गुणसेढीस्स गुणसंढी इदि अणुभागरुथ परिणामाण णाणत्त ता वि एग-समय संठिय णाणा जीवाण सरिसा जदा, अण्णहा अणियट्टि [illegible] घादाण सरिसत्त णात्ति त्ति च ण एस दोसो, इद्दमादो। एदम हिदि अणुमाग [illegible]

भूत परिणामोंको छोड़कर अन्य कोई भी परिणाम स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातके कारणभूत नहीं हैं, क्योंकि, उन परिणामोंका निरूपण करनेवाला सूत्र (आगम) नहीं पाया जाता है।

शंका— अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है। अर्थात् सर्व गणरस्थानमे प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मानिर्जरा [illegible] काण्डकघात आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं इसलिये उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक प्रकारके होने चाहिये।

समाधान— यह कहना भी नहीं बनता है क्योंकि, एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कार्यकी उत्पत्ति होती है।

शंका— यहां पर मुद्गर एक [illegible] रहा आवे परंतु उसकी शक्तियोंमें एकता नहीं बन सकती है। यदि मुद्गरकी शक्तियोंमें भी एकता मान लिया जाय तो उससे एक कार्य [illegible] ही उत्पन्न होगा?

समाधान— [illegible]

[illegible]

सरिसत्त णियमो णत्थि, तदो णेदं घडदि त्ति? ण एस दोसो, हद-सेस-ट्ठिदि-अणुभागाणं एय-पमाण-णियम-दंसणादो। ण च थोर-ट्ठिदि-अणुभाग-विरोहि-परिणामा तत्तो अब्भहिय-ट्ठिदि-अणुभागाणमविरोहित्तमल्लियइं[1] अण्णत्थ तह अदंसणादो। ण च अणियट्टिम्हि पदेस-बंधो एय-समयम्हि वट्टमाण-सव्व-जीवाणं सरिसो तस्स जोग-कारणत्तादो। ण च तेसिं सव्वेसिं जोगस्स सरिसत्तणे णियमो अत्थि लोग-पूरणम्हि ट्ठिय-केवलीणं[1] व तहा पडिवायय-सुत्ताभावादो। तदो सरिस-परिणामत्तादो सव्वेसिमणियट्टीणं समाण-समय-संठियाणं ट्ठिदि-अणुभाग-घादत्त-बंधोसरण-गुणसेडि-

---

समाधान—यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रथमस्थितिके अवशिष्ट रहे हुए खण्डका और उसके अनुभागखण्डका अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले प्रथम समयमें ही घात कर देते हैं, अतएव उनके द्वितीयादि समयोंमें स्थितिकाण्डकोंका और अनुभागकाण्डकोंका एक प्रमाण नियम देखा जाता है। दूसरे, अल्प स्थिति और अल्प अनुभागरूप विरोधी परिणाम उससे अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोंके अविरोधीपनेको प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, प्रथमस्थितिसे अतिरिक्त द्वितीयादि स्थितियोंमें ऐसा विरोध देखनेमें नहीं आता है। परंतु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमें स्थित संपूर्ण जीवोंके प्रदेशबन्ध समान होता है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, प्रदेशबन्ध योगके निमित्तसे होता है। परंतु अनिवृत्तिकरणके एक समयवर्ती संपूर्ण जीवोंके योगकी समानताका कोई नियम नहीं पाया जाता है। जिसप्रकार लोकपूरण समुद्घातमें स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमागम है, उस प्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमागमका अभाव है। इसलिये समान (एक) समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोंके समान परिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, बन्धापसरण, गुणश्रेणीनिर्जरा और

[illegible]

णिज्जरा-समाणं सरिसत्तणं सिद्धं । समाण-समय-संठिय-सव्वाणियट्टीणं ट्ठिदि-अणुभाग-खंडएसु सरिसं णिवदंतेसु घादिदावसेस-ट्ठिदि-अणुभागेसु सरिसत्तणेण चिट्ठमाणेसु अप्पणो पसत्थापसत्थत्तणं पयडीसु अछड्डमाणेसु कधं पयडि-विणासस्स विवज्जासो ? तम्हा दोण्हं वयणाणं मज्झे एक्कमेव सुत्तं होदि, जदो 'जिणा ण अण्णहा वाइणो' तदो तव्वयणाणं विप्पडिसेहो इदि च सच्चमेयं, किंतु ण तव्वयणाणि एयाइं आइल्लु-आइरिय-वयणाइं, तदो एयाणं विरोहस्सत्थि संभवो इदि । आइरिय-कहियाणं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कधं सुत्तत्तणमिदि चे ण, तित्थयर-कहियत्थाणं गणहरदेव-कय-गंथ-रयणाणं बारहंगाणं आइरिय-परंपराए णिरंतरमागयाणं जुग-सहावेण बुद्धीसु ओहट्टंतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाणं पुणो सुट्ठु-बुद्धीणं खयं दट्ठूण तित्थ-वोच्छेद-भएण वज्ज-भीरुहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तण-विरोहादो ।

सत्त्वमें भी समानता सिद्ध हो जाती है ।

शंका — इसतरह समान समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंके स्थितिखंड और अनुभागखंडोंके समानताको प्राप्त होने पर, घात करनेके पश्चात् शेष रहे हुए स्थिति और अनुभागोंके समानरूपसे विद्यमान रहने पर और प्रकृतियोंके अपना अपना प्रशस्त और अप्रशस्तपनाके छोड़ देने पर अर्थात् सभी कार्योंके समानरूपसे रहने पर व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंके विनाशमें विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोंके पहले आठ कषायके नष्ट हो जाने पर सोलह प्रकृतियोंका नाश होता है और किन्हीं जीवोंके पहले सोलह प्रकृतियोंके नष्ट हो जाने पर पश्चात् आठ कषायोंका नाश होता है, यह बात कैसे संभव हो सकती है ? इसलिये दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते । अतः उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये ।

समाधान — यह कहना सत्य है कि उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये, परन्तु ये जिन देवके वचन न होकर उनके पश्चात् आचार्योंके वचन हैं, इसलिये उन वचनोंमें विरोध होना संभव है ।

शंका — तो फिर आचार्योंके द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृतको सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि जिनका अर्थरूपसे तीर्थंकरोंने प्रतिपादन किया है, और गणधरदेवने जिनकी ग्रन्थ रचना की, ऐसे बारह अंग आचार्य परंपरासे निरन्तर चले आ रहे हैं । परन्तु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होने पर और उन अंगोंको धारण करनेवाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं । इसलिये जिन आचार्योंने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोंका अभाव देखा जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरुपरंपरासे श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे उस समय अवशिष्ट रहे हुए आगमके अर्थको पोथियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता है ।

जदि एवं, तो दोण्हं पि वयणाणं दुवालसंगावयवत्तादो सुत्तत्तणं पावदि त्ति चे भवदु णाम दोण्हं मज्झे एक्कस्स सुत्तत्तणं, ण दोण्हं पि परोप्पर-विरोहादो। उस्सुत्तं लिहंता आइरिया कथं वज्ज-भीरुणो? इदि चे ण एस दोसो, दोण्हं मज्झे एक्कस्सेव संगहे कीरमाणे वज्ज-भीरुत्तं णिवट्टदि[1]। दोण्हं पि संगहं करेंताणमाइरियाणं वज्ज-भीरुत्ताविणासादो। दोण्हं वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे सुदकेवली केवली वा जाणदि, ण अण्णो, तहा णिण्णयाभावादो। वट्टमाणकालाइरिएहि वज्ज-भीरूहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो, अण्णहा वज्ज-भीरुत्त-विणासादो त्ति।

तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण चदुसंजलण-णवणोकसायाणमंतरं करेदि। सोदयाणमंतोमुहुत्तमेत्तिं पढमट्ठिदिं अणुदयाणं समऊणावलियमेत्तिं पढमट्ठिदिं करेदि। तदो

शंका— यदि ऐसा है, तो इन दोनों ही वचनोंको द्वादशांगका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त हो जायगा?

समाधान— दोनोंमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किन्तु दोनोंको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है।

शंका— उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे माने जा सकते हैं?

समाधान— यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किसी एक ही वचनके संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छृंखलता आ जाती है। अतएव दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है, अर्थात् बनी रहती है।

शंका— दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किस वचनको सत्य माना जाय?

समाधान— इस बातको तो केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा कोई नहीं जान सकता। अतः इससमय उसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये पापभीरु वर्तमान कालके आचार्योंको दोनोंका ही संग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा।

तत्पश्चात् आठ कषाय या सोलह प्रकृतियोंके नाश होनेपर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर चार संज्वलन और नौ नोकषायोंका अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण करनेके पहले चार संज्वलन और नौ नोकषायसंबन्धी तीन वेदोंमेंसे जिन दो प्रकृतियोंका उदय रहता है उनकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थापित करता है, और अनुदयरूप ग्यारह प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति एक समयकम आवलीमात्र स्थापित करता है। तत्पश्चात् अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त

१ म प्रतौ 'णिवट्टदि' अ क प्रत्योः 'णिवट्टदि' इति पाठः।

२ [illegible]

अंतरकरणं काऊण पुणो अंतोमुहुत्ते गदे णवुंसयवेदं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूणित्थिवेदं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संतकम्मेण सह सवेद-दुचरिम-समए जुगवं खवेदि। तदो दो आवलियमेत्तकालं गंतूण पुरिसवेदं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण कोध-संजलणं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण माण-संजलणं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण माया-संजलणं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुम-सांपराइय-गुणट्ठाणं पडिवज्जदि। सो वि सुहुम-सांपराइओ अप्पणो चरिम-समए लोभ-संजलणं खवेदि। तदो से काले खीणकसाओ होदूण अंतोमुहुत्तं गमिय अप्पणो अद्धाए दुचरिम-समए णिद्दा-पयलाओ दो वि अक्कमेण खवेदि। तदो से काले पंचणाणावरणीय-चदुदंसणावरणीय-पंचअंतराइयमिदि चोद्दस-पयडीओ अप्पणो चरिम-समए खवेदि। एदेसु सट्ठि-कम्मेसु खीणेसु सजोगिजिणो होदि। सजोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि। तदो कमेण विहरिय जोगणिरोहं काऊण अजोगिकेवली होदि। सो वि अप्पणो दुचरिम-समए अणुदयवेदणीय-देवगदि-पंचसरीर-पंचसरीरसंघाद-पंचसरीरबंधण-छस्संठाण-तिण्णिअंगोवंग-छस्संघडण-पंचवण्ण-दोगंध-पंचरस-

जाने पर नपुंसकवेदका क्षय करता है। तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर स्त्रीवेदका क्षय करता है। फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर सवेद भागके द्विचरम समयमें पुरुषवेदके पुरातन सत्तारूप कर्मोंके साथ छह नो-कषायका एकसाथ क्षय करता है। तदनन्तर एक समय कम दो आवली मात्र कालके व्यतीत होने पर पुरुषवेदका क्षय करता है। तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर क्रोध-संज्वलनका क्षय करता है। इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर मान-संज्वलनका क्षय करता है। इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर माया-संज्वलनका क्षय करता है। पुनः एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानको प्राप्त होता है। वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवाला जीव भी अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें लोभ-संज्वलनका क्षय करता है। तदनन्तर उसी कालमें क्षीणकषाय गुणस्थानको प्राप्त करके और अन्तर्मुहूर्त बिताकर अपने कालके द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है। इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समयमें पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है। इसतरह इन साठ कर्मप्रकृतियोंके क्षय हो जाने पर यह जीव सयोगकेवली जिन होता है। सयोगी जिन किसी भी कर्मका क्षय नहीं करते हैं। इसके पीछे विहार करके और क्रमसे योगनिरोध करके वे अयोगिकेवली होते हैं। वे भी अपने कालके द्विचरम समयमें वेदनीयकी दोनों प्रकृतियोंमेंसे अनुदयरूप कोई एक, देवगति, पांच शरीर, पांच शरीरोंके संघात, पांच शरीरोंके बन्धन, छह संस्थान, तीन आंगोपांग, छह

[illegible]

[illegible] गाउयंति [illegible] उराल [illegible]-उम्माय-[illegible] [illegible] सुभ-दुभग-सुस्सर-दुस्सर [illegible] [illegible] पयडीओ [illegible] । तदो मे [illegible] [illegible] उसाणगाणि ति [illegible] तेरह पयडीओ [illegible] । [illegible] ति [illegible] अत्थि [illegible] । [illegible] [illegible] समग [illegible] [illegible] [illegible] उवर्ति । ते पुण [illegible]

[illegible]

उवसामणम्हि वावदा ते उवसामगा ।

गदि-मग्गणावयव-देवगदिम्हि गुण-मग्गणट्ठ सुत्तमाह —

देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ २८ ॥

देवाश्चतुर्षु स्थानेषु सन्ति । कानि तानीति चेन्मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिश्चेति । प्रागुक्तार्थत्वान्न गुणस्थानानामिह स्वरूपमुच्यते ।

उपशामक कहते हैं।

विशेषार्थ — चौदहवें गुणस्थानमें अन्तिम समयमें पचासी प्रकृतियोंका नाश होता है। उनमेंसे बहत्तर प्रकृतियोंका उपान्त्य समयमें और उदयागत बारह तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी इसप्रकार तेरह प्रकृतियोंका अन्त समयमें क्षय होता है। सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें इसी एक मतका उल्लेख मिलता है। किन्तु अन्यत्र मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उपान्त्य समयमें भी क्षय बतलाया गया है, जिसका उल्लेख कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें भी मिलता है। तथा उसकी पुष्टिके लिये इसप्रकार समर्थन भी किया गया है कि अनुदयरूप प्रकृतियोंका स्तिबुकसंक्रमणके द्वारा उदयागत बारह प्रकृतियोंमें ही उपान्त्य समयमें संक्रमण हो जाता है। अतः मनुष्यगत्यानुपूर्वीका भी उपान्त्य समयमें ही संक्रमण हो जाता है, क्योंकि, मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उदय केवल विग्रहगतिके गुणस्थानोंमें ही होता है, यहां नहीं। इसप्रकार दूसरे आचार्योंके मतानुसार उपान्त्य समयमें मनुष्यगत्यानुपूर्वी सहित तिहत्तर और अन्त समयमें बारह प्रकृतियोंका क्षय माना जाता है।

अब गतिमार्गणाके अवयवरूप देवगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें देव पाये जाते हैं ॥ २८ ॥

देव चार गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं।

शंका — वे चार गुणस्थान कौनसे हैं?

समाधान — मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इसप्रकार ये चार गुणस्थान होते हैं।

इन गुणस्थानोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये यहां पर उनका स्वरूप पुनः नहीं कहते हैं।

१ देवा [illegible]

अथ स्यादासु याभिर्वा जीवा मृग्यन्ते ता मार्गणा इति प्राङ् मार्गण
निरुक्तिरुक्ता, अपि चैतासु गुणस्थानेषु नारकाः सन्ति, तिर्यञ्चः सन्ति, मनुष्या,
देवा सन्तीति गुणस्थानेषु अन्विष्यन्ते, अतस्तद्व्याख्यानमार्षविरुद्धमिति नैष
'णिरय गईए णेरइएसु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया' इत्यादिभगवद्भूत
भट्टारकमुखकमलविनिर्गतगुणसंख्यादिप्रतिपादकसूत्राश्रयेण तन्निरुक्त्यवतारात्। कथ
नयाभूतबलिपुष्पदन्तवाक्ययोर्न विरोध इति चेन्न विरोधः। कथमिदं तावत्? निष्पन्न
न तावदसिद्धेन असिद्धे वासिद्धस्यान्वेषणं सम्भवति विरोधात्। नापि सिद्धं सिद्धसान्
षणं तत्र तस्यान्वेषणे फलाभावात्। ततः सामान्याकारेण सिद्धानां जीवानां गुणस्त्व
द्रव्यसंख्यादिविशेषरूपणासिद्धानां विवक्षातः परिणामात्मकत्वानादिबन्धनबद्धानां स्पर्शनलक्षणा
त्मासिद्धत्वान्यथानुपपत्तितः सामान्याकारेणावगतानां गत्यादीनां मार्गणानां च विरो
तोऽनवगतानामिच्छातः आधाराधेयभावो भवतीति नोभयवाक्ययोर्विरोधः।

शंका— जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीवोंका अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा
कहते हैं, इसप्रकार पहले मार्गणा शब्दकी निरुक्ति कह आये हैं। और आगे भी इन
गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं, इनमें तिर्यंच होते हैं इनमें मनुष्य होते हैं और इनमें देव
होते हैं इसप्रकार गुणस्थानोंमें मार्गणाओंका अन्वेषण किया जा रहा है। इसलिये उप
प्रकारसे मार्गणाकी निरुक्ति करना आर्षविरुद्ध है?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'नरकगतिमें नारकियोंमें मिथ्यादृष्टि
द्रव्यप्रमाणसे कितने हैं' इत्यादि रूपसे भगवान भूतबलि भट्टारकके मुखकमलसे निकले हुए
गुणस्थानोंकी संख्या आदिके प्रतिपादक सूत्रोंके आश्रयसे उक्त निरुक्ति
अवतार हुआ है।

शंका— तो भूतबलि और पुष्पदन्तके इन वचनोंमें विरोध क्यों न माना जाय?

समाधान— उनके वचनोंमें विरोध नहीं है। [illegible]
[illegible]

अतीतसूत्रोक्तार्थविशेषप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

तिरिक्खा सुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति ॥ २९ ॥

एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः । प्रभृतिरादिः, एकेन्द्रियान् प्रभृतिं कृत्वा, [illegible] नपुंसकता । असंज्ञिनश्च ते पञ्चेन्द्रियाश्च असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । [illegible] यावत् । यावदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः [illegible] इति यावत्, [illegible] पर्यन्तं इत्य[illegible] प्रतिपादनात् ।

असाधारणतिरश्चः प्रतिपाद्य साधारणतिरश्चां प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

[illegible] आधार आधेयभाव बन जाता है। [illegible] विरहित होते हैं तब वे आधार आधेयको प्राप्त हो जाते हैं और [illegible] होता है। उसीप्रकार जब सामान्यरूपसे [illegible] विभाजित होते हैं तब वे आधार आधेयको प्राप्त हो जाते हैं और गुणस्थान आधेयपनेको प्राप्त होते हैं। [illegible] और पुष्पदन्त आचार्यके वचनोंमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये।

अब पूर्व सूत्रोंमें कहे गये अर्थके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये आगेके सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीव शुद्ध तिर्यंच होते हैं ॥ २९ ॥

जिनके एक ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं। [illegible] एकेन्द्रियको आदि करके [illegible] प्रभृति [illegible] पंचेन्द्रिय होते हैं [illegible] असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहते हैं [illegible] पंचेन्द्रिय तक जीव शुद्ध तिर्यंच होते हैं।

शंका— [illegible]

समाधान— [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] भिन्ना । न [illegible] तमोवागि [illegible] । [illegible] । न [illegible] गुण [illegible] । तथा, [illegible] भिन्ना , [illegible] इति [illegible] । [illegible]

[illegible] है।

[illegible] नहीं [illegible] नहीं [illegible] नहीं [illegible]

[illegible] नहीं [illegible] है। [illegible]

[illegible]

गत्या अनया गत्या सह गुणद्वारेण योगोऽस्ति नास्तीति, ततः पुनरपि निरूपणमनर्थक-मिति न, तस्य दुर्मेधसामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात्। 'प्रतिपाद्यस्य बुद्धिमतावसितविषय निर्णयात्तावन्न वक्तृवचनं फलम्' इति न्यायात्। अथवा न तिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादि-मनुष्यादिमिथ्यादृष्ट्यादिभिः समानाः तिर्यङ्मनुष्याभ्यां व्यतिरिक्तमिथ्यादृष्ट्याद्यभावात्। नापि तिर्यगादीनामैक्यं चतुर्गतेरभावप्रसङ्गात्। न चाभावो मनुष्यस्य व्यतिरिक्त तिरश्चामुपलम्भादिति पर्यायनयावलम्बनबलेन कश्चित् विप्रतिपन्नः। न मिथ्यादृष्ट्यादयः पर्याया जीवद्रव्याद्भिन्ना येनोपाधिमन्तो तथा तस्मात्पृथगनुपलम्भात्तस्य इति सम्बन्धा-नुपपत्तेश्च। ततस्तस्मात्तदभेदः। तथा च न गतिभेदः नापि गुणभेद इति द्रव्यनयै-कान्तावष्टम्भबलेन स्थितविप्रतिपन्नाभिप्रायनिरसनार्थं वास्य प्रत्यवस्थानम्। नापि

इतने नहीं? इसप्रकारसे निरूपण करनेसे तो यह जाना जाता है कि इस गतिमें इस गतिके साथ गुणस्थानोंकी अपेक्षा समानता है, इतर गतियोंके साथ नहीं। इसलिये फिरसे इसका कथन करना निष्फल है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंको भी विषयका स्पष्टीकरण हो जावे, इसलिये इस कथनका यहां पर निरूपण किया है, क्योंकि शिष्यको जिससे [illegible] संबन्धी निर्णय उत्पन्न करा देता है, वही वक्ताके वचनोंका फल है, ऐसा न्याय है।

अथवा, तिर्यंचोंके मिथ्यादृष्टि आदि भाव मनुष्यादि अन्य गतिसम्बन्धी जीवोंके मिथ्यादृष्टि आदि भावोंके समान नहीं हैं, क्योंकि, तिर्यंच और मनुष्यादिकको छोड़कर मिथ्यादृष्टि आदि भावोंका स्वतन्त्र सद्भाव नहीं पाया जाता है। इसलिये जब कि तिर्यंचादिकोंमें परस्पर भेद है, तो तदाश्रित भावोंमें भी भेद होना संभव है। यदि कहा जाय कि तिर्यंचादिकोंमें परस्पर एकता अर्थात् अभेद है, सो भी कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि, तिर्यंचादिकोंमें परस्पर अभेद माननेपर चारों गतियोंके अभावका प्रसंग आ जायगा। परंतु चारों गतियोंका अभाव माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, मनुष्योंसे अतिरिक्त तिर्यंचोंकी उपलब्धि होती है। इसप्रकार पर्यायार्थिकनयका एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग विवादग्रस्त हैं। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि आदि पर्यायें आत्मद्रव्यसे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि, जिसप्रकार [illegible] भिन्न उपलब्ध होती है उसप्रकार मिथ्यादृष्टि आदि जीवद्रव्यसे पृथक् उपलब्धि नहीं होती है। और यदि भिन्न मान भी जावें तो [illegible] पर्यायें इस जीव द्रव्यकी हैं इसप्रकार सम्बन्ध भी नहीं बनता है। इसलिये इन मिथ्यादृष्टि आदि पर्यायोंका जीव द्रव्यसे अभेद है। इसप्रकार जब मिथ्यादृष्टि आदि पर्यायोंमें भेद ही सिद्ध नहीं होता है तो गतियोंका भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है और न गुणस्थानोंका भेद सिद्ध होता है। इसप्रकार केवल द्रव्यार्थिक नयको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग विवादमें पड़े हुए हैं। इसलिये इन दोनों एकान्तियोंके अभिप्रायका खण्डन करनेके लिये

प्रायद्वय घटते तथाप्रतिभासनात्। न च प्रमाणाननुसार्यभिप्राय साधुरव्यवस्थापत्तेः। न च जीवाद्वैते द्वैत वा प्रमाणमस्ति ... ... मतानोऽप्यन्यतो भयात्। न प्रमेयस्यापि सत्त्वमपेक्षितप्रमाणव्यापारस्य तस्य प्रमाणाभावे सत्त्वायोगात्। प्रमाण वस्तुनो न कारकमतो न तद्विनाशाद्वस्तुविनाश इति चेन्न, प्रमाणाभावे वचनाभाव सकलव्यवहारोच्छित्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, वस्तुविषयविधिप्रतिषेधयोरप्यभावप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात्। ततो विधिप्रतिषेधात्मक वस्त्वित्यङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा दोषानुपपत्तेः। ततः सिद्ध गुणद्वारेण जीवाना सादृश्य विशेषरूपेणासादृश्यमिति। गुणस्थानमार्गणासु जीवसमासान्वेषणार्थं वा।

विविक्ष्या मिस्सा' इत्यादि सूत्र समका अवतार हुआ है। उक्त दोनों प्रकारके एकान्तरूप अभिप्राय घटित नहीं होते हैं, क्योंकि, सर्वथा एकान्तरूपसे वस्तुस्वरूपकी प्रतीति नहीं होती है। और प्रमाणसे प्रतिकूल अभिप्राय ठीक नहीं माना जा सकता, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था प्राप्त हो जावेगी। तथा जीवाद्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायकृत सर्वथा अभेद), या जीवद्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा भेद) के माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि जीवाद्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो नरक तिर्यंच आदि सभी पर्यायोंको एकताका आपत्ति आजाती है। और यदि जीव द्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो देहभेद आदिकी तरह वस्तुका स्वतः अपने पर पदार्थसे भी भेद सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार द्वैतवाद या अद्वैतवादमें प्रमाण नहीं मिलनेसे प्रमेयका भी सत्त्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि, प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाले प्रमेयका प्रमाणके अभावमें सद्भाव नहीं बन सकता है।

शंका— प्रमाण वस्तुका कारण (उत्पादक) नहीं है, इसलिये प्रमाणके विनाशसे वस्तुका विनाश नहीं माना जा सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रमाणके अभाव होने पर वचनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, और उसके बिना संपूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है।

शंका— यदि लोकव्यवहार विनाशको प्राप्त होता है, तो हो जाओ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर वस्तुविषयक विधि प्रतिषेधका भी अभाव प्राप्त हो जायगा।

शंका — यह भी हो जाओ?

समाधान—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, वस्तुका विधि प्रतिषेधरूप व्यवहार देखा जाता है। इसलिये विधि प्रतिषेधात्मक वस्तु स्वीकार कर लेना चाहिये। अन्यथा ऊपर कहे हुए संपूर्ण दोष प्राप्त हो जावेंगे। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि गुणोंकी मुख्यतासे जीवोंके परस्पर समानता है और विशेष (पर्याय) की मुख्यतासे परस्पर भिन्नता है।

अथवा गुणस्थानों और मार्गणाओंमें जीवसमासोंके अन्वेषण करनेके लिये यह सूत्र

१ ... ... इति 'यथानुपलम्भात्' इति पाठः।

इदानीं मनुष्याणां गुणद्वारेण सम्यग्दृष्टिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ॥ ३१ ॥

आदितनेषु पंचसु गुणस्थानेषु ये मनुष्यास्ते मिथ्यादृष्टिप्रभृतिगुणैः तिर्यग्भिः समाना सयमासयमेन नियमेन [illegible] ।

तेण परं सुद्धा मणुस्सा ॥ ३२ ॥

शेषगुणानां मनुष्यगतिव्यतिरिक्तगतिष्वसम्भवात् [illegible] उपरितनगुणमनुष्या न केनचित्समाना इति यावत् । [illegible] मनुष्याः [illegible] वा तिर्यक्षु नास्तीति चेन्न, [illegible] त्यत्तेरिति ।

इन्द्रियमार्गणायां गुणस्थानानां [illegible] माह—

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चदुरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ ३३ ॥

[illegible] गया है ।

अब मनुष्योंका गुणस्थानोंके द्वारा समानता और असमानताके [illegible] लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर संयतासंयततक मनुष्य मिश्र हैं ॥ ३१ ॥

प्रथम गुणस्थानसे लेकर पांच गुणस्थानोंमें स्थित मनुष्य हैं वे [illegible] गुणस्थानोंसे, अथवा [illegible] आपसमें समान हैं और [illegible] अपेक्षा तिर्यंचोंके साथ समान हैं ।

पांचवें गुणस्थानसे आगे शुद्ध (केवल) मनुष्य हैं ॥ ३२ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] आत्मा [illegible] लिङ्गमिन्द्रियम्। इन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्। [illegible] द्विविध [illegible] भावेन्द्रिय चेति। निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, [illegible] निर्वर्त्यते [illegible] निर्वृत्तिरित्युपदिश्यते। सा निर्वृत्तिः [illegible]। तत्र लोकप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियत [illegible] उत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां [illegible] वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः।

[illegible] चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां [illegible] नाम [illegible] प्रदेशः [illegible] प्रतिनियत [illegible]। [illegible] न [illegible]। [illegible] तेन [illegible]। न प्रतिनियत [illegible]

[illegible] है, और [illegible] ([illegible]) [illegible] करते हैं। [illegible] निर्वृत्ति और उपकरण [illegible]। जो निर्वृत्त होती है अर्थात् कर्मके द्वारा रची जाती है उसे निर्वृत्ति कहते हैं। [illegible] वह निर्वृत्ति दो प्रकारकी है। [illegible] आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं।

[illegible] उत्पन्न होता है [illegible] होता है [illegible] होती ही है [illegible] नहीं जाता। [illegible]

द्विया, गिया अद्विया, गिया द्वियाद्विया इति वचनात्प्रमाणात् सर्वप्रदेशेषु भ्रमत्सु सर्वजीवानामान्ध्यप्रसङ्गादिति नैष दोष, सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। न सर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिरपि तत्सहकारिकारणबाह्यनिर्वृत्तेरशेषजीवावयवव्यापित्वा भावात्। कर्मस्कन्धैः सह सर्वजीवावयवेषु भ्रमत्सु तत्समवेतशरीरस्यापि तद्वद्भ्रमणं सर्वत्रेति

चक्षु आदि इन्द्रियोंका क्षयोपशम माना जाय, तो भी कहना नहीं बनता है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर 'आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं और चलाचल भी हैं' इसप्रकार वेदनाप्राभृतके सूत्रसे आत्मप्रदेशोंका भ्रमण अवगत हो जाने पर, जीवप्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें सम्पूर्ण जीवोंको अन्धपनेका प्रसंग आ जायगा, अर्थात् उस समय चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपादिको ग्रहण नहीं कर सकेंगी?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है। परन्तु ऐसा मान लेने पर भी, जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंके द्वारा रूपादिकी उपलब्धिका प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि रूपादिके ग्रहण करनेमें सहकारी कारणरूप बाह्य निर्वृत्ति जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें नहीं पाई जाती है।

विशेषार्थ—ऊपर अभ्यन्तर निर्वृत्तिकी रचनाका प्रकार बतला आये हैं। उनमें लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। दूसरे प्रकारसे उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। इसप्रकार अभ्यन्तर निर्वृत्तिकी रचनाके प्रकारोंके बतलानेका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि स्पर्शन इन्द्रिय सर्वांग होती है इसलिये स्पर्शनेन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति भी सर्वांग होगी। इस अपेक्षासे लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। यह कथन बन जाता है और शेष इन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण बन जाती है। अथवा सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् इस कथनके अनुसार जीवके सम्पूर्ण अवयवोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है। ऊपर कहे गये इस कथनके अनुसार प्रत्येक इन्द्रियावरणकर्मका क्षयोपशम सर्वांग होता है। इसलिये प्रत्येक इन्द्रियकी अभ्यन्तर निर्वृत्ति सर्वांग होना संभव है। किन्तु इतनी विशेषता समझ लेना चाहिये कि स्पर्शनेन्द्रियकी अभ्यन्तर निर्वृत्तिको छोड़कर शेष इन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंमें ही व्यक्त होती है।

शंका—कर्मस्कन्धोंके साथ जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंके भ्रमण करने पर उनसे समवेत

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

चेन्न, तद्भ्रमणावस्थायां तत्समवायाभावात्। शरीरेण समवायाभावे मरणमाढौकत इति चेन्न, आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात्। पुनः कथं संघटन इति चेन्नानाभेदोपसंहृतजीवप्रदेशानां पुनः संघटनोपलम्भात्, द्वयोर्मूर्तयोः संघटने विरोधाभावाच्च, तत्संघटनहेतुकर्मोदयस्य कार्यवैचित्र्यादवगतवैचित्र्यस्य सत्त्वाच्च। इन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न भ्रमणमिति किन्नेष्यत इति चेन्न, तद्भ्रमणमन्तरेणाशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादिदर्शनानुपपत्तेरिति। तेषां सर्वप्रदेशेषु इन्द्रियस्पर्शनभावे य प्रतिनियतसंस्थानं नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स बाह्या निर्वृत्तिः। मसूरिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता चक्षुरिन्द्रियस्य बाह्यनिर्वृत्तिः। यवनालिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता श्रोत्रस्य बाह्या निर्वृत्तिः।

सम्बन्धको प्राप्त शरीरका भी जीवप्रदेशोंके समान भ्रमण होना चाहिये?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवप्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें शरीरका उनसे समवायसंबन्ध नहीं रहता है।

शंका — भ्रमणके समय शरीरके साथ जीवप्रदेशोंका समवायसंबन्ध नहीं माननेपर मरण प्राप्त हो जायगा?

समाधान — नहीं, क्योंकि, आयुकर्मके क्षयको मरणका कारण माना है।

शंका — तो जीवप्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसंबन्ध कैसे बन जाता है?

समाधान — इसमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि, जिन्होंने नाना अवस्थाओंका उपसंहार कर लिया है, ऐसे जीवप्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसंबन्ध उत्पन्न होता हुआ देखा ही जाता है। तथा दो मूर्त पदार्थोंके सम्बन्ध होनेमें कोई विरोध भी नहीं आता है। अथवा जीवप्रदेश और शरीरके संघटनके हेतुरूप कर्मोदयके कार्योंकी विचित्रता देखी जाती है। और जिसके अनेक प्रकारके कार्य अनुभवमें आते हैं उसे विचित्ररूप ही जाना है।

शंका — इन्द्रियप्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो?

समाधान — नहीं, क्योंकि, यदि इन्द्रियप्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं माना जाय तो अत्यन्त द्रुतगतिसे भ्रमण करते हुए जीवोंको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये ... इन्द्रियप्रमाण जीवप्रदेशोंका ... [illegible]

अतिमुक्तकपुष्पसंस्थाना अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृत्तिः । अर्धचन्द्राकारा क्षुरप्राकारा वाङ्गुलस्य संख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः । स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियत-संस्थाना। सा जघन्येन अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता सूक्ष्मशरीरेषु उत्कर्षेण संख्येयघनाङ्गुल-प्रमिता महामत्स्यादित्रसजीवेषु । सर्वतः स्तोकाश्चक्षुषः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शने संख्येय-गुणाः । उक्तं च—

घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण श्रोत्र इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है। कदम्बके फूलके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण घ्राण इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है। अर्धचन्द्र अथवा खुरपाके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है। स्पर्शन इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति अनियत आकारवाली होती है। वह जघन्य प्रमाणकी अपेक्षा घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके (तीन मोड़ेसे उत्पन्न होनेके तृतीय समयवर्ती) शरीरमें पाई जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी अपेक्षा संख्यात घनांगुल प्रमाण महामत्स्य आदि त्रस जीवोंके शरीरमें पाई जाती है। चक्षु इन्द्रियके अवगाहनारूप प्रदेश सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश हैं। उनसे अधिक घ्राण इन्द्रियके प्रदेश हैं। उनसे असंख्यातगुणे जिह्वा-इन्द्रियमें प्रदेश हैं। और उनसे संख्यातगुणे स्पर्शन इन्द्रियमें प्रदेश हैं।

विशेषार्थ — ऊपर इन्द्रियोंकी अवगाहना बतला कर जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रदेशोंका प्रमाण बतलाया गया है, वह इन्द्रियोंकी अवगाहनाके तारतम्यका ही बोधक जानना चाहिए। अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अपनी अवगाहनामें जितने आकाशप्रदेशोंको रोकती है, उससे संख्यातगुणे आकाशप्रदेशोंको व्याप्त कर श्रोत्रेन्द्रिय रहती है। उससे विशेष अधिक आकाशप्रदेशोंको घ्राण इन्द्रिय व्याप्त करती है। उससे असंख्यातगुणे आकाशप्रदेशोंको व्याप्त कर जिह्वा इन्द्रिय रहती है और उससे संख्यातगुणे आकाशप्रदेशोंको व्याप्त कर स्पर्शन इन्द्रिय रहती है। [illegible] हिसाब [illegible] अंगुलके असंख्यातवें भाग [illegible] पुष्ट होता है। [illegible] अवगाहनाके समान ही इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी [illegible] यह क्रम लागू हो सकता है। [illegible] स्पर्शन इन्द्रियके [illegible] और इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी [illegible] [illegible]

जव-णालिया मसूरी चंदद्धइमुत्त-फुल्ल-तुल्लाइं ।
इंदिय-संठाणाइं फस्सं पुण णेय-संठाणं ॥ १३४ ॥

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। तद् द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलम्। बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं शेषेष्वपि ज्ञेयम्[1]। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्[2]। इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः[3]। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते। तदुक्तनिमित्तं प्रतीत्योत्पद्यमान आत्मनः परिणाम उपयोग इत्यपदिश्यते। तदेतदुभयं भावेन्द्रियम्। उपयोगस्य तत्फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिः

श्रोत्र इन्द्रियका आकार यवकी नालीके समान है, चक्षु इन्द्रियका मसूरके समान, रसना इन्द्रियका आधे चन्द्रमाके समान, घ्राण इन्द्रियका कदम्बके फूलके समान आकार है और स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥ १३४ ॥

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है, अर्थात् जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। वह बाह्य उपकरण और अभ्यन्तर उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे कृष्ण और शुक्ल मण्डल नेत्र इन्द्रियका अभ्यन्तर उपकरण है, और दोनों पलकें तथा दोनों नेत्ररोम (बरोनी) आदि उसके बाह्य उपकरण हैं। इसीप्रकार शेष इन्द्रियोंमें जानना चाहिये।

लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष है उसे लब्धि कहते हैं। अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं। और उस पूर्वोक्त निमित्तके अवलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं।

---

१ [illegible]

२ [illegible]

३ त. सू. २. १८.

४ [illegible]

५ [illegible]

[illegible]

रिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः। कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं, यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति। तथेन्द्रियनिर्वृत्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्युपदिश्यते। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा य इन्द्रियार्थः स क्षयोपशमे प्राधान्येन विद्यत इति तस्येन्द्रियव्यपदेशो न्याय्य इति। तत्र इन्द्रियेण अनुवादः इन्द्रियानुवादः तत्र सन्ति एकेन्द्रियाः। एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः। किं तदेकमिन्द्रियम्? स्पर्शनम्। वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं करणकारकम्। इन्द्रियस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृत्वं च भवति। यथा पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति स्पृशतीति स्पर्शनम्। कोऽस्य विषयः? स्पर्शः। कस्मात्? उच्यते, यदा वस्तु

इसप्रकार लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियां हैं।

शंका—उपयोग इन्द्रियोंका फल है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति इन्द्रियोंसे होती है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि कारणमें रहनेवाले धर्मकी कार्यमें अनुवृत्ति होती है। अर्थात् कार्य लोकमें कारणका अनुकरण करता हुआ देखा जाता है। जैसे घटके आकारसे परिणत हुए ज्ञानको घट कहा जाता है, उसीप्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उपयोगको भी इन्द्रिय संज्ञा दी गई है।

इन्द्र (आत्मा) के लिंगको इन्द्रिय कहते हैं। या जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं। इसप्रकार जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ किया जाता है वह क्षयोपशममें प्रधानतासे पाया जाता है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित है।

उक्त प्रकारकी इन्द्रियकी अपेक्षा जो अनुवाद अर्थात् आगमानुकूल कथन किया जाता है उसे इन्द्रियानुवाद कहते हैं। उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव हैं। जिनके एक ही इन्द्रिय पाई जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका—वह एक इन्द्रिय कौनसी है?

समाधान—वह एक स्पर्शन इन्द्रिय समझना चाहिये।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके होने पर आंगोपांग नामकर्मके उदयरूप आलम्बनके होनेसे जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंको स्पर्श करता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। ... स्पर्शन इन्द्रिय करण कारक है। ... (स्वतन्त्र विवक्षा) करता है ... पूर्वोक्त साधनोंके रहने पर जो स्पर्श करती है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं।

शंका—स्पर्शन इन्द्रियका विषय क्या है?

प्राधान्येन विवक्षितं तदा इन्द्रियेण वस्त्वेव विषयीकृतं भवेद् वस्तुव्यतिरिक्तस्पर्शाद्यभावात् एतस्यां विवक्षायां स्पृश्यत इति स्पर्शो वस्तु । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा तस्य ततो भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वमप्यविरुद्धम्, यथा स्पर्शनं स्पर्श इति । यद्येवम्, सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शव्यवहारो न प्राप्नोति तत्र तदभावात् नैष दोषः, सूक्ष्मेष्वपि परमाण्वादिष्वस्ति स्पर्शः स्थूलेषु तत्कार्येषु तद्दर्शनान्यथानुपपत्तेः । न ह्यत्यन्तासतः प्रादुर्भावोऽस्त्यतिप्रसङ्गात् । किन्तु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति । ग्रहणायोग्यानां कथं स व्यपदेश इति चेन्न, तस्य सर्वदायोग्यत्वाभावात् । परमाणुगत सर्व

समाधान—स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है।

शंका—स्पर्शका क्या अर्थ है? अर्थात् स्पर्शसे किसका ग्रहण करना चाहिये?

समाधान—जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रधानतासे वस्तु ही विवक्षित होता है उस समय इन्द्रियके द्वारा वस्तुका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, वस्तुको छोड़कर स्पर्शादिक धर्म पाये नहीं जाते हैं। इसलिये इस विवक्षामें जो स्पर्श किया जाता है उस स्पर्श कहते हैं, और वह स्पर्श वस्तुरूप ही पड़ता है। तथा जिस समय पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे पर्याय विवक्षित होता है, उससमय पर्यायका द्रव्यसे भेद होनेके कारण उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन किया जाता है। इसलिये स्पर्शमें भावसाधन भी बन जाता है। जैसे, स्पर्शन ही स्पर्श है।

शंका—यदि ऐसा है, तो सूक्ष्म परमाणु आदिमें स्पर्शका व्यवहार नहीं बन सकता है क्योंकि, उनमें स्पर्शनरूप क्रियाका अभाव है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्श है, अन्यथा, परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शकी उपलब्धि नहीं हो सकती थी। किन्तु स्थूल पदार्थोंमें स्पर्श पाया जाता है, इसलिये सूक्ष्म परमाणुओंमें भी स्पर्शकी सिद्धि हो जाती है क्योंकि, ऐसा यह सिद्धान्त है, कि जो अत्यन्त (सर्वथा) असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि सर्वथा असत्की उत्पत्ति मानी जाय तो अतिप्रसंग हो जायगा। (अर्थात् [illegible] आदि अविद्यमान वस्तुओंका भी प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा) [illegible] यह समझना चाहिये कि परमाणुओंमें स्पर्शादिक पाये तो जाते हैं, किन्तु वे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं।

शंका—जब कि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है तो फिर उस स्पर्श संज्ञा कैसे दी जा सकती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होनेकी सर्वदा अयोग्यता नहीं है।

[illegible]

न ग्रहणयोग्यश्च तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतौ योग्यत्वात् । [illegible] पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय । [illegible] स्पर्शनमस्मदिन्द्रियमस्ति न [illegible] गम्यत इति चेत् स्पर्शनेन्द्रियवन्त एत इति [illegible] । [illegible] च [illegible]—

जाणदि [illegible] भुंजदि [illegible]
[illegible] य तस्सामिन [illegible] ॥ १३५ ॥

'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इति [illegible] । [illegible] , [illegible] यथा [illegible] इति । [illegible] , उदकसमीप गत इति । [illegible] , यथा [illegible]

शंका—परमाणुम रहनेवाला [illegible] इन्द्रियोंद्वारा [illegible] नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जब परमाणु [illegible] धर्मोंका इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पाई जाती है ।

शंका—वे एकेन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति [illegible] हैं ।

शंका—इन पांचोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है [illegible] कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि पृथिवी और [illegible] है इसप्रकार कथन करनेवाला आप्त-वचन पाया जाता है ।

शंका—यह आप्त-वचन कहां पाया जाता है

समाधान—यह आप्त वचन यहां कहा जाता है

क्योंकि [illegible]

[illegible]

गम इति। तत्रेह विरामोऽवसानार्थो गृहीतव्यः। वनस्पत्यन्तानां वनस्पतिपर्यन्तानामिति सामीप्यार्थः किन्न गृह्यते? वनस्पत्यन्तानां वनस्पतिसमीपानामित्युक्ते वायुकायानां त्रसकायानां च सम्प्रत्ययः प्रसज्येत 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः' इत्यत्र तयोरेव सामीप्यदर्शनात्। अयमन्तशब्दः सम्बन्धिशब्दत्वात् काञ्चित्पूर्वावधिमपेक्ष्य वर्तते। ततोऽर्थादादिसम्प्रत्ययो भवति तस्मादयमर्थोऽवगम्यते पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति। एवमपि पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां स्पर्शनादिष्वन्यतममेकमिन्द्रियं प्राप्तमविशेषादिति चेन्नैष दोषः, अयमेकशब्दः प्राथम्यवचनः 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' इत्यत्रतनप्राथम्यमाश्रित इति। वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चैकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति।

उनमेंसे यहां पर विरामका अन्त शब्दका अवसानरूप अर्थ जानना चाहिये।

शंका—'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इसमें आये हुए अन्त पदका 'वनस्पतिके समीपवर्ती जीवोंके एक स्पर्शन-इन्द्रिय होती है' इसप्रकार सामीप्य-वाचक अर्थ क्यों नहीं लेते?

समाधान—यदि 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमें आये हुए अन्त शब्दका समीप अर्थ लिया जाय तो उससे वायुकायिक और त्रसकायिकका ही ज्ञान होगा, क्योंकि, 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः' इस वचनमें वायुकायिक और त्रसकायिक ही वनस्पतिके समीप दिखाई देते हैं। यह अन्त शब्द सम्बन्धी शब्द होनेसे अपनेसे पूर्ववर्ती कितने ही शब्दोंकी अपेक्षा करके प्रवृत्ति करता है और इससे अर्थवश आदिका ज्ञान हो जाता है। उससे यह अर्थ मालूम पड़ता है कि पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

शंका—ऐसा मान लेने पर भी पृथिवीसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियोंमेंसे कोई एक इन्द्रिय प्राप्त होती है, क्योंकि, 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमें आया हुआ एक पद स्पर्शन इन्द्रियका बोधक तो है नहीं, वह तो सामान्यसे संख्यावाची है, इसलिये पांच इन्द्रियोंमेंसे किसी एक इन्द्रियका ग्रहण किया जा सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह एक शब्द प्राथम्यवाची है, इसलिये उससे 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' इस सूत्रमें आई हुई सबसे प्रथम स्पर्शन इन्द्रियका ही ग्रहण होता है।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, रसना आदि शेष इन्द्रियावरणके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदय होने पर तथा एकेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर स्पर्शन एक इन्द्रिय उत्पन्न होती है।

१ त. सू. २. १९

द्वे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः। के ते? शङ्खशुक्तिकृम्यादयः। उक्तं च—

कुक्खिकिमि सिप्पि-संखा गंडोलारिट्ठ अक्ख-खुल्ला य।
तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे ॥ १३६ ॥

के ते द्वे इन्द्रिये इति चेत्स्पर्शनरसने। स्पर्शनमुक्तलक्षणम्। भेदविवक्षायां वीर्यान्तरायरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादस्यत्यनेनेति रसनं करणम्

जिनके दो इन्द्रियां होती हैं उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका—वे द्वीन्द्रिय जीव कौन कौन हैं?

समाधान—शंख, शुक्ति और कृमि आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है—

कुक्षि कृमि अर्थात् पेटके कीड़े, सीप, शंख, गण्डोला अर्थात् उदरमें उत्पन्न होनेवाली बड़ी कृमि, अरिष्ट नामक एक जीवविशेष, अक्ष अर्थात् चन्दनक नामका जलचर जीवविशेष, क्षुल्लक अर्थात् छोटा शंख और कौड़ी आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं॥ १३६॥

शंका—वे दो इन्द्रियां कौनसी हैं?

समाधान—स्पर्शन और रसना। उनमेंसे स्पर्शनका स्वरूप कह आये हैं। अब रसना इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—

भेद विवक्षाकी प्रधानता अर्थात् करणकारककी विवक्षा होने पर, वीर्यान्तराय और रसनेन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे तथा आंगोपांग नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे जिसके द्वारा स्वादका ग्रहण होता है उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं। तथा इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य-विवक्षा अर्थात् कर्तृ-कारककी विवक्षामें पूर्वोक्त साधनोंके मिलने पर जो आस्वाद ग्रहण करती है उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं।

१ उदरान्तर्वर्तिना ह्या (अशा [illegible]
[illegible]

कत्वात्। इन्द्रियाणां स्वार्थनिरतानामविवक्षायां पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति रसयतीति रसनं कर्तृकारकं भवति। कोऽस्य विषयः? रसः। कोऽस्यार्थः? यदा वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा वस्तुव्यतिरिक्तपर्यायाभावाद्वस्त्वेव रसः। एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं रसस्य, यथा रस्यत इति रसः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं रसस्य, रसनं रस इति। न सूक्ष्मेषु परमाणुषु रसाभावः, उक्तोत्तरत्वात्। कुत एतयोरुत्पत्तिरिति चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे द्वीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनेन्द्रिये आविर्भवतः।

त्रीणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः। के ते? कुन्थुमत्कुणादयः। उक्तं च —

शंका — रसना इन्द्रियका विषय क्या है?

समाधान — रस इन्द्रियका विषय रस है।

शंका — रस शब्दका क्या अर्थ है?

समाधान — जिस समय प्रधानरूपसे वस्तु विवक्षित होती है उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये वस्तु ही रस है। इस विवक्षामें रसके कर्मसाधनपना है। जैसे, जो चखा जाय वह रस है। तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है उस समय वस्तुसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये जो उदासीनरूपसे अवस्थित भाव है उसीका कथन किया जाता है। इसप्रकार रसके भावसाधनपना भी बन जाता है। जैसे आस्वादनरूप क्रियाधर्मको रस कहते हैं। सूक्ष्म परमाणु आदिमें रसका अभाव हो जायगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर पहले दे आये हैं।

शंका — स्पर्शन और रसना इन दोनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है?

समाधान — वीर्यान्तराय और स्पर्शन व रसनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाति स्पर्धकोंके उदय होने पर, अंगोपांग नामकर्मके उदय होने पर तथा द्वीन्द्रिय जातिनामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

जिनके तीन इन्द्रियां होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका — वे त्रीन्द्रिय जीव कौन कौन हैं?

समाधान — कुन्थु और खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है —

[illegible]

कुंथु पिपीलिक मक्कुण-विच्छिअ-जू-इंदगोव गोम्ही य ।
उत्तिंगणट्टियादी[1] (?) णेया तीइंदिया जीवा[2] ॥ १३७ ॥

कानि तानि त्रीणीन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणानि । स्पर्शनरसने उक्तलक्षणे । किं घ्राणमिति ? करणसाधनं घ्राणम् । कुतः ? पारतन्त्र्यादिन्द्रियाणाम् । ततो वीर्यान्तरायघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाज्जिघ्रत्यनेनात्मेति घ्राणम् । कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायामिन्द्रियाणाम् । दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, यथेदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने

कुन्थु, पिपीलिका, खटमल, बिच्छू, जूं, इन्द्रगोप, कनखजूरा, तथा उत्तिंग नट्टियादिक प्राणिविशेष, ये सब त्रीन्द्रिय जीव हैं ॥ १३७ ॥

शंका—वे तीन इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान—स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां हैं। इनमेंसे स्पर्शन और रसनाका लक्षण कह आये। अब घ्राण-इन्द्रियका लक्षण कहते हैं—

शंका—घ्राण किसे कहते हैं ?

समाधान—घ्राण शब्द करणसाधन है, क्योंकि, पारतन्त्र्यविवक्षामें इन्द्रियोंके करणसाधन होता है। इसलिये वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बनसे जिसके द्वारा सूंघा जाता है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें घ्राण शब्द कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है। जैसे, यह मेरी आंख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। अतः पहले कहे हुए हेतुओंके मिलने पर जो सूंघती है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं।

३ [illegible] । गा. १, ७५.

१ [illegible] 'उत्तिंग' [illegible] उत्तिंग [illegible] ।

२ [illegible] [illegible]
([illegible]) [illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible]) [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] । उ. ३६, १३८–३९

विषयत्वाद्वर्णः। अथ वर्णशब्दः कर्मसाधनः। यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव संनिकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः सन्तीत्येतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यत इति वर्णः। यदा तु पर्याय-प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते वर्णनं वर्णः। कुत एतेषामुत्पत्तिश्चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे चतुरिन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां चतुर्णामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत्।

पञ्च इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः। के ते? जरायुजाण्डजादयः। उक्तं च—

संसेदिम-सम्मुच्छिम-उब्भेदिम-ओववादिया चेव।
रस-पोदंड-जरायुज णेया पंचिंदिया जीवा॥ १३९॥

समाधान—वर्ण इस इन्द्रियका विषय है। यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है। जैसे, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्यका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्शादिक पर्यायें नहीं पाई जाती हैं। इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शादिकके कर्मसाधन जाना जाता है। उस समय जो देखा जाय उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करना चाहिये। तथा जिस समय पर्याय प्रधानरूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है। अतएव स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है। उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति होती है।

शंका—इन चारों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम, शेष इन्द्रियावरण सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय, आंगोपांग नामकर्मके उदयका आलम्बन और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी पराधीनताके होने पर चार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है।

जिनके पांच इन्द्रियां होती हैं उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका—वे पंचेन्द्रिय जीव कौन कौन हैं?

समाधान—जरायुज और अण्डज आदिक पंचेन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है—

स्वेदज, सम्मूर्छिम, उद्भिज्ज, औपपादिक, रसज, पोत, अंडज और जरायुज ये सब पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये॥ १३९॥

[illegible]

यानि तानि पञ्चेन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। इमानि स्पर्शनादीनि करणसाधनानि। कुतः? पारतन्त्र्यात्। इन्द्रियाणां हि लोके इव पारतन्त्र्यविवक्षा आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्, अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति। ततो वीर्यान्तरायश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाच्छृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्। कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्। इव चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति शृणोतीति श्रोत्रम्। कोऽस्य विषयः? शब्दः। यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य युज्यते इति, शब्द्यत इति शब्दः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनः शब्दः, शब्दनं शब्द इति। कुत एतेषामित्थं क्रम इति चेद्यथायन्त

शंका — वे पांच इन्द्रियां कौन कौन हैं?

समाधान — स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। ये स्पर्शनादिक इन्द्रियां करणसाधन हैं, क्योंकि, ये परतन्त्र देखी जाती हैं। लोकमें आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होने पर इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है। जैसे, मैं इस आंखसे अच्छी तरह देखता हूं, इस कानसे अच्छी तरह सुनता हूं। इसलिये वीर्यान्तराय और श्रोत्र इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे जिसके द्वारा सुना जाता है उसे श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं। तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें कर्तृसाधन होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है। जैसे, यह मेरी आंख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो सुनता है उसे श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं।

शंका — इसका विषय क्या है?

समाधान — शब्द इसका विषय है। जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है उस समय इन्द्रियोंके द्वारा द्रव्यका ही ग्रहण होता है। उससे भिन्न स्पर्शादिक कुछ भी नहीं हैं। इस विवक्षामें शब्दके कर्मसाधनपना बन जाता है। जैसे, शब्द्यते अर्थात् जो ध्वनिरूप हो वह शब्द है। तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद सिद्ध हो जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन किया जानेसे शब्द भावसाधन भी है। जैसे, शब्दनम् शब्दः, अर्थात् ध्वनिरूप क्रियाधर्मको शब्द कहते हैं।

[illegible]

रायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे पञ्चेन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां पञ्चानामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवतीति। नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानम्, 'एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति' इति भावसूत्रेण सह विरोधात्। ततः एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः, एषोऽर्थोऽत्र प्रधानः निरवद्यत्वात्।

न सन्तीन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः। के ते? अशरीराः सिद्धाः। उक्तं च—

ण वि इंदिय-करण-जुदा अवग्गहादीहि गाहया अत्थे।
णेव य इंदिय-सोक्खा अणिंदियाणंत-णाण-सुहा ॥ १४० ॥

तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियस्योपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रियास्त इति चेन्न, क्षयोपशमजनि

शंका—इन पांचों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कैसे होती है?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, आंगोपांग नामकर्मके आलम्बन होने पर, तथा पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर पांचों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। फिर भी वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियावरण आदिके क्षयोपशमसे एकेन्द्रिय आदि जीव होते हैं यह व्याख्यान यहां पर प्रधान नहीं है, क्योंकि, 'एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव होते हैं' भावानुगमके इस कथनसे पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है। इसलिये एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, यही अर्थ यहां पर प्रधान है, क्योंकि यह कथन निर्दोष है।

जिनके इन्द्रियां नहीं पाई जातीं हैं उन्हें अनिन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका—वे कौन हैं?

समाधान—शरीररहित सिद्ध अनिन्द्रिय हैं। कहा भी है—

वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं और अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं। उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, क्योंकि, उनका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय है ॥ १४० ॥

शंका—उन सिद्धोंमें भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, इसलिये वे इन्द्रियसहित हैं?

१ गो. जी. १७४

तस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति तस्य क्षायिकभावेनापसारितत्वात्।

एकेन्द्रियविकल्पप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदिया दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रिया द्विविधा, बादरा सूक्ष्मा इति। बादरशब्दः स्थूलपर्यायः स्थूलत्वं चानियतम्, ततो न ज्ञायते के स्थूला इति। चक्षुर्ग्राह्याश्चेत्, अचक्षुर्ग्राह्याणां स्थूलानां सूक्ष्मतोपपत्तेः। अचक्षुर्ग्राह्याणामपि बादरत्वे सूक्ष्मबादराणामविशेषः स्यादिति चेन्न, न बादरशब्दोऽयं स्थूलपर्यायः, अपि तु बादरनामकर्मणो वाचकः। तदुदयसहचरितत्वाज्जीवोऽपि बादरः। शरीरस्य स्थौल्यनिर्वर्तकं कर्म बादर

समाधान— नहीं, क्योंकि क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए उपयोगको इन्द्रिय कहते हैं। परन्तु जिनके संपूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं ऐसे सिद्धोंमें क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, क्योंकि, वह क्षायिक भावके द्वारा दूर कर दिया जाता है।

अब एकेन्द्रिय जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं, बादर और सूक्ष्म। बादर एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं।

शंका— बादर शब्द स्थूलका पर्यायवाची है और [illegible]

[illegible]

समाधान— [illegible]

[illegible]

मुच्यते । सौक्ष्म्यनिर्वर्तकं कर्म सूक्ष्मम् । तथापि चक्षुषोऽग्राह्यं सूक्ष्मशरीरम्, तद्ग्राह्यं बादरमिति तद्वतां तद्व्यपदेशो हठादाक्रन्देत् । ततश्चक्षुर्ग्राह्या बादराः, अचक्षुर्ग्राह्याः सूक्ष्मा इति तेषामेताभ्यामेव भेदः समापतत्यन्यथा तेषामविशेषतापत्तेरिति चेन्न, स्थूलाश्च भवन्ति चक्षुर्ग्राह्याश्च न भवन्ति, को विरोधः स्यात् ? सूक्ष्मजीवशरीरादसंख्येयगुणं शरीरं बादरम्, तद्वन्तो जीवाश्च बादराः । ततोऽसंख्येयगुणहीनं शरीरं सूक्ष्मम्, तद्वन्तो जीवाश्च सूक्ष्मा उपचारादित्यपि कल्पना न साध्वी, सर्वजघन्यबादरशरीरात्सूक्ष्मकर्मनिर्वर्तितस्य सूक्ष्मशरीरस्यासंख्येयगुणत्वतोऽनेकान्तात् । ततो बादरकर्मोदयवन्तो बादराः, सूक्ष्मकर्मोदयवन्तः सूक्ष्मा इति सिद्धम् । कोऽनयोः कर्मणोरुदययोर्भेदश्चेन्मूर्तैरन्यैः प्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तको बादरकर्मोदयः, अप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकः सूक्ष्मकर्मोदय इति तयोर्भेदः । सूक्ष्मता

वह सूक्ष्म शरीर है, और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह बादर शरीर है, अतः सूक्ष्म और बादर कर्मके उदयवाले सूक्ष्म और बादर शरीरसे युक्त जीवोंको सूक्ष्म और बादर संज्ञा हठात् प्राप्त हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो चक्षुसे ग्राह्य हैं वे बादर हैं, और जो चक्षुसे अग्राह्य हैं वे सूक्ष्म हैं। सूक्ष्म और बादर जीवोंके इन उपर्युक्त लक्षणोंसे ही भेद प्राप्त हो गया। यदि उपर्युक्त लक्षण न माने जाय, तो सूक्ष्म और बादरोंमें कोई भेद नहीं रह जाता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्थूल तो हों और चक्षुसे ग्रहण करने योग्य न हों, इस कथनमें क्या विरोध है।

शंका—सूक्ष्म शरीरसे असंख्यातगुणी अधिक अवगाहनावाले शरीरको बादर कहते हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे बादर जीव कहते हैं। अथवा, बादर शरीरसे असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले शरीरको सूक्ष्म कहते हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे सूक्ष्म जीव कहते हैं?

समाधान—यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सबसे जघन्य बादर शरीरसे सूक्ष्म नामकर्मके द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीरकी अवगाहना असंख्यातगुणी होनेसे उपर्युक्त कथनमें अनेकान्त दोष आता है। इसलिये जिन जीवोंके बादर नामकर्मका उदय पाया जाता है वे बादर हैं और जिनके सूक्ष्म नामकर्मका उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका—सूक्ष्म नामकर्मके उदय और बादर नामकर्मके उदयमें क्या भेद है?

समाधान—बादर नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंसे आघात करने योग्य शरीरको

[illegible]

स्सूक्ष्मजीवानां शरीरस्य येन मूर्तद्रव्यैरभिहन्यते ततो न तत्प्रतिघातः सूक्ष्मकर्मणो विपाका-दिति चेन्न, अन्यैरप्रतिहन्यमानत्वेन प्रतिलब्धसूक्ष्मव्यपदेशभाजः सूक्ष्मशरीरादसंख्येय-गुणहीनस्य बादरकर्मोदयतः प्राप्तबादरव्यपदेशस्य सूक्ष्मत्वं प्रत्यविशेषतोऽप्रतिघातत्वापत्तेः । अस्तु चेन्न, सूक्ष्मबादरकर्मोदययोरविशेषतापत्तेः । सूक्ष्मशरीरोत्पादकं सूक्ष्मकर्मोदयश्चेन्न, तस्मादप्यसंख्येयगुणहीनस्य बादरकर्मनिर्वर्तितस्य शरीरस्योपलम्भात् । तत्कुतोऽवसीयत इति चेद्वेदनाक्षेत्रविधानसूत्रात् । तद्यथा —

‘सव्वत्थोवा सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा । सुहुमवाउ-सुहुमतेउ-सुहुमआउ-सुहुमपुढवि-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ।

उत्पन्न करता है। और सूक्ष्म नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है। यही उन दोनोंमें भेद है।

शंका — सूक्ष्म जीवोंका शरीर सूक्ष्म होनेसे ही अन्य मूर्त द्रव्योंके द्वारा आघातको प्राप्त नहीं होता है, इसलिये मूर्त द्रव्योंके साथ प्रतिघातका नहीं होना सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे नहीं मानना चाहिये ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघातको नहीं प्राप्त होनेसे सूक्ष्म संज्ञाको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म शरीरसे असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले, और बादर नामकर्मके उदयसे बादर संज्ञाको प्राप्त होनेवाले बादर शरीरकी सूक्ष्मताके प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होगा ऐसी आपत्ति आजायगी।

शंका — आजाने दो ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर सूक्ष्म और बादर नामकर्मके उदयमें फिर कोई विशेषता नहीं रह जायगी।

शंका — सूक्ष्म नामकर्मका उदय सूक्ष्म शरीरको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उन दोनोंके उदयमें भेद है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म शरीरसे भी असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले और बादर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए बादर शरीरकी उपलब्धि होती है।

शंका — यह कैसे जाना ?

समाधान — वेदना नामक चौथे खण्डमें क्षेत्रानुयोगद्वारके विधान सूत्रसे जाना जाता है। वह इसप्रकार है —

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना सबसे स्तोक (कम) है। सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म अग्निकायिक, सूक्ष्म जलकायिक और सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे

बादरवाउ-बादरतेउ-बादरआउ-बादरपुढवि-बादरणिगोदजीव-[1]बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । सुहुमणिगोदपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । सुहुमवाउकाइय-सुहुमतेउकाइय-सुहुमआउकाइय-सुहुमपुढविकाइय-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । बादरवाउकाइय-बादरतेउकाइय-बादरआउकाइय-बादरपुढविकाइय-बादरणिगोदजीव-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । [1]बादरवणप्फदिकाइयपत्तेय-

उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे बादर वायुकायिक, बादर अग्निकायिक, बादर जलकायिक, बादर पृथिवीकायिक, बादर निगोद और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इसीतरह सूक्ष्म वायुकायिकसे सूक्ष्म अग्निकायिक, उससे सूक्ष्म जलकायिक, उससे सूक्ष्म पृथिवीकायिकसंबन्धी प्रत्येककी क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसंबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझ लेना चाहिये । इसीतरह सूक्ष्मपृथिवीकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे बादर वायुकायिक, उससे बादर अग्निकायिक, उससे बादर जलकायिक, उससे बादर पृथिवीकायिक, उससे बादर निगोद जीव और उससे निगोदप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिकसंबन्धी प्रत्येककी क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसंबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझना चाहिये । सप्रतिष्ठित प्रत्येकका उत्कृष्ट

[1] [illegible]
[illegible]

सरीरपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। बेइंदिय-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा संखेज्जगुणा। तेइंदिय-चउरिंदिय-बेइंदिय-बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-पंचिंदिय-अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा संखेज्जगुणा। तस्सेव पज्जत्तयस्स वि संखेज्जगुणा' त्ति।

परमूर्तद्रव्यैरप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मकर्म। तद्विपरीतशरीरनिर्वर्तकं बादरकर्मेति स्थितम्। तत्र बादराः सूक्ष्माश्च द्विविधाः, पर्याप्ता अपर्याप्ता इति। पर्याप्त

अवगाहनासे बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। इससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। इससे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है। पंचेन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय द्वीन्द्रिय, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर और पंचेन्द्रिय अपर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है। पंचेन्द्रिय अपर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहनासे त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर और पंचेन्द्रिय पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है।

इस उपर्युक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होता है ऐसे शरीरको निर्माण करनेवाला सूक्ष्म नामकर्म है, और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघातको प्राप्त होनेवाले शरीरको निर्माण करनेवाला बादर नामकर्म है।

विशेषार्थ — ऊपर जो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे लेकर पंचेन्द्रिय पर्याप्ततक जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहनाका क्रम बतला आये हैं, उसे देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म जीवोंकी मध्यम अवगाहना बादरोंसे भी अधिक होती है। इसलिये यहां छोटी बड़ी अवगाहनासे स्थूलता और सूक्ष्मता न मानकर स्थूल और सूक्ष्म कर्मके उदयसे प्रतिघात और अप्रतिघातवाले शरीरको बादर और सूक्ष्म कहते हैं। तथा ऊपर जो वेदनाखण्डके सूत्र उद्धृत किये हैं उनमें सप्रतिष्ठित बादर वनस्पतिसे अप्रतिष्ठित बादर वनस्पतिका स्थान स्वतन्त्र माना है। फिर भी यहां 'सव्वत्थोवा' इत्यादि उद्धृत सूत्रमें सप्रतिष्ठितके स्थानको अप्रतिष्ठितके स्थानमें गर्भित करके सप्रतिष्ठित वनस्पतिका स्वतन्त्र स्थान नहीं बतलाया है।

इनमें बादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रत्येक दो दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त।

[illegible]

कर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः। तदुत्पन्ननामनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्तनामकर्मोदयसहचाराद्वा। यदि पर्याप्तशब्दो निष्पत्तिवाचकः, कैस्ते निष्पन्ना इति चेत्पर्याप्तिभिः। कियत्यस्ता इति चेत्सामान्येन षड् भवन्ति, आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति।

तत्राहारपर्याप्तेरर्थ उच्यते। शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्धसम्बन्धतो मूर्तीभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति। तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः। सा च नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समयेनैकेनैवोपजायते आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावाच्छरीरोपादानप्रथमसमयात्प्रभृत्यन्तर्मुहूर्ते

उनमेंसे जो पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त हैं उन्हें पर्याप्त कहते हैं।

शंका — पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तब तक उन्हें पर्याप्त कैसे कह सकते हैं?

समाधान — नहीं, क्योंकि, नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके, होनेवाले कार्यमें यह कार्य हो गया, इसप्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा करनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है।

शंका — यदि पर्याप्त शब्द निष्पत्तिवाचक है तो यह बतलाइये कि वे पर्याप्त जीव किनसे निष्पन्न होते हैं?

समाधान — पर्याप्तियोंसे निष्पन्न होते हैं।

शंका — वे पर्याप्तियां कितनी हैं?

समाधान — सामान्यसे छह हैं, आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापानपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। इनमेंसे पहले आहारपर्याप्तिका अर्थ कहते हैं। शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए हैं, और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमें स्थित हैं ऐसे पुद्गलविपाकी आहारवर्गणासम्बन्धी पुद्गलस्कन्ध कर्मस्कन्धके सम्बन्धसे कथंचित् मूर्तपनेको प्राप्त हुए आत्माके साथ समवायरूपसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, उन खल भाग और रस भागके भेदसे परिणमन करानेरूप शक्तिसे बने हुए आगत पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको आहारपर्याप्ति कहते हैं। वह अन्तर्मुहूर्तके बिना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि, आत्माका एकसाथ अक्रमसे आहारपर्याप्तिरूप परिणमन नहीं हो सकता है। इसलिये शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमें आहारपर्याप्ति निष्पन्न होती है। [illegible]

आहारपर्याप्तिर्निष्पद्यते इति यावत्। तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणामशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः शरीरपर्याप्तिः। साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते। योग्य-देशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः। सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थ-विषयविज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणाभावात्। उच्छ्वासनिःसरणशक्तेर्निष्पत्तिनिमित्त-पुद्गलप्रचयावाप्तिरानापानपर्याप्तिः। एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत्। भाषा-वर्गणायाः स्कन्धाच्चतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषा-पर्याप्तिः। एषापि पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनु-भूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः द्रव्यमनोऽवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्ति-र्मनःपर्याप्तिर्वा। एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात्।

समान उस खलभागको हड्डी आदि कठिन अवयवरूपसे और तिलके तेलके समान रसभागको रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयवरूपसे परिणमन करनेवाले औदारिक आदि तीन शरीरोंकी शक्तिसे युक्त पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं। यह शरीर पर्याप्ति आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। योग्य देशमें स्थित रूपादिसे युक्त पदार्थोंके ग्रहण करनेरूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। परन्तु इन्द्रिय पर्याप्तिके पूर्ण हो जाने पर भी उसी समय बाह्य पदार्थसंबन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, उस समय उसके उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है। उच्छ्वास और निःश्वासरूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको आनापान पर्याप्ति कहते हैं। यह पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्तिके अनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर पूर्ण होती। भाषावर्गणाके स्कन्धोंके निमित्तसे चार प्रकारकी भाषारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नोकर्म पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको भाषा पर्याप्ति कहते हैं। यह पर्याप्ति भी आनापान पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे निष्पन्न पुद्गलप्रचयको मन पर्याप्ति कहते हैं। अथवा, द्रव्यमनके आलम्बनसे अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मन पर्याप्ति कहते हैं। इन छहों पर्याप्तियोंका प्रारम्भ युगपत्

१ आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते ××× आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तो विग्रहगतावुपपाद-क्षेत्रमागतोऽपि अपर्याप्तकस्य प्रथमसमये आहारकत्वात्। तत एकसमयादूर्ध्वं अपर्याप्तनिर्वृत्तिः। त. सू. १७ टी.

२ गो. जी. गा. ११९. त. सू. ७ अनयोर्गाथा विशदार्थप्रसाराय द्रष्टव्या।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पर्याप्तिप्राणानां नाम्नि विप्रतिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्, पर्याप्तिष्वायुषोऽसत्त्वान्मनोवागुच्छ्वासप्राणानामपर्याप्तकालेऽसत्त्वाच्च तयोर्भेदात्। तत्पर्याप्तयोऽप्यपर्याप्तकाले न सन्तीति तत्र तदसत्त्वमिति चेन्न, अपर्याप्तरूपेण तत्र तासां सत्त्वात्। किमपर्याप्तरूपमिति चेत्, पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः, ततोऽस्ति तेषां भेद इति। अथवा जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतवः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः।

एकेन्द्रियाणां भेदमभिधाय साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां भेदमभिधातुकाम उत्तरसूत्रमाह —

८, उसीप्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवमें जीवितपनेका व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं ॥ १४१ ॥

शंका — पर्याप्ति और प्राणके नाममें अर्थात् कहनेमात्रमें विवाद है, वस्तुमें कोई विवाद नहीं है, इसलिये दोनोंका तात्पर्य एक ही मानना चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, कार्य और कारणके भेदसे उन दोनोंमें भेद पाया जाता है। तथा पर्याप्तियोंमें आयुका सद्भाव नहीं होनेसे और मनोबल, वचनबल, तथा उच्छ्वास इन प्राणोंके अपर्याप्त अवस्थामें नहीं पाये जानेसे पर्याप्ति और प्राणमें भेद समझना चाहिये।

शंका — वे पर्याप्तियां भी अपर्याप्त कालमें नहीं पाई जाती हैं, इसलिये अपर्याप्त कालमें उनका सद्भाव नहीं रहेगा?

समाधान — नहीं, क्योंकि अपर्याप्त कालमें अपर्याप्तरूपसे उनका सद्भाव पाया जाता है।

शंका — अपर्याप्तरूप इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान — पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं, इसलिये पर्याप्ति अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है। अथवा, इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनके कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादिरूप शक्तिकी पूर्णतामात्रको पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवनके कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। इसप्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये।

इसप्रकार एकेन्द्रियोंके भेदोंका कथन करके अब द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भेदोंका

बीइंदिया दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता। तीइंदिया दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। चउरिंदिया दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। पंचिंदिया दुविहा सण्णी असण्णी। सण्णी दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। असण्णी दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ३५ ॥

[illegible] उक्तार्था इति पुनरुक्तभयात् पुनस्तेषां नेहार्थ उच्यते। अथ [illegible] [illegible] कथमवगम्यते इति चेन्न, आर्षात्तदवगतेः। [illegible]

[illegible] ॥ १४२ ॥

[illegible] उच्यते। स्पर्शनमेकमेव [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] चतुरिन्द्रियाणाम् [illegible] पञ्चेन्द्रियाणामिति। अथवा [illegible]

[illegible] है

[illegible] पर्याप्तक और अपर्याप्तक। [illegible] पर्याप्तक और अपर्याप्तक। [illegible] [illegible] पर्याप्तक और [illegible] पर्याप्तक और अपर्याप्तक ॥ ३५ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि' इति अस्मात्सूत्रार्थसूत्रादवसीयते। अस्यार्थ उच्यते। एकैकं वृद्धं येषां तानीमानि एकैकवृद्धानि। 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इत्येतस्मात्सूत्रात्स्पर्शनमित्यनुवर्तते। तत एवमभिसम्बध्यते, स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमरादीनाम्, तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनामिति'।

समनस्काः संज्ञिन इति। मनो द्विविधम्, द्रव्यमनो भावमन इति। तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः'। वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः। तत्र भावेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाल एव सत्त्वादपर्याप्त-कालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्य

भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि' इस सूत्रसे यह जाना जाता है कि किस जीवके कितनी इन्द्रियां होती हैं। अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—

एक एक इन्द्रियका बढ़ता हुआ क्रम जिन इन्द्रियोंका पाया जाये उन्हें एक एक इन्द्रियसे बढ़ते हुए क्रमरूप पांच इन्द्रियां होती हैं। 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमेंसे स्पर्शन पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिये कि कृमि आदि द्वीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शनके साथ रसना इन्द्रिय और अधिक होती है। पिपीलिका आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसनाके साथ घ्राण इन्द्रिय और अधिक होती है। भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राणके साथ चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है। मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुके साथ श्रोत्र इन्द्रिय और अधिक होती है।

मनसहित जीवोंको संज्ञी कहते हैं। मन दो प्रकारका है, द्रव्यमन और भावमन। उनमें पुद्गलविपाकी आंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्यमन है। तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप आत्मामें जो विशुद्धि पैदा होती है वह भावमन है।

शंका—जीवके नवीन भवको धारण करनेके समय ही भावेन्द्रियोंके सद्

१ त. सू. २, २३.
२ [illegible] त. रा. वा. २, २३. ४ [illegible]
३ स. सि. २, ११। त. रा. वा. २, ११. [illegible]
[illegible]
२, ११। त. रा. वा. २, ११.
४ स. सि. २, ११। [illegible]
[illegible]। स. सि. २, ११। त. रा. वा. २, [illegible]

द्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्य सत्त्वप्रसङ्गात्। पर्याप्तिनिरूपणात्तदस्तित्वं सिद्ध्येदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तौ पर्याप्तिव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्तिनिरूपणोपपत्तेः। न बाह्यार्थस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वं योग्यस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राक् सत्त्वविरोधात्। ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वानिरूपणमिति सिद्धम्। मनस इन्द्रियव्यपदेशः किमिति कृतो न इति चेन्न, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते। न च मनस उपयोगोपकरणमस्ति। द्रव्यमन उपयोगोपकरणमस्ती

[illegible] भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिये जिसप्रकार अपर्याप्त कालमें भावेन्द्रियोंका सद्भाव कहा जाता है उसीप्रकार वहां पर भावमनका सद्भाव क्यों नहीं कहा?

समाधान — नहीं, क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य वस्तुभूत द्रव्यके अपर्याप्तरूप अवस्थामें अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रसंग आ जायगा।

शंका — पर्याप्तिके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा?

समाधान — नहीं, क्योंकि बाह्यार्थकी स्मरणशक्तिकी पूर्णतामें ही पर्याप्ति इस प्रकारका व्यवहार मान लेने पर द्रव्यमनके अभावमें भी मन पर्याप्तिका निरूपण बन जाता है। बाह्य पदार्थोंकी स्मरणरूप शक्तिके पहले द्रव्यमनका सद्भाव बन जाता, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्यमनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमें विरोध आता है। अतः अपर्याप्तरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका ज्ञापक है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

शंका — मनको इन्द्रिय संज्ञा क्यों नहीं दी गई?

समाधान — नहीं, क्योंकि इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं। [illegible]

शंका — [illegible]?

चेन्न, शेषेन्द्रियाणामिव बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावतस्तस्येन्द्रलिङ्गत्वानुपपत्तेः । अथ स्याद्यथा लोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः समुपलभ्यमानं रूपज्ञानं समनस्केषूपलभ्यते तस्य रूपममनस्कानां विभाव इति नैष दोषः, भिन्नजातित्वात् ।

इन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्ताप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे ॥ ३६ ॥

एकस्मिन्नेवेति विशेषणं द्व्यादिसंख्यानिराकरणार्थम् । शेषगुणस्थाननिरसनार्थं मिथ्यादृष्ट्युपादानम् । एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जइ तं कथं घडदे ? ण, एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो । विरुद्धत्थाणं कथं दोण्हं पि सुत्तत्तणमिदि ण,

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार शेष इन्द्रियोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहण होता है उसप्रकार मनका नहीं होता है, इसलिये उसे इन्द्रका लिंग नहीं कह सकते हैं ।

शंका—पदार्थ प्रकाश, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप ज्ञान समनस्क जीवोंमें पाया जाता है, यह तो ठीक है । परन्तु अमनस्क जीवोंमें उस रूप ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके रूप ज्ञानसे अमनस्क जीवोंका रूप ज्ञान भिन्न जातीय है ।

अब इन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी निश्चित संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ३६ ॥

दो तीन आदि संख्याके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें एक पदका ग्रहण किया है । तथा अन्य गुणस्थानोंके निराकरण करनेके लिये मिथ्यादृष्टि पदका ग्रहण किया है ।

शंका—एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थान भी सुननेमें आता है, इसलिये यहां केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके कथन करनेसे वह कैसे बन सकता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस खण्डागम सूत्रमें एकेन्द्रियादिकोंके सासादन गुणस्थानका निषेध किया है ।

शंका—जब कि दोनों वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे [illegible]

[illegible]

दोण्हं एक्कदरस्स सुत्तत्तादो। दोण्हं मज्झे इदं सुत्तमिदं च ण भवदीदि कधं णव्वदि? उवदेसमंतरेण तदवगमाभावा दोण्हं पि संगहो कायव्वो। दोण्हं संगहं करेंता संसय-मिच्छाइट्ठी होंति त्ति तण्ण, सुत्तुद्दिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो। उत्तं च—

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो ॥ १४३ ॥ इदि।

पञ्चेन्द्रियप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

पंचिंदिया असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ ३७ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानसंख्यामप्रतिपाद्य किमिति असंज्ञिप्रभृतय पञ्चेन्द्रिया इति

सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किंतु उन दोनों वचनोंमेंसे किसी एक वचनको ही सूत्रपना प्राप्त हो सकता है।

शंका — दोनों वचनोंमें यह वचन सूत्ररूप है और यह नहीं यह कैसे जाना जाय?

समाधान — उपदेशके विना दोनोंमेंसे कौन वचन सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा सकता है, इसलिये दोनों वचनोंका संग्रह करना चाहिये।

शंका— दोनों वचनोंका संग्रह करनेवाला संशय मिथ्यादृष्टि हो जायगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संग्रह करनेवालेके 'यह सूत्रकथित ही है' इसप्रकारका श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है। कहा भी है—

सूत्रसे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव विपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयसे वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ॥ १४३ ॥

पचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

असंज्ञी पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक पचेन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३७ ॥

शंका— पचेन्द्रिय जीवोंमें गुणस्थानोंकी संख्याका प्रतिपादन नहीं करके असंज्ञी आदिक पचेन्द्रिय होते हैं, ऐसा क्यों कहा?

भणंति तस्मिन्नद्धिप्राप्तेण बारहचोद्दसभागा देसूणा उववादेण होंति, एवं पि वक्खाणं संतदव्वसुत्तसिद्धं ति वत्तव्वं। धवला अ. पृ. २६

१ गो. जी. २९

२ पञ्चेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति। स. सि. १. ८

चेदुच्यते। एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः। सत्यस्मिन् च केवलिनामपर्याप्तजीवानां च पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयः। निरवद्यत्वाद् व्याख्यानमिदं समाश्रयणीयम्। पञ्चेन्द्रियजातिरिति किम्? यस्याः पारापतादयो जातिविशेषाः समानप्रत्ययग्राह्याः सा पञ्चेन्द्रियजातिः पञ्चेन्द्रियक्षयोपशमस्य सहकारित्वमादधाना।

अतीन्द्रियजीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

तेण परमणिंदिया इदि ॥ ३८ ॥

तेनेति एकवचनं जातिनिबन्धनम्। परमुपर्यनिन्द्रियाः एकेन्द्रियादिजात्यतीताः सकलकर्मकलङ्कातीतत्वात्।

कायमार्गणाप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि ॥ ३९ ॥

शंका — तो फिर वह दूसरा कौनसा व्याख्यान है जिसे ठीक माना जाय?

समाधान — एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। इस व्याख्यानके अनुसार केवली और अपर्याप्त जीवोंके भी पंचेन्द्रिय जाति नामकर्मका उदय होता ही है। अतः यह व्याख्यान निर्दोष है। अतएव इसका आश्रय करना चाहिये।

शंका — पंचेन्द्रियजाति किसे कहते हैं?

समाधान — जिसके कबूतर आदि जाति विशेष 'ये पंचेन्द्रिय हैं' इसप्रकार समान प्रत्ययसे ग्रहण करने योग्य होते हैं और जिसमें पंचेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके सहकारीपनेकी अपेक्षा रहती है उसे पंचेन्द्रिय जाति कहते हैं।

अब अतीन्द्रिय जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

उन एकेन्द्रियादि जीवोंसे परे अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३८ ॥

सूत्रमें 'तेन' यह एक वचन जातिका सूचक है। 'पर' शब्दका अर्थ ऊपर है। जिससे यह अर्थ हुआ कि एकेन्द्रियादि जातिभेदोंसे रहित अनिन्द्रिय जीव होते हैं, क्योंकि, उनके संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं पाये जाते हैं।

अब कायमार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

कायानुवादकी अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और कायरहित जीव होते हैं ॥ ३९ ॥

अनुवदनमनुवादः। कायानामनुवादः कायानुवादः तेन कायानुवादेन। पृथिव्येव कायः पृथिवीकायः स एषामस्तीति पृथिवीकायिकाः। न कार्मणशरीरमात्रस्थितजीवानां पृथिवीकायत्वाभावः भाविनि भूतवदुपचारतस्तेषामपि तद्व्यपदेशोपपत्तेः। अथवा पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशीकृताः पृथिवीकायिकाः। एवमप्कायिकादीनामपि वाच्यम्। पृथिव्यादीनि कर्माण्यसिद्धानीति चेन्न, पृथिवीकायिकादिकार्यान्यथानुपपत्तितस्तदस्तित्वसिद्धेः। एते पञ्चापि स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयजनितविशेषत्वात्। स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, वायुतेजोऽम्भसां देशान्तरप्राप्तिदर्शनादस्थावरत्वप्रसङ्गात्। स्थानशीलाः स्थावरा इति व्युत्पत्तिमात्रमेव, नार्थः प्राधान्येनाश्रीयते गोशब्दवत्। त्रसनामकर्मोदयापा-

सूत्रके अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं। कायके अनुवादको कायानुवाद कहते हैं, उसकी अपेक्षा पृथिवीकायिक आदि जीव होते हैं। पृथिवीरूप शरीरको पृथिवी काय कहते हैं, वह जिनके पाया जाता है उन जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं। पृथिवी कायिकका इसप्रकार लक्षण करने पर कार्मण काययोगमें स्थित जीवोंके पृथिवीकायपना नहीं हो सकता है, यह बात नहीं है, क्योंकि, जिसप्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है उसमें यह हो चुका इसप्रकार उपचार किया जाता है, उसीप्रकार कार्मण काययोगमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके भी पृथिवीकायिक यह संज्ञा बन जाती है। अथवा जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयके वशवर्ती हैं उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं। इसीप्रकार जलकायिक आदि शब्दोंकी भी निरुक्ति कर लेना चाहिये।

शंका—पृथिवी आदि कर्म तो असिद्ध हैं, अर्थात् उनका सद्भाव किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि कार्योंका होना अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिये पृथिवी आदि नामकर्मोंके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है।

स्थावर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए विशेषताके कारण ये पांचों ही स्थावर कहलाते हैं।

शंका—स्थानशील अर्थात् ठहरना ही जिनका स्वभाव हो उन्हें स्थावर कहते हैं, ऐसी व्याख्याके अनुसार स्थावरोंका स्वरूप क्यों नहीं कहा?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा लक्षण मानने पर, वायुकायिक अग्निकायिक और जलकायिक जीवोंकी एक देशसे दूसरे देशमें गति देखी जानेसे उन्हें अस्थावरत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

स्थानशील स्थावर होते हैं, यह निरुक्ति व्युत्पत्तिमात्र ही है, इसमें गो शब्दकी

१ त. रा. वा. २, १२. २ नत्रात्र [illegible] । स. सि. २. १४

दितवृत्तयस्त्रसा । त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति चेन्न, गर्भाण्डजमूर्छित सुषुप्तेषु तदभावादत्रसत्वप्रसङ्गात् । ततो न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वम् । आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः इत्यनेनेदं व्याख्यानं विरुद्ध्यत इति चेन्न, जीवविपाकि त्रसपृथिवीकायिकादिकर्मोदयसहकायौदारिकशरीरोदयजनितशरीरस्यापि उपचारतस्तद्‌व्यपदेशार्हत्वाविरोधात् । त्रसस्थावरकायिकनामकर्मबन्धातीता अकायिकाः सिद्धाः । उक्तं च—

जह कंचणमग्गि-गयं मुंचइ किट्टेण[1] कालियाए य ।

तह काय-बंध मुक्का अकाइया ज्झाण-जोएण[2] ॥ १४४ ॥

पुढवि-काइयादीणं भेद-पदुप्पायणट्ठमुत्तर-सुत्तं भणइ—

व्युत्पत्तिकी तरह प्रधानतासे अर्थका ग्रहण नहीं है ।

त्रस नामकर्मके उदयसे जिन्होंने त्रसपर्यायको प्राप्त कर लिया है उन्हें त्रस कहते हैं ।

शंका—'त्रसी उद्वेगे' इस धातुसे त्रस शब्दकी सिद्धि हुई है, जिसका यह अर्थ होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं वे त्रस हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, गर्भमें स्थित, अण्डेमें बन्द, मूर्छित और सोते हुए जीवोंमें उक्त लक्षण घटित नहीं होनेसे उन्हें अत्रसत्वका प्रसंग आजायगा । इसलिये चलने और ठहरनेकी अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नहीं समझना चाहिये ।

शंका—आत्म प्रवृत्ति अर्थात् योगसे संचित हुए पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं, इस व्याख्यानसे पूर्वोक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसमें जीवविपाकी त्रस नामकर्म और पृथिवीकायिक आदि नामकर्मके उदयकी सहकारिता है ऐसे औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए शरीरको उपचारसे कायपना बन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

त्रस और स्थावर-कायिक नामकर्मके बन्धसे अतीत सिद्धोंको अकायिक कहते हैं । कहा भी है—

जिसप्रकार अग्निको प्राप्त हुआ सोना कीट और कालिमारूप बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके मलसे रहित हो जाता है, उसीप्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव काय और कर्मरूप बन्धसे मुक्त होकर कायरहित हो जाता है ॥ १४४ ॥

अब पृथिवीकायिकादि जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१ गो. जी. २०२. २ प्रतिषु 'किट्टेण' इति पाठः ।

३ गो. जी. २०३. ... [illegible] । जी. प्र. टी.

पुढविकाइया दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। आउकाइया दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। तेउकाइया दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। वाउकाइया दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ४० ॥

बादरनामकर्मोदयोपजनितविशेषा बादराः, सूक्ष्मनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः सूक्ष्माः। को विशेषश्चेत्? सप्रतिघाताप्रतिघातरूपः। पर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः पर्याप्ताः। अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः अपर्याप्ताः।

पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं, बादर और सूक्ष्म। बादर पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं, बादर और सूक्ष्म। बादर जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं, बादर और सूक्ष्म। बादर अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं, बादर और सूक्ष्म। बादर वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४० ॥

जिनमें बादर नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें बादर कहते हैं। तथा जिनमें सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें सूक्ष्म कहते हैं।

शंका—बादर और सूक्ष्ममें क्या विशेषता है?

समाधान—बादर प्रतिघात सहित होते हैं और सूक्ष्म प्रतिघात रहित होते हैं यही इन दोनोंमें विशेषता है। अर्थात् निमित्तके मिलनेपर बादर शरीरका प्रतिघात हो सकता है परंतु सूक्ष्मशरीरका कभी भी प्रतिघात नहीं होता है।

पर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंका अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण करनेरूप अवस्था विशेष प्रगट हो गया है उन्हें पर्याप्त कहते हैं। तथा अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंका शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करके मरनेरूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है उन्हें अपर्याप्त कहते हैं।

वनस्पतिकायिकभेदप्रतिपादनार्थमाह—

वणप्फइकाइया दुविहा, पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तेयसरीरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ४१ ॥

प्रत्येकं पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः खदिरादयो वनस्पतयः। पृथिवीकायादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात्। तर्हि तेषामपि प्रत्येकशरीरविशेषणं विधातव्यमिति चेन्न, तत्र वनस्पतिष्विव व्यवच्छेद्याभावात्। बादरसूक्ष्मोभयविशेषणाभावात्तदुभयत्वमनुगयस्य चाभावात्प्रत्येकशरीरवनस्पतीनामभाव

अब वनस्पतिकायिक जीवोंके भेद प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर। प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं, बादर और सूक्ष्म। बादर दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४१ ॥

जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक् पृथक् शरीर होता है उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं। जैसे, खैर आदि वनस्पति।

शंका—प्रत्येकशरीरका इसप्रकार लक्षण करने पर पृथिवीकाय आदि पांचों शरीरोंको भी प्रत्येकशरीर संज्ञा प्राप्त हो जायगी?

समाधान—यह आशंका कोई आपत्ति जनक नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकाय आदिको प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है।

शंका—तो फिर पृथिवीकाय आदिके साथ भी प्रत्येकशरीर विशेषण लगा देना चाहिये?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार वनस्पतियोंमें प्रत्येक वनस्पतिसे निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पाई जाती है, उसप्रकार पृथिवी आदिमें प्रत्येकशरीरसे निराकरण करने योग्य कोई भेद नहीं पाया जाता है, इसलिये पृथिवी आदिमें अलग विशेषण लगानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें बादर और सूक्ष्म ये विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये [illegible] अनुमान होता है कि [illegible] बादर और सूक्ष्म इन दोनों भेदोंसे रहित [illegible] नहीं पाया जाता है, इसलिये अनुभयरूप विशेषण [illegible] प्रत्येक वनस्पतिका [illegible] हो जायगा?

समापतेदिति चेन्न, बादरत्वेन सत्तामभावानुपपत्तेः । अनुक्तं कथमवगम्यत इति चेन्न, सत्त्वान्यथानुपपत्तितस्तत्सिद्धेः । सौक्ष्म्यविशिष्टस्यापि जीवसत्त्वस्यासंभवे समस्तीति नैकान्तिको हेतुरिति चेन्न, बादरा इति लक्षणमुत्सर्गरूपत्वादशेषप्राणिव्यापि । ततः प्रत्येकशरीरवनस्पतयो बादरा एव न सूक्ष्माः साधारणशरीरेष्विव उत्सर्गविधिबाधकाप बादरविधेरभावात् । तदुत्सर्गत्वं कथमवगम्यत इति चेन्न, प्रत्येकवनस्पतित्रसेषूभय विशेषणानुपादानान्न सूक्ष्मत्वमुत्सर्ग आर्षमन्तरेण प्रत्यक्षादिनानवगतेरप्रसिद्धस्य बादर त्वस्योत्सर्गत्वविरोधात् ।

साधारणं सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः । प्रतिनियतजीवप्रतिबद्धै

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वनस्पतिका बादररूपसे अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता है।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिको बादर नहीं कहा गया है फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका दूसरे रूपसे अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये बादररूपसे उसके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें यद्यपि सूक्ष्मताविशिष्ट जीवकी सत्ता असंभव है परन्तु सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूपसे उसकी भी सिद्धि हो सकती है, इसलिये यह सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूप हेतु अनैकान्तिक है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बादर यह लक्षण उत्सर्गरूप (व्यापक) होनेसे संपूर्ण प्राणियोंमें पाया जाता है। इसलिये प्रत्येक शरीर वनस्पति जीव बादर ही होते हैं सूक्ष्म नहीं क्योंकि जिसप्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्गविधिकी बाधक अपवादविधि पाई जाती है अर्थात् साधारण शरीरों में बादर भेदके अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है उसप्रकार प्रत्येक वनस्पतिमें अपवादविधि नहीं पाई जाती है अर्थात् उनमें सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें बादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है यह कैसे जाना जाय?

समाधान—नहीं क्योंकि प्रत्येक वनस्पति और त्रसोंमें बादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते हैं इसलिये सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता है। क्योंकि, आगमके बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सूक्ष्मत्वका ज्ञान नहीं होता है अतएव प्रत्यक्षादिसे अप्रसिद्ध सूक्ष्मको बादरकी तरह उत्सर्गरूप माननेमें विरोध आता है।

विशेषार्थ—बादरत्व पृथिवी, स्थावर और त्रसोंमें पाया जाता है परन्तु सूक्ष्मत्व प्रत्येक वनस्पति और त्रसोंमें नहीं पाया जाता है। इसलिये बादर उत्सर्ग विधि है, सूक्ष्मत्व नहीं।

जिन जीवोंका साधारण अर्थात् भिन्न भिन्न शरीर न होकर समानरूपसे एक शरीर पाया जाता है उन्हें साधारणशरीर जीव कहते हैं।

पुद्गलविपाकित्वादाहारवर्गणास्कन्धानां कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारि[illegible] भिन्नजीवफलदातृभिरेकं शरीरं निष्पाद्यते विरोधादिति चेन्न, पु[illegible] स्थितानामेकदेशानवस्थितानामिव समवेतजीवसमवेतानां तत्स्थाशेषप्राणिसम्बन्[illegible] दनं न विरुद्धं साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात्[illegible] कार्यमिति न निषद्धुं पार्यते सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात्। उक्तं च —

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥ १४५ ॥
जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
वक्कमदि जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥ १४६ ॥
एयणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ १४७ ॥

शंका — जीवोंसे अलग अलग बंधे हुए, पुद्गलविपाकी होनेसे आहार-[illegible] स्कन्धोंको शरीरके आकाररूपसे परिणमन करानेमें कारणरूप और भिन्न-भिन्न जीवोंको [illegible] भिन्न फल देनेवाले औदारिक कर्मस्कन्धोंके द्वारा अनेक जीवोंके एक शरीर कैसे उत्पन्न [illegible] जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, जो एकदेशमें अवस्थित हैं और जो एकदेशमें अवस्थि[illegible] तथा परस्पर संबद्ध जीवोंके साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहां पर स्थित संपूर्ण जी[illegible] संबन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते हैं इसमें कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि साधार[illegible] कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण ही होता है। कारणके अनुरूप ही कार्य होता है [illegible] इसका निषेध भी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह बात संपूर्ण नैयायिक [illegible] लोगोंमें प्रसिद्ध है। कहा भी है —

साधारण जीवोंका साधारण ही आहार होता है और साधारण ही श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होता है। इसप्रकार परमागममें साधारण जीवोंका साधारण लक्षण कहा है ॥ १४५ ॥

साधारण जीवोंमें जहां पर एक जीव मरण करता है वहां पर अनन्त जीवोंका मरण होता है। और जहां पर एक जीव उत्पन्न होता है वहां पर अनन्त जीवोंका उत्पाद होता है ॥ १४६ ॥

द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशि और संपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद-शरीरमें देखे गये हैं ॥ १४७ ॥

[illegible]

अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भाव-कलंक-सुपउरा णिगोद-वासं ण मुंचंति[1] ॥ १४८ ॥

ते तादृशाः सन्तीति कथमवगम्यत इति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । न हि प्रमाणप्रकाशितार्थावगतिः प्रमाणान्तरप्रकाशमपेक्षते स्वरूपविलोपप्रसङ्गात् । न चैतत्प्रामाण्यमसिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणस्यासिद्धत्वविरोधात् । बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयन्ते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् प्रत्येकशरीरवनस्पतिष्विति ब्रूमः । के ते ? स्नुगार्द्रकमूलकादयः ।

त्रसकायानां भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

नित्य निगोदमें ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं जिन्होंने त्रस जीवोंकी पर्याय अभीतक कभी नहीं पाई है, और जो भाव अर्थात् निगोद पर्यायके योग्य कषायके उदयसे उत्पन्न हुए दुर्लेश्यारूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहते हैं, इसलिये निगोद स्थानको कभी नहीं छोड़ते ॥ १४८ ॥

शंका—साधारण जीव उक्त लक्षणवाले होते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है। एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा प्रमाणके स्वरूपका अभाव प्राप्त हो जायगा। तथा आगमकी प्रमाणता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, जिसके बाधक प्रमाणोंकी असंभावना अच्छीतरह निश्चित है उसको असिद्ध माननेमें विरोध आता है। अर्थात् बाधक प्रमाणोंके अभावमें आगमकी प्रमाणताका निश्चय होता ही है।

शंका—बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति दूसरे आगमोंमें सुनी जाती है, उसका अन्तर्भाव वनस्पतिके किस भेदमें होगा ?

समाधान—प्रत्येकशरीर वनस्पतिमें उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं।

शंका—जो बादरनिगोदसे प्रतिष्ठित हैं वे कौन हैं ?

समाधान—थूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं।

अब त्रसकायिक जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सिद्धराशेर्वृद्धिदर्शनात् संसारिजीवराशेश्च हानिदर्शनात् कथं सर्वदा सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वं एकशरीरनिगोदजीवानाम् सर्वजीवराशेरनन्तगुणकालसमयसमूहस्य तदसंख्यातानन्तभागे गते सति संसारिजीवराशिक्षयस्य सिद्धराशिबहुत्वस्य च सुघटत्वात् ? इति चेन्न, केवलज्ञानदृष्ट्या केवलिभिः श्रुतज्ञानदृष्ट्या श्रुतकेवलिभिश्च सदा दृष्टस्य भव्यसंसारि-जीवराशेरक्षयस्यातिसूक्ष्मत्वात् बाधकविषयत्वाभावात् । प्रत्यक्षागमबाधितस्य च तर्कस्याप्रमाणत्वात् । गो. जी. टी.

१ गो. जी. १९७ नित्यनिगोदलक्षणमेतत् । xxx एतद्नित्यनिगोदविशेषणेन कदाचिदष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेषु अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु मुक्तिं गतेषु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभवं त्यक्त्वा चतुर्गतिभवं प्राप्नुवन्तीत्ययमर्थः प्रतिपादितो बोद्धव्यः । गो. जी. टी.

तसकाइया दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ४२ ॥

सुगमत्वान्नास्यार्थ उच्यते। किं त्रसाः सूक्ष्मा उत बादरा इति? बादरा [illegible] सूक्ष्माः। कुतः? [illegible]विधायकार्षाभावात्। बादरत्वविधायकार्षाभावे [illegible] इति चेन्न, उत्तरसूत्रतस्तत्सिद्धेः। के ते? पृथिवीकायादयो [illegible] [illegible]—

> पुढवी य सक्करा वालुगा य उवले सिलादि [illegible]।
> पुढवीमया [illegible] णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं ॥ १४२ ॥

त्रसकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४२ ॥

सुगम होनेसे इस सूत्रका अर्थ नहीं कहते हैं।

शंका — त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते हैं अथवा बादर?

समाधान — त्रस जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते।

शंका — यह कैसे जाना जाय?

समाधान — क्योंकि त्रस जीव सूक्ष्म होते हैं, इसप्रकार [illegible] कहनेवाला आगम [illegible] नहीं पाया जाता है।

शंका — त्रस जीव [illegible] बादरपनेका प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रमाण भी [illegible] [illegible] है फिर यह कैसे जाना जाय कि त्रस बादर ही होते हैं?

समाधान — नहीं [illegible], आगे आनेवाले सूत्रसे त्रस जीवोंका [illegible] [illegible] जाता है।

शंका — [illegible] कौन जीव कौनसे हैं?

समाधान — [illegible] पृथिवी [illegible], बालुका [illegible] और [illegible] [illegible] प्रकारके जीव [illegible] ॥ १४२ ॥

विशेषार्थ — [illegible] पृथिवीकायिक जीव [illegible] [illegible] पृथिवी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

ओसा य हिमो धूमरि हरदणु सुद्धोदगो घणोदो य ।
एदे दु आउकाया जीवा जिण सासणुद्दिट्ठा ॥ १५० ॥
इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी तहा अगणी ।
अण्णे वि एवमाई तेउकाया समुद्दिट्ठा ॥ १५१ ॥
वाउब्भामो उक्कलि मंडलि-गुंजा महा घणा य तणा ।
एदे दु वाउकाया जीवा जिण इह भणिदा' ॥ १५२ ॥
मूलग्ग-पोर-बीया कंदा तह खंध बीय-बीयरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ १५३॥

कर्कतनमणि, राजवर्तकरूप मणि, पुलकवर्णमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि चन्द्रकान्तमणि, वैडूर्यमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि गेरुवर्ण रुधिराक्षमणि चन्दनगन्धमणि, अनेक प्रकारका मरकतमणि पुष्पराज, नीलमणि और विद्रुमवर्णवाली मणि ये सब पृथिवीके भेद है, इसलिये इनके भेदसे पृथिवीकायिक जीव भी छत्तीस प्रकारके हो जाते है ॥ १४९ ॥

ओस, बर्फ, कुहरा स्थूल बिन्दुरूप जल, सूक्ष्म बिन्दुरूप जल, चन्द्रकान्तमणिसे उत्पन्न हुआ शुद्ध जल, झरना आदिसे उत्पन्न हुआ जल समुद्र, तालाब और घनवात आदिसे उत्पन्न हुआ घनोदक, अथवा हरदणु अर्थात् तालाब और समुद्र आदिसे उत्पन्न हुआ जल तथा घनोदक अर्थात् मेघ आदिसे उत्पन्न हुआ जल ये सब जिन शासनमें जलकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५० ॥

अंगार, ज्वाला अर्चि अर्थात् अग्निकिरण मुर्मुर अर्थात् भूसा अथवा कण्डाकी अग्नि, शुद्धाग्नि अर्थात् बिजली और सूर्यकान्त आदिसे उत्पन्न हुई अग्नि और धूमादिसहित सामान्य अग्नि, ये सब अग्निकायिक जीव कहे गये है ॥ १५१ ॥

सामान्य वायु उद्भ्राम अर्थात् घूमता हुआ ऊपर जानेवाला वायु (चक्रवात), उत्कलि अर्थात् नीचेकी ओर बहनेवाला या जलकी तरंगोंके साथ तरंगित होनेवाला वायु मण्डलि अर्थात् पृथिवीसे स्पर्श करके घूमता हुआ वायु गुंजा अर्थात् गुंजायमान वायु, महावात अर्थात् वृक्षादिकके भंगसे उत्पन्न होनेवाला वायु घनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव जिनेन्द्र भगवानने कहे है ॥ १५२ ॥

मूलबीज अग्रबीज पर्वबीज कन्दबीज स्कन्धबीज बीजरुह और सम्मूर्छिम ये सब

[illegible]

बिहि तीहि चउहि पंचहि सहिया जे इंदिएहि लोयम्हि ।
ते तसकाया जीवा णेया वीरोवएसेण ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिकादीनां स्वरूपमभिधाय साम्प्रतं तेषु गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे ॥ ४३ ॥

आह, आप्तागमपदार्थश्रद्धारहिता मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते। श्रद्धाभावश्च [illegible] परिज्ञानपूर्वकः। तथा च पृथिवीकायादीनामाप्तागमविषयपरिज्ञानोज्झितानां कथं मिथ्या [illegible]

वनस्पतिकाय सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येकके भेदसे दोनों प्रकारकी कही गई है ॥ १५३ ॥

लोकमें जो जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उन्हें वीर भगवानके उपदेशसे त्रसकायिक जीव जानना चाहिये ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिक आदि जीवोंके स्वरूपका कथन करके अब उनमें गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ४३ ॥

शंका— शंकाकार कहता है कि आप्त, आगम और पदार्थोंके श्रद्धानसे रहित जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं, और श्रद्धान करना [illegible]

[illegible]

इत्यत्रामिति नैष दोष, परिज्ञाननिरपेक्षमूढमिथ्यात्वस्य तत्राविरोधात् । अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानविरहितस्य मूढमाहितवैनयिकस्वाभाविकविपरीतमिथ्यात्वानां सप्तानामपि तत्र सम्भव समस्ति । अत्रत्यनीवानां सप्तविधमिथ्यात्वरन्ध्राङ्कितहृदयानामविनष्ट मिथ्यात्वपर्यायेण सह स्थावरत्वमुपगतानां तत्सत्त्वाविरोधात् । इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च सर्वे मिथ्यादृष्टय इत्यभाणि, ततस्तेनैव गतार्थत्वाद् एकभीदमिदं सूत्रमिति नैष दोष, पृथिवीकायादीनामपि एकेन्द्रियाणि भवन्ति न भवन्तीति अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नवादस्य सूत्रस्यावतारात् । प्रयत्नीप्रतिपाद्नार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥४४॥

त्रस प्रसनामकर्मोदयवशवर्तिन । ते पुन स्थावरा इति चदकान्त्रिया ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें परिज्ञानकी अपेक्षारहित मूढ मिथ्यात्वका सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अथवा तत्त्वार्थके श्रद्धानसे रहित मूढ व्युद्ग्राहित वैनयिक स्वाभाविक और विपरीत इन सातों प्रकारके मिथ्यात्वोंका भी उन पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें सद्भाव संभव है, क्योंकि, जिनका हृदय सात प्रकारके मिथ्यात्वरूपी कलंकसे अंकित है ऐसे मनुष्यादि गतिसंबन्धी जीव पहले ग्रहण की हुई मिथ्यात्व पर्यायको न छोड़कर जब स्थावर पर्यायको प्राप्त होते हैं तो उनके सातों ही प्रकारका मिथ्यात्व पाया जाता है, इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—इन्द्रियानुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय ये सब जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, इस कथन से यह बात ... इसलिये उसीसे यह ज्ञात हो जाता है कि पृथिवीकायिक आदि जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं। फिर इस सूत्रका पृथक् रूपसे बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पृथिवीकाय आदि जीवोंके इतनी इन्द्रिया होती हैं अथवा इतनी नहीं होती हैं, इसप्रकार जिस शिष्यको ज्ञान नहीं है अथवा जो भूल गया है उस शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे इस सूत्रका अवतार हुआ है।

अब त्रस जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

द्वीन्द्रिय आदि लेकर अयोगिकेवलीतक त्रस जीव होते हैं ॥४४॥

इन सब जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय पाया जाता है, इसलिये इन्हें त्रसकायिक कहते हैं।

शंका—... स्थावर और ... कहलाते हैं ?

समाधान—... इन जीवोंको ... कहलाते हैं।

कथमनुक्तमवगम्यते चेत्परिशेषात्। स्थावरकर्मणः किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्थापकत्वम्। तेजोवाय्वप्कायानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न, स्थास्नूनां प्रयोगतश्चलच्छिन्नपर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणाव्यतिरिक्तशरीरत्वात्तेषां गमनाविरोधात्।

बादरजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

बादरकाइया बादरेइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥४५॥

बादरः स्थूलः सप्रतिघातः कायो येषां ते बादरकायाः। पृथिवीकायिकादिषु वनस्पतिपर्यन्तेषु पूर्वमेव बादराः सूक्ष्माश्च सन्त्युक्तास्ततोऽत्र बादरैकेन्द्रियग्रहणमनर्थकमिति चेन्नानर्थकम्, प्रत्येकशरीरवनस्पत्युपादानार्थम्। तदुपादानात्प्रत्येकशरीर-

---

शंका—सूत्रमें एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर तो कहा नहीं है, फिर कैसे जाना जाय कि एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं?

समाधान—सूत्रमें जब द्वीन्द्रियादिक जीवोंको त्रसकायिक कहा है, तो परिशेष न्यायसे यह जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं।

शंका—स्थावरकर्मका क्या कार्य है?

समाधान—एक स्थान पर अवस्थित रखना स्थावरकर्मका कार्य है।

शंका—ऐसा मानने पर, गमन स्वभाववाले अग्निकायिक, वायुकायिक और जलकायिक जीवोंको अस्थावरपना प्राप्त हो जायगा?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार वृक्षमें लगे हुए पत्ते वायुसे हिला करते हैं और टूटने पर इधर उधर उड़ जाते हैं, उसीप्रकार अग्निकायिक और जलकायिकके प्रयोगसे गमन माननेमें कोई विरोध नहीं आता है। तथा वायुके गतिपर्यायसे परिणत शरीरको छोड़कर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है इसलिये उसके गमन करनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है।

अब बादर जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

बादर एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोगिकेवलीपर्यन्त जीव बादरकायिक होते हैं ॥४५॥

जिन जीवोंका शरीर बादर स्थूल अर्थात् प्रतिघातसहित होता है उन्हें बादरकाय कहते हैं।

शंका—पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंमें बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीवोंका सद्भाव पहले ही कह आये हैं, इसलिये इस सूत्रमें बादर एकेन्द्रिय पदका ग्रहण करना निष्फल है?

समाधान—अनर्थक नहीं है, क्योंकि, प्रत्येकशरीर वनस्पतिके ग्रहण करनेके लिये

वनस्पतिप्रभृतयो बादरा इति यावत्। न विधातव्यमेतेषां बादरत्वं प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति चेन्न, सौक्ष्म्याभावप्रतिपादनफलत्वात्।

द्विविधकायातीतजीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

तेण परमकाइया चेदि ॥ ४६ ॥

तेन द्विविधकायात्मकजीवराशेः परं बादरसूक्ष्मशरीरनिबन्धनकर्मातीतत्वतोऽशरीराः सिद्धाः अकायिकाः। जीवप्रदेशप्रचयात्मकत्वात्सिद्धा अपि सकाया इति चेन्न, तेषामनादिबन्धनबद्धजीवप्रदेशात्मकत्वात्। अनादिप्रचयोऽपि काय किन्न स्यादिति चेन्न, मूर्तानां पुद्गलानां कर्मनोकर्मपर्यायपरिणतानामादिसान्तप्रचयस्य कायत्वाभ्युपगमात्। 'इति'

बादर पदेन्द्रिय पद सूत्रमें ग्रहण किया गया है। इस पदके ग्रहण करनेसे प्रत्येकवनस्पति आदि सभी जीव बादर ही होते हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

शंका — इस सूत्रमें इन जीवोंके बादरपनेका कथन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये जीव बादर ही होते हैं यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है?

समाधान — नहीं, क्योंकि इन जीवोंके केवल बादरत्वके प्रतिपादन करनेके लिये यह सूत्र नहीं रचा गया है, किंतु इन जीवोंके सूक्ष्मताके अभावका प्रतिपादन करना ही इस सूत्रके बनानेका फल है।

अब त्रस और स्थावर इन दोनों कायोंसे रहित जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

स्थावर और बादरकायसे परे कायरहित अकायिक जीव होते हैं ॥ ४६ ॥

जो उस त्रस और स्थावररूप दो प्रकारकी कायराशिसे परे हैं वे सिद्ध जीव बादर और सूक्ष्म शरीरके कारणभूत कर्मसे रहित होनेके कारण अशरीर होते हैं, अतएव अकायिक कहलाते हैं।

शंका — जीवप्रदेशोंके प्रचयरूप होनेके कारण सिद्ध जीव भी सकाय हैं, फिर उन्हें अकाय क्यों कहा?

समाधान — नहीं, क्योंकि सिद्ध जीव अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे बद्ध जीवप्रदेशस्वरूप हैं, इसलिये उसकी अपेक्षा यहां कायपना नहीं लिया गया है।

शंका — अनादिकालीन आत्मप्रदेशोंके प्रचयको काय क्यों नहीं कहा?

समाधान — नहीं, क्योंकि, यहां पर कर्म और नोकर्मरूप पर्यायसे परिणत मूर्त पुद्गलोंके सादि और सान्त प्रचयको ही कायरूपसे स्वीकार किया है।

विशेषार्थ — यद्यपि पांच अस्तिकायोंमें सिद्ध जीवोंका भी ग्रहण हो जाता है। फिर भी यहां पर अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे बद्ध आत्मप्रदेशोंके प्रचयरूप कायकी

[illegible] स्यात्, [illegible] न 'च' शब्दस्य फलाभावादिति [illegible] [illegible] ।

[illegible] [illegible]माह—

जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि ॥ ४७ ॥

अत्र 'इति' शब्दः [illegible] । 'च' शब्दः [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] मनसा योगो मनोयोगः । अथ [illegible] [illegible] मनोयोगस्य [illegible] । न [illegible] [illegible] । [illegible]

[illegible] निमित्त [illegible] आदि [illegible] [illegible]

[illegible]

ज्ञानरूपत्वात् उपयोगान्तर्भावात् इति न, त्रितयविकल्पोक्तदोषाणामनभ्युपगमात्। कः पुनर्मनोयोग इति चेद्भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः। तथा वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः। कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः। त्रयाणां योगानां प्रवृत्तिरक्रमेण उत नेति? नाक्रमेण, त्रिष्वक्रमेणैकस्यात्मनो योगनिरोधात्। मनोवाक्कायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिर्दृष्टत्वात्, न तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिस्तथोपदेशाभावादिति। अथ स्यात्प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः, बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका, तथा च सिद्धो मनोयोगः शेषयोगाविनाभावीति न, कार्य

कोई क्रिया दिन रात रहता है इसलिये एक योगकी क्रियाके समय महायोग प्रमाण मानना पड़ेगा। किन्तु आगममें तो एक योगकी क्रियाके समय अन्यमुक्तरूप अधिक नहीं माना है। अतः क्रियासहित अवस्था भी योग नहीं हो सकता है। इसीप्रकार भावमनकी [illegible] होनेको भी मनोयोग नहीं कह सकते हैं क्योंकि भावमन ज्ञानरूप होनेके कारण उसका उपयोगमें अन्तर्भाव हो जाता है?

समाधान—इसप्रकार तीनों विकल्पोंके द्वारा दिये गये दोष प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, उन तीनों ही विकल्पोंको स्वीकार नहीं किया है।

शंका—तो फिर मनोयोगका क्या स्वरूप है?

समाधान—भावमनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं। उसीप्रकार वचनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और कायकी क्रियाकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं।

शंका—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं?

समाधान—युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् मानने पर योगनिरोधका प्रसंग आजायगा। अर्थात् किसी भी आत्माके योग नहीं बन सकेगा।

शंका—कहीं पर मन वचन और कायकी प्रवृत्तियां युगपत् देखी जाती हैं?

समाधान—यदि देखी जाती हैं तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ। परंतु इससे मन वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि, आगममें इसप्रकार उपदेश नहीं मिलता है।

विशेषार्थ—[illegible]

शंका—प्रयत्न तो [illegible] [illegible]

समाधान—[illegible] सकता है।

कारणपरिस्पन्दकाल समुत्पत्तिनिरोधात् । तदस्यास्तीति
वाग्योगी काययोगीति ।

योगातीतजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अजोगी चेदि ॥ ४८ ॥

न योगी अयोगी । उक्तं च—

जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्ण-पाव
ते होंति अजोइजिणा अणोवमाणंत-बल-कलिया

मनोयोगस्य सामान्यत एकविधस्य भेदप्रतिपादनार्थमु

मणजोगो चउव्विहो, सच्चमणजोगो मोस
मणजोगो असच्चमोसमणजोगो चेदि ॥ ४९ ॥

सत्यमवितथममोघमित्यनर्थान्तरम् । सत्ये मन सत्यमन
योग । तद्विपरीतो मोषमनोयोग । तदुभययोगात्सत्यमोषमनोयोग

यह मनोयोग जिसके या जिस जीवमें होता है उसे मनोयोगी
मनोयोग शब्दसे 'इन्' प्रत्यय कर देने पर मनोयोगी शब्द बन जाता है।
और काययोगी शब्द भी बन जाते हैं।

अब योग रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कह
अयोगी जीव होते हैं ॥ ४८ ॥

जिनके योग नहीं पाया जाता है वे अयोगी है। कहा भी है—

जिन जीवोंके पुण्य और पापके उत्पादक शुभ और अशुभ योग
हैं वे अनुपम और अनन्त-बल सहित अयोगीजिन कहलाते हैं ॥ १ ॥

सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारके मनोयोगके भेदोंके प्रतिपादन
आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग चार प्रकारका है सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग सत्यमृषाम
असत्यमृषामनोयोग ॥ ४९ ॥

सत्य, अवितथ और अमोघ, ये एकार्थवाची शब्द हैं। सत्यके विषयमें होन
सत्यमन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते
विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं। जो योग सत्य और मृषा इन दोनोंके संयोग
होता है उसे सत्यमृषामनोयोग कहते हैं। कहा भी है—

१ गो. जी. २४३ ... [illegible]
[illegible]

सब्भावो सच्चमणो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसं ति ॥ १५४ ॥

ताभ्यां सत्यमोषाभ्यां व्यतिरिक्तोऽसत्यमोषमनोयोगः । नद्रुभयसंयोगजोऽस्तु ? न, तस्य तृतीयभङ्गेऽन्तर्भावात् । कोऽसावनुभयो मनोयोग इति चेदुच्यते । समनस्केषु मनःपूर्विका वचसः प्रवृत्तिः अन्यथानुपलम्भात् । तत्र सत्यवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमनोयोगः । तथा मोषवचननिबन्धनमनसा योगो मोषमनोयोगः । उभयात्मकवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमोषमनोयोगः । त्रिविधवचनव्यतिरिक्तामन्त्रणादिवचननिबन्धनमनसा योगोऽसत्यमोषमनोयोगः । नायमर्थो मुख्यः, सकलमनसामव्यापकत्वात् । कः पुनर्निरवद्योऽर्थः ? यथावस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमनः । विपरीतमसत्यमनः ।

सद्भाव अर्थात् सत्यार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं और उससे जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं । उभयरूप योगको सत्यमृषामनोयोग जानो ॥ १५४ ॥

सत्यमनोयोग और मृषामनोयोगसे व्यतिरिक्त योगको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ।

शंका—तो असत्यमृषामनोयोग (अनुभय) उभयसंयोगज रहा आवे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उभयसंयोगजका तीसरे भेदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

शंका—तो फिर इनसे भिन्न चौथा अनुभय मनोयोग कौनसा है ?

समाधान—समनस्क जीवोंमें वचनप्रवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि, मनके बिना उनमें वचनप्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । इसलिये उन चारोंमेंसे सत्यवचननिमित्तक मनके निमित्तसे होनेवाले योगको सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य वचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको असत्यमनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा इन दोनोंरूप वचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको उभयमनोयोग कहते हैं । उक्त तीनों प्रकारके वचनोंसे भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभयरूप वचननिमित्तक मनसे होनेवाले योगको अनुभयमनोयोग कहते हैं । फिर भी उक्त प्रकारका कथन मुख्यार्थ नहीं है, क्योंकि, इसकी सम्पूर्ण मनके साथ व्याप्ति नहीं पाई जाती है । अर्थात् उक्त कथन उपचरित है, क्योंकि वचनकी सत्यादिकतासे मनमें सत्य आदिका उपचार किया गया है ।

शंका—तो फिर यहां पर निर्दोष अर्थ कौनसा लेना चाहिये

द्वयात्मकमुभयमनः। संशयानध्यवसायज्ञाननिबन्धनमसत्यमोषमनः इति। अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरन्तनोऽप्यर्थः समीचीन एव। उक्तं च —

ण य सच्च-मोस-जुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ॥ १५५ ॥

मनसो भेदमभिधाय साम्प्रतं गुणस्थानेषु तत्सत्त्वनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह —

मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ५० ॥

मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोगः क्व ? नैष दोषः, चतसृणां मनोव्यक्तीनां सामान्यस्य पञ्चमत्वोपपत्तेः। किं तत्सामान्यमिति चेन्मनसः सादृश्यम्। मनस

समाधान — जहां जिसप्रकारकी वस्तु विद्यमान हो, वहां उसीप्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं। इससे विपरीत मनको असत्यमन कहते हैं। सत्य और असत्य इन दोनोंरूप मनको उभयमन कहते हैं। तथा जो संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका कारण है उसे अनुभय मन कहते हैं। अथवा, मनमें सत्य, असत्य आदि वचनोंको उत्पन्न करनेरूप योग्यता है, उसकी अपेक्षासे सत्यवचनादिके निमित्तसे होनेके कारण जिसे पहले उपचार कह आये हैं वह कथन मुख्य भी है। कहा भी है —

जो मन सत्य और मृषासे युक्त नहीं होता है उसको असत्यमृषामन कहते हैं और उससे जो योग अर्थात् प्रयत्नविशेष होता है उसे असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ॥ १५५ ॥

मनोयोगके भेदोंका कथन करके अब गुणस्थानोंमें उनके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सामान्यसे मनोयोग और विशेषरूपसे सत्यमनोयोग तथा असत्यमृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं ॥ ५० ॥

शंका — चार मनोयोगोंके अतिरिक्त मनोयोग इस नामका पांचवां मनोयोग कहांसे आया ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त चार प्रकारके मनोयोगोंमें रहनेवाले सामान्य योगके पांचवीं संख्या बन जाती है।

शंका — वह सामान्य क्या है जो चार प्रकारके मनोयोगोंमें पाया जाता है ?

समाधान — यहां पर सामान्यसे मनकी सदृशताका ग्रहण करना चाहिये।

---

१ गो. जी. २२१

समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः । पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्तिरुपलभ्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्तप्रयत्नसम्बन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वात् ।

भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात् । नासत्यमोषमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र संशयानध्यवसाययोरभावादिति न, संशयानध्यवसायनिबन्धनवचनहेतुमनसोऽप्यसत्यमोषमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात् । किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्स्वार्थानन्त्याच्छ्रोतुरावरणक्षयोपशमातिशयाभावात् । तीर्थकरवचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम् । एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वतस्तस्य ध्वनेरनक्षरत्वा-

मनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

शंका — पूर्व प्रयोगसे प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है ?

समाधान — यदि प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है तो होने दो, क्योंकि उस मनसे होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहां पर विवक्षित नहीं है। किंतु मनके निमित्तसे जो परिस्पन्दरूप प्रयत्नविशेष होता है, वह यहां पर योगरूपसे विवक्षित है।

शंका — केवली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा आवे, क्योंकि, वहां पर वस्तुके यथार्थ ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है। परंतु उनके असत्यमोषमनोयोगका सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, वहां पर संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, संशय और अनध्यवसायके कारणरूप वचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है। अतः सयोगी जिनमें अनुभय मनके सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका — केवलीके वचन संशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं, इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान — केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है।

शंका — तीर्थंकरके वचन अनक्षररूप होनेके कारण ध्वनिरूप हैं, और इसलिये वे एकरूप हैं, और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इसप्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, केवलीके वचनमें 'स्यात्' इत्यादि रूपसे अनुभयरूप वचनका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये केवलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है।

सिद्धेः। साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकत्वेन तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, क्रमविशिष्टवर्णात्मकभूयःपङ्क्तिकदम्बकस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरोधात्। तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः। अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात्। भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात्। तेनात्मनो

शंका—केवलीकी ध्वनिको साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेष भाषारूप नहीं हो सकेंगे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, क्रमविशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तियोंके समुदायरूप और सर्व श्रोताओंमें प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवलीकी ध्वनि संपूर्ण भाषारूप होती है ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—जब कि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवलीके वचन इसी भाषारूप ही हैं, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका—केवलीके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिये उनके मन नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्यमनका सद्भाव पाया जाता है।

शंका—केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा आवे, परन्तु वहां पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान—द्रव्यमनके कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव भले ही रहा आवे, परन्तु द्रव्यमनके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि, द्रव्यमनकी वर्गणाओंके लानेके लिये होनेवाले प्रयत्नमें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उस मनके निमित्तसे जो आत्माका परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

१ [illegible]

योगे मनोयोगः। विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणक्षयोपशमाभावात्। असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्तेन समुत्पत्तिविधानात्।

शेषमनसोर्गुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ ५१ ॥

भवतु नाम क्षपकोपशमकानां सत्यस्यासत्यमोषस्य च मनसः नासत्यस्योभयस्य

शंका — केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको क्यों नहीं करता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है।

शंका — जब कि केवलीके यथार्थमें अर्थात् क्षायोपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उससे सत्य और अनुभय इन दो प्रकारके वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है।

अब शेष दो मनोयोगोंके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५१ ॥

शंका — क्षपक और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोगका सद्भाव

[illegible]

प्रमादविरोधित्वादिति न, रजोजुषां विपर्ययानध्यवसायाज्ञानकारणमनसः सत्त्वाविरोधात्। न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात्।

वाग्योगभेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ॥ ५२ ॥

चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तद्व्यपदेशं प्रतिलभन्ते तथा प्रतीयन्ते च। उक्तं च—

वचसो भेदमभिधाय गुणस्थानेषु तत्सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ५३ ॥

अनध्यवसायमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति मनोरहितकेवलिनां वचनाभावसंजननात्। विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्तिः। ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात्। भावे वा नाशेषेन्द्रियेभ्यो ज्ञानसमुत्पत्तिः मनसः समुत्पन्नत्वात्। नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात्। न चक्षुरादीनां सहकार्यपि प्रयत्नात्मसहकारिभ्य इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात्। समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न,

जीवोंकी भाषा और संज्ञी जीवोंकी आमन्त्रणी आदि भाषाएं इसके उदाहरण हैं ॥ १७ ॥

इसप्रकार वचनयोगके भेद कहकर अब गुणस्थानोंमें उसके सत्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभयवचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५३ ॥

शंका—अनुभयरूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभयवचन कहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है। ऐसी हालतमें मनरहित द्वीन्द्रियादिक जीवोंके अनुभयवचन कैसे हो सकते हैं?

समाधान—यह कोई एकान्त नहीं है कि संपूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं। यदि संपूर्ण वचनोंकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मनरहित केवलियोंके वचनोंका अभाव प्राप्त हो जायगा।

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंके मनके विना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके विना वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है। यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है तो संपूर्ण इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि, संपूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हो। अथवा, मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियोंमें रह भी तो नहीं सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानसज्ञानका दूसरी जगह सद्भाव माननेमें विरोध आता है। यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि, प्रयत्न और आत्माके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पाई जाती है।

शंका—समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है?

प्रमाद[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]—

वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ॥ ५२ ॥

[illegible] प्रतीयते च । उक्तं च—

[illegible] ॥ १५७ ॥

[illegible], परन्तु [illegible] अर्थात् असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, इन दोनों [illegible] अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका विरोधी है ? अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमादरहित होते हैं, इसलिये वहां असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग [illegible] है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मसे युक्त जीवके विपर्यय और अनध्यवसायरूप अज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। परन्तु इसके सम्बन्धसे क्षपक या उपशमक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोहकी पर्याय है।

अब वचनयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग चार प्रकारका है, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभयवचनयोग ॥ ५२ ॥

चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उन्हीं संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं और ऐसी प्रतीति भी होती है। कहा भी है—

दश प्रकारके सत्यवचनमें वचनवर्गणाके निमित्तसे जो योग होता है उसे सत्यवचनयोग कहते हैं। उससे विपरीत योगको मृषावचनयोग कहते हैं। सत्यमृषारूप वचनयोगको उभयवचनयोग कहते हैं ॥ १५६ ॥

जो न तो सत्य रूप है और न मृषारूप ही है वह असत्यमृषावचनयोग है। असंज्ञी

---

१ गो. जी. २२०

२ गो. जी. २२१

वाचो भेदमभिधाय गुणस्थानेषु तत्सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ५२ ॥

अनुभयसत्यमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति मनोरहितकेवलिनां वचनाभावप्रसंगात्। विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्तिः। ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात्। भावे वा नाशेषेन्द्रियेभ्यो ज्ञानसमुत्पत्तिः मनसः समुत्पन्नत्वात्। नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात्। न चक्षुरादीनां सहकार्यपि प्रयत्नात्मसहकारिभ्य इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात्। समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न,

जीवोंकी भाषा और सभी जीवोंकी आमन्त्रणी आदि भाषाएं इसके उदाहरण हैं ॥ १७ ॥

इसप्रकार वचनयोगके भेद कहकर अब गुणस्थानोंमें उसके सत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभयवचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५२ ॥

शंका—अनुभयरूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभयवचन कहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है। ऐसी हालतमें मनरहित द्वीन्द्रियादिक जीवोंके अनुभयवचन कैसे हो सकते हैं?

समाधान—यह कोई एकान्त नहीं है कि संपूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं। यदि संपूर्ण वचनोंकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मनरहित केवलियोंके वचनोंका अभाव प्राप्त हो जायगा।

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंके मनके विना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके विना वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है। यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है तो संपूर्ण इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि संपूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हो। अथवा, मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियोंमें रह भी तो नहीं सकता है, क्योंकि दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानसज्ञानका दूसरी जगह सद्भाव माननेमें विरोध आता है। यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि प्रयत्न और आत्माके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पाई जाती है।

शंका—समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है?

केवलज्ञानेन व्यभिचारात् । समनस्कानां यत्क्षायोपशमिकं ज्ञानं तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् । मनोयोगाद्वचनमुत्पद्यत इति प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति संज्ञां विधायोक्तत्वात् । कथं विकलेन्द्रियवचसोऽनुभयत्वमिति चेदनध्यवसायहेतुत्वात् । ध्वनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्तुरभिप्रायविषयाध्यवसायाभावस्य विवक्षितत्वात् ।

सत्यवचसो गुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह —

सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ५२ ॥

दशविधानामपि सत्यानामेतेषु गुणस्थानेषु सत्त्वस्य विरोधासिद्धेः तत्र भावि-

समाधान — नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है।

शंका — तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवोंके जो क्षायोपशमिक ज्ञान होता है वह मनोयोगसे होता है?

समाधान — यह कोई शंका नहीं, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है।

शंका — मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे घटित होगा?

समाधान — यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहां पर मानस ज्ञानकी 'मन' यह संज्ञा उपचारसे रखकर कथन किया है।

शंका — विकलेन्द्रियोंके वचनोंमें अनुभयपना कैसे आ सकता है?

समाधान — विकलेन्द्रियोंके वचन अनध्यवसायरूप ज्ञानके कारण हैं, इसलिये उन्हें अनुभयरूप कहा है।

शंका — उनके वचनोंमें ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है फिर उन्हें अनध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय?

समाधान — नहीं, क्योंकि, यहां पर अनध्यवसायसे वक्ताका अभिप्रायविषयक अध्यवसायका अभाव विवक्षित है।

अब सत्यवचनयोगका गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सत्यवचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५२ ॥

दशों ही प्रकारके सत्यवचनोंमें सत्त्वके तेरह गुणस्थानोंमें पाये जानेमें कोई विरोध

१ [illegible] गो. जी. २२१, २२२

ापि सत्त्वादिति ।

शेषवचसोः गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि ाव खीण कसाय-वीयराय छदुमत्था त्ति ॥ ५५ ॥

क्षीणकषायस्य वचनं कथमसत्यमिति चेन्न, असत्यनिबन्धनाज्ञानसत्त्वापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात् । तत एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति । वाक्संयमस्य क्षीणकषायस्य थ वाग्योगश्च, तदन्तर्जल्पस्य सत्त्वाविरोधात् ।

काययोगसंख्याप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो सत्तविहो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकाय ोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि ॥ ५६ ॥

औदारिकशरीरजनितवीर्याज्जीवप्रदेशपरिस्पन्दनिबन्धनप्रयत्नः औदारिककाययोगः ।

हीं आता है, इसलिये उनमें दोनों प्रकारके वचनयोग होते हैं ।

शेष वचनयोगोंके गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५५ ॥

शंका—जिसकी कषायें क्षीण हो गई हैं उस जीवके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्य वचनका कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थानतक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहां पर असत्य वचनके सद्भावका प्रतिपादन किया । और इसीलिये उभयसंयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थानतक होता है, इस कथनमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—वचनगुप्तिका पूरी तरहसे पालन करनेवाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कषायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब काययोगकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग सात प्रकारका है— औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग ॥ ५६ ॥

औदारिक शरीरद्वारा उत्पन्न हुई शक्तिसे [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ओगाहणा असंखेज्जगुणा त्ति ।' उक्तं च—

पुरु महदुदारुरालं एयट्ठो तं वियाण तम्हि भवं ।
ओरालियं ति वुत्तं ओरालियकायजोगो सो ॥ १६० ॥
ओरालियमुत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं ति ।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सजोगो सो ॥ १६१ ॥

अणिमादिविक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते । तत्र भवं वैक्रियिकम् । तदवष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियिककाययोगः । कार्मण-वैक्रियिकस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः वैक्रियिकमिश्रकाययोगः । उक्तं च—

विविहगुणइड्ढिजुत्तं विक्किरियं वा हु होइ वेगुव्वं ।
तिस्से भवं च णेयं वेगुव्वियकायजोगो सो ॥ १६२ ॥

द्रव्य-पर्यायोंकी अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है । कहा भी है—

पुरु, महत्, उदार और उराल, ये शब्द एकार्थवाचक हैं । उदारमें जो होता है उसे औदारिक कहते हैं और उसके निमित्तसे होनेवाले योगको औदारिककाययोग कहते हैं ॥ १६० ॥

औदारिकका अर्थ ऊपर कह आये हैं । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है, और उसके द्वारा होनेवाले संप्रयोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६१ ॥

अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंके विकारको विक्रिया कहते हैं । उसके योगसे पुद्गल भी 'विक्रिया' इस नामसे कहे जाते हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियिक कहते हैं । उस शरीरके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्दद्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियिककाययोग कहते हैं । कार्मण और वैक्रियिक स्कन्धोंके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जो परिस्पन्दके लिए प्रयत्न होता है उसे वैक्रियिकमिश्रकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त शरीरको वैक्रियिक अथवा विकुर्व कहते हैं

वेउव्वियमुत्तत्थं विजाण मिस्सं च अपरिपुण्णं ति ।
जो तेण संपजोगो वेउव्वियमिस्सजोगो सो[1] ॥ १६३ ॥

आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः । तेन आ
योगः आहारकाययोगः । कथमौदारिकस्कन्धसम्बद्धानां जीवावयवानां अन्
हस्तमात्रेण शङ्खधवलेन शुभसंस्थानेन योग इति चेन्नैष दोषः, अनादिबन्धन
मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः । तत एव
सङ्घटनमपि विरोधमास्कन्देत् । अथ स्याज्जीवस्य शरीरेण सम्बन्धकृदायुस्तयो
मरणम् । न च गलितायुषस्तस्मिन् शरीरे पुनरुत्पत्तिर्विरोधात् । ततो न तस्यौ
शरीरेण पुनः सङ्घटनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगो मरणं तयोः संयोगस्य

कहते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैक्रियिककाययोग कहते हैं ॥ १६२ ॥

वैक्रियिकका अर्थ पहले कह ही चुके हैं । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है
मिश्र कहलाता है । और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे वैक्रियिकमिश्रका
कहते हैं ॥ १६३ ॥

जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करता है, अर्थात् आत्मसात् क
उसे आहारकशरीर कहते हैं । और उस आहारकशरीरसे जो योग होता है उसे आ
काययोग कहते हैं ।

शंका—औदारिकस्कन्धोंसे संबन्ध रखनेवाले जीवप्रदेशोंका हस्तप्रमाण, शंखके
धवल वर्णवाले, और शुभ अर्थात् समचतुरस्र संस्थानसे युक्त अन्य शरीरके साथ कैसे स
हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके प्रदेश अनादिकालीन ब
बद्ध होनेके कारण मूर्त हैं, अतएव उनका मूर्त आहारकशरीरके साथ संबन्ध होनेमें
विरोध नहीं आता है । और इसीलिये उनका फिरसे औदारिक शरीरके साथ संघटन
भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है ।

शंका—जीवका शरीरके साथ संबन्ध करनेवाला आयुकर्म है, और जीव
शरीरका परस्परमें वियोग होना मरण है । इसलिये जिसकी आयु नष्ट हो गई है ऐसा जी
फिरसे उसी शरीरमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता
अतः जीवका औदारिक शरीरके साथ पुनः संघटन नहीं बन सकता है । अर्थात् एक
जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ संबन्ध हो जानेके पश्चात् पुनः उन प्रदेशोंका
औदारिक शरीरके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगमसे जीव और शरीरके वियोगको मरण

---

[1] गो. जी. २३४

प्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, पूर्वापूर्वानुपपत्त्यानन्तरभवनम्भ्युपायु स्वमता नयविल्लनानुतान पूर्वापरशरीराणामपि जीवानामुपलम्भात्। भवतु तयोर्विनिवरण पूर्वशरीरस्य वियोग एवेति चेन्न तु सर्वात्मना तयोर्वियोगो मरणं नैकदेशेन आगन्तुकदहन जीवावयवानां मरणानुपलम्भात् जीवितादिचिन्तनम् व्यभिचारात्। न पुनरस्मात् सर्वावयवैः पूर्वशरीरपरित्यागः समस्ति यतोऽस्य मरणं जायेत। न चैवमपि गमनागत तादिना प्रतिहन्यते शरीरस्थितेऽप्यत्मना स्थितं वा गृहमध्यादिकिमपरशरीरस्य। अस्माद् दारीरणत्कल्पते समुत्पन्नीयतेऽयं योग आहारमिश्रकाययोगः। उक्तं च —

कहा है। अन्यथा उनके सयोगका उत्पत्ति मानना पड़ेगा।

शंका — जाव और शरीरका संयोग उत्पत्ति कहा जाय इसमें क्या हानि है?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्वभवमें ग्रहण किये हुए आनुपूर्वक ग्रहण होने पर जि होन उक्त संयोग था आनुपूर्वको ... हुए [illegible] मुक्त होने पर भी जि होने पूर्व अथवा उत्तर इन दोनों शरीरोंमें [illegible] नहीं किया है ऐसे जीवोंकी उत्पत्ति पाई जाती है। इसलिये जीव और [illegible] उत्पत्ति नहीं कह सकते हैं।

शंका — उत्पत्ति इसप्रकारकी भले ही कहा जाय [illegible] शरीरके वियोगको ही मानना पड़ेगा?

समाधान — यह कहना ठीक है [illegible] जीव और [illegible] रूपसे वियोग ही मरण हो सकता है। उसका [illegible] वियोग मरण नहीं है [illegible] क्योंकि जिनके कुछ अवयव जीवप्रदेश संकुचित हो जाते हैं ऐसे जीवोंका भी मरण नहीं देखा जाता है। यदि एकदेश वियोगको भी मरण माना जावे [illegible] जिसका हाथ भग्न हो गया है उसके साथ व्यभिचार हो जायगा। इस प्रकार [illegible] शरीरको धारण करना इसके [illegible] (स. [illegible]) [illegible] नहीं है [illegible] आहारक [illegible] धारण करनेवाला [illegible]

विशेषार्थ — [illegible]

[illegible]

आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अत्थे सयस्स संदेहे ।
गत्ता केवलि-पासं तम्हा आहारको जोगो ॥ १६४ ॥
आहारयमुत्तत्थं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णं ति ।
जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सको जोगो ॥ १६५ ॥

विशेषार्थ—मिश्रयोग तीन हैं, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाययोग। इनमेंसे औदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यंचके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक और केवली समुद्घातकी कपाटद्वयरूप अवस्थामें होता है। वैक्रियिकमिश्र देव और नारकियोंके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्ततक होता है। आहारकमिश्र छठे गुणस्थानवर्ती जीवके आहारकसमुद्घात निकलते समय अपर्याप्त अवस्थामें होता है। इन तीनों मिश्रयोगोंमें केवल विवक्षित शरीरसम्बन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे आत्मप्रदेश परिस्पन्द नहीं होता है किंतु कार्मणशरीरके सम्बन्धसे युक्त होकर ही औदारिक आदि शरीरसम्बन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे योग होता है इसलिये इन्हें मिश्रयोग कहा है। परंतु इतना विशेष है कि गोम्मटसार जीवकाण्डकी टीकामें आहारकसमुद्घातके पहले होनेवाले औदारिकशरीरकी वर्गणाओंके मिश्रणसे आहारककायमिश्रयोग कहा है और यहां पर कार्मणकाययोगके मिश्रणसे आहारककायमिश्रयोग कहा है। इन दोनों कथनों पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोम्मटसारकी टीकाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगतक औदारिकशरीरसम्बन्धी वर्गणाएं भी आती रहती हैं और धवलाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगके प्रारम्भ होते ही औदारिकशरीरसम्बन्धी वर्गणाओंका आना बन्द हो जाता है। कहा भी है—

छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको सन्देह होने पर जिस शरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं, इसलिये उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं ॥ १६४ ॥

आहारकका अर्थ कह आये हैं। वह आहारकशरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक उसको आहारकमिश्र कहते हैं। और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे आहारकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६५ ॥

[illegible]

कर्मैव कार्मणं शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति यावत्। अथवा कर्मणि भवं [illegible] शरीर नामकर्मोदयजनितस्य कर्मणो ग्रहणम्। तेन योगः कार्मणकाययोगः। केवलेन [illegible] जनितवीर्येण सह योग इति यावत्। उक्तं च —

कम्मेव च कम्म भवं कम्मइयं तेण जो दु संजोगो।
कम्मइयकायजोगो इदि विग्गहगइ-समावण्णेसु ॥ १६९ ॥

का औदारिककाययोगः भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणु[illegible]स्साणं ॥ ५७ ॥

देवनारकाणां किमित्यौदारिकशरीरोदयो न भवेत् ? न, स्वाभाव्यात् [illegible]

कर्म ही कार्मणशरीर है, अर्थात् आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंको कार्मणशरीर कहते हैं। अथवा कर्मोंमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कार्मण शरीर कहते हैं। यहां पर [illegible] अवयवरूप कार्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये। उस शरीरके [illegible] उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर [illegible] विना केवल एक कर्मसे उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। कहा भी है —

ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंको ही कार्मणशरीर कहते हैं। अथवा जो कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे कार्मणशरीर कहते हैं और इसके द्वारा [illegible] होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं। यह योग [illegible] है अर्थात् [illegible] होता है ॥ १६९ ॥

औदारिककाययोग किसके होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं —

तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५७ ॥

शंका — देव और नारकियोंके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि स्वभावसे ही [illegible] औदारिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं [illegible]

आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स संदेहे ।
गत्ता केवलि-पासं तम्हा आहारगो जोगो ॥ १६४ ॥

आहारयमुत्तत्थं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णं ति ।
जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सओ जोगो ॥ १६५ ॥

विशेषार्थ—मिश्रयोग तीन हैं, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियकमिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाययोग। इनमेंसे औदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यंचके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक और केवली समुद्घातकी कपाटद्वयरूप अवस्थामें होता है। वैक्रियकमिश्र देव और नारकियोंके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्ततक होता है। आहारकमिश्र छटे गुणस्थानवर्ती जीवके आहारकसमुद्घात निकलते समय अपर्याप्त अवस्थामें होता है। इन तीनों मिश्रयोगोंमें केवल विवक्षित शरीरसंबन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे आत्मप्रदेश परिस्पन्दन नहीं होता है किंतु कार्मणशरीरके संबन्धसे युक्त होकर ही औदारिक आदि शरीरसंबन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे योग होता है, इसलिये इन्हें मिश्रयोग कहा है। परंतु इतना विशेष है कि गोम्मटसार जीवकाण्डकी टीकामें आहारकसमुद्घातके पहले होनेवाले औदारिक शरीरकी वर्गणाओंके मिश्रणसे आहारककायमिश्रयोग कहा है और यहां पर कार्मणस्कंधके मिश्रणसे आहारककायमिश्रयोग कहा है। इन दोनों कथनों पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोम्मटसारकी टीकाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगतक औदारिकशरीरसंबन्धी वर्गणाएं आती रहती हैं और धवलाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगके प्रारंभ होने हा औदारिकशरीरसंबन्धी वर्गणाओंका आना बन्द हो जाता है। कहा भी है—

छट्ठवें गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको संदेह होने पर जिस शरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं, इसलिये उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं ॥ १६४ ॥

आहारकका अर्थ कह आये हैं। यह आहारकशरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक उसको आहारकमिश्र कहते हैं। और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे आहारकमिश्र काययोग कहते हैं ॥ १६५ ॥

प्रदेशपरिस्पन्दः स आहारककायमिश्रयोगः । गो. जी., जी. प्र., टी. २४०.

१ ऋद्धिप्राप्तस्यापि प्रमत्तसंयतस्य श्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशममान्द्ये सति यदा धर्म्यध्यानविरोधी श्रुतार्थसंदेहः स्यात्तदा तत्संदेहविनाशार्थं च आहारकशरीरमुत्तिष्ठतीत्यर्थः । गो. जी., जी. प्र., टी. २३५.

२ गो. जी. २३९. णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे । परखेत्ते संवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥ उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं । सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥ गो. जी. २३६, २३७.

३ गो. जी. २४०.

कर्मैव कार्मणं शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति यावत्। अथवा कर्मणि भवं कार्मणं शरीर-नामकर्मावयवस्य कर्मणो ग्रहणम्। तेन योगः कार्मणकाययोगः। केवलेन कर्मणा जनितवीर्येण सह योग इति यावत्। उक्तं च —

> कम्मेव च कम्म-भवं कम्मइयं तेण जो दु संजोगो।
> कम्मइय-काय-जोगो एग-विग-तिगेसु समएसु ॥ १६६ ॥

क औदारिककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणुस्साणं ॥ ५७ ॥

देवनारकाणां किमित्यौदारिकशरीरोदयो न भवेत्? न, स्वाभाव्याद् देवनारक-

कर्म ही कार्मणशरीर है, अर्थात् आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंको कार्मणशरीर कहते हैं। अथवा, कर्ममें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कार्मण शरीर कहते हैं। यहां पर नामकर्मके अवयवरूप कार्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये। उस शरीरके निमित्तसे जो योग होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर-वर्गणाओंके बिना केवल एक कर्मसे उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। कहा भी है —

ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मस्कन्धको ही कार्मणशरीर कहते हैं। अथवा जो कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे कार्मणशरीर कहते हैं। और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं। यह योग एक, दो अथवा तीन समयतक होता है ॥ १६६ ॥

औदारिककाययोग किसके होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५७ ॥

शंका — देव और नारकियोंके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय क्यों नहीं होता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि स्वभावसे ही उनके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं

[illegible]

गतिकर्मोदयेन सह औदारिककर्मोदयस्य विरोधाद्वा । न च तिरश्चां मनुष्याणां चौदारिककाययोग एवेति नियमोऽस्ति तत्र कार्मणकाययोगादीनामभावापत्तेः । किन्तु औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्याणामेव ।

केषु वैक्रियककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेरइयाणं ॥ ५८ ॥

तिरश्चां मनुष्याणां च किमिति तदुदयो न भवेत्? न, तिर्यङ्मनुष्यगतिकर्मोदयेन सह वैक्रियकोदयस्य विरोधात्स्वभावाद्वा । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः अतिप्रसङ्गात् । तिर्यञ्चो मनुष्याश्च वैक्रियकशरीराः श्रूयन्ते तत्कथं घटत इति चेन्न, औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्

होता है। अथवा, देवगति और नरकगति नामकर्मके उदयके साथ औदारिकशरीर नामकर्मके उदयका विरोध है, इसलिये उनके औदारिकशरीरका उदय नहीं पाया जाता है। फिर भी तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिक और औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि, इस प्रकारके नियमके करने पर तिर्यंच और मनुष्योंमें कार्मणकाययोग आदिके अभावकी आपत्ति आ जायगी। इसलिये औदारिक और औदारिकमिश्र तिर्यंच और मनुष्योंके ही होता है ऐसा नियम जानना चाहिये।

वैक्रियक काययोग किन जीवोंके होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंके वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५८ ॥

शंका—तिर्यंच और मनुष्योंके इन दोनों योगोंका उदय क्यों नहीं होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यंचगति और मनुष्यगति कर्मोदयके साथ वैक्रियक नामकर्मके उदयका विरोध आता है। अथवा, तिर्यंच और मनुष्यगतिमें वैक्रियक नामकर्मका उदय नहीं होता है, यह स्वभाव ही है। और स्वभाव दूसरेके प्रश्नोंके योग्य नहीं होते हैं, अन्यथा, अतिप्रसंग दोष आ जायगा। इसलिये तिर्यंच और मनुष्योंके वैक्रियक और वैक्रियकमिश्रकाययोग नहीं होता है, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—तिर्यंच और मनुष्य भी वैक्रियकशरीरधारी सुने जाते हैं, इसलिये यह कैसे घटित होगा?

समाधान—नहीं, क्योंकि, औदारिकशरीर दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक। उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है, वह मनुष्य और तिर्यंच

क्रियत्वमिति तत्रोक्तं न तदत्र परिगृह्यते विविधगुणर्द्ध्यभावात्। अत्र विविधगुणर्द्ध्यात्मकं परिगृह्यते, तच्च देवनारकाणामेव।

आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजदाणमिड्ढिपत्ताणं ॥ ५९ ॥

आहारर्द्धिप्राप्ते किमु संयता ऋद्धिप्राप्ता उत वैक्रियकर्द्धिप्राप्तास्ते ऋद्धिप्राप्ता इति। किं चातः नाद्यः पक्ष आश्रयणयोग्यः इतरेतराश्रयदोषासञ्जनात्। कथम्? यावन्नाहारर्द्धिरुत्पद्यते न तावत्तेषामृद्धिप्राप्तत्वम्, यावन्नर्द्धिप्राप्तत्वं न तावत्तेषामाहारर्द्धिरिति। न द्वितीयविकल्पोऽपि ऋद्ध्यन्तराभावात्। भावे वा आहारशरीरवतां मनःपर्ययज्ञानमपि जायेत विशेषाभावात्। न चैवमार्षेण[1] सह विरोधादिति नाद्यपक्षोक्तदोष

वैक्रियकरूपसे कहा गया है। उसका यहां पर ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि, उसमें नाना गुण और ऋद्धियोंका अभाव है। यहां पर नाना गुण और ऋद्धियुक्त वैक्रियकशरीरका ही ग्रहण किया है, और यह देव और नारकियोंके ही होता है।

अब आहारकशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग ऋद्धिप्राप्त छठे गुणस्थानवर्ती संयतोंके ही होते हैं ॥ ५९ ॥

शंका—यहां पर क्या आहारक ऋद्धिकी प्राप्तिसे संयतोंको ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये, या उन्होंने पहले वैक्रियक ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है, इसलिये उन्हें ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये? इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि, प्रथम पक्षके ग्रहण करने पर इतरेतराश्रय दोष आता है। वह कैसे आता है आगे इसीको स्पष्ट करते हैं। जबतक आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है तबतक उन्हें ऋद्धिप्राप्त नहीं माना जा सकता, और जबतक वे ऋद्धिप्राप्त न हों तबतक उनके आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती है। इसप्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता है, क्योंकि, उनके उस समय दूसरी ऋद्धियोंका अभाव है। इतने पर भी यदि सद्भाव माना जाता है, तो आहारक ऋद्धिवालोंके मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति भी माननी चाहिये, क्योंकि दूसरी ऋद्धियोंके समान इसके होनेमें कोई विशेषता नहीं है। परंतु आहारक ऋद्धिवालेके मनःपर्यय ज्ञान माना नहीं जा सकता है क्योंकि ऐसा मानने पर आगमसे विरोध आता है?

समाधान—प्रथम पक्षमें जो इतरेतराश्रय दोष दिया है वह तो आता नहीं है, क्योंकि,

१ मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा। एदेसु एक्कपगदे णत्थि त्ति असेसयं जाणे ॥ गो जी ७२

समाधीयते। यतो नाहारर्द्धिरात्मानमपेक्ष्योत्पद्यते स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। अपि तु संयमातिशयापेक्षया तस्याः समुत्पत्तिरिति। ऋद्धिप्राप्तसंयतानामिति विशेषणमपि प्र- तदनुत्पत्तावपि ऋद्धिहेतुसंयम ऋद्धिः कारणे कार्योपचारात्। ततश्चर्द्धिहेतुसंयमप्राप्ता यतयः ऋद्धिप्राप्तास्तेषामाहारर्द्धिरिति सिद्धम्। संयमविशेषजनिताहारशरीरोत्पादन-शक्तिराहारर्द्धिरिति वा नेतरेतराश्रयदोषः। न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽप्यनभ्युपगमात्। नैष नियमोऽप्यस्त्येकस्मिन्नक्रमेण नर्द्धयो भूयस्यो भवन्तीति। गणभृत्सु सप्तानामपि ऋद्धीनामक्रमेण सत्त्वोपलम्भात्। आहारर्द्ध्या सह मनःपर्ययस्य विरोधो दृश्यत इति चेद्भवतु नाम दृष्टत्वात्। न चानेन विरोध इति सर्वाभिर्विरोधो वक्तुं पार्यतेऽव्यवस्था-पत्तेरिति।

कार्मणशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं ॥ ६० ॥

आहारक ऋद्धि स्वयं की अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि, स्वयं से स्वयं की उत्पत्तिरूप क्रियाके होनेमें विरोध आता है। किन्तु संयमातिशयकी अपेक्षा आहारक ऋद्धिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये 'ऋद्धिप्राप्तसंयतानाम्' यह विशेषण भी बन जाता है। यहां पर दूसरी ऋद्धियोंके उत्पन्न नहीं होने पर भी कारणमें कार्यके उपचारसे ऋद्धिके कारणभूत संयमको ही ऋद्धि कहा गया है, इसलिये ऋद्धिके कारणरूप संयमको प्राप्त साधुओंको ऋद्धि-प्राप्त संयत कहते हैं, और उनके आहारक ऋद्धि होती है, यह बात सिद्ध हो जाती है। अथवा संयमविशेषसे उत्पन्न हुई आहारकशरीरके उत्पादनरूप शक्तिको आहारक ऋद्धि कहते हैं, इसलिये भी इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है। इसीप्रकार दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी नहीं आता है, क्योंकि एक ऋद्धिके साथ दूसरी ऋद्धियां नहीं होती हैं, यह हम मानते ही नहीं हैं। एक आत्मामें युगपत् अनेक ऋद्धियां उत्पन्न नहीं होती हैं, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि गणधरोंके एकसाथ सातों ही ऋद्धियोंका सद्भाव पाया जाता है।

शंका — आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका तो विरोध देखा जाता है?

समाधान — यदि आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका विरोध देखनेमें आता है तो रहा आवे। किन्तु मनःपर्ययके साथ विरोध है, इसलिये आहारक ऋद्धिका दूसरी सम्पूर्ण ऋद्धियोंके साथ विरोध है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अन्यथा अव्यवस्थाकी आपत्ति आ जायगी।

अब कार्मणकाययोगके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतियोंके जीवोंके तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घात

[illegible]

विग्रहो देहस्तदर्थां गतिः विग्रहगतिः । औदारिकादिशरीरना
समर्थान् विविधान् पुद्गलान् गृह्णाति विगृह्यतेऽसौ संसारिणा इति वा विग्र
गतिः विग्रहगतिः । अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहः व्याघातः पुद्गलादाना
विग्रहेण पुद्गलादाननिरोधेन गतिः विग्रहगतिः । अथवा विग्रहो व्या
मित्यनर्थान्तरम् । विग्रहेण कौटिल्येन गतिः विग्रहगतिः । तां सम्यग
विग्रहगतिसमापन्ना, तेषां विग्रहगतिसमापन्नानाम् । सर्वाणि शरीराणि
तद्बीजभूतं कार्मणशरीरं कार्मणकाय इति भण्यते । वाङ्मनःकायवर्गणानि
प्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति । कार्मणकायकृतो योगः कार्मणकाययोगः । स
वक्रगतौ वर्तमानजीवानां भवति । एतदुक्तम्, गतेर्गत्यन्तरं व्रजतां प्राणिनां च
भवन्ति इषुगतिः पाणिमुक्ता लाङ्गलिका गोमूत्रिका चेति । तत्राविग्रहा
शेषा विग्रहवत्यः । ऋज्वी गतिरिषुगतिरेकसमयिकी । यथा पाणिना तिर्यक्

प्राप्त केवली जिनके कार्मणकाययोग होता है ॥ ६० ॥

विग्रह देहको कहते हैं । उसके लिये जो गति होती है उसे विग्रहगति क
यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्मके उदयसे अपने अपने शरीरकी रचना
समर्थ नाना प्रकारके पुद्गलोंको ग्रहण करता है अतएव संसारी जीवके द्वारा श
ग्रहण किया जाता है । इसलिये देहको विग्रह कहते हैं । ऐसे विग्रह अर्थात् शरीरके लि
गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । अथवा 'वि' शब्दका अर्थ विरुद्ध और
शब्दका अर्थ घात होनेसे विग्रह शब्दका अर्थ व्याघात भी होता है । जिसका अर्थ पुद्
ग्रहण करनेका निरोध होता है । इसलिये विग्रह अर्थात् पुद्गलोंके ग्रहण करनेके निरो
साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । अथवा विग्रह व्याघात और कौटि
[illegible] पर्यायवाची नाम है । इसलिये विग्रहसे अर्थात् कुटिलता (मोड़ा) के साथ जो ग
[illegible] है उसे विग्रहगति कहते हैं । उसको अर्थात् विग्रहगतिको प्राप्त जीव विग्रहगतिसमाप
[illegible] उनके अर्थात् विग्रहगतिको प्राप्त जीवके कार्मणकाययोग होता है । जिसमें
[illegible] शरीर उत्पन्न होते हैं उस [illegible] को कार्मणशरीर [illegible]
[illegible] मनोवर्गणा और काय [illegible] निमित्तसे [illegible] कार्मणकाय कहते हैं । [illegible]
[illegible] कहते हैं [illegible] होता है उसे
विग्रहगति [illegible] होता है [illegible]
[illegible] गमन करनेवाले जीवके चार गतियां होती हैं [illegible] होता है ।
[illegible] और गोमूत्रिका [illegible] है [illegible]
[illegible] होती है । [illegible]

द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी। यथा लाङ्गलं द्विवक्रं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका त्रैसमयिकी। यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी। तत्र कार्मणकाययोगः स्यादिति। स्वस्थितप्रदेशादारभ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते। तयैव जीवानां गमनं नोच्छ्रेणिरूपेण। ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति।

घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत्। कथमनुक्तमवगम्यत इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः। उपरि घातः उद्घातः, समीचीन उद्घातः समुद्घातः।

कहते हैं। इस गतिमें एक समय लगता है। जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोड़ेवाली गति होती है, उसीप्रकार संसारी जीवोंके एक मोड़ेवाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं। यह गति दो समयवाली होती है। जैसे हलमें दो मोड़े होते हैं, उसीप्रकार दो मोड़ेवाली गतिको लाङ्गलिका गति कहते हैं। यह गति तीन समयवाली होती है। जैसे गायका चलते समय मूतना अनेक मोड़ोंवाला होता है, उसीप्रकार तीन मोड़ेवाली गतिको गोमूत्रिका गति कहते हैं। यह गति चार समयवाली होती है। इषुगतिको छोड़कर शेष [illegible] विग्रहगतियोंमें कार्मणकाययोग होता है।

आकाशप्रदेश जहां स्थित है वहांसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणीके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है, श्रेणीको उल्लंघन करके नहीं होता है। इसलिये विग्रहगतिवाले जीवके तीन मोड़ेवाली गति विरुद्ध [illegible] नहीं होती है। अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां पर पहुंचनेके लिये चार मोड़ा लेने पड़ें।

घातरूप धर्मको घात कहते हैं, जिसका प्रकृतमें अर्थ कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका विनाश होता है।

शंका — कर्मोंकी स्थिति और अनुभागके घातका यहां पर कथन नहीं किया है, अतः [illegible] यहां पर कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात किस प्रकार जाना जाय?

समाधान — नहीं, क्योंकि, प्रकरणके वशसे यह जाना जाता है कि यहां पर स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है।

ऊपर की ओर घातको उद्घात कहते हैं, और समीचीन उद्घातको समुद्घात कहते हैं।

[illegible]

पर्यायस्य पर्याय सम्भवेनविरोधादिति चेन्न भूयःकालनिष्पाद्यमानयानस्यैकस्मिन्समयविरुद्ध-तत्त्वेनान्यत्राप्रतीतेः। समुद्घातं गतः समुद्घातगतः। कथमेकस्मिन् गम्यगमक-भावश्चेत्? पर्यायपर्यायिणोः कथंचिद् भेदविवक्षातस्तदविरोधात्। तथा समुद्घातगतानां केवलिनां कार्मणकाययोगः भवेत्। वा शब्दः समुच्चयप्रतिपादकः।

अथ स्यात्केवलिनां समुद्घातः सहेतुको निर्हेतुको वा? न द्वितीयविकल्पः, सर्वेषां समुद्घातगमनपूर्वकं मुक्तिप्रसंगात्। अस्तु चेन्न, लोकव्यापिनां केवलिनां विंशति-संख्यावर्षपृथक्त्वानन्तरनियमानुपपत्तेः। न प्रथमपक्षोऽपि तद्धेत्वनुपलम्भात्। न

शंका—इस पर्यायमें समुद्घातपना है यह कैसे संभव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि बहुत कालमें साध्य होनेवाले यानोंमें एक समयमें होनेवाले इस यानमें समुद्घातपनेका मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

समुद्घातको प्राप्त जीवोंको समुद्घातगत जीव कहते हैं।

शंका—एक ही पदार्थमें गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है अर्थात् जब पर्यायोंसे पर्यायी अभिन्न है, तब केवली समुद्घातको प्राप्त होते हैं इसप्रकार समुद्घात और केवलीमें गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पर्याय और पर्यायीमें कथंचित् भेद विवक्षा होने पर एक ही पदार्थमें गम्य-गमकभाव बन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

उन समुद्घातगत केवलियोंके कार्मणकाययोग होता है। यहां सूत्रमें आया हुआ 'वा' शब्द समुच्चयरूप अर्थका प्रतिपादक है।

शंका—केवलियोंके समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक? निर्हेतुक होता है यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि, ऐसा मानने पर सभी केवलियोंको समुद्घात करनेके अनन्तर ही मोक्ष प्राप्तिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। यदि यह कहा जावे कि सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्षको जाते हैं ऐसा मान लिया जावे इसमें क्या हानि है? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियोंकी वर्ष-पृथक्त्वके अनन्तर बीस संख्या होती है, यह नियम नहीं बन सकता है। केवलियोंके

१ — [illegible] समुद्घात [illegible] । त. रा. वा. पृ. [illegible] [illegible] । [illegible] केवलिसमुद्घात [illegible] । [illegible] केवलिसमुद्घात [illegible] । [illegible] पृ. १ २८

२ [illegible] । त. रा. वा. पृ. ५२

द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी। यथा लाङ्गलं द्विवक्रं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका त्रैसमयिकी । यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी । तत्र कार्मणकाययोगः स्यादिति। स्वस्थितप्रदेशादारभ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते। तयैव जीवानां गमनं नोच्छ्रेणिरूपेण । ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति ।

घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत् । कथमनुक्तमनधिकृतं चावगम्यत इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः । उपरि घातः उद्घातः, समीचीन उद्घातः समुद्घातः[1]।

कहते हैं। इस गतिमें एक समय लगता है। जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोडेवाली गति होती है, उसीप्रकार संसारी जीवोंके एक मोडेवाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं। यह गति दो समयवाली होती है। जैसे हलमें दो मोडे होते हैं, उसीप्रकार दो मोडेवाली गति को लांगलिका गति कहते हैं। यह गति तीन समयवाली होती है। जैसे गायका चलते समय मूतना अनेक मोडोंवाला होता है, उसीप्रकार तीन मोडेवाली गतिको गोमूत्रिका गति कहते हैं। यह गति चार समयवाली होती है। इषुगतिको छोडकर शेष तीनों विग्रह गतियोंमें कार्मणकाययोग होता है।

जो प्रदेश जहां स्थित है वहांसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणीके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है, श्रेणीको उल्लंघन करके नहीं होता है। इसलिये विग्रहगतिवाले जीवके तीन मोडेवाली गति विरोधको प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां पर पहुंचनेके लिये चार मोडे लग सकें।

घातनेरूप धर्मको घात कहते हैं, जिसका प्रकृतमें अर्थ कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका विनाश होता है।

शंका—कर्मोंकी स्थिति और अनुभागके घातका अभी तक कथन नहीं किया है, अथवा, उसका अधिकार भी नहीं है, इसलिये यहां पर कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रकरणके वशसे यह जाना जाता है कि केवलिसमुद्घातमें कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है।

उत्तरोत्तर होनेवाले घातको उद्घात कहते हैं, और समीचीन उद्घातको समुद्घात कहते हैं।

१ [illegible] २. २० [illegible]

२ [illegible] १. [illegible] २. २१ । [illegible]

[illegible] । [illegible] ४८

३ [illegible] ११८

कथमस्य योगस्य समीचीनत्वमिति चेन्न, भूयःकालनिष्पाद्यमानकार्यस्यास्यैकसमयनिष्पत्तेः समीचीनत्वाविरोधात्। समुद्घातं गताः समुद्घातगताः। कथमेकस्मिन् गम्यगमकभावश्च, पर्यायपर्यायिणोः कथंचिद् भेदविवक्षया तदविरोधात्। तेषां समुद्घातगतानां केवलिनां कार्मणकाययोगो भवति। वा शब्दः समुच्चयप्रतिपादकः।

अथ स्यात्केवलिनां समुद्घातः सहेतुको निर्हेतुको वा? न द्वितीयविकल्पः, सर्वेषां समुद्घातगमनपूर्वकमेव मुक्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, लोकव्यापिनां केवलिनां विंशतिसंख्यावर्षपृथक्त्वानन्तरनियमानुपपत्तेः। न प्रथमपक्षोऽपि तद्धेत्वनुपलम्भात्। न

शंका — इस कार्यमें समीचीनता है यह कैसे संभव है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, बहुत कालमें संपन्न होनेवाले कार्योंके एक समयमें होनेवाले इस कार्यमें समीचीनताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

समुद्घातको प्राप्त जीवोंको समुद्घातगत जीव कहते हैं।

शंका — एक ही पदार्थमें गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है, अर्थात् जब पर्यायीसे पर्याय अभिन्न है, तब केवली समुद्घातको प्राप्त होते हैं, इसप्रकार समुद्घात और केवलीमें गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पर्याय और पर्यायीमें कथंचित् भेद विवक्षा होने पर एक ही पदार्थमें गम्य-गमकभाव बन जाता है इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

उन समुद्घातगत केवलियोंके कार्मणकाययोग होता है। यहां सूत्रमें आया हुआ 'वा' शब्द समुच्चयरूप अर्थका प्रतिपादक है।

शंका — केवलियोंके समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक? निर्हेतुक होता है यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी केवलियोंको समुद्घात करनेके अनन्तर ही मोक्षप्राप्तिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। यदि यह कहा जावे कि सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्ष जाते हैं, ऐसा मान लिया जाय इसमें क्या हानि है? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियोंकी वर्षपृथक्त्वके अनन्तर बीस संख्या होती है यह नियम नहीं बन सकता है। केवलियोंके

[illegible]

[illegible]

तावदघातिकर्मणां स्थित्यायुष्यस्थितेरसमानता हेतुः, क्षीणकषायचरमावस्थायां सर्वकर्मणां समानत्वाभावात् सर्वेषामपि तत्प्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यतिवृषभोपदेशात्सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात्सर्वेऽपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निर्वृतिमुपढौकन्ते । येषामाचार्याणां लोकव्यापिकेवलिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्घातयन्ति, केचिन्न समुद्घातयन्ति । के न समुद्घातयन्ति ? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना, ते न समुद्घातयन्ति, शेषाः समुद्घातयन्ति । अनिवृत्त्यादिपरिणामेषु समानेषु सत्सु किमिति स्थित्योर्वैषम्यम् ? न, व्यक्तिस्थितिघातहेतुष्वनिवृत्तिपरिणामेषु समानेषु सत्सु संसृतेस्तत्समानत्वविरोधात् । संसारविच्छित्तेः किं कारणम् ? द्वादशाङ्गावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च । न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति दशनवपूर्वधारिणामपि क्षपक

समुद्घात सहेतुक होता है यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि केवलिसमुद्घातका कोई हेतु नहीं पाया जाता है। यदि यह कहा जावे कि तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिसे आयुकर्मकी स्थितिकी असमानता ही समुद्घातका कारण है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, क्षीणकषाय गुणस्थानकी चरम अवस्थामें संपूर्ण कर्म समान नहीं होते हैं इसलिये सभी केवलियोंके समुद्घातका प्रसंग आजायगा।

समाधान — यतिवृषभाचार्यके उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थानके चरम समयमें संपूर्ण अघातिया कर्मोंकी स्थिति समान नहीं होनेसे सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन आचार्योंके मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियोंकी बीस संख्याका नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नहीं करते हैं।

शंका — कौनसे केवली समुद्घात नहीं करते हैं?

समाधान — जिनकी संसार-व्यक्ति अर्थात् संसारमें रहनेका काल वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थितिके समान है वे समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली करते हैं।

शंका — अनिवृत्ति आदि परिणामोंके समान रहने पर संसार-व्यक्तिस्थिति और शेष तीन कर्मोंकी स्थितिमें विषमता क्यों रहती है?

समाधान — नहीं, क्योंकि संसारकी व्यक्ति और कर्मस्थितिके घातके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोंके समान रहने पर संसारको उसके अर्थात् तीन कर्मोंकी स्थितिके समान मान लेनेमें विरोध आता है।

शंका — संसारके विच्छेदका क्या कारण है?

समाधान — द्वादशांगका ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसारके विच्छेदके कारण हैं। परन्तु ये सब कारण समस्त जीवोंमें संभव नहीं हैं, क्योंकि दश पूर्व और नौ पूर्वके धारी जीवोंका भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ना देखा जाता

श्रेण्यारोहणदर्शनात्। न तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्घातेन विना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पल्योपमस्यासंख्येयभागायतानि संख्येयावलिकायतानि च निपातयन्त आयुःसमानि कर्माणि कुर्वन्ति। अपरे समुद्घातेन समानयन्ति। न चैष संसारघातः केवलिनि प्राक् सम्भवति स्थितिकाण्डघातवत्समानपरिणामत्वात्। परिणामातिशयाभावे पश्चादपि मा भूत्तद्घात इति चेन्न, वीतरागपरिणामेषु समानेषु सत्स्वन्यस्मादन्तर्मुहूर्तायुरपेक्ष्य आत्मनः समुत्पन्नात्तद्घातोपपत्तेः। अन्यैराचार्यैरव्याख्यातमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्रप्रत्यनीकाः? न, वर्षपृथक्त्वान्तरसूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधात्।

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स-समुग्घाओ सिद्धो सेसा भज्जा समुग्घाए ॥ १६७ ॥

है। अतः यहां पर संसार-व्यक्तिके समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे नाशको प्राप्त होनेवाले पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण या संख्यात आवली-प्रमाण स्थिति-काण्डकोंका विनाश करते हुए कितने ही जीव समुद्घातके विना ही आयुके समान शेष कर्मोंको कर लेते हैं। तथा कितने ही जीव समुद्घातके द्वारा शेष कर्मोंको आयुकर्मके समान करते हैं। परंतु यह संसारका घात केवलीमें पहले संभव नहीं है, क्योंकि, पहले स्थितिकाण्डकके घातके समान सभी जीवोंके समान परिणाम पाये जाते हैं।

शंका—जब कि परिणामोंमें कोई अतिशय नहीं पाया जाता है, अर्थात् सभी केवलियोंके परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसारका घात मत होओ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वीतरागरूप परिणामोंके समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुकर्मकी अपेक्षासे आत्माके उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामोंसे संसारका घात बन जाता है।

शंका—अन्य आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थका इसप्रकार व्याख्यान करते हुए आप सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वर्षपृथक्त्वके अन्तरालका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त कथनसे विरोध आता है।

शंका— छह मास प्रमाण आयुकर्मके शेष रहने पर जिस जीवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घातको करके ही मुक्त होता है। शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं ॥ १६७ ॥

एदम्हि गाहाए उवएसो किण्ण गहिओ ? ण, भजंतम्मि कारणाणुवलंभादो ।

जेसिं आउ समाइं णामा गोदाणि वेयणीयं च ।
ते अकय समुग्घाया वच्चंतियरे समुग्घाए[१] ॥ १६८ ॥

णेदं भजंतं कारणं सव्व-जीवेसु समाणेहि अणियट्टि परिणामेहि पत्त घादाणं ट्ठिदीणमाउ-समाणत्त विरोहादो, अघादि तियस्स खीण-कसाय-चरिम-समए जहण्ण ट्ठिदि संतस्स वि पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग पमाणत्तुवलंभादो । नागमस्तर्कगोचर इति चेन्न, एतयोर्गाथयोरागमत्वेन निर्णयाभावात् । भावे वास्तु गाथयोरेवोपादानम् ।

इदानीं काययोगस्याध्यात्मज्ञापनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

इस पूर्वोक्त गाथाका उपदेश क्यों नहीं ग्रहण किया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसप्रकार विकल्पके माननेमें कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिये पूर्वोक्त गाथाका उपदेश नहीं ग्रहण किया है ।

जिन जीवोंके नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे समुद्घात नहीं करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं । दूसरे जीव समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं ॥ १६८ ॥

इसप्रकार पूर्वोक्त गाथामें कहे गये अभिप्रायको तो किन्हीं जीवोंके समुद्घातके होनेमें और किन्हीं जीवोंके समुद्घातके नहीं होनेमें कारण कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि, सम्पूर्ण जीवोंमें समान अनिवृत्तिरूप परिणामोंके द्वारा कर्मस्थितियोंका घात पाया जाता है, अतः उनका आयुके समान होनेमें विरोध आता है । दूसरे, क्षीणकषाय गुणस्थानके चरम समयमें तीन अघातिया कर्मोंकी जघन्य स्थिति पल्योपमके असंख्यातवें भाग सभी जीवोंके पाई जाती है, इसलिये भी पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है ।

शंका—आगम तो तर्कका विषय नहीं है, इसलिये इसप्रकार तर्कके बलसे पूर्वोक्त गाथाओंके अभिप्रायका खण्डन करना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय नहीं हुआ है । अथवा, यदि इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय हो जाय तो इनका ही ग्रहण रहा आवे ।

अब काययोगका गुणस्थानोंमें ज्ञान करानेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

[illegible]

१ [illegible]

कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ६१ ॥

काययोग एकेन्द्रियधारणाभावात्र वाङ्मनसारम्भात् । एवं शेषाणामपि वाच्यमिति । एकेन्द्रियप्रभृत्यायोगकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगिन इति प्रतिपाद्यमाने देशविरतादि-क्षीणकषायान्तानामपि तदस्तित्वं प्राप्नुयादिति चेन्न, प्रभृतिशब्दस्य व्यवस्थायां प्रकारे च वर्तते । अत्र प्रभृतिशब्दः प्रकारे परिगृह्यते, यथा सिंहप्रभृतयो मृगा इति । ततो न तेषां ग्रहणम् । व्यवस्थावाचिनोऽपि ग्रहणे न दोषः 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' इति बाधकसूत्रसम्भवात् ।

वैक्रियककाययोगाधिपतिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ ६२ ॥

सामान्यसे काययोग और विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्र काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ ६१ ॥

काययोग ही होता है, इसप्रकार अवधारण नहीं होनेसे पूर्वोक्त गुणस्थानोंमें वचनयोग और मनोयोगका अभाव नहीं समझना चाहिये। इसीप्रकार शेष योगोंका भी कथन करना चाहिये।

शंका—एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवलीतक औदारिकमिश्रकाययोगी होते हैं ऐसा कथन करने पर देशविरत आदि क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानोंमें भी औदारिकमिश्रकाययोगका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह प्रभृति शब्द व्यवस्था और प्रकाररूप अर्थमें रहता है। उनमेंसे यहां पर प्रभृति शब्द प्रकाररूप अर्थमें ग्रहण किया गया है। जैसे, सिंह आदि मृग। इसलिये औदारिकमिश्रयोगमें देशविरत आदि क्षीणकषायान्त गुणस्थानोंका ग्रहण नहीं होता है। अथवा व्यवस्थावाची भी प्रभृति शब्दके ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं आता है। अथवा 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' अर्थात् औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है इस बाधक सूत्रके सद्भाव होनेके कारण भी पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

अब वैक्रियककाययोगके स्वामीका प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टितक होते हैं ॥ ६२ ॥

[illegible] 'च' शब्द [illegible] न, [illegible] सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि [illegible] उक्तोत्तरत्वात् । 'सम्मामिच्छाइट्ठि ट्ठाणे [illegible]', [illegible] कायजोगो अपज्जत्ताण ' इत्याभ्यां [illegible] सम्यग्मिथ्यादृष्टे [illegible] समस्तीति ।

[illegible] आहारकाययोग [illegible] गुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कम्हि चेव पमत्तसंजदट्ठाणे ॥ ६३ ॥

[illegible] किमित्याहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न [illegible] । [illegible] किं निमित्तमिति चेदाज्ञा [illegible]

शंका— [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

असंयमबहुलतया चोत्पन्नप्रमादेभ्य । न च प्रमादनिबन्धनाऽप्रमादिनि भवेदतिप्रसङ्गात् । अथवा स्वभावोऽयं यदाहारकाययोगः प्रमादिनामेवोपजायते, नाप्रमादिनामिति ।

कार्मणकाययोगाधारजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कम्मइयकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ६४ ॥

देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि कार्मणकाययोगस्यास्तित्वं प्राप्नोत्यस्मात्सूत्रादिति चेन्न, 'सजदासजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' इत्येतस्मात्सूत्रात्तत्र तदभावावगतेः । न च समुद्घातादृते पर्याप्तानां कार्मणकाययोगोऽस्ति । किमिति स तत्र नास्तीति चेद्विग्रहगतेरभावात् । देवविद्याधरादीनां पर्याप्तानामपि वक्रा गतिरुपलभ्यते चेन्न, पूर्वशरीरं परित्यज्योत्तरशरीरमादातुं व्रजतो वक्रगतेर्विवक्षितत्वात् ।

समाधान— आज्ञाकनिष्ठता अर्थात् आप्तवचनमें सन्देहजनित शिथिलताके होनेसे उत्पन्न हुआ प्रमाद और असंयमकी बहुलतासे उत्पन्न प्रमाद आहारककायकी उत्पत्तिका निमित्त-कारण है । जो कार्य प्रमादके निमित्तसे उत्पन्न होता है, वह प्रमादरहित जीवमें नहीं हो सकता है । अथवा यह स्वभाव ही है कि आहारककाययोग प्रमत्त गुणस्थानवालोंके ही होता है, प्रमादरहित जीवोंके नहीं ।

अब कार्मणकाययोगके आधारभूत जीवोंके प्रतिपादनार्थ आगेका सूत्र कहते हैं—

कार्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली तक होता है ॥ ६४ ॥

शंका— इस सूत्रके कथनसे देशविरत गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक भी कार्मणकाययोगका अस्तित्व प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'सजदासजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' अर्थात् संयता-संयत गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्त ही होते हैं, इस सूत्रके अनुसार वहां पर कार्मण-काययोगका अभाव ज्ञात हो जाता है । यहांपर संयतासंयत पद उपलक्षण होनेसे पांचवेंसे ऊपर सभी पर्याप्त गुणस्थानोंका सूचक है । दूसरे समुद्घातको छोड़कर पर्याप्तक जीवोंके कार्मणकाययोग नहीं पाया जाता है ।

शंका— पर्याप्तक जीवोंमें कार्मणकाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान— विग्रहगतिका अभाव होनेसे उनके कार्मणकाययोग नहीं होता है ।

शंका— देव और विद्याधर आदि पर्याप्तक जीवोंके भी वक्रगति पाई जाती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको छोड़कर आगेके शरीरको ग्रहण करनेके लिये जाते हुए जीवके जो एक दो या तीन मोड़ेवाली गति होती है, वही गति यहां पर वक्र गतिरूपसे विवक्षित है ।

[illegible]

योगत्रयस्य स्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ६५ ॥

चतुर्णां मनसां सामान्यं मनः, तज्जनितवीर्येण परिस्पन्दलक्षणेन योगो मनोयोगः। चतुर्णां वचसां सामान्यं वचः, तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगो वाग्योगः। सप्तानां कायानां सामान्यं कायः, तेन जनितेन वीर्येण जीवप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगः काययोगः। एवं त्रयोऽपि योगाः क्षयोपशमापेक्षया त्यागमेकरूपमापन्नाः संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्य आसयोगकेवलिन इति क्रमेण युगपद्वा स्वामित्वमुक्तम्। काययोग एकेन्द्रियेष्वप्यस्तीति चेन्न, वाङ्मनोभ्यामविनाभाविनः काययोगस्य विवक्षितत्वात्। तथा वचसोऽप्यभिधातव्यम्।

अब तीन योगोंके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं ॥ ६५ ॥

सत्यादि चार प्रकारके मनमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य मन कहते हैं। उस मनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं। चार प्रकारके वचनोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य वचन कहते हैं। उस वचनसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं। सात प्रकारके कायोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य काय कहते हैं। उस कायसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे काययोग कहते हैं। ये योग तीन होते हुए भी क्षयोपशमकी अपेक्षा त्यागमक एकरूपताको प्राप्त होकर संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं। यहां पर इस क्रमसे समान होनेकी अपेक्षा स्वामित्वका प्रतिपादन किया।

शंका—काययोग एकेन्द्रिय जीवोंके भी होता है, फिर यहां उसका संज्ञी पंचेन्द्रियसे कथन क्यों किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहां पर वचनयोग और मनोयोगसे अविनाभाव रखने वाले काययोगकी विवक्षा है। इसीप्रकार वचनयोगका भी कथन करना चाहिये। अर्थात् यद्यपि वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे होता है, फिर भी यहां पर मनोयोगका अविनाभावी वचनयोग विवक्षित है, इसलिये उसका भी संज्ञी पंचेन्द्रियसे कथन किया।

---

१ [illegible] ॥ गो. १७९

द्विसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

**वचिजोगो कायजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचि-
दिया त्ति ॥ ६६ ॥**

अत्र सामान्यवाक्काययोगविवक्षितत्वात् द्वीन्द्रियादिभिरसंज्ञिभिश्च पर्यवसानम्। विशेषे तु पुनरवलम्ब्यमाने तुरीयस्यैव वचसः सत्त्वमिति। तदाद्यन्तव्यपदेशो न घटते, उपरिष्टादपि वाक्काययोगौ विद्येते ततो नासंज्ञिनः पर्यवसानमिति चेन्न, त्रयाणामपि सत्त्वात्। अस्तु चेन्न, निरुद्धद्विसंयोगस्य त्रिसंयोगेन सह विरोधात्।

एकसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

कायजोगो एइंदियाणं ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रियाणामेक काययोग एव, द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां वाक्काययोगौ शेषाणां त्रियोगाः।

अब द्विसंयोगी योगोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक होते हैं ॥ ६६ ॥

यहां पर सामान्य वचन और काययोगकी विवक्षा होनेसे द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी तक सामान्यसे दोनों योग पाये जाते हैं। किंतु विशेषका अवलम्बन करने पर तो से असंज्ञी तक वचनयोगके चौथे भेद (अनुभयवचन) का ही सत्त्व समझना चाहिये।

शंका—इन दोनों योगोंका द्वीन्द्रियसे आदि लेकर असंज्ञीपर्यन्त ही सद्भाव बतलाया आदि और अन्तका व्यपदेश यहां पर घटित नहीं होता है, क्योंकि, इन जीवोंसे जीवोंके भी वचन और काययोग पाये जाते हैं। इसलिये असंज्ञीतक ये योग होते हैं नहीं बनती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगेके जीवोंके तीनों योगोंका सत्त्व पाया जाता है।

शंका—यदि ऊपर तीन योगोंका सत्त्व है तो रहा आवे फिर भी इन दो योगोंके करनेमें क्या हानि है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्विसंयोगी योगका त्रिसंयोगी योगके साथ कथन करनेमें आता है। इसलिये द्विसंयोगी योगका असंज्ञीतक ही कथन किया है।

अब एक संयोगी योगके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग एकेन्द्रिय जीवोंके होता है ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रिय जीवोंके एक काययोग ही होता है। द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञीतक जीवोंके वचन और काय ये दो योग ही होते हैं। तथा शेष जीवोंके तीनों ही योग होते हैं।

प्राक् सामान्येन योगस्य सत्त्वमभिधायेदानीं व्यवच्छेदेऽमुष्मिन् कालेऽस्य सत्त्वममुष्मिंश्च न सत्त्वमिति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥ ६८ ॥

क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं न विरोधमास्कन्देदिति चेन्न, वाङ्मनोभ्यामनिष्पन्नस्य तद्योगानुपपत्तेः। पर्याप्तानामपि विरुद्धयोगमध्यासितानामस्त्वेवेति चेन्न, सम्भवापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिसत्त्वापेक्षया वा। सर्वत्र समुच्चयार्थद्योतकश्चशब्दाभावेऽपि समुच्चयार्थः पदैरेवावद्योत्यत इत्यवसेयः।

काययोगसामान्यस्य सत्त्वप्रदेशप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि ॥ ६९ ॥

पहले सामान्यसे योगका सत्त्व कहकर, अब जिस कालमें योगका सद्भाव नहीं पाया जाता है, ऐसा निराकरण करने योग्य कालके होने पर, इस कालमें इस योगका सत्त्व है, और इस कालमें इस योगका सत्त्व नहीं है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकोंके ही होते हैं, अपर्याप्तकोंके नहीं होते ॥ ६८ ॥

शंका—क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें भी वचनयोग और मनोयोगका पाया जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोगरूपसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसे योग संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है।

शंका—पर्याप्तक जीवोंके भी विरुद्ध योगको प्राप्त होनेरूप अवस्थाके होने पर विवक्षित योग नहीं पाया जाता है?

विशेषार्थ—शंकाकारका यह अभिप्राय है कि जिसप्रकार अपर्याप्त अवस्थामें मनोयोग और वचनयोगका अभाव बतलाया गया है, उसीप्रकार पर्याप्त अवस्थामें भी किसी एक योगके रहने पर शेष दो योगोंका अभाव रहता है, इसलिये उस समय भी उन दो योगोंके अभावका कथन करना चाहिये।

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें किसी एक योगके रहने पर शेष योग संभव हैं, इसलिये इस अपेक्षासे वहां पर उनके अस्तित्वका कथन किया जाता है। अथवा उस समय वे योग शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिये इस अपेक्षासे उनका अस्तित्व कहा जाता है।

इन सभी सूत्रोंमें समुच्चयरूप अर्थका प्रकाश करनेवाला च शब्द नहीं होने पर भी पदोंसे ही समुच्चयरूप अर्थ प्रगट हो जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

अब सामान्य काययोगकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग पर्याप्तकोंके भी होता है और अपर्याप्तकोंके भी होता है ॥ ६९ ॥

'अपि' शब्दः समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः। कः समुच्चयः? एकस्य निर्दिष्टस्यार्थस्य पुनर्निपातः समुच्चयः। द्विरस्ति शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। संक्षेपरुचयो नानुगृहीताश्चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहाविनाभावित्वात्।

पर्याप्तेष्वेव योगा भवन्ति, एते योगयोग्या इति वचनमाकर्ण्य पर्याप्तिविषयज्ञानशयस्य शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्राण्यभाणीत्—

छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ ॥ ७० ॥

पर्याप्तिरिति शेषलक्षणोपलक्षणार्थं [illegible] । आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनसां निष्पत्तिः पर्याप्तिः । ताः षट् भवन्ति, आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः

सूत्रमें जो अपि शब्द आया है वह समुच्चयार्थक जानना चाहिये।

शंका—समुच्चय किसे कहते हैं?

समाधान—किसी एक वस्तुके निर्दिष्ट हो जाने पर भी फिर उसके ग्रहण होनेको समुच्चय कहते हैं।

शंका—सूत्रमें दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण करना निरर्थक है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिये सूत्रमें दो बार अस्ति पदका ग्रहण किया।

शंका—तो इस सूत्रमें संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुगृहीत नहीं किये गये?

समाधान—नहीं, क्योंकि संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंका अनुग्रह विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहका अविनाभावी है। अथवा विस्तारसे कथन कर देने पर संक्षेपरुचि शिष्योंका काम बन ही जाता है, इसलिये यहां पर विस्तारसे कथन किया है।

ये योग पर्याप्तकके ही होते हैं और ये योग इनके होते हैं, इस वचनको सुनकर जिन शिष्योंके पर्याप्तिके विषयमें संशय उत्पन्न हो गया है उनके संदेहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहा गया है—

छह पर्याप्तियां और छह अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७० ॥

पर्याप्तियोंके संपूर्ण लक्षणके बतलानेके लिये इतनी संख्या ही पर्याप्त कही गई है। आहार शरीर इन्द्रिय उच्छ्वास-निःश्वास भाषा और मन इनकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं। वे पर्याप्तियां छह होती हैं, आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, [illegible]

१ [illegible]

[illegible]

[illegible]

इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति । एतासामेवानिष्पत्तिरपर्याप्तिः । ताश्च षट् भवन्ति, आहारापर्याप्तिः शरीरापर्याप्तिः इन्द्रियापर्याप्तिः आनापानापर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनोऽपर्याप्तिरिति । एतासां द्वादशानामपि पर्याप्तीनां स्वरूपं प्रागुक्तमिति पौनरुक्त्यभयादिह नोच्यते ।

इदानीं तासामाधारप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमवोचत्-

सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ ७१ ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामपि षट् पर्याप्तयो भवन्तीति चेन्न, तत्र गुणेऽपर्याप्तकालाभावात् । देशविरताद्युपरितनगुणानां किमिति षट् पर्याप्तयो न सन्तीति चेन्न, पर्याप्तिर्नाम षण्णां पर्याप्तीनां समाप्तिः, न सोपरितनगुणेष्वस्ति अपर्याप्तिचरमावस्थायामेकसमयिक्या उपरि सत्त्वविरोधात् ।

षट्पर्याप्तिश्रवणात् षडेव पर्याप्तयः सन्तीति समुत्पन्नप्रत्ययस्य शिष्यस्यासाधारणासत्प्रत्ययनिराकरणार्थमुत्तरसूत्रमवोचत्-

पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। इन छह पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको ही अपर्याप्ति कहते हैं। अपर्याप्तियां भी छह ही होती हैं, आहार अपर्याप्ति, शरीर अपर्याप्ति, इन्द्रिय अपर्याप्ति, आनापान अपर्याप्ति, भाषा अपर्याप्ति और मन अपर्याप्ति। इन बारह पर्याप्तियोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दूषणके भयसे उनका स्वरूप फिरसे यहां नहीं कहते हैं।

अब उन पर्याप्तियोंके आधारको बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

उपर्युक्त सभी पर्याप्तियां संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होती हैं ॥ ७१ ॥

शंका— तो क्या सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालोंके भी छह पर्याप्तियां होती हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उस गुणस्थानमें अपर्याप्त काल नहीं पाया जाता है।

शंका— देशविरतादिक ऊपरके गुणस्थानवालोंके छह पर्याप्तियां क्यों नहीं होती हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि छह पर्याप्तियोंकी समाप्तिका नाम ही पर्याप्ति है और वह समाप्ति चौथे गुणस्थान तक ही होती है, पांचवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं पायी जाती, क्योंकि अपर्याप्तिकी अन्तिम अवस्थावर्ती एक समयमें पूर्ण हो जानेवाली पर्याप्तिका ऊपरके गुणस्थानोंमें सत्व माननेमें विरोध उत्पन्न होता है।

छह पर्याप्तियोंके सुननेसे जिस शिष्यको यह निश्चय होगया कि पर्याप्तियां छह ही होती हैं, इसलिये यहां उस शिष्यके उस असाधारण निश्चयको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पंच पज्जत्तीओ पंच अपज्जत्तीओ ॥ ७२ ॥

पर्याप्तीनामपर्याप्तीनां च लक्षणमभाणीति नेदानीं भण्यते। षण्णां पर्याप्तीनामन्तः पञ्चापि सन्तीति पृथक् पर्याप्तिपञ्चकोपदेशोऽनर्थक इति चेन्न, क्वचिज्जीवविशेषे षडेव पर्याप्तयो भवन्ति, क्वचित्पञ्चैव भवन्तीति प्रतिपादनफलत्वात्। काः पञ्च पर्याप्तय इति चेन्मनोवर्जाः शेषाः पञ्च।

ताः केषां भवन्तीति संशयानस्य शिष्यस्याशंकानिराकरणार्थमुत्तरसूत्रं वक्ष्यति—

बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रियेष्वपि मनः तत्कार्यस्य विज्ञानस्य तत्र सत्त्वान्मनुष्यवदिति न प्रत्यवस्थातुं पुनः तद्गतस्य विज्ञानस्य तत्कार्यत्वासिद्धेः। मनुष्येषु विज्ञानस्य तत्कार्यत्वं दृश्यत

पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७२ ॥

पर्याप्तियोंका और अपर्याप्तियोंका लक्षण पहले कह आये हैं, इसलिये अब फिरसे नहीं कहते हैं।

शंका—पांच पर्याप्तियां छह पर्याप्तियोंके भीतर आ ही जाती हैं, इसलिये अलग रूपसे पांच पर्याप्तियोंका कथन करना निष्फल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि किन्हीं जीव विशेषोंमें छहों पर्याप्तियां पाई जाती हैं, और किन्हीं जीवोंमें पांच ही पर्याप्तियां पाई जाती हैं। इस बातका प्रतिपादन करना इस सूत्रका फल है।

शंका—वे पांच पर्याप्तियां कौनसी हैं ?

समाधान—मन पर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्तियां यहां पर ली गई हैं।

ये पांच पर्याप्तियां किनके होती हैं इसप्रकार संशयापन्न शिष्यकी शंका दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

ये पांच पर्याप्तियां द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त होती हैं ॥ ७३ ॥

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी मन है, क्योंकि मनका कार्य जो विज्ञान मनुष्योंमें है वही विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी पाया जाता है ?

समाधान—यह बात निश्चय करने योग्य नहीं है, क्योंकि विकलेन्द्रियोंमें रहनेवाला विज्ञान मनका कार्य है यह बात असिद्ध है।

शंका—मनुष्योंमें जो विज्ञान होता है वह मनका कार्य है यह बात तो देखी जाती है ?

समाधान—मनुष्योंका विशेष विज्ञान यदि मनका कार्य है तो रहा आवे क्योंकि

इति चेदस्तु, क्वचिद् दृष्टत्वात् । मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन सह तत्रतनविज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रत्यविशेषान्मनोनिबन्धनत्वमनुमीयत इति चेन्न, भिन्नजातिस्थितविज्ञानेन सहाविशेषानुपपत्तेः । न प्रत्यक्षेणाप्येष आगमो बाध्यते तत्र प्रत्यक्षस्य वृत्त्यभावात् । विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभावः कुतोऽवसीयत इति चेदार्षात् । कथमार्षस्य प्रामाण्यमिति चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव ।

पुनरपि पर्याप्तिमार्गणायामन्तर्भेदप्रदर्शनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ ॥ ७४ ॥

एकेन्द्रियेषु चत्वार एव पर्याप्तयोऽपर्याप्तयो वा भवन्ति । कास्ता इति चेदाहारशरीरस्पर्शनेन्द्रियानापानपर्याप्तय इति । शेषं सुगमम् ।

चतसृणामपि पर्याप्तीनामधिपतिजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदियाणं ॥ ७५ ॥

यह कदाचित् मनुष्योंमें देखा जाता है ।

शंका—मनुष्योंमें मनके कार्यरूपसे स्वीकार किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोंमें होनेवाले विज्ञानकी ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियोंका विज्ञान भी मनसे होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्न जातिमें स्थित विज्ञानके साथ भिन्न जातिमें स्थित विज्ञानकी समानता नहीं बन सकती है। 'विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है' यह आगम प्रत्यक्षसे भी बाधित नहीं है, क्योंकि, वहां पर प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है ।

शंका—विकलेन्द्रियोंमें मनका अभाव है यह बात किस प्रमाणसे जानी जाती है?

समाधान—आगम प्रमाणसे जाना जाता है कि विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है ।

शंका—आर्षको प्रमाण कैसे माना जाय?

समाधान—जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसीप्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है ।

फिर भी पर्याप्तियोंके अवान्तर भेदोंके बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

चार पर्याप्तियां और चार अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७४ ॥

एकेन्द्रियोंमें चार पर्याप्तियां अथवा चार अपर्याप्तियां होती हैं ।

शंका—वे चार पर्याप्तियां कौनसी हैं?

समाधान—आहार, शरीर, स्पर्शनेन्द्रिय और आनापान ये चार पर्याप्तियां हैं। शेष कथन सुगम है ।

चारों पर्याप्तियोंके स्वामीका प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

ऊपर कही गई चार पर्याप्तियां और चार अपर्याप्तियां एकेन्द्रियोंके होती हैं ॥ ७५ ॥

चतस्रोऽपि पर्याप्तय एकेन्द्रियाणामेव नान्येषाम्। एकेन्द्रियाणां नोच्छ्वास उपलभ्यते चेन्न, आगमात्तदुपलम्भात्। प्रत्यक्षेणागमो बाध्यत इति चेन्न, सकलस्य बाधा प्रत्यक्षीकृताशेषप्रमेयात्। न चेन्द्रियजं प्रत्यक्षं समस्तवस्तुविषयं येन तदविषयीकृतस्य वस्तुनो भावो भेदीयते।

एवं पर्याप्त्यपर्याप्तीरभिधाय साम्प्रतमस्मिन्नयं योगो भवत्यस्मिन्नयं न भवतीति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं ॥ ७६ ॥

षड्भिः पञ्चभिश्चतसृभिर्वा पर्याप्तिभिर्निष्पन्नाः परिनिष्ठितास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च पर्याप्ताः। किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त उत साकल्येन निष्पन्न इति? शरीर

ये चारों पर्याप्तियां एकेन्द्रिय जीवोंके ही होती हैं, दूसरोंके नहीं।

शंका—एकेन्द्रिय जीवोंके उच्छ्वास तो नहीं पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंके श्वासोच्छ्वास होता है, यह बात आगम प्रमाणसे जानी जाती है।

शंका—प्रत्यक्षसे यह आगम बाधित है?

समाधान—जिसने संपूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे यदि बाधा संभव हो तो यह प्रत्यक्षबाधा कही जा सकती है। परंतु इन्द्रियप्रत्यक्ष तो संपूर्ण पदार्थोंको विषय ही नहीं करता है जिससे कि इन्द्रियप्रत्यक्षकी विषयताको नहीं प्राप्त होनेवाले पदार्थोंमें भेद किया जा सके।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंका कथन करके अब इस जीवमें यह योग होता है और इस जीवमें यह योग नहीं होता है, इसका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

औदारिककाययोग पर्याप्तकोंके और औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥ ७६ ॥

शंका—छह पर्याप्ति, पांच पर्याप्ति अथवा चार पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुए तिर्यंच और मनुष्य पर्याप्तक कहलाते हैं। तो क्या उनमेंसे किसी एक पर्याप्तिसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है या संपूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है?

पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते । तत्रौदारिककाययोगो निष्पन्नशरीरावष्टम्भबलेनोत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योग औदारिककाययोग । अपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगः । कार्मणौदारिकस्कन्धनिबन्धनजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योग औदारिकमिश्रकाययोग इति यावत् । पर्याप्तावस्थायां कार्मणशरीरस्य सत्त्वात्तदुभयनिबन्धनात्मप्रदेशपरिस्पन्द इति औदारिकमिश्रकाययोग किमु न स्यादिति चेन्न, तत्र तस्य सतोऽपि जीवप्रदेशपरिस्पन्दस्याहेतुत्वात् । न पारम्पर्यकृत तद्धेतुत्व तस्यौपचारिकत्वात् । न तदप्यविवक्षितत्वात् । अथ स्यात्परिस्पन्दस्य बन्धहेतुत्वे सचरदभ्राणामपि कर्मबन्ध. प्रसजतीति न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । न चाभ्रपरिस्पन्द. कर्मजनितो येन तद्धेतुतामास्कन्देत् ।

वैक्रियककाययोगस्य सत्त्वोद्देशप्रतिपादनार्थमाह —

समाधान—सभी जीव शरीरपर्याप्तिके निष्पन्न होने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं।

उनमेंसे पहले औदारिककाययोगका लक्षण कहते हैं । पर्याप्तिको प्राप्त हुए शरीरके आलम्बनद्वारा उत्पन्न हुए जीवप्रदेश परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं। और औदारिकशरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें औदारिकमिश्रकाययोग होता है। जिसका तात्पर्य इसप्रकार है कि कार्मण और औदारिकशरीरके स्कन्धोंके निमित्तसे जीवके प्रदेशोंमें उत्पन्न हुए परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ।

शंका—पर्याप्त अवस्थामें कार्मणशरीरका सद्भाव होनेके कारण वहां पर भी कार्मण और औदारिकशरीरके स्कन्धोंके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है, इसलिये वहां पर भी औदारिकमिश्रकाययोग क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें यद्यपि कार्मणशरीर विद्यमान है फिर भी वह जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण नहीं है। यदि पर्याप्त अवस्थामें कार्मणशरीर परंपरासे जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण कहा जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कार्मणशरीरको परंपरासे निमित्त मानना उपचार है । यदि कहें कि उपचारका भी यहां पर ग्रहण कर लिया जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उपचारसे परंपरारूप निमित्तके ग्रहण करनेकी यहां विवक्षा नहीं है ।

शंका—परिस्पन्दको बन्धका कारण मानने पर संचार करते हुए मेघोंके भी कर्मबन्ध प्राप्त हो जायगा, क्योंकि, उनके भी परिस्पन्द पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कर्मजनित चैतन्यपरिस्पन्द ही आस्रवका कारण है, यह अर्थ यहां पर विवक्षित है । मेघोंका परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं, जिससे वह कर्मबन्धके आस्रवका हेतु हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता है ।

अब वैक्रियककाययोगके सद्भावके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं ॥ ७७ ॥

पर्याप्तावस्थायां वैक्रियककाययोगे सति तत्र शेषयोगाभावः स्यादिति चेन्न, तत्र वैक्रियककाययोग एवास्तीत्यवधारणाभावात् । अवधारणाभावेऽपर्याप्तावस्थायां शेषयोगानामपि सत्त्वमापतेदिति चेत्सत्यम्, कार्मणकाययोगस्य सत्त्वोपलम्भात् । न तदत्र वाङ्मनसयोरपि सत्त्वमपर्याप्तानां तयोरभावस्योक्तत्वात् ।

आहारकाययोगसत्त्वप्रदेशप्रतिपादनायाह —

आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं ॥ ७८ ॥

आहारशरीरोत्थापकः पर्याप्तः संयतत्वान्यथानुपपत्तेः । तथा चाहारमिश्रकाय

वैक्रियिककाययोग पर्याप्तकोंके और वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥७७॥

शंका — पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिककाययोगके मानने पर वहां शेष योगोंका अभाव मानना पड़ेगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिककाययोग ही होता है ऐसा निश्चयरूपसे कथन नहीं किया है।

शंका — जब कि उक्त कथन निश्चयरूप नहीं है तो अपर्याप्त अवस्थामें भी इसीप्रकार शेष योगोंका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान — यह कहना किसी अपेक्षासे ठीक है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिकमिश्रके अतिरिक्त कार्मणकाययोगका भी सद्भाव पाया जाता है। किंतु कार्मणकाययोगके समान अपर्याप्त अवस्थामें वचनयोग और मनोयोगका सद्भाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अपर्याप्त अवस्थामें इन दोनों योगोंका अभाव रहता है यह बात पहले कही जा चुकी है।

अब आहारककाययोगका आधार बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग पर्याप्तकोंके और आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥७८॥

[illegible] — आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु पर्याप्तक ही होता है, अन्यथा उसके संयतपना नहीं बन सकता है। इसलिये आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकके होता

[illegible]

[illegible]

योगोऽपर्याप्तकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, अनवगतसूत्राभिप्रायत्वात्। तद्यथा, भवतु स पर्याप्तकः औदारिकशरीरगतषट्पर्याप्त्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्याप्तिनिष्पत्त्यभावापेक्षया त्वपर्याप्तकोऽसौ। पर्याप्तापर्याप्तत्वयोरेकत्राक्रमेण संभवो विरोधादिति चेन्न, पर्याप्तापर्याप्तयोगयोरक्रमेणैकत्र न सम्भव इतीष्टत्वात्। तर्हि न पूर्वोऽभ्युपगम इति विरोध इति चेन्न, भूतपूर्वगतन्यायापेक्षया विरोधासिद्धेः। विनष्टौदारिकशरीरसम्बन्धषट्पर्याप्तेरपरिनिष्ठिताहारशरीरगतपर्याप्तेरपर्याप्तस्य कथं संयम इति चेन्न, संयमस्यास्रवनिरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह विरोधासिद्धेः। विरोधे वा न केवलिनोऽपि समुद्घातगतस्य संयमः तत्राप्यपर्याप्तकयोगास्तित्वं प्रत्यविशेषात्। 'संजदासंजदट्ठाणे

है यह कथन नहीं बन सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा कहनेवाला आगमके अभिप्रायको ही नहीं समझा है। आगमका अभिप्राय तो इसप्रकार है कि आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु औदारिक शरीरगत छह पर्याप्तियोंकी अपेक्षा पर्याप्तक भले ही रहा आवे, किन्तु आहारकशरीरसंबन्धी पर्याप्तिके पूर्ण होनेकी अपेक्षा वह अपर्याप्तक है।

शंका—पर्याप्त और अपर्याप्तपना एकसाथ एक जीवमें संभव नहीं है, क्योंकि, एक साथ एक जीवमें इन दोनोंके रहनेमें विरोध आता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमें पर्याप्त और अपर्याप्तसंबन्धी योग संभव नहीं है, यह बात हमें इष्ट ही है।

शंका—तो फिर हमारा पूर्व कथन क्यों न मान लिया जाय, अन्यथा आपके कथनमें विरोध आता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा विरोध असिद्ध है। अर्थात् औदारिक शरीरसंबन्धी पर्याप्तपनेकी अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार किया जा सकता है।

शंका—जिसके औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां नष्ट हो चुकी हैं, और आहारक शरीरसंबन्धी पर्याप्तियां अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक साधुके संयम कैसे हो सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसका लक्षण आस्रवका निरोध करना है ऐसे संयमका मन्दयोग (आहारकमिश्रयोग) के साथ होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। यदि इस मन्द योगके साथ संयमके होनेमें विरोध आता ही है ऐसा माना जावे तो समुद्घातको प्राप्त हुए केवलीके भी संयम नहीं हो सकेगा, क्योंकि, वहां पर भी अपर्याप्तसंबन्धी योगका सद्भाव पाया जाता है इसमें कोई विशेषता नहीं है।

णियमा पज्जत्ता ' इत्यनेनाऽपि सह कथं न विरोध स्यादिति चेन्न,
पर्यायार्थिकनयस्याभिप्रायेणाहारशरीरानिष्पत्त्यवस्थायामपि षट्पर्याप्तीना
कार्मणकाययोगः पर्याप्तेष्वपर्याप्तेषूभयत्र वा भवतीति नोक्तम्, तन्निश्चय
' कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाण
स्त्रसादपर्याप्तेष्वेव कार्मणकाययोग इति निश्चीयते ।

पर्याप्तिष्वपर्याप्तिषु च योगानां सत्त्वमसत्त्वं चाभिधायेदानीं गति
स्थानानां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया
सिया अपज्जत्ता ॥ ७९ ॥**

नारका इत्यनेन बहुवचनेन स्यादित्येतस्य एकवचनस्य न सामाना

शंका—' संयतासंयतसे लेकर सभी गुणस्थानोंमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते
वचनके साथ उपर्युक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आजायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए इस
अभिप्रायसे आहारक शरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें भी औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्ति
होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—कार्मणकाययोग पर्याप्त होने पर होता है, या अपर्याप्त रहने पर होता
अथवा दोनों अवस्थाओंमें होता है, यह कुछ भी नहीं कहा, इसलिये इसका निश्चय कै
किया जाय ?

समाधान—' विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतिके जीवोंके और समुद्घातगत केवलियों
कार्मणकाययोग होता है ' इस सूत्रके कथनानुसार अपर्याप्तकोंके ही कार्मणकाययोग होता
है इस कथनका निश्चय हो जाता है ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमें योगोंके सत्त्व और असत्त्वका कथन करके अब
चार गतिसम्बन्धी पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमें गुणस्थानोंके सत्त्व और असत्त्वके प्रतिपादन
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक होते हैं और
अपर्याप्तक भी होते हैं ॥ ७९ ॥

शंका—सूत्रमें आये हुए 'नारका' इस बहुवचनके साथ 'स्यात्' इस एक वचनका
समानाधिकरण नहीं बन सकता है

[illegible]

मिति चेन्न, एकस्य नानात्मकस्य नानात्वाविरोधात्। विरुद्धयोः कथमेकमधिकरणमिति चेन्न, दृष्टत्वात्। न हि दृष्टेऽनुपपन्नता[१]। नारकाः मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयश्च पर्याप्ताश्चापर्याप्ताश्च भवन्ति। समुच्चयावगतये चशब्दोऽत्र वक्तव्य इति चेन्न, सामर्थ्यलभ्यत्वात्।

तत्रतनशेषगुणद्वयप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ८० ॥

नारकाः निष्पन्नषट्पर्याप्तयः सन्तः ताभ्यां गुणाभ्यां परिणमन्ते नापर्याप्तावस्थायाम्। किमिति तत्र तौ नोत्पद्येते इति चेत्तयोस्तत्रोत्पत्तिनिमित्तपरिणामाभावात्।

समाधान—नहीं, क्योंकि, एक भी नानात्मक होता है, इसलिये एकको नानारूप मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—विरुद्ध दो पदार्थोंका एकाधिकरण कैसे हो सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो पदार्थोंका भी एकाधिकरण देखा जाता है। और देखे गये कार्यमें यह नहीं बन सकता यह कहा नहीं जा सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि नारकी पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं।

शंका—समुच्चयका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें च शब्दका कथन करना चाहिये?

समाधान—नहीं, क्योंकि यह सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाता है।

अब नारकसंबन्धी शेष दो गुणस्थानोंके आधारके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८० ॥

जिनकी छह पर्याप्तियां पूर्ण हो गई हैं ऐसे नारकी ही इन दो गुणस्थानोंके साथ परिणत होते हैं, अपर्याप्त अवस्थामें नहीं।

शंका—नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान—क्योंकि, नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें इन दो गुणस्थानोंकी उत्पत्तिके निमित्तभूत परिणामोंका अभाव है, इसलिये उनकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान नहीं होते हैं।

१ स्वभावः प्रभवन् सिद्धो यदि पर्यनुयुज्यते। तत्रोत्तरमिदं युक्तं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥ स. त. टी. पृ. २१

सोऽपि किमिति तयोर्न स्यादिति चेत्स्वाभाव्यात्। नारकाणामग्निसम्बन्धाद्भस्मसाद्भावमुपगतानां पुनर्भस्मनि समुत्पद्यमानानामपर्याप्ताद्धायां गुणद्वयस्य सत्त्वाविरोधान्नियमेन पर्याप्ता इति न घटत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात्। भावे वा न ते तत्रोत्पद्यन्ते, 'णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा णो णिरयगदिं जादि णो देवगदिं जादि, तिरिक्खगदिं मणुसगदिं च जादि' इत्यनेनार्षेण निषिद्धत्वात्। आयुषोऽवसाने म्रियमाणानामपि नियमश्चेन्न, तेषामपमृत्योरसत्त्वात्। भस्मसाद्भावमुपगतदेहानां तेषां कथं पुनर्मरणमिति चेन्न, देहविकारस्यायुर्विच्छित्त्यनिमित्तत्वात्। अन्यथा बालावस्थातः प्राप्तयौवनस्यापि मरणप्रसङ्गात्।

शंका — इसप्रकारके परिणाम उन दो गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं?

समाधान — क्योंकि ऐसा स्वभाव ही है।

शंका — अग्निके संबन्धसे भस्मभावको प्राप्त हुए और फिर भी उसी भस्ममें होनेवाले नारकियोंके अपर्याप्त कालमें इन दो गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है, अर्थात् छेदन भेदन आदिसे नष्ट हुए नारकके पश्चात् पुनः उन्हीं अवयवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सासादन और मिश्र गुणस्थान माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये इन गुणस्थानोंमें नारकी नियमसे पर्याप्तक होते हैं, यह नियम नहीं बनता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, अग्नि आदि निमित्तोंसे नारकियोंका मरण नहीं होता है। यदि नारकियोंका मरण हो जावे तो पुनः वे वहीं पर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, जिनकी आयु पूर्ण हो गई है ऐसे नारकी जीव नरकगतिसे निकलकर पुनः नरकगतिको नहीं जाते हैं, देवगतिको नहीं जाते हैं। किन्तु तिर्यंचगति और मनुष्यगतिको जाते हैं, इस आर्ष वचनके अनुसार नारकियोंका पुनः नरकगतिमें उत्पन्न होना निषिद्ध है।

शंका — आयुके अन्तमें मरनेवाले नारकियोंके लिये तो यह सूत्रोक्त नियम लागू होना चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता है। अर्थात् नारकियोंका आयुके अन्तमें ही मरण होता है, बीचमें नहीं।

शंका — यदि उनका अपमृत्यु नहीं होता है तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त हो गया है ऐसे नारकियोंका पुनर्मरण कैसे बनेगा?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुकर्मके विनाशका निमित्त नहीं है। अन्यथा जिसने बाल अवस्थाके पश्चात् यौवन अवस्थाको प्राप्त कर लिया है ऐसे जीवके भी मरणका प्रसंग आ जायगा।

नारकाणामोघमभिधायादेशप्रतिपादनार्थमाह—

एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ॥ ८१ ॥

प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषां नारकाणां सामान्योक्तरूपेण[1] भवन्ति। कुतः? विशेषाभावात्। यदि सामान्यप्ररूपणया प्रथमपृथिवीगतनारका एव निरूपिता भवेयुस्तर्हि तया, विशेषनिरूपणतयैव तदवगतेरिति ? न, द्रव्यार्थिकनयात् सत्त्वानुग्रहार्थं तत्प्रवृत्तेः। विशेषप्ररूपणमन्तरेण न सामान्यप्ररूपणतोऽर्थावगतिर्भवतीति तथा निरूपणमनर्थकमिति चेन्न, बुद्धीनां वैचित्र्यात्। तथाविधबुद्धयो नेदानीमुपलभ्यन्त इति चेन्न, अस्यार्षस्य त्रिकालगोचरानन्तप्राण्यपेक्षया प्रवृत्तत्वात्।

शेषपृथिवीनारकाणां प्रतिपादनार्थमाह —

इसप्रकार सामान्यरूपसे नारकियोंका कथन करके अब विशेषरूपसे कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी होते हैं ॥ ८१ ॥

प्रथम पृथिवीमें जो नारकी रहते हैं उनकी पर्याप्तियां और अपर्याप्तियां नरकगतिके सामान्य कथनके अनुसार होती हैं, क्योंकि, नरकगतिसंबन्धी सामान्य कथनमें और प्रथम पृथिवीसंबन्धी कथनमें कोई विशेषता नहीं है।

शंका—यदि सामान्यप्ररूपणाके द्वारा प्रथम पृथिवीसंबन्धी नारकी ही निरूपित किये गये हैं, तो सामान्यप्ररूपणाके कथन करनेसे रहने दो, क्योंकि, विशेषप्ररूपणासे ही उसका ज्ञान हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहके लिये सामान्यप्ररूपणाकी प्रवृत्ति मानी गई है।

शंका—विशेषप्ररूपणाके विना केवल सामान्यप्ररूपणासे अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है, ऐसी हालतमें सामान्यप्ररूपणाका कथन करना निष्फल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, श्रोताओंकी बुद्धि अनेक प्रकारकी होती है, इसलिये विशेष प्ररूपणाके कथनके समान सामान्यप्ररूपणाका कथन करना भी निष्फल नहीं है।

शंका—जो सामान्यसे पदार्थको समझ लेते हैं ऐसे बुद्धिमान् पुरुष इस कालमें तो नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगम तो त्रिकालमें होनेवाले अनन्त प्राणियोंकी अपेक्षा प्रवृत्त होता है।

शेष पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकियोंके विशेष कथनके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१ 'पर्याप्तयोऽपर्याप्तयश्च' इति पाठः।

बिदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८२ ॥

अधस्तनीषु षट्सु पृथिवीषु मिथ्यादृष्टीनामुत्पत्तेः सत्त्वात्। पृथिवीशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यनीयः। सुगममन्यत्।

शेषगुणस्थानानां तत्र क्व सत्त्वं क्व च न भवेदिति जातारेकस्य भव्यस्यारेकानिरसनार्थमाह —

सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ८३ ॥

भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः। सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाममधिष्ठितस्य मरणाभावात्। भवति च तस्य मरणं गुणान्तरमुपादाय। न च तत्र स गुणोऽस्तीति। किन्त्वेतन्न युज्यते शेषगुणस्थानप्राणिनस्तत्र नोत्पद्यन्त इति? न तावत्सासादनस्तत्रोत्पद्यते

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक रहनेवाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८२ ॥

प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथिवियोंमें मिथ्यादृष्टि जीवोंकी ही उत्पत्ति पाई जाती है, इसलिये यहां पर प्रथम गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थायें बतलाई गई हैं। सूत्रमें आया हुआ पृथिवी शब्द प्रत्येक नरकके साथ जोड़ लेना चाहिये। शेष व्याख्यान सुगम है।

उन पृथिवियोंमें किस अवस्थामें शेष गुणस्थानोंका सद्भाव है और किस अवस्थामें नहीं, इसप्रकार जिसको शंका उत्पन्न हुई है उस भव्यकी शंकाके दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक रहनेवाले नारकी सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८३ ॥

शंका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी मरकर शेष छह पृथिवियोंमें भी उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणामको प्राप्त हुए जीवका मरण ही नहीं होता है। यदि उसका मरण भी होता है तो किसी दूसरे गुणस्थानको प्राप्त होकर ही होता है। परन्तु मरणकालमें वह गुणस्थान नहीं होता, यह सब ठीक है। किन्तु शेष (दूसरे चौथे) गुणस्थानवाले प्राणी मरकर वहां पर उत्पन्न नहीं होते, यह कहना नहीं बनता है?

समाधान—सासादन गुणस्थानवाले तो नरकमें उत्पन्न ही नहीं होते हैं, क्योंकि

तस्य नरकायुषो बन्धाभावात्। नापि बद्धनरकायुष्कः सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते तस्य तस्मिन् गुणे मरणाभावात्। नासंयतसम्यग्दृष्टयोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते तत्रोत्पत्तिनिमित्ताभावात्। न तावत्कर्मस्कन्धबहुत्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं क्षपितकर्मांशानामपि जीवानां तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। नापि कर्मस्कन्धाणुत्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं गुणितकर्मांशानामपि तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। नापि नरकगतिकर्मणः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं तत्सत्त्वं प्रत्यविशेषतः सकलपञ्चेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्तिप्रसङ्गात्। नित्यनिगोदानामपि विद्यमानत्रसकर्मणां त्रसेषूत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाशुभलेश्यानां सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं मरणावस्थायामसंयतसम्यग्दृष्टेः षट्सु पृथिवीषूत्पत्तिनिमित्ताशुभलेश्याभावात्। न नरकायुषः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं सम्यग्दर्शनासिना छिन्नषट्पृथिव्यायुष्कत्वात्। न च तच्छेदोऽसिद्धः आर्षात्तत्सिद्ध्युपलम्भात्। ततः स्थितमेतत् न सम्यग्दृष्टिः षट्सु पृथिवीषूत्पद्यते इति।

सासादन गुणस्थानवालेके नरकायुका बन्ध ही नहीं होता है। जिसने पहले नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसे जीव भी सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, नरकायुका बन्ध करनेवाले जीवका सासादन गुणस्थानमें मरण ही नहीं होता है। असंयतसम्यग्दृष्टि जीव भी द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंके शेष छह पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते हैं। यदि कर्म स्कन्धोंकी अधिकता असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके शेष छह नरकोंमें उत्पत्तिका कारण कहा जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जिन्होंने बहुतसे कर्मस्कन्धोंका क्षय कर दिया है ऐसे जीवोंकी भी नरकमें उत्पत्ति देखी जाती है। कर्मस्कन्धोंकी अल्पता भी नरकमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि, जिनके उत्तरोत्तर गुणित कर्मस्कन्ध पाये जाते हैं उनकी भी वहां पर उत्पत्ति देखी जाती है। नरकगतिका सत्त्व भी सम्यग्दृष्टिके नरकमें उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, नरकगतिके सत्त्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी पंचेन्द्रिय जीवोंको नरक गतिकी प्राप्तिका प्रसंग आजायगा। तथा नित्यनिगोदिया जीवोंके भी त्रसकर्मकी सत्ता विद्यमान रहती है, इसलिये उनकी भी त्रसोंमें उत्पत्ति होने लगेगी। अशुभ लेश्याके सत्त्वको नरकमें उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, मरणके समय असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिका कारणरूप अशुभ लेश्याएं नहीं पाई जाती हैं। नरकायुका सत्त्व भी सम्यग्दृष्टिके नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दर्शनरूपी खड्गसे नीचेकी छह पृथिवीसंबन्धी आयु काट दी जाती है। नीचेकी छह पृथिवीसंबन्धी आयुका कटना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि नीचेकी छह पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टी जीव उत्पन्न नहीं होता है।

तिर्यग्गतौ गुणस्थानानां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनार्थमाह —

तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८४ ॥

भवतु नाम मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां तिर्यक्षु पर्याप्तापर्याप्तद्वयोः सत्त्वं तयोस्तत्रोत्पत्त्यविरोधात्। सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्दर्शनस्य विरोधादिति? न विरोधः, अस्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सेविततीर्थंकरः क्षपितसप्तप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःखभूयस्सूत्पद्यते इति चेन्न, तिरश्चां नारकेभ्यो दुःखाधिक्याभावात्। नारकेष्वपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां तत्रोत्पत्तिप्रतिपादकार्षोपलम्भात्। किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनोपादानात् प्राक् मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां बद्धतिर्यङ्नरकायुष्कत्वात्। सम्यग्दर्शनेन तत्

अब तिर्यंचगतिमें गुणस्थानोंके सद्भावके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८४ ॥

मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका तिर्यंचसम्बन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें भले ही सत्त्व रहा आवे, क्योंकि, इन दो गुणस्थानोंकी तिर्यंचसम्बन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। परंतु सम्यग्दृष्टि जीव तो तिर्यंचोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यंचोंकी अपर्याप्त पर्यायके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है?

समाधान—विरोध नहीं है। फिर भी यदि विरोध माना जाय तो ऊपरका सूत्र अप्रमाण हो जायगा।

शंका—जिसने तीर्थंकरकी सेवा की है और जिसने मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दुःखबहुल तिर्यंचोंमें कैसे उत्पन्न होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यंचोंके नारकियोंकी अपेक्षा अधिक दुःख नहीं पाये जाते हैं।

शंका—तो फिर नारकियोंमें भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होंगे?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंकी नारकियोंमें उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रमाण पाया जाता है।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव नारकियोंमें क्यों उत्पन्न होते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि

[illegible]

किमिति न छिद्यते ? इति चेत् किमिति तच्च छिद्यते ? अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः। तदपि कुतः ? स्वाभाव्यात्।

तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ८५ ॥

मनुष्याः मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां बद्धतिर्यगायुषः पश्चात्सम्यग्दर्शनेन सहात्ताप्रत्याख्यानाः क्षपितसप्तप्रकृतयस्तिर्यक्षु किन्नोत्पद्यन्ते ? इति चेत् किंचातोऽप्रत्याख्यानगुणस्य तिर्यगपर्याप्तेषु सत्त्वापत्तिः ? न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसम्बद्धायुषोपलक्षितानां अणुव्रतोपादानबुद्ध्यनुत्पत्तेः। उक्तं च—

> चत्तारि वि खेत्ताइं आउग-बंधेण होइ सम्मत्तं।
> अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥ १६९ ॥

[illegible] जिन मनुष्यों ने [illegible] आयुका बन्ध कर लिया है उनको सम्यग्दर्शनके साथ [illegible] प्राप्ति नहीं आती है।

शंका— [illegible] सम्यग्दर्शन उस आयुका छेद क्यों नहीं हो जाता है ?

समाधान— उसका छेद क्या नहीं होता है ? अवश्य होता है, किन्तु उसका [illegible] नहीं [illegible] है।

शंका— [illegible] नहीं होता ?

समाधान— [illegible] बांधी हुई आयुकर्मोंका [illegible] नहीं होता है [illegible]।

अब [illegible] सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये [illegible] है—

[illegible] और संयतासंयत गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक [illegible] ॥ ८५ ॥

शंका— [illegible]

[illegible]

समाधान— [illegible]

[illegible]

[illegible]

न तिर्यक्षूत्पन्ना अपि क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽणुव्रतान्याददते भोगभूमावुत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्तेः । ये निर्दानास्ते कथं तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य तत्रोत्पत्तिकारणस्य सत्त्वात् । न च पात्रदानेऽननुमोदिनः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति तत्र तदनुपपत्तेः ।

तिरश्चामोघमभिधायादेशस्वरूपनिरूपणार्थं वक्ष्यति—

एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ ८६ ॥

एतेषामोघप्ररूपणमेव भेदविवक्षितं प्रति विशेषाभावात् ।

स्त्रीवेदविशिष्टतिरश्चां विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

है, परंतु देवायुके बन्धको छोड़कर शेष तीन आयुकर्मके बन्ध होने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रतको ग्रहण नहीं करता है ॥ १६९ ॥

तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतोंको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतोंका ग्रहण करना बन नहीं सकता है ।

शंका — जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोगभूमिमें कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमें उत्पत्तिका कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उनके वहां उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित जीव सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकते हैं, क्योंकि, उनमें पात्रदानकी अनुमोदनाका अभाव नहीं बन सकता है ।

विशेषार्थ — क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति मनुष्य पर्यायमें ही होती है । अतः जिस मनुष्यने पहले तिर्यंचायुका बन्ध कर लिया है और अनन्तर उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे जीवके भोगभूमिमें उत्पत्तिका मुख्य कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जानना चाहिये पात्रदान नहीं । फिर भी वह पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित नहीं होता है ।

इसप्रकार तिर्यंचोंकी सामान्य प्ररूपणाका कथन करके अब उनके विशेष स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यंचसम्बन्धी सामान्यप्ररूपणाके समान पंचेन्द्रियतिर्यंच और पर्याप्तपंचेन्द्रिय तिर्यंच भी होते हैं ॥ ८६ ॥

पंचेन्द्रियतिर्यंच और पर्याप्त-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंकी प्ररूपणा तिर्यंचसम्बन्धी सामान्य प्ररूपणाके समान ही होती है, क्योंकि, विवक्षित विषयके प्रति इन दोनोंके कथनमें कोई विशेषता नहीं है ।

अब स्त्रीवेदयुक्त तिर्यंचोंमें विशेषताका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ८७ ॥

सासादनो नारकेष्विव तिर्यक्ष्वपि नोत्पद्यत इति चेन्न, द्वयोः साधर्म्याभावतो दृष्टान्तानुपपत्तेः।

तत्र शेषगुणानां स्वरूपमभिधातुमाह —

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ८८ ॥

कुतः? तत्रैतासामुत्पत्तेरभावात्। बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु नपुंसकवेद इवात्र स्त्रीवेदे किन्नोत्पद्यत इति चेन्न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात्। यत्र क्वचन समुत्पद्यमान

योनिमती-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८७ ॥

शंका — सासादन गुणस्थानवाला जीव मरकर जिसप्रकार नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होता है, उसीप्रकार तिर्यंचोंमें भी उत्पन्न नहीं होना चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, नारकी और तिर्यंचोंमें साधर्म्य नहीं पाया जाता है, इसलिये नारकियोंका दृष्टान्त तिर्यंचोंमें लागू नहीं हो सकता है।

योनिमती तिर्यंचनियोंमें शेष गुणस्थानोंके स्वरूपका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

योनिमती-तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८८ ॥

शंका — ऐसा क्यों होता है?

समाधान — क्योंकि, उपर्युक्त गुणस्थानोंमें मरकर योनिमती-तिर्यंच उत्पन्न नहीं होते हैं।

शंका — जिसप्रकार बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नारकसम्बन्धी नपुंसकवेदमें उत्पन्न होता है उसीप्रकार यहां पर स्त्रीवेदमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, नारकमें एक नपुंसकवेदका ही सद्भाव है। जिस किसी गतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उस गतिसम्बन्धी विशिष्ट वेदादिकमें ही उत्पन्न होता है। यह अभिप्राय यहां पर ग्रहण करना चाहिये। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर योनिमती तिर्यंचोंमें नहीं उत्पन्न होता है।

सम्यग्दृष्टिस्तत्र स्त्रीवेदादिषु न समुत्पद्यत इति गृह्यताम्। तिर्यगपर्याप्तेषु किन्न निरूपित-मिति नाशङ्कनीयम्, तत्र प्रतिपक्षाभावतो गतार्थत्वात्।

मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह —

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सुगममेतत्।

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९० ॥

भवतु सर्वेषामेतेषां पर्याप्तत्वं नाहारशरीरमुत्थापयतां प्रमत्तानामनिष्पन्नाहारगत-षट्पर्याप्तीनाम्। न पर्याप्तकर्मोदयापेक्षया पर्याप्तोपदेशः तदुदयस्याविशेषतोऽसंयत

शंका—तिर्यंच अपर्याप्तोंमें गुणस्थानोंका निरूपण क्यों नहीं किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त तिर्यंचोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थानको छोड़कर प्रतिपक्षरूप और कोई दूसरा गुणस्थान नहीं पाया जाता है, अतः बिना कथन किये ही इसका ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ—यहां अपर्याप्त तिर्यंचोंसे लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचोंका ग्रहण करना चाहिये। और लब्ध्यपर्याप्तकोंके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। अतः उनके विषयमें यहां पर अधिक नहीं कहा गया है।

अब मनुष्यगतिके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सरल है।

मनुष्योंमें शेष गुणस्थानोंके सद्भावरूप अवस्थाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य सम्यग्मिथ्यादृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९० ॥

शंका—सूत्रमें बताये गये इन सभी गुणस्थानवालोंको चाहे पर्याप्तपना प्राप्त होओ परंतु जिनकी आहारक शरीरसम्बन्धी छह पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोंके पर्याप्तपना नहीं बन सकता है। यदि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले

सम्यग्दृष्टीनामपि अपर्याप्तत्वस्याभावापत्तेः । न च संयमोत्पत्त्यवस्थापेक्षया तदवस्थायां प्रमत्तस्य पर्याप्तत्वं घटते असंयतसम्यग्दृष्टावपि तत्प्रसङ्गादिति नैष दोषः, अवलम्बितद्रव्यार्थिकनयत्वात् । सोऽन्यत्र किमिति नावलम्ब्यत इति चेन्न, तत्र निमित्ताभावात् । किमर्थमत्रावलम्ब्यत इति चेदपर्याप्तैरस्य साम्यप्रदर्शनं तदवलम्बनकारणम् । केन साम्यमिति चेद् दुःखाभावेन । उपपातगर्भसम्मूर्छनशरीराण्याददानानामिव आहारशरीरमाददानानां न दुःखमस्तीति पर्याप्तत्वं प्रमत्तस्योपचर्यत इति यावत् । पूर्वाभ्यस्तवस्तुविस्मरणमन्तरेण शरीरोपादानाद्वा दुःखमन्तरेण पूर्वशरीरपरित्यागाद्वा प्रमत्तस्तदवस्थायां

प्रमत्तसंयतोंको पर्याप्तक कहा जावे, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, पर्याप्तकर्मका उदय प्रमत्तसंयतोंके समान असंयत सम्यग्दृष्टियोंके भी निर्वृत्त्यपर्याप्त अवस्थामें पाया जाता है, इसलिये वहां पर भी अपर्याप्तपनेका अभाव मानना पड़ेगा। संयमकी उत्पत्तिरूप अवस्थाकी अपेक्षा प्रमत्तसंयतके आहारककी अपर्याप्त अवस्थामें पर्याप्तपना बन जाता है यदि ऐसा कहा जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इसप्रकार असंयत सम्यग्दृष्टियोंके भी अपर्याप्त अवस्थामें [सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा] पर्याप्तपनेका प्रसंग आजायगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनकी अपेक्षा प्रमत्तसंयतोंको आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके पूर्ण नहीं होने पर भी पर्याप्त कहा है।

शंका—उस द्रव्यार्थिक नयका दूसरी जगह [विग्रहगतिसंबन्धी गुणस्थानोंमें] आलम्बन क्यों नहीं लिया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनके निमित्त नहीं पाये जाते हैं।

शंका—तो फिर यहां पर द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन किस लिये लिया जा रहा है।

समाधान—आहारकसंबन्धी अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त हुए प्रमत्तसंयतका पर्याप्तकके साथ समानताका दिखाना ही यहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनका कारण है।

शंका—इसकी दूसरे पर्याप्तकोंके साथ किस कारणसे समानता है ?

समाधान—दुःखाभावकी अपेक्षा इसकी दूसरे पर्याप्तकोंके साथ समानता है। जिसप्रकार उपपातजन्म, गर्भजन्म या सम्मूर्छनजन्मसे उत्पन्न हुए शरीरोंको धारण करनेवालोंके दुःख होता है, उसप्रकार आहारशरीरको धारण करनेवालोंके दुःख नहीं होता है, इसलिये उस अवस्थामें प्रमत्तसंयत पर्याप्त है इसप्रकारका उपचार किया जाता है। अथवा, पहले अभ्यास की हुई वस्तुके विस्मरणके विना ही आहारक शरीरका ग्रहण होता है या दुःखके विना ही पूर्व शरीर [औदारिक] का परित्याग होता है, अतएव प्रमत्तसंयत अपर्याप्त

पर्याप्त इत्युपचर्यते। निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तः[1]। एवं समुद्घातगतकेवलिनामपि वक्तव्यम्।

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह —

एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥ ९१ ॥

पर्याप्तेषु नापर्याप्तत्वमस्ति विरोधात्। ततः 'एवं पज्जत्ता' इति कथमेतद्घटत इति चेन्न दोषः, शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया तदुपपत्तेः। कथं तस्य पर्याप्तत्वम्? न, द्रव्यार्थिकनयाश्रयणात्। ओदनः पच्यत इत्यत्र यथा तन्दुलानामोदनव्यपदेशस्तथाऽपर्याप्तावस्थायामप्यत्र पर्याप्तव्यवहारो न विरुध्यत इति। पर्याप्तनामकर्मोदयापेक्षया वा पर्याप्तता। एवं तिर्यक्ष्वपि वक्तव्यम्। सुगममन्यत्।

अवस्थामें भी पर्याप्त हैं, इसप्रकारका उपचार किया जाता है। निश्चयनयका आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्त ही है। इसीप्रकार समुद्घातगत केवलीके संबन्धमें भी कथन करना चाहिये।

अब मनुष्यके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य-सामान्यके कथनके समान पर्याप्त मनुष्य होते हैं ॥ ९१ ॥

शंका — पर्याप्तकोंमें अपर्याप्तपना तो बन नहीं सकता है, क्योंकि, इन दोनों अवस्थाओंका परस्पर विरोध है। इसलिये 'इसीप्रकार पर्याप्त होते हैं' यह कथन कैसे घटित होगा?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शरीरकी अनिष्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तकोंमें भी अपर्याप्तपना बन जाता है।

शंका — जिसके शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसे पर्याप्तक कैसे कहा जायगा?

समाधान — नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना बन जाता है। भात पक रहा है, यहां पर जिसप्रकार चावलोंको भात कहा जाता है उसीप्रकार जिसके सभी पर्याप्तियां पूर्ण होनेवाली हैं ऐसे जीवके अपर्याप्त अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार विरोधको प्राप्त नहीं होता है। अथवा पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा उनके पर्याप्तपना समझ लेना चाहिये। इसीप्रकार तिर्यंचोंमें भी कथन करना चाहिये। शेष कथन सुगम है।

विशेषार्थ — पर्याप्त मनुष्योंमें पर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त इन दोनों प्रकारके मनुष्योंका

१ आहारिकाया उत्थानप्रारंभकस्य मिश्रः स्वपर्याप्तकस्य तु। तथा पर्याप्ताऔदारिकाद्य कार्मणं आहारिकशरीरस्य च ... मिश्रो भवति। एवमौदारिकमिश्रः। तथा कार्मणमिश्रो द्वितीयषष्ठ... समये ... औदारिकेण। आहारकमपि ... पुनरौदारिकं ... आहारिकेभ्यः। स्था. ३ वा. १३ (अभि. रा. का. जोग)

मानुषीषु निरूपणार्थमाह —

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥

अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः¹। अथवा स्यादित्ययं निपातः कथञ्चिदित्यस्मिन्नर्थे वर्तते, तेन स्यात्पर्याप्ताः पर्याप्तनामकर्मोदयाच्छरीरनिष्पत्त्यपेक्षया वा। स्यादपर्याप्ताः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम्। सुगममन्यत्।

तत्रैव शेषगुणविषयारेकापोहनार्थमाह —

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसी-

---

अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, आगममें जो मनुष्योंके चार भेद किये हैं उनमेंसे जिनके पर्याप्त नामकर्मका उदय विद्यमान है उन्हें पर्याप्त कहा है। इस पर शंकाकारका कहना है कि जिनके पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तकोंका पर्याप्तकोंमें अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता है। इसी शंकाको ध्यानमें रखकर ऊपर समाधान किया गया है।

अब मनुष्य स्त्रियोंमें गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य स्त्रियां मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती हैं और अपर्याप्त भी होती हैं ॥ ९२ ॥

यहां पर भी पर्याप्त मनुष्योंके समान निर्वृत्त्यपर्याप्तकोंमें पर्याप्तपनेका व्यवहार कर लेना चाहिये। अथवा, 'स्यात्' यह निपात कथंचित् अर्थमें रहता है। इसके अनुसार कथंचित् पर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा अथवा शरीर पर्याप्तिकी पूर्णताकी अपेक्षा पर्याप्त होते हैं। और कथंचित् अपर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्तिकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त होते हैं। शेष कथन सुगम है।

अब मनुष्य स्त्रियोंमें ही शेष गुणस्थानविषयक शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य-स्त्रियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥ ९३ ॥

शंका — हुण्डावसर्पिणी कालसम्बन्धी स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान — नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं।

शंका — यह किस प्रमाणसे जाना जाता है?

---

१ अ 'स्याद' इति पाठः प्रतिभाति।

चेत् ? अस्मादेवार्षात् । अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धयेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः । भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः । कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात् । गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति । वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षाभावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति।

समाधान—इसी आगम प्रमाणसे जाना जाता है।

शंका—तो इसी आगमसे द्रव्य स्त्रियोंका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका—वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्य स्त्रियोंके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं आना चाहिये ?

समाधान—उनके भाव संयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा, अर्थात् भाव संयमके मानने पर, उनके भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्रादिकका ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

शंका—तो फिर स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बन सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भावस्त्रीमें, अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—बादरकषाय गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिये भाववेदमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहां पर वेदकी प्रधानता नहीं है, किंतु गति प्रधान है। और वह पहले नष्ट नहीं होती है।

शंका—यद्यपि मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान संभव हैं। फिर भी उसे वेद विशेषणसे युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे उस विशेषण युक्त संज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

अपर्याप्त मनुष्योंमें अपर्याप्तिका कोई प्रतिपक्षी नहीं होनेसे और अपर्याप्त मनुष्योंका कथन सुगम होनेसे इस विषयमें कुछ अधिक कहने योग्य नहीं है। इसलिये इस संबन्धमें स्वतन्त्ररूपसे नहीं कहा गया है।

देवगतौ निरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ९४ ॥

अत्र स्याद्विग्रहगतौ कार्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात्। न अपर्याप्तास्ते आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्तिव्यपदेशात्। न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः अतिप्रसङ्गात्। ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तरं वक्तव्यमिति नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। नातिप्रसङ्गोऽपि कार्मणशरीरस्थितप्राणिनामिवापर्याप्तैः सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैरिव गत्यायुःप्रथमद्वितीयसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां प्रत्यासत्तेरभावात्। ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम्।

अब देवगतिमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९४ ॥

शंका—विग्रहगतिमें कार्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है। किन्तु वहां पर कार्मण शरीरवालोंके पर्याप्ति नहीं पाई जाती है, क्योंकि विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोंकी निष्पत्ति नहीं होती है? उसीप्रकार विग्रहगतिमें वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह संज्ञा दी गई है। परन्तु जिन्होंने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगतिसम्बन्धी एक, दो और तीन समयवर्ती जीवोंको अपर्याप्त संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष आता है। इसलिये वहां पर पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था ही कहना चाहिये?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ऐसे जीवोंका अपर्याप्तोंमें ही अन्तर्भाव किया गया है। और ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, कार्मणशरीरमें स्थित जीवोंका अपर्याप्तकोंके साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान, तथा गति और आयु सम्बन्धी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें होनेवाली, अवस्थाके द्वारा जितनी समानता पाई जाती है उतनी शेष प्राणियोंकी नहीं पाई जाती है। इसलिये कार्मणकाययोगी जीवोंका अपर्याप्तकोंमें ही अन्तर्भाव किया गया है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंकी दो अवस्थाएं ही होती हैं। इससे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है।

तृतीयगुणस्य सत्त्वप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९५ ॥

कथं ? तत्र गुणेन सह मरणाभावात्। अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्व-गुणस्योत्पत्तेरभावात्। नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्त-गर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात्।

देवादिप्रतिपादनार्थमाह —

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ सोधम्मीसाण-कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९६ ॥

तीसरे गुणस्थानकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९५ ॥

शंका — यह कैसे ?

समाधान — क्योंकि तीसरे गुणस्थानके साथ मरण नहीं होता है। तथा अपर्याप्त कालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका — 'तृतीय गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं' इसप्रकार नियमके स्वीकार कर लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि अनेकान्तगर्भित एकान्तवादके सद्भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता है।

अब देवगतिमें विशेष प्ररूपणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

भवनवासी वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियां तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासिनी देवियां ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९६ ॥

उभयगुणोपलक्षितजीवानां तत्रोत्पत्तेरुभयत्रापि तदस्तित्वं सिद्धम्। अन्यत्सुगमम्।
तत्रानुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह —

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९७ ॥

भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिस्तस्य तद्गुणेन मरणाभावात्, किन्त्वेतन्न घटते यदसंयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवांस्तत्र नोत्पद्यत इति न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात्। नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठपूत्पद्यमानास्तत्र तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यन्त इति चेन्न, मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बद्धायुष्काणां पश्चादात्तसम्यग्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिबन्धनं प्रति सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात्। तद्वद्देवेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात्। तथा च

इन दोनों गुणस्थानोंसे युक्त जीवोंकी उपर्युक्त देव और देवियोंमें भी उत्पत्ति होती है, अतएव उन दोनों गुणस्थानोंमें भी पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। शेष कथन सुगम है।

उक्त देव और देवियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होनेवाले गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्त होते हैं और पूर्वोक्त देवियां नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥ ९७ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, यह ठीक है, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके साथ जीवका मरण ही नहीं होता है। परंतु यह बात नहीं बनती है कि मरनेवाला असंयतसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियोंमें उत्पन्न नहीं होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका— जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोंमें और तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंमें तथा कल्पवासिनी देवियोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो आयुकर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोकनेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नहीं है।

शंका— सम्यग्दृष्टि जीवोंकी जिसप्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उसी प्रकार इनमें क्यों नहीं होती है?

समाधान—यह कहना ठीक है, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है।

[illegible]

भवनवास्यादिष्वप्यसंयतसम्यग्दृष्टेरुत्पत्तिरस्त्विति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषां प्राणिनां सकलगत्यायुःसामान्येन विरोधाभावेऽपि तत्तद्गतिविशेषायुःसामान्येन विरोधोपलम्भात् । तथा च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकपृथ्वीषट्कस्त्रीनपुंसकविकलेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकर्मभूमिजतिर्यक्षु चोत्पत्त्या विरोधोऽसंयतसम्यग्दृष्टेः सिद्धयेदिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते । सुगममन्यत् ।

देवेषु गुणस्थानप्रतिपादनार्थं वक्ष्यति—

सोधम्मीसाण प्पहुडि जाव उवरिम उवरिम गेवज्ज ति विमाणवासिय-देवेसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ९८ ॥

शंका — यदि ऐसा है तो भवनवासी आदिमें भी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले आयुकर्मका बन्ध कर लिया है ऐसे जीवोंके सम्यग्दर्शनका उस उस गतिसम्बन्धी आयुसामान्यके साथ विरोध न होते हुए भी उस उस गतिसम्बन्धी विशेषमें उत्पत्तिके साथ विरोध पाया जाता है। ऐसी अवस्थामें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक देवोंमें, नीचेके छह नरकोंमें, सब प्रकारकी स्त्रियोंमें, नपुंसक वेदमें, विकलत्रयोंमें, लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें और कर्मभूमिज तिर्यंचोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिकी उत्पत्तिके साथ विरोध सिद्ध हो जाता है। इसलिये इतने स्थानोंमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता है। शेष कथन सुगम है।

अब देवोंमें गुणस्थानोंकी अवस्थितिके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग पर्यन्त विमानवासी देवसम्बन्धी मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९८ ॥

भवनवासिप्रभृत्युभयावस्थासु गुणत्रयास्तित्वं तस्य तत्रोत्पत्तिं प्रति विरोधाभावात्। सनत्कुमारादुपरि न स्त्रियः समुत्पद्यन्ते सौधर्मादाविव तदुत्पत्त्यप्रतिपादनात्। तत्र स्त्रीणामभावे कथं तेषां देवानामनुपशान्तसन्तापानां सुखमिति चेन्न, तत्स्त्रीणां सौधर्मकल्पोपपत्तेः। तर्हि तत्रापि स्त्रीणामस्तित्वमभिधातव्यमिति चेन्न, अन्यत्रोत्पन्नानामन्यलेश्यायुर्बलानां स्त्रीणां तत्र सत्त्वविरोधात्। तत्र भवनवासिनो व्यन्तरज्योतिष्काः सौधर्मैशानदेवाश्च मनुष्या इव कायप्रवीचाराः। प्रवीचारो मैथुनसेवनम्, काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः स्पर्शप्रवीचाराः, तत्रतना देवा देवाङ्गनास्पर्शनमात्रादेव परां प्रीतिमुपलभन्ते इति यावत्। तथा देव्योऽपि। यतो ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टेषु देवा दिव्याङ्गनाशृङ्गाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेषरूपालोकनमात्रादेव

शंका — सौधर्म स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग तकके देवोंकी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानका अस्तित्व पाया जाता है, यह कहना तो ठीक है, क्योंकि, उन तीन गुणस्थानोंकी उक्त देवोंमें उत्पत्तिके प्रति विरोध है। किंतु सनत्कुमार स्वर्गसे लेकर ऊपर स्त्रियां उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि, सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवांगनाओंके उत्पन्न होनेका जिसप्रकार कथन किया गया है, उसप्रकार आगेके स्वर्गोंमें उनकी उत्पत्तिका कथन नहीं किया गया है। इसलिये वहां स्त्रियोंके अभाव रहने पर, जिनका स्त्रीसंबन्धी संताप शान्त नहीं हुआ है ऐसे देवोंके उनके विना सुख कैसे हो सकता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, सनत्कुमार आदि कल्पसंबन्धी स्त्रियोंकी सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें उत्पत्ति होती है।

शंका — तो सनत्कुमार आदि कल्पोंमें भी स्त्रियोंके अस्तित्वका कथन करना चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई हैं, तथा जिनकी लेश्या, आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पन्न हुए देवोंसे भिन्न प्रकारके हैं ऐसी स्त्रियोंका सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व माननेमें विरोध आता है।

उन देवोंमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासी देव मनुष्योंके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं। मैथुनसेवनको प्रवीचार कहते हैं। जिनका कायमें प्रवीचार होता है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् इन दोनों कल्पोंमें रहनेवाले देव देवांगनाओंके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते हैं। इसीप्रकार वहांकी देवियां भी देवोंके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं। क्योंकि ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी देवांगनाओंके शृंगार, आकार, विलास, यथायोग्य तथा मनोज्ञ वेष तथा रूपके अवलोकन

शब्दादिप्रवीचार... [illegible] कल्पानां ... [illegible] । यथासंख्यं कल्पसंज्ञा ... [illegible] ... कल्पनीया । पृष्ठ ? पद [अभि. रा. को. ...]

र सुखमवाप्नुवन्ति ततस्ते रूपप्रवीचाराः । यतः शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु दे
वाङ्गनानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितललितकथितभूषणरवश्रवणमात्रादेव परां प्रीतिमास्
न्ति ततस्ते शब्दप्रवीचाराः । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवा यतः स्वाङ्गनामन
ल्पमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति ततस्ते मनःप्रवीचाराः । प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम्, प्रवीचार
ाभावाच्छेषा देवा अप्रवीचाराः अनवरतसुखा इति यावत् ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९९ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

शेषदेवेषु गुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजितसव्वट्ठसिद्धि-विमाणवासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ १०० ॥

मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं। इसलिये वे रूपसे प्रवीचार करनेवाले हैं। क्योंकि
शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पोंमें रहनेवाले देव देवांगनाओंके मधुर संगीत, कोमल
हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणोंके शब्द सुननेमात्रसे ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं
इसलिये वे शब्दसे प्रवीचार करनेवाले हैं। क्योंकि आनत, प्राणत, आरण और अच्युत
कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी स्त्रीका मनमें संकल्प करने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त
होते हैं इसलिये वे मनसे प्रवीचार करनेवाले कहे जाते हैं। इस प्रवीचारका अभाव होनेसे नव ग्रैवेयकसे लेकर ऊपरके सभी देव प्रवीचाररहित
हैं। उस प्रवीचारका अभाव होनेसे [illegible]
ात् निरन्तर सुखी हैं।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि [illegible] स्वरूपके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें [illegible] नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम [illegible] ।

अब [illegible] स्वरूपके निरूपण करनेके लिये [illegible] कहते हैं

[illegible]

[illegible] होते हैं ॥ १०० ॥

पञ्चानामेव नामान्यभ्यधादन्तदीपकार्थम्। ततः शेषस्वर्गनामान्यपि वक्तव्यानि। तानि च यथावसरं वक्ष्यामः। एवं योगनिरूपणावसर एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तापर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्तित्वम्। शेषमार्गणासु कथमिति नाभिधीयत इति चेन्, नोच्यते अनेनैव गतार्थत्वात् गतिचतुष्टयव्यतिरिक्तमार्गणाभावात्।

वेदविशिष्टगुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि ॥ १०१ ॥

दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः। अथवा पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषकाङ्क्षेत्यर्थः। स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः। अथवा

यहां पर विमान सबसे अन्तमें है इस बातके प्रगट करनेके लिये पांचों ही विमानोंके नाम कह गये हैं, इसलिये शेष स्वर्गोंके नाम भी कहने चाहिये। परंतु उनका कथन यथावसर करेंगे।

इसप्रकार योगमार्गणाके निरूपण करनेके अवसर पर ही पर्याप्त और अपर्याप्त कालसे युक्त चारों गतियोंमें संपूर्ण गुणस्थानोंकी सत्ता बतला दी गई।

शंका — शेष मार्गणाओंमें यह विषय क्यों नहीं कहा जाता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इसी कथनसे शेष मार्गणाओंमें यह विषय आ जाता है, कारण कि, चारों गतियोंको छोड़कर और कोई मार्गणायें नहीं हैं।

अब वेदमार्गणाके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं ॥ १०१ ॥

जो दोषोंसे स्वयं अपनेको और दूसरेको आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं और स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा, जो पुरुषकी आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है। जो अपनेको स्त्रीरूप अनुभव करता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा, जो वेदन करता है उसे वेद कहते हैं और स्त्रीरूप वेदको

[illegible]

स्त्रिया वेदः, स्त्रियो वा स्त्रीवेदः । उक्तं च—

छादयदि सयं दोसेण यदो छादयदि परं हि दोसेण ।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी ॥ १७० ॥

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुषः । सुषुप्तपुरुषवदनुगतगुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत् । पुरुगुणं कर्म शेते करोतीति वा पुरुषः । कथं स्त्र्यभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यानुविद्धजीवसहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तच्छक्त्यभिधानात् । तस्य वेदः पुरुषवेदः । उक्तं च—

पुरुगुण भोगे सेदे करेदि लोगम्हि पुरुगुण कम्मं ।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो ॥ १७१ ॥

न स्त्री न पुमान्नपुंसकमुभयाभिलाष इति यावत् । उक्तं च—

कहते हैं। कहा भी है—

जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करता है और मधुर संभाषण, कटाक्ष-विक्षेप आदिके द्वारा जो दूसरे पुरुषोंको भी अब्रह्म आदि दोषोंसे आच्छादित करती है, उसको आच्छादनशील होनेके कारण स्त्री कहा है ॥ १७० ॥

जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं। अथवा, जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान, गुणोंसे अनुगत होता है और भोगोंको प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं। अर्थात् स्त्रीसम्बन्धी अभिलाषा जिसके पाई जाती है उसे पुरुष कहते हैं। अथवा, जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह पुरुष है।

शंका—जिसके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है वह उत्तम कर्म कैसे कर सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उत्तम कर्मको करनेरूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है, अतः वह उत्तम कर्मको करता है, ऐसा कथन उपचारसे किया है। कहा भी है—

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगोंमें स्वामीपनेका अनुभव करता है, जो लोकमें उत्तम गुणयुक्त कार्य करता है और जो उत्तम है उसे पुरुष कहा है ॥ १७१ ॥

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं। अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा पाई जाती है उसे नपुंसक कहते हैं। कहा भी है—

१ गो. जी. २७४. [illegible]

२ गो. जी. २७३. पुरुगुण [illegible] । पुरु [illegible] । पुरुगुणं कर्म [illegible] । पुरुष [illegible] ।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उभय-लिंग-वदिरित्तो ।
इट्टावाग-समाणग-वेयण-गरुओ कलुस-चित्तो[1] ॥ १७२ ॥

अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येषां तेऽपगतवेदाः । प्रक्षीणान्तर्दाहा इति यावत् । सर्वत्र सन्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः । उक्तं च —

कारिस-तणिट्टावाग-ग्गि-सरिस-परिणाम-वेयणुम्मुक्का ।
अवगय-वेदा जीवा सग-संभवणंत-वर-सोक्खा[2] ॥ १७३ ॥

वेदवतां जीवानां गुणस्थानादिषु सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १०२ ॥

उभयोर्वेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सत्त्वं प्राप्नोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेण

जो न स्त्री है और न पुरुष है, किंतु स्त्री और पुरुषसंबन्धी दोनों प्रकारके लिंगोंसे रहित है, अवाकी अग्निके समान तीव्र वेदनासे युक्त है और सर्वदा स्त्री और पुरुष विषयक मैथुनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुई वेदनासे जिसका चित्त कलुषित है उसे नपुंसक कहते हैं ॥ १७२ ॥

जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला संताप (अन्तरंग दाह) दूर हो गया है वे वेदरहित जीव हैं।

सूत्रमें कहे गये सभी पदोंके साथ 'सन्ति' पदका संबन्ध कर लेना चाहिये। कहा भी है—

जो कारीष (कण्डेकी) अग्नि, तृणाग्नि, और इष्टपाकाग्नि (अवेकी अग्नि) के समान परिणामोंसे उत्पन्न हुई वेदनासे रहित हैं और अपनी आत्मामें उत्पन्न हुए अनन्त और उत्कृष्ट सुखके भोक्ता हैं उन्हें वेदरहित जीव कहते हैं ॥ १७३ ॥

अब वेदोंसे युक्त जीवोंके गुणस्थान आदिकमें अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

स्त्रीवेद और पुरुषवेदवाले जीव असंज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं ॥ १०२ ॥

शंका — इसप्रकार तो दोनों वेदोंका एकसाथ एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायगा?

१ गो. जी. २७५. तथा च स्त्रीपुंसाभिलाषरूपतीव्रकामवेदनारूपेण [illegible] कलुषितचित्ता [illegible] । जी. प्र. टी.

२ गो. जी. २७६. यथा अप्रमत्तकरणानिवृत्तिकरणादीनां [illegible] । परमार्थेन तु [illegible] इति निश्चेयम् । जी. प्र. टी.

कस्मिन् सत्त्वविरोधात्। कथं पुनस्तयोरत्र सत्त्वमिति चेन्नानाजीवद्रव्याधारतया पर्यायैकद्रव्याधारतया च। तत्र न नपुंसकवेदस्याभावः तत्र द्वावेव वेदौ भवत इत्यवधारणाभावात्। तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत् 'तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति। मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति' एतस्मादार्षात्। सुगममन्यत्।

नपुंसकवेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

णवुंसयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १०३ ॥

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सत्त्वमिति

समाधान— नहीं, क्योंकि विरुद्ध दो धर्मोंका एकसाथ एक जीवमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है।

शंका— तो फिर नवमें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी एकसाथ सत्ता कैसे बनेगी?

समाधान— भिन्न भिन्न जीवोंके आधारपनेकी अपेक्षा, अथवा, पर्यायरूपसे एक द्रव्यके आधारपनेकी अपेक्षा नवमें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी सत्ता बन जाती है। अर्थात् एक कालमें भी नाना जीवोंमें अनेक वेद पाये जा सकते हैं और एक जीवमें भी पर्यायकी अपेक्षा कालभेदसे अनेक वेद पाये जा सकते हैं।

नवमें गुणस्थानतक नपुंसक वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि नवमें गुणस्थानतक दो ही वेद होते हैं ऐसे अवधारणका (सूत्रमें) अभाव है।

शंका— यह बात कैसे जानी जाय कि नवमें गुणस्थानतक तीनों वेद होते हैं?

समाधान— असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं और मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक मनुष्य तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं, इस आगम वचनसे यह बात जानी जाती है कि नवमें गुणस्थानतक तीनों वेद हैं। शेष कथन सुगम है।

अब नपुंसकवेदके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक नपुंसकवेदवाले जीव पाये जाते हैं ॥ १०३ ॥

शंका— एकेन्द्रिय जीवोंमें द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिये द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होने पर एकेन्द्रिय जीवोंमें नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया

[illegible] [illegible] [illegible] प्रमाणाभावात् । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नास्तीति । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति चेन्न, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । सुगममन्यत् ।

[illegible]—

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०४ ॥

[illegible] [illegible] [illegible] उत्पत्ति नहीं होती है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible] नहीं पाया जाता है ।

[illegible] [illegible] [illegible] अनुत्पत्ति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है ।

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जाता है ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

शेषगुणमधिष्ठिता भवन्तोऽपि प्राणिनोऽपगतवेदाः । न द्रव्यवेदस्याभावस्तेन विकाराभावात् । अधिकारोऽत्र भाववेदस्ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति ।

वेदादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ॥ १०५ ॥

नारकेषु शेषवेदाभावः कथमवगम्यत इति चेत् ' सुद्धा णवुंसयवेदा ' इत्यार्षात् । शेषवेदौ तत्र किमिति न स्यातामिति चेन्न, अनवरतदुःखेषु तत्सत्त्वविरोधात् । स्त्रीपुरुषवेदावपि दुःखमेवेति चेन्न, इष्टकापाकाग्निसमानसन्तापान्न्यूनतया तार्णकारीषाग्निसमानपुरुषस्त्रीवेदयोः सुखरूपत्वात् ।

तिर्यग्गतौ वेदनिरूपणार्थमाह—

तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ॥ १०६ ॥

नवमें गुणस्थानके सवेद भागसे आगे शेष गुणस्थानोंको प्राप्त हुए जीव वेदरहित होते हैं । परन्तु आगेके गुणस्थानोंमें द्रव्यवेदका अभाव नहीं होता है, क्योंकि, केवल द्रव्यवेदसे कोई विकार नहीं उत्पन्न नहीं होता है । यहां पर तो भाववेदका अधिकार है । इसलिये भाववेदके अभावसे ही उन जीवोंको वेदरहित जानना चाहिये, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं ।

अब वेदका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव चारों ही गुणस्थानोंमें शुद्ध (केवल) नपुंसकवेदी होते हैं ॥ १०५ ॥

शंका—नारकियोंमें नपुंसकवेदको छोड़कर दूसरे वेदोंका अभाव है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—' नारकी शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं ' इस आर्षवचनसे जाना जाता है कि वहां अन्य दो वेद नहीं होते हैं ।

शंका—वहां पर शेष दो वेद क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, निरन्तर दुःखी नारकियोंमें शेष दो वेदोंके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

शंका—स्त्री और पुरुषवेद भी तो दुःखरूप ही होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नपुंसक वेद ईंटोंके अवाकी अग्निके समान तीव्र सन्तापकारी होता है, अतएव उससे हीन तृण और कण्डेकी अग्निके समान स्त्रीवेद और पुरुषवेद सुखरूप हैं ।

अब तिर्यंचगतिमें वेदके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तक शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं ॥ १०६ ॥

अत्र शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत इति चेत् 'सुद्धा णवुंसगवेदा' इत्यार्षात्। पिपीलिकानामण्डदर्शनान्न ते नपुंसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भ एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात्। विग्रहगतौ न वेदाभावस्तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात्।

शेषतिरश्चां कियन्तो वेदा इति शङ्कितशिष्याशङ्कानिराकरणार्थमाह—

तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ॥ १०७ ॥

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण पर्यायत्वात्। कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा आजन्मन आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्। सुगममन्यत्।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १०८ ॥

शंका—चतुरिन्द्रियतकके जीवोंमें शेष दो वेदोंका अभाव है यह कैसे जाना जाय?

समाधान—'एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीव शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं' इस आर्षवचनसे जाना जाता है कि इनमें शेष दो वेद नहीं होते हैं।

शंका—चींटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिये वे नपुंसकवेदी नहीं हो सकते हैं?

समाधान—अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है।

विशेषार्थ—माता पिताके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है। इसप्रकार गर्भधारणा चींटियोंके नहीं पाई जाती है। अतः उनके अण्डे गर्भज नहीं समझना चाहिये।

विग्रहगतिमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, वहां पर भी अव्यक्तवेद पाया जाता है।

शेष तिर्यंचोंके कितने वेद होते हैं, इसप्रकारकी आशंकासे युक्त शिष्योंकी शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं ॥ १०७ ॥

तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है। जैसे, विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक भी किसी एक वेदका उदय पाया जाता है। शेष कथन सुगम है।

मनुष्यगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक तीनों वेदवाले होते हैं ॥ १०८ ॥

मपगतानां कथं त्रिवेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तम् । सुगममन्यत् ।

वेदरहितजीवप्रतिपादनार्थमाह —

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९ ॥

सर्वत्र च शब्दः समुच्चये द्रष्टव्यः एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति । इति शब्दः सर्वत्र समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह —

देवा चदुसु ट्ठाणेसु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११० ॥

सानत्कुमारमाहेन्द्रादुपरि पुरुषवेदा एव । यद्येवमन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति चेत् 'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतनचशब्दो यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तस्मात्सानत्कुमारादीनां पुरुषत्वमवसीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ताः सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाश्च नपुंसका एव । असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न नपुंसकवेदाः, इत्यादयोऽ

शंका — अपगतवेदियोंके तीनों वेदोंका सत्त्व कैसे संभव है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहां पर तीनों वेदोंकी सत्ता कही। शेष कथन सुगम है।

अब तीनों वेदोंसे रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नववें गुणस्थानके अवेद भागसे आगे सभी गुणस्थानवाले जीव वेदरहित हैं ॥ १०९ ॥

सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये। अर्थात् वेदरहित और पहले कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं। इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना चाहिये। शेष कथन सुगम है।

अब देवगतिमें वेदके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इसप्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११० ॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं।

शंका — सूत्रके बिना किस प्रमाणसे यह बात कैसे जानी जाय ?

समाधान — 'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त अर्थके समुच्चयके लिये है। इसलिये यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपरके देव पुरुषवेदी ही होते हैं।

इसीप्रकार लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्य तथा सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव नपुंसकवेदी होते हैं। असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच ये दोनों स्त्री और पुरुष वेदी

नुक्तान्त एवावसेया ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कषायमुखेन जीवसमासस्थाननिरूपणार्थमाह–

कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायक[साई] लोभकसाई अकसाई चेदि ॥ १११ ॥

कषायसामान्यैकत्वादेकवचनमप्येकवचनं घटते क्रोधकषायी मानकषायी मा[याक]षायी लोभकषायी अकषायीति । अथवा नेदमेकवचनं ' एए मोहति गिरी ण[...] गिरिनरम्म सिहरम्मि ' इत्येवमादिबहुत्वेऽपि एकवचनरूपोपलम्भादनेकान्तात् । [...] त्वा क्रोधकषाय मानकषाय मायाकषाय लोभकषाय अकषाय इति वक्तव्य कषाय[...] न्महतां भेदात् इति न, जीवेभ्य पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोभेदाभाव [...] भिन्न मभिन्नौ घटत इति चेन्न अनेकान्ते तदविरोधात् । [...]नयाश्रयणे क्रोधक[...]

वेदवाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं। इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उक्त [...] जानने चाहिये।

वेदमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कषाय मार्गणाके द्वारा गुणस्थान[...] निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं–

कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी [और] कषायरहित जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कषायसामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनके द्वारा कथन बन जाता है। अतः क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी [...] अथवा, ' कोधकसाई ' इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं, क्योंकि, ' एए मोहंति गिरी णच्[...] गिरिनरम्म सिहरम्मि ' (अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शो[भित हो] रहे हैं।) इत्यादि प्रयोगोंमें बहुवचनकी विवक्षा रहने पर भी ' कोधकसाई ' की तरह ' गिरि[...]' इसप्रकार एकवचनकी उपलब्धि होती है। इसलिये इसप्रकारके प्रयोगोंमें अनेकान्त आ जाता है [...]

शंका– सूत्रमें क्रोधकषायी आदिके स्थान पर क्रोधकषाय मानकषाय मायाकषाय लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिये, क्योंकि, कषायसे कषायवालोंमें भेद पाया जाता है।

समाधान– नहीं, क्योंकि जीवसे पृथक् क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती हैं।

शंका– यदि कषाय और कषायवानमें भेद नहीं है तो फिर उनका भिन्न [...] बन सकता है ?

समाधान– ऐसा नहीं है, क्योंकि अनेकान्तमें भिन्न [...] [illegible] नहीं आता है।

[illegible]

इति भवति सम्य ग्दृष्टनोऽर्थप्रतिपत्तिकरणत्वात् । अर्थनयाश्रयणे क्रोध
स्यात्कृतोऽर्थस्य भेदाभावात् । कषायचातुर्विध्यात्कषायस्य चातुर्विध्यमवगम
या । तथोपदिष्टस्यानुवदनमनुवादः कषायस्य अनुवादः कषायानुवादः तेन कषायानु
प्रसिद्धस्यानुकथनमनुवादः । सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा इति न्यायादनुवादोऽन
नधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावादिति न, प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्या
तार एव न कर्तार इति ज्ञापनार्थत्वात् । कः क्रोधकषायः ? रोष आमर्षः संर
को मानकषायः ? रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्यानवनतिः । निकृति
मायाकषायः । गर्हा काङ्क्षा लोभः । उक्तं च –

लिये जीवसे वे अभिन्न हैं । फिर भी धर्म धर्मीभेदसे उनमें भेद बन जाता है, अतएव भि
निर्देश करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

अथवा, शब्दनयका आश्रय करने पर क्रोधकषाय इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करानेमें समर्थ है । और अर्थनयका आश्रय करने पर 'क्रोध कषाय' इत्यादि प्रयोग होते हैं क्योंकि इस नयकी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है । अथवा, चार प्रकारके कषायोंके ज्ञान होते हैं । इससे कषाय भी चार प्रकारकी है ऐसा ज्ञान हो जाता है । इसलिये सूत्रमें क्रोधकषायी इत्यादि पदोंका प्रयोग किया है ।

जिसप्रकार उपदेश दिया है उसीप्रकारके कथन करनेको अनुवाद कहते हैं । कषायके अनुवादको कषायानुवाद कहते हैं । उससे अर्थात् कषायानुवादसे जीव पांच प्रकारके होते हैं । अथवा प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं ।

शंका — 'कथामार्ग अर्थात् कथनपरम्पराएं प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होती हैं' इस न्यायके अनुसार यहां पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करना निष्फल है इससे अनधिगत अर्थका ज्ञान नहीं होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि यह कथन प्रवाहरूपसे अपौरुषेय होनेके कारण तीर्थंकर आदि इसके केवल व्याख्यान करनेवाले हैं कर्ता नहीं हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिये अनुवाद पदका कहना अनर्थक नहीं है ।

शंका — क्रोधकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान — रोष, आमर्ष और संरम्भ इन सबको क्रोध कहते हैं ।

शंका — मानकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान — रोषसे अथवा विद्या, तप और जाति आदिके मदसे दूसरेके तिरस्काररूप भावको मान कहते हैं ।

निकृति या वंचनाको मायाकषाय कहते हैं । गर्हा या आकांक्षाको लोभ कहते हैं । कहा भी है —

सिल-पुढवि-भेद-धूली-जल-राइ-समाणओ हवे कोहो।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥ १७४ ॥

सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्तं णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारय-तिरिय-णरामर-गइ-विसयुप्पायओ कमसो ॥ १७५ ॥

वेलुवमूलोरब्भय-सिंगे गोमुत्तएण खोरुप्पे।
सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामरगईसु खिवदि जियं ॥ १७६ ॥

किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिद्द-राएण सरिसओ लोहो।
णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो ॥ १७७ ॥

क्रोधकषाय चार प्रकारका है। पत्थरकी रेखाके समान, पृथिवीकी रेखाके सम
धूलिरेखाके समान और जलरेखाके समान। ये चारों ही क्रोध क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनु
और देवगतिमें उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥ १७४ ॥

मान चार प्रकारका होता है। पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान त
बेतके समान। ये चार प्रकारके मान भी क्रमसे नरक, तिर्यंच मनुष्य और देवगति
उत्पादक हैं ॥ १७५ ॥

माया भी चार प्रकारकी है। बासकी जड़के समान, मेढ़ेके सींगके समान, गोमूत्र
समान तथा खुरपाके समान। यह चार प्रकारकी माया भी क्रमसे जीवको नरक, तिर्यं
मनुष्य और देवगतिमें ले जाती है ॥ १७६ ॥

लोभकषाय भी चार प्रकारका है। क्रिमिरागके समान, चक्रमलके समान, शरीरके
मलके समान और हल्दीके रंगके समान। यह भी क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव
गतिका उत्पादक है ॥ १७७ ॥

१ गो. जी. २८४. [illegible] जीवः [illegible] महत्त्वज्ञापनार्थम्। अत्र शक्तिशब्दः स्वार्थवाची न तु पक्षिवाची। यथा शिलाभेदः चिरतरकालेऽपि [illegible] अनुसंधानं न भजते तथा [illegible] परिणतो जीवोऽपि तथाविध [illegible] न [illegible] इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं सम्भवतीति तात्पर्यार्थः। आ. प्र. गो. [illegible] कषायप्राभृते जलरेणुपुढविपव्वयराइसरिसो चउव्विहो कोहो। क. प्र. १, १९.

२ गो. जी. २८५. सेलघणअट्ठिदारुअलदासमाणो हवदि माणो ॥ कषायप्राभृते [illegible] उवमाओ माणे। क. प्र. १, १९.

३ गो. जी. २८६. वेणुवमूलोरब्भयसिंगेण समा य गोमुत्ती। अवलेहणीसमाणा माया वि चउव्विहा [illegible] ॥ कषायप्राभृते मायावलेहिगोमुत्तिमेंढविसिंगघणवंसिमूलसमा। क. प्र. १, २.

४ गो. जी. २८७. किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो। [illegible]

सकलकषायाभावोऽकषायः । उक्तं च —

अप्प-परोभय-बाधण-बंधासंजम-णिमित्त-कोहादी ।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा ॥ १७८ ॥

कषायाध्वानप्रतिपादनार्थमाह —

कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ ११२ ॥

यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्वाननिरूपणार्थमाह —

संपूर्ण कषायोंके अभावको अकषाय कहते हैं । कहा भी है —

जिनके, स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, बन्ध करने और असंयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ॥१७८॥

अब कषायमार्गणाके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक क्रोधकषायी, मानकषायी और मायाकषायी जीव होते हैं ॥ ११२ ॥

शंका — अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहां पर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है । शेष कथन सुगम है ।

अब लोभकषायके विशेष प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

पडुच्चिय भणिदो ॥ कषायपाहुड [illegible] । क. प्र. १. २.

१ गो. जी. २८९. यद्यपि उपशान्तकषायाद्युपरितनगुणस्थानवर्तिनोऽपि अकषाया अमलाश्च यथासंभवं द्रव्यभावमलरहिता सन्ति तथापि तेषां [illegible] अकषायत्वसिद्धिः [illegible] । तद्यथा, स्वस्यात्मनः [illegible] मारणादिबाधा [illegible] । [illegible] कषाय परस्य [illegible] । [illegible] बाधनबन्धनासंयमहेतुर्भवति [illegible] । गो. जी. टी.

२ कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरसाम्परायान्तानि सन्ति । स. सि. १. ८.

लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा त्ति ॥ ११३ ॥

शेषकषायोदयविनाशे लोभकषायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकषायस्य सूक्ष्मसाम्परायोऽवधिः ।

अकषायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह—

अकसाई चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति ॥ ११४ ॥

उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत्, कथं च न भवति? द्रव्यकषायस्यानन्तस्य सत्त्वात् । न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः । सुगममन्यत् । कषायस्यादेशः किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावतोऽनेनैव गतार्थत्वात् ।

लोभकषायसे युक्त जीव एकेन्द्रियोंसे लेकर सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत गुणस्थान तक होते हैं ॥ ११३ ॥

शेष कषायोंके उदयके नाश हो जाने पर उसीसमय लोभकषायका विनाश बन नहीं सकता है, इसलिये लोभकषायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है।

कषायरहित जीवोंसे उपलक्षित गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कषायरहित जीव उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ ११४ ॥

शंका—उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा?

प्रतिशंका—यह कषायरहित क्यों नहीं हो सकता है?

शंका—यहां अनन्त द्रव्यकषायका सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह सकते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कषायके उदयके अभावकी अपेक्षा उसमें कषायोंसे रहितपना बन जाता है। शेष कथन सुगम है।

शंका—कषायोंका विशेष (मार्गणाओंमें) कथन क्यों नहीं किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कषायोंके सामान्य कथनसे उनका मार्गणाओंमें कथन करनेमें कोई विशेषता नहीं है, इसलिये उसका ज्ञान हो जाता है। इसलिये आदेश प्ररूपणा नहीं की।

१ [illegible]

२ [illegible]

ज्ञानद्वारेण जीवपदार्थनिरूपणार्थमाह—

णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंगणाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अत्रापि पूर्ववत्पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदात् पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति। ज्ञानिनां भेदात् ज्ञानभेदोऽवगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणोपदेशः। ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भव इति चेन्न, मिथ्यात्वसमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्रव्यपदेशवत्। किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च। अथवा प्रधानपदमाश्रित्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आम्रवनमिति यथा। जानातीति ज्ञानं साकारोपयोगः। अथवा जानात्यनेनास्मिन् जानातीति वा ज्ञानं ज्ञानावरणीयकर्मणः क्षयात् क्षयोपशमाद्वा समुत्पन्नात्मपरिणामः क्षायिको वा। तदपि ज्ञानं द्विविधम्, प्रत्यक्षं परोक्षमिति।

अब ज्ञानमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थके निरूपण करनेके लिए सूत्र कहते हैं—

ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मति अज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११५ ॥

यहां पर भी पहलेकी तरह पर्याय और पर्यायीमें कथंचित् अभेद होनेसे पर्यायीके ग्रहण करने पर भी पर्यायरूप ज्ञानका ही ग्रहण होता है। अथवा, ज्ञानी जीवके भेदसे ज्ञानके भेद होते हैं इस बातके समझानेके लिए [illegible] यहां पर पर्यायीके द्वारा [illegible] यहां पर उपदेश दिया है।

शंका — ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका [illegible] कैसे संभव है ?

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

परोक्षं द्विविधम्, मतिः श्रुतमिति। तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम्। तदपि चतुर्विधम्, अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति। विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः[1]। अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङ्क्षणमीहा। ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽवायः। कालान्तरेऽप्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा[2]। अथवा चतुर्विंशतिविधं मतिज्ञानम्। तद्यथा, चाक्षुषं च चतुर्विधं मतिज्ञानमवग्रह ईहावायो धारणा चेति। एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसश्च वाच्यम्। अथवा अष्टाविंशतिविधम्। तद्यथा, अवग्रहो द्विविधोऽर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति। कोऽर्थावग्रहश्चेदप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः।

यह ज्ञान दो प्रकारका है, प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्षके भी दो भेद हैं, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। उनमें पांच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। वह मतिज्ञान चार प्रकारका है, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयीके संबन्ध होनेके अनन्तर समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रहसे ग्रहण किये गये पदार्थके विशेषको जाननेके लिये अभिलाषरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं। ईहाके द्वारा जाने गये पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं। कालान्तरमें भी विस्मरण न होनेरूप संस्कारके उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा कहते हैं।

अथवा, मतिज्ञान चौबीस प्रकारका होता है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है, चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार चार प्रकारका होता है इसप्रकार कथन करना चाहिये। इसप्रकार ये सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं। अथवा, मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकारका होता है। उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है। अवग्रह दो प्रकारका होता है, अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह।

शंका—अर्थावग्रह किसे कहते हैं?

समाधान—अप्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं।

१ विषयविषयिसंनिपाते [illegible] ग्रहणमवग्रहः। स. सि. १, १५. विषयविषयिसंनिपाते [illegible] [illegible] त. रा. वा. १, १५. [illegible] १-२। [illegible] २, ७. [illegible]

२ [illegible] नि. ४

को व्यञ्जनावग्रहः? प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। तत्र चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव तयोः[1] प्राप्तार्थग्रहणानुपलम्भात्। शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः। शेषेन्द्रियेष्वप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितप्रदेश

शंका — व्यंजनावग्रह किसे कहते हैं?

समाधान — प्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको व्यंजनावग्रह कहते हैं।

उनमें, चक्षु और मनसे अर्थावग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है। शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं।

शंका — शेष इन्द्रियोंमें अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है, इसलिये उनसे अर्थावग्रह नहीं होना चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य देशमें स्थित निधिवाले प्रदेशमें

१ [illegible]

न्त प्रारोहमुक्तस्यान्यथानुपपत्तेः स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणमिति । नोइन्द्रियाणामप्राप्तार्थ ग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्त्येव । यद्यस्मदादित्रिकालगोचरमशेषम् पर्यच्छेत्स्यदनुपलम्भस्याभावोऽभविष्यत् । न चैवमनुपलम्भात् । न शब्दमनाद्यन्त मर्थम्यानि सुनरामनुक्ता वा तुमेके प्राप्त्यप्राप्तिनिबन्धनाविन्द्रियाणामप्राप्यकारित्व

ही अंकुरोंका निकलना अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिये स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना, अर्थात् अर्थावग्रह, बन जाता है।

शंका—इसप्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना बन जाता है तो बन जाओ। फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि शेष इन्द्रियोंसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा नहीं पाया जाता है तो मत पाया जाय। तो भी वह है ही, क्योंकि, यदि हमारा ज्ञान त्रिकालगोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धका अभाव सिद्ध हो जाता, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिये अनुपलब्ध नहीं रहता। किंतु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाला है नहीं क्योंकि सर्व पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि शेष इन्द्रियां अप्राप्त पदार्थको ग्रहण करती हैं इस बातको यदि हम न भी जान सकें, तो भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता है।

दूसरे, पदार्थके पूरी तरहसे अति मिलनेको और अनुमिलनेको हम अप्राप्त नहीं कहते हैं। जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होवे।

द्रियाभ्यामिति तत्र व्यंजनावग्रहस्य प्रतिषेधात् । न चक्षुषा व्यंजनावग्रहः चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारित्वात् ... सत्त्वप्रसंगात् । न च तत्र चक्षुर्ग्रहणमसिद्धमविशेषसंगादात् अष्टचत्वारिंशन्मतिज्ञानभेदाभावप्रसंगात् । न आत्मा चतुष्टयस्यावग्रह तत्र प्रास्यैवाक्षस्य ... इति चेत् ... तदपि कथं गम्यते ? दूरस्थनिधिपुञ्जस्य प्राप्त्यभावाद्यथानुपपत्तेः । चत्तारि धणुसयाइं चउसट्ठिसय च तह य धणुहाणं । पास ... य गंधे दुगुणा दुगुणा असण्णि त्ति ॥ ×× इति ... । ... द्रव्यस्कन्धैरदृश्यमागम्येन्द्रियसम्बन्ध जानातीति कश्चिदाह तत्र तत्र ... वक्तव्यप्रसंगात् । न चावग्रह द्रव्याल्पायस्वरस्य कारणं स्वमहत्त्वापरित्यागेन भूयो ... अस्वरनत्वापलम्भत नकीनात । किंच ... प्राप्तार्थग्राहिण्यविन्द्रियाण्यप्राप्तानिरूपणमन्तरेण ... निरूपणमकारि ... तथानुपलम्भात् ॥ किंच ... रिथतानिविषयाभ्यां तीव्रस्पर्शक्षयोपशमानां दाहमरणे स्याताम् प्राप्ताप्रम्याणात् ... ... एव स्यातां । पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं चेय पस्सदे रूवं । गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि ॥ इत्यस्मात् सूत्रात्प्राप्तार्थग्राहित्वमिन्द्रियाणामवगम्यत इति चेन्न अर्थावग्रहस्य लक्षणाभावात् ... कथं पुनरस्या गाथाया अर्थो व्याख्यायते ? उच्यते, रूपमस्पृष्टमेव चक्षुरादीनि च गृह्णाति ... । गंधं रसं स्पर्श च बद्धं स्वकस्वकेन्द्रियेषु नियमितं पुट्ठं स्पृष्टं च शब्दादस्पृष्टं च शेषेन्द्रियाणि गृह्णन्ति । ... सद्द इत्यत्र ... शब्दो ... अन्यथा दुर्व्याख्यानतापत्तेः । धवला १९८-१९९

मिति । किं तर्हि ? कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्तावग्रहादिः तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात् । तथा च रसगन्धस्पर्शानां स्वग्राहिभिरिन्द्रियैः स्पृष्टस्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य च । रूपस्य चक्षुरभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्तावग्रहादिसिद्ध । किं च तेनाभिहितेनानुक्तावग्रहः, यथा रूपो गन्धग्रहणकाल एव तद्रसोपलम्भः । नियमितधर्मविशिष्टवस्तुनो वस्त्वेकदेशस्य वा ग्रहणमुक्तावग्रहः । सोऽयमित्यादि ध्रुवावग्रहः । न सोऽयमित्याद्यध्रुवावग्रहः । एवमीहादीनामपि वाच्यम् । एतान्येतानि मतिज्ञानम् ।

शब्दधूमादिभ्योऽर्थान्तरावगमः श्रुतज्ञानम् । तत्र शब्दलिङ्गजं द्विविधमङ्गमङ्गबाह्य

शंका — तो फिर अप्राप्यकारीपनेसे क्या प्रयोजन है ? और यदि पूर्वोक्त मानसे अनिःसृतत्व और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि कैसे हो सकते हैं ? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि माने जायेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोंके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंके अवस्थितिको ही प्राप्ति कहते हैं । तथा ऐसी अवस्थामें रस, गन्ध और स्पर्शका उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके साथ अपने अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट ही है । शब्दका भी उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है । इसी प्रकार रूपका चक्षुके साथ अभिमुखरूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना नहीं बनता है । इसप्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं ।

उपर कहे हुए कथनानुसार अनुक्तावग्रह यह है । जैसे, दहीके रूपके ग्रहण करनेके कालमें ही दहीके रसकी भी उपलब्धि हो जाती है । नियमित धर्मोंसे युक्त वस्तुका अथवा वस्तुके एकदेशका ग्रहण करना उक्तावग्रह है । यह वही है इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको ध्रुवावग्रह कहते हैं । यह वह नहीं है इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको अध्रुवावग्रह कहते हैं । इसीप्रकार ईहादिकमें भी उक्त अनुक्त आदिको आगमसे जानना चाहिये । इन सबको मतिज्ञान कहते हैं ।

शब्द और धूमादिक लिंगके द्वारा जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । उनमें शब्दके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य [illegible]

१ [illegible] । [illegible] ।

२ [illegible]
[illegible]
[illegible]

मिति। अङ्गश्रुतं द्वादशविधम्। अङ्गबाह्यं चतुर्दशविधम्। प्रत्यक्षं त्रिविधम्, अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति। साक्षान्मूर्ताशेषपदार्थपरिच्छेदकमवधिज्ञानम्। साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्ययज्ञानम्[1]। साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्[2]। मिथ्यात्वसमवेतमिन्द्रियजज्ञानं मत्यज्ञानम्। तेनैव समवेतं शाब्दं प्रत्ययं श्रुताज्ञानम्। तत्समवेतमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानम्। उक्तं च—

विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु विणुवदेस-करणेण।
जा खलु पवत्तइ मई मदि-अण्णाणे त्ति तं बेंति[3]॥ १७९॥
आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादि-उवएसा।
तुच्छा असाहणीया सुद-अण्णाणे त्ति तं बेंति॥ १८०॥

और अंगबाह्य। अंगश्रुत बारह प्रकारका है और अंगबाह्य चौदह प्रकारका है।

प्रत्यक्षज्ञानके तीन भेद हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। संपूर्ण मूर्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। त्रिकालके विषयभूत समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वसमवेत ज्ञानको मत्यज्ञान कहते हैं। शब्दके निमित्तसे जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका मिथ्यात्वसमवेत ज्ञान होता है उसे श्रुताज्ञान कहते हैं। मिथ्यादर्शनसमवेत अवधिज्ञानको विभंगज्ञान कहते हैं। कहा भी है—

दूसरेके उपदेश विना विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं॥ १७९॥

चौरशास्त्र, हिंसाशास्त्र, भारत और रामायण आदिके तुच्छ और साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुताज्ञान कहते हैं॥ १८०॥

१ [illegible]

२ [illegible]

३ [illegible]

४ [illegible]

५ [illegible]

[illegible]

अभिमुह णियमिय [illegible] ॥ १८१ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ १८२ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ १८३ ॥
[illegible] ॥ १८४ ॥

मनःपर्ययज्ञान द्वारा आगमन क्षयोपशमजन्य और [illegible] विभंग ज्ञान कहा है ॥ १८१ ॥

मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न हुए अभिमुख और नियमित पदार्थके [illegible] आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। उसके बहु आदिक बारह प्रकारके [illegible] अथवा [illegible] भेद हो जाते हैं ॥ १८२ ॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे [illegible] कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है। [illegible] अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इसप्रकार दो भेद हैं। [illegible] मुख्य है ॥ १८३ ॥

द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञानके विषयकी [illegible] ज्ञान कहते हैं। इसीको परमागममें सीमाज्ञान [illegible] प्रत्यय इसप्रकार जिनेन्द्रदेवने [illegible]

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं ।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए[1] ॥ १८५ ॥

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त-सव्व भाव-गयं ।
लोयालोय-वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं[2] ॥ १८६ ॥

इदानीं गतीन्द्रियकायगुणस्थानेषु मतिश्रुतज्ञानयोरस्तित्वप्रतिपादनार्थमाह—

जिसका भूतकालमें चिन्तवन किया है, अथवा जिसका भविष्यकालमें चिन्तवन होगा, अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जो जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है ॥ १८५ ॥

जो जीवद्रव्यके शक्तिगत सर्व ज्ञानके अविभाग-प्रतिच्छेदोंके व्यक्त हो जानेके कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अप्रतिहत शक्ति है इसलिये समग्र है, जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे रहित होनेके कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मोंके नाश हो जानेसे अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थोंमें प्रवृत्ति करता है इसलिये असपत्न है और जो लोक और अलोकमें अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

अब गति, इन्द्रिय और कायमार्गणान्तर्गत गुणस्थानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

पर्यायवचनं, यथाधः क्षेपणमवक्षेपणं, इत्यधोगतभूयोद्रव्यविषयो ह्यवधिः। अथवावधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम्। त. रा. वा. १, ९, वा. ३. अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव अधो धावति विस्तृतं वस्तु धावति परिच्छिनत्तीत्यवधिः। अथवा अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। यद्वा अवधानम्–आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः। नं. सू. पृ. ६५.

१ गो. जी. ४३८. परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः। स. सि. १, ९. मनः प्रतीत्य प्रतिसन्धाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः। त. रा. वा. १, ९, वा. ४. स मनःपर्ययः क्रियो मनोभावा (मनोयुक्त धा ?) मनोगतार्थाः। परेषां स्वमनो वापि तदालम्बनमात्रकम्॥ त. श्लो. वा. १, ९, ७. परि सर्वतो भावे अवनं अवः। ×× अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अव पर्यवः मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थः। अथवा मनःपर्यय इति पाठः, तत्र पर्ययणं पर्ययः, सप्तम्यन्तं प्रत्यय मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्ययः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। ×× अथवा मनःपर्यायज्ञानमिति पाठः, तत्र मनांसि मनोद्रव्याणि पर्येति सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायः पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। नं. सू. पृ. ६६.

२ गो. जी. ४६०. जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां व्यक्तिगतत्वात् संपूर्णम्। मोहनीयवीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादप्रतिहतशक्तियुक्तत्वात् निश्चलत्वाच्च समग्रम्। इन्द्रियसहायनिरपेक्षत्वात् केवलम्। घातिचतुष्टयप्रक्षयात् असपत्नम्। जी. प्र. टी.

मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदिय-प्पहुडि जाव सासणसम्माइट्ठि त्ति ॥ ११६ ॥

मिथ्यादृष्टेः द्वेऽप्यज्ञाने भवतां नाम तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात्। मिथ्यात्वोदयस्यासत्त्वान्न सासादने तयोः सत्त्वमिति न, मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते। समस्ति च सासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय इति। कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानमिति चेत्कथं च न भवति? श्रोत्राभावात् शब्दावगतेरभावात् शब्दार्थावगम इति नैष दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव श्रुतमिति। अपि तु अशब्दरूपादपि लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति। अमनसां तदपि कथमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात्।

एकेन्द्रियसे लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११६ ॥

शंका — मिथ्यादृष्टि जीवोंके भले ही दोनों अज्ञान होवें, क्योंकि, वहां पर मिथ्यात्वकर्मका उदय पाया जाता है। परन्तु सासादनमें मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है, इसलिये वहां पर ये दोनों ज्ञान अज्ञानरूप नहीं होना चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, विपरीत अभिनिवेशको मिथ्यात्व कहते हैं। और वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है। सासादन गुणस्थानवालेके अनन्तानुबन्धीका उदय तो पाया ही जाता है, इसलिये वहां पर भी दोनों अज्ञान संभव हैं।

शंका — एकेन्द्रियोंके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है?

प्रतिशंका — कैसे नहीं हो सकता है?

शंका — एकेन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है और शब्दका ज्ञान नहीं होनेसे शब्दके विषयभूत अर्थका भी ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिये उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि शब्दके निमित्तसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको ही श्रुतज्ञान कहते हैं। किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिंगसे भी जो लिंगीका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

शंका — मनरहित जीवोंके यह कैसे संभव है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, मनके बिना वनस्पतिकायिक जीवोंके हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति देखी जाती है, इसलिये मनसहित जीवोंके ही श्रुतज्ञान माननेमें उनसे अनेकान्त दोष आता है।

विभङ्गज्ञानप्रतिपादनार्थमाह —

विभंगणाणं सण्णि-मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा ॥ ११७ ॥

विकलेन्द्रियाणां किमिति तन्न भवतीति चेन्न, तत्र तन्निबन्धनक्षयोपशमाभावात्। सोऽपि तत्र किमिति न सम्भवतीति चेन्न, तद्धेतुभवगुणानामभावात्।

विभङ्गज्ञाने भवप्रत्यये सति पर्याप्तापर्याप्तावस्थयोरपि तस्य सत्त्वं स्यादिति शङ्कितशिष्याशङ्कापोहनार्थमाह —

पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥ ११८ ॥

अथ स्याद्यदि देवनारकाणां विभङ्गज्ञानं भवनिबन्धनं भवेदपर्याप्तकालेऽपि तेन भवितव्यं तद्धेतोर्भवस्य सत्त्वादिति न, 'सामान्यबोधनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते'

विभंगज्ञानके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

विभंगज्ञान संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवोंके तथा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है ॥ ११७ ॥

शंका — विकलेन्द्रिय जीवोंके वह क्यों नहीं होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वहां पर विभंगज्ञानका कारणभूत क्षयोपशम नहीं पाया जाता है।

शंका — वह क्षयोपशम भी विकलेन्द्रियोंमें क्यों संभव नहीं है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय होता है। परंतु विकलेन्द्रियोंमें ये दोनों प्रकारके कारण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उनके विभंगज्ञान संभव नहीं है।

विभंगज्ञानको भवप्रत्यय मान लेने पर पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये इसप्रकार आशंकाको प्राप्त शिष्यके संदेहके दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

विभंगज्ञान पर्याप्तकोंके ही होता है, अपर्याप्तकोंके नहीं होता है ॥ ११८ ॥

शंका — यदि देव और नारकियोंके विभंगज्ञान भवप्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमें भी वह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्तकालमें भी विभंगज्ञानके कारणरूप भवकी सत्ता पाई जाती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि 'सामान्य विषयका बोध करानेवाले वाक्य विशेषोंमें रहा

१ ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति। स. सि. १. ८.

न्यायात् नापर्याप्तिविशिष्टदेवनारकत्वं विभङ्गनिबन्धनमपि तु पर्याप्तिविशिष्टमिति । ततो नापर्याप्तकाले तदस्तीति सिद्धम् ।

इदानीं सम्यग्मिथ्यादृष्टिज्ञानप्रतिपादनार्थमाह —

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि । आभिणिबोहियणाणं मदि-अण्णाणेण मिस्सयं सुदणाणं सुद-अण्णाणेण मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं । तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि ॥ ११० ॥

अत्रैकवचननिर्देशः किमिति क्रियत इति चेत्कथं च न क्रियते, यतस्त्रीण्यज्ञानानि ततो बहुवचनं प्राप्नोतीति न, अज्ञाननिबन्धनमिथ्यात्वस्यैकत्वतोऽज्ञानस्याप्येकत्वाविरोधात् । यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्, अयथार्थश्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम् । एवं च सति ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नजीवाधिकरणयोर्न मिश्रणं घटत इति चेत्सत्यमेतदिष्टत्वात् । किन्त्वत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टावेष नार्थो ग्राह्यो यतः सम्यग्मिथ्यात्वं नाम कर्म न तन्मिथ्यात्वं

कारण है' इस न्यायके अनुसार अपर्याप्त अवस्थासे युक्त देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण नहीं है। किंतु पर्याप्त अवस्थासे युक्त ही देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण है, इसलिये अपर्याप्त कालमें विभंगज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ज्ञानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आदिके तीनों ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं। आभिनिबोधिकज्ञान मत्यज्ञानसे मिश्रित होता है। श्रुतज्ञान श्रुताज्ञानसे मिश्रित होता है। अवधिज्ञान विभंगज्ञानसे मिश्रित होता है। अथवा, तीनों ही अज्ञान ज्ञानसे मिश्रित होते हैं ॥ ११० ॥

शंका—सूत्रमें अज्ञान पदका एकवचन निर्देश क्यों किया है?

प्रतिशंका—एकवचन निर्देश क्यों नहीं करना चाहिये?

शंका—क्योंकि अज्ञान तीन हैं, इसलिये उनका बहुवचनरूपसे प्रयोग बन जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि अज्ञानका कारण मिथ्यात्व एक होनेसे अज्ञानको भी एक मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—यथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको अज्ञान कहते हैं। ऐसी हालतमें भिन्न भिन्न जीवोंके आधारसे रहनेवाले ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नहीं बन सकता है?

समाधान—यह कहना सत्य है, क्योंकि, हमें यही इष्ट है। किंतु यहां सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व

तस्मादनन्तगुणहीनशक्तेस्तस्य विपरीताभिनिवेशोत्पादसामर्थ्याभावात्। नापि सम्यक्त्वं तस्मादनन्तगुणशक्तेस्तस्य यथार्थश्रद्धया साहचर्यविरोधात्। ततो जात्यन्तरत्वात् सम्यग्मिथ्यात्वं जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादकम्। ततस्तदुदयजनितपरिणामसमवेतबोधो न ज्ञानं यथार्थश्रद्धयाननुविद्धत्वात्। नाप्यज्ञानमयथार्थश्रद्धयाऽसङ्गतत्वात्। ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामवज्जात्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते। यथार्थप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो ज्ञानम्। यथार्थमप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। जात्यन्तरीभूतप्रत्ययानुविद्धावगमो जात्यन्तरज्ञानम्, तदेव मिश्रज्ञानमिति राद्धान्तविदो व्याचक्षते।

साम्प्रतं ज्ञानानां गुणस्थानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह —

आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति ॥ १२० ॥

तो हो नहीं सकता, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वमें विपरीताभिनिवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पाई जाती है। और न वह सम्यक्प्रकृतिरूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले उसका (सम्यग्मिथ्यात्वका) यथार्थ श्रद्धाके साथ साहचर्यसम्बन्धका विरोध है। इसलिये जात्यन्तर होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व जात्यन्तररूप परिणामोंका ही उत्पादक है। अतः उसके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंसे युक्त ज्ञान 'ज्ञान' इस संज्ञाको तो प्राप्त हो नहीं सकता है, क्योंकि, उस ज्ञानमें यथार्थ श्रद्धाका अन्वय नहीं पाया जाता है। और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धाके साथ संपर्क नहीं रखता है। इसलिये वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तररूप अवस्थाको प्राप्त है। अतः एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है।

यथावस्थित प्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको ज्ञान कहते हैं। न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं। और जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी ज्ञानको जात्यन्तर ज्ञान कहते हैं। इसीका नाम मिश्रज्ञान है ऐसा सिद्धान्तके जाननेवाले विद्वान् पुरुष व्याख्यान करते हैं।

अब ज्ञानोंका गुणस्थानोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२० ॥

---

1 आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानानि असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । स. सि. १, ८.

भवतु नाम देवनारकासंयतसम्यग्दृष्टिष्ववधिज्ञानस्य सत्त्वं तस्य तद्भवनिबन्धनत्वात्। देशविरताद्युपरितनानामपि भवतु तत्सत्त्वं तन्निमित्तगुणस्य तत्र सत्त्वात्, न तिर्यङ्मनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिषु तस्य सत्त्वं तन्निबन्धनभवगुणानां तत्रासत्त्वादिति चेन्न, अवधिज्ञाननिबन्धनसम्यक्त्वगुणस्य तत्र सत्त्वात्। सर्वसम्यग्दृष्टिषु तस्यानुत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेर्नावधिज्ञानं सम्यग्दर्शननिबन्धनमिति चेत्सर्वसंयतेषु तदनुत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेरवधिज्ञानं संयमहेतुकमपि न भवतीति किन्न भवेत्। विशिष्टः संयमस्तद्धेतुरिति न सर्वसंयतानामवधिर्भवतीति चेदत्रापि विशिष्टसम्यक्त्वं तद्धेतुरिति न सर्वेषां तद्भवति को विरोधः स्यात्? औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदभिन्नेषु त्रिष्वपि सम्यक्त्वविशेषेष्ववधिज्ञानोत्पत्तेर्व्यभिचारदर्शनान्न तद्विशेषनिबन्धनमपीति चेत्संयमेऽपि सामायिकच्छेदोपस्थापन

शंका—देव और नारकसंबन्धी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंमें अवधिज्ञानका सद्भाव भले ही रहा आवे, क्योंकि, उनके अवधिज्ञान भवनिमित्तक होता है। उसीप्रकार देशविरति आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी अवधिज्ञान रहा आवे, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारणभूत गुणोंका वहां पर सद्भाव पाया जाता है। परंतु असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें उसका सद्भाव नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण भव और गुण असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें नहीं पाये जाते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारणरूप सम्यग्दर्शनका असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें सद्भाव पाया जाता है।

शंका—चूंकि संपूर्ण सम्यग्दृष्टियोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती है, इससे मालूम पड़ता है कि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण नहीं है?

समाधान—यदि ऐसा है तो संपूर्ण संयमोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती है, इसलिये संयम भी अवधिज्ञानका कारण नहीं है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय?

शंका—विशिष्ट संयम ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, इसलिये समस्त संयतोंके अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहां पर भी ऐसा ही मान लेना चाहिये कि असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें भी विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है। इसलिये सभी सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है, ऐसा मान लेनेमें क्या विरोध आता है?

शंका—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों ही प्रकारके विशिष्ट सम्यग्दर्शनोंमें अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें व्यभिचार देखा जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शनविशेष अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है यह नहीं कहा जा सकता है?

समाधान—यदि ऐसा है तो संयममें भी सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि

परिहार-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यात-भेदभिन्नैः पञ्चभिरपि संयमैः देशविरत्या च तस्य व्यभिचारदर्शनान्नावधिज्ञानं संयमविशेषनिबन्धनमपीति समानमेतत्। असंख्यातलोकमात्रसंयमपरिणामेषु केचिद्विशिष्टाः परिणामास्तद्धेतव इति नायं दोषश्चेत्तर्हि सम्यग्दर्शनपरिणामेष्वप्यसंख्येयलोकपरिणामेषु केचिद्विशिष्टाः सम्यक्त्वपरिणामाः सहकारिकारणव्यपेक्षास्तद्धेतव इति स्थितम्।

मनःपर्ययज्ञानस्वामिप्रतिपादनार्थमाह —

मणपज्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति ॥ १२१ ॥

पर्यायपर्यायिणोरभेदापेक्षया मनःपर्ययज्ञानस्यैव मनःपर्ययज्ञानिव्यपदेशः। देशविरताद्यधस्तनगुणभूमिस्थितानां किमिति मनःपर्ययज्ञानं न भवेदिति चेन्न, संयमासंयमासंयमेभ्यः तदुत्पत्तिविरोधात्। संयममात्रकारणत्वे सर्वसंयतानां किन्न तद्भवेदिति

सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन पांच प्रकारके विशेष संयमोंके साथ और देशविरतिके साथ भी अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका व्यभिचार देखा जाता है, इसलिये अवधिज्ञानकी उत्पत्ति संयम विशेषके निमित्तसे होती है यह भी तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और संयम इन दोनोंको अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त मानने पर आक्षेप और परिहार समान हैं।

शंका — असंख्यात लोकप्रमाण संयमरूप परिणामोंमें कितने ही विशेष जातिके परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण होते हैं, इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं आता है?

समाधान — यदि ऐसा है तो असंख्यात लोकप्रमाण सम्यग्दर्शनरूप परिणामोंमें दूसरे सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे युक्त होते हुए कितने ही विशेष जातिके सम्यक्त्वरूप परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हो जाते हैं यह बात निश्चित हो जाती है।

अब मनःपर्ययज्ञानके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२१ ॥

पर्याय और पर्यायीमें अभेदकी अपेक्षासे मनःपर्ययज्ञानको ही मनःपर्ययज्ञानीरूपसे कथन किया है।

शंका — देशविरति आदि नीचेके गुणस्थानवर्ती जीवोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, संयमासंयम और असंयमके साथ मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है।

१ [illegible]

२ [illegible]

वदभविष्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्ते कारणतामगमिष्यत् । अप्यन्योऽपि तु तद्धेतवः सन्ति तद्वैकल्यान्न सर्वसंयतानां तदुत्पद्यते । कऽन्ये तद्धेतव इति चेद्विशिष्टद्रव्यक्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिप्रतिपादनार्थमाह—

केवलणाणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥ १२२ ॥

अथ स्यादार्हन्त्ये केवलज्ञानमस्ति तत्र नातीन्द्रियावरणक्षयोपशमजनितमनः स्यात्, न, प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्तदभावे तस्तोऽसत्त्वात् । न वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्तिर्वद्धारण तन्मया प्रक्षीण

शंका — यदि संयममात्र मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त संयमियोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान — यदि केवल संयम ही मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा होता । किन्तु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त संयतोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका — वे दूसरे कौनसे कारण हैं ?

समाधान — विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं, जिनके बिना सभी संयमियोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

अब केवलज्ञानके स्वामीके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १२२ ॥

शंका — अर्हन्त परमेष्ठीमें केवलज्ञान रहा है, इसलिये वहां पर [illegible] उत्पन्न हुए मनका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि [illegible] पाया जाता है [illegible] मनका सद्भाव नहीं [illegible] पाया जाता है ।

वीर्यान्तरायस्य वीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्वनिरोधात् । कथं पुनः सयोग इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्त्वापेक्षया तस्य सयोगत्वाविरोधात् । तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात् । अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्धटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात् । मनोयोगाभावे सूत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोकर्मजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोधः ।

संयममार्गणाप्रतिपादनार्थमाह —

संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावण-सुद्धि-संजदा परिहार-सुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥ १२३ ॥

शंका—फिर अरिहन्त परमेष्ठीको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रथम (सत्य) और चतुर्थ (अनुभय) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द वहां पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे अरिहंत परमेष्ठीके सयोगी होनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—अरिहन्त परमेष्ठीमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं।

शंका—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुंभकारद्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—सयोगिकेवलीके मनोयोगका अभाव मानने पर 'सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अथवा, जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दके कारणरूप मनोवर्गणारूप नोकर्मसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है।

अब संयममार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयममार्गणाके अनुवादसे सामायिक-शुद्धिसंयत, छेदोपस्थापना-शुद्धिसंयत परिहार-

अत्राप्यभेदापेक्षया पर्यायस्य पर्यायिव्यपदेशः। सम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण यताः बहिरङ्गान्तरङ्गास्रवेभ्यो विरताः संयताः। सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मीति सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिकशुद्धिसंयमो द्रव्यार्थिकत्वात्। एवंविधसंयतो मिथ्यादृष्टिः किन्न स्यादिति चेन्न, आत्मसात्कृताशेषविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य सम्यग्दृष्टित्वाविरोधात्। आक्षिप्ताशेषरूपमिदं सामान्यमिति कुतोऽवसीयत इति चेत्सर्वसावद्ययोगोपादानात्। नैकस्मिन् सर्वशब्दः प्रवर्तते विरोधात्। स्वान्तर्भाविताशेषसंयमविशेषैकयम-

शुद्धिसंयत, सूक्ष्मसांपराय शुद्धिसंयत, यथाख्यात विहार शुद्धिसंयत ये पांच प्रकारके संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं ॥ १२३ ॥

यहां पर भी अभेदकी अपेक्षासे पर्यायका पर्यायीरूपसे कथन किया है। 'सम्' उपसर्ग सम्यक् अर्थका वाची है, इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यताः' अर्थात् जो बहिरंग और अन्तरंग आस्रवोंसे विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं।

'मैं सर्व प्रकारके सावद्ययोगसे विरत हूं' इसप्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल सावद्ययोगके त्यागको सामायिक शुद्धिसंयम कहते हैं।

शंका — इसप्रकार एक व्रतका नियमवाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं हो जावेगा?

समाधान — नहीं, क्योंकि जिसमें संपूर्ण चारित्रके भेदोंका संग्रह होता है, ऐसे सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नयको समीचीन दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका — यह सामान्य संयम अपने संपूर्ण भेदोंका संग्रह करनेवाला है यह कैसे जाना जाता है?

समाधान — 'सर्वसावद्ययोग' पदके ग्रहण करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका संग्रह कर लिया गया है यह बात जानी जाती है। यदि यहां पर संयमके किसी एक भेदकी ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि ऐसे स्थल पर 'सर्व' शब्दके प्रयोग करनेमें विरोध आता है।

[illegible]

[illegible] इति पाठः । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] इति [illegible] । [illegible] ।

[illegible] । [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विशेषात्समुत्पन्नपरिहारर्द्धिस्तीर्थकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते । एवमादाय स्थानगमनचङ्क्रमणाशनपानासनादिषु व्यापारेष्वशेषप्राणिपरिहरणदक्षाः परिहारशुद्धिसंयता नाम ।

साम्परायः कषायः, सूक्ष्मः साम्परायो येषां ते सूक्ष्मसाम्परायाः । शुद्धाश्च ते संयताश्च शुद्धसंयताः । सूक्ष्मसाम्परायाश्च ते शुद्धिसंयताश्च सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः । त एव द्विधोपात्तसंयमा यदा सूक्ष्मीकृतकषाया भवन्ति तदा ते सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता इत्युच्यन्त इति यावत् ।

यथाख्यातो यथाप्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम् । यथाख्यातो विहारो येषां ते यथाख्यातविहाराः । यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः । सुगममन्यत् ।

संयमानुवादेनासंयतानां संयतासंयतानां च न ग्रहणं प्राप्नुयादिति चेन्न, आम्रवन

तपोविशेषसे परिहार ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसा साधु तीर्थंकरके पादमूलमें परिहारशुद्धिसंयमको ग्रहण करता है। इसप्रकार संयमको धारण करके जो खड़े होना, गमन करना, इधर उधर विहार करना, भोजन करना, पान करना और बैठना आदि सम्पूर्ण व्यापारोंमें प्राणियोंकी हिंसाके परिहारमें दक्ष हो जाता है उसे परिहारशुद्धिसंयत कहते हैं।

साम्पराय कषायको कहते हैं। जिनकी कषाय सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। जो संयत विशुद्धिको प्राप्त हो गये हैं उन्हें शुद्धिसंयत कहते हैं। जो सूक्ष्मकषायवाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं उन्हें सूक्ष्मसाम्पराय शुद्धिसंयत कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक या छेदोपस्थापना संयमको धारण करनेवाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्म कषायवाले हो जाते हैं तब वे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत कहे जाते हैं।

परमागममें विहार अर्थात् कषायोंके अभावरूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यातविहार कहते हैं। जो यथाख्यातविहारवाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं वे यथाख्यातविहार शुद्धिसंयत कहलाते हैं। शेष कथन सुगम है।

शंका — संयम मार्गणाके अनुवादसे संयमोंमें संयतासंयत और असंयतोंका ग्रहण नहीं हो सकता है?

प्रधानत्वात्तत्स्थनिम्बानामपि आम्रवनव्यपदेशदर्शनतोऽनेकान्तात्। उक्तं च —

संगहिय-सयल-संजममेय-जममणुत्तरं दुरवगम्मं ।
जीवो समुव्वहंतो सामाइय-संजदो होइ ॥ १८७ ॥
छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं ।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो ॥ १८८ ॥
पंच-समिदो ति-गुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं ।
पंच-जमेय-जमो वा परिहारो संजदो सो हु ॥ १८९ ॥

समाधान — नहीं, क्योंकि, जिस वनमें आम्रवृक्षोंकी प्रधानता है उसमें रहनेवाले नीमके वृक्षोंको भी 'आम्रवन' ऐसी संज्ञा देखनेमें आती है। अथवा अनेकान्तका आश्रय करनेसे संयतासंयत और असंयतोंका भी संयम मार्गणामें ग्रहण किया है। कहा भी है—

जिसमें समस्त संयमोंका संग्रह कर लिया गया है ऐसे लोकोत्तर और दुरधिगम्य अभेदरूप एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिकसंयत होता है ॥ १८७ ॥

जो पुरानी सावद्यव्यापाररूप पर्यायको छेदकर पांच यमरूप धर्ममें अपनेको स्थापित करता है वह जीव छेदोपस्थापक संयमी कहलाता है ॥ १८८ ॥

जो पांच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त होता हुआ सदा ही सावद्ययोगका परिहार करता है तथा पांच यमरूप छेदोपस्थापना संयमको और एक यमरूप सामायिकसंयमको धारण करता है वह परिहारशुद्धि संयत कहलाता है ॥ १८९ ॥

---

१ गो. जी. ४७०.

२ गो. जी. ४७१. छेदन प्रायश्चित्ताचरणेन उपस्थापनं ... छेदोपस्थापनं ... । अथवा प्रायश्चित्त स्वकृतदोषपरिहाराय पूर्वकृततपश्छेदेनात्मानं ... स्थापयति स छेदोपस्थापनसंयतः, स्वतपश्छेदे सति उपस्थापनं यस्य स छेदोपस्थापनः ... । जी. प्र. टी.

३ गो. जी. ४७२. परिहारकप्प पवक्खामि परिहरंति जहा विऊ । ... इम ॥ ३६९ ॥ सवत्तीसा अण्णगार ... सहस्सगा ॥ ... विराहिया ॥ ... ॥ ... य उज्झाया ... गणा । ... परिहारिया ॥ ३७० ॥ ... परिहारिए । ... ॥ ३७४ ॥ ... ण वेयणा ण वानक्खा ... ॥ ३७ ॥ ... गणधरा इमा मेरा ॥ ३७ ॥ ... ठावगा ॥ ३८३ ॥ ... ॥ ३८४ ॥ पचविहे ववहारे ... ॥ ३८५ ॥ ... ॥ ३९६ ॥ ... ॥ ३ ४ ॥ ... परिहारिया ... ।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुम-सांपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥ १९० ॥
उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि ।
छदुमत्थो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ॥ १९१ ॥
पंच ति चउ विहेहिं अणु-गुण-सिक्खा-वएहिं संजुत्ता ।
वुच्चंति देस-विरया सम्माइट्ठी झरिय-कम्मा ॥ १९२ ॥
दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य ।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देस-विरदेदे ॥ १९३ ॥
जीवा चोद्दस-भेया इंदिय-विसया तहट्ठवीसं तु ।
जे तेसु णेव विरया असंजदा ते मुणेयव्वा ॥ १९४ ॥

चाहे उपशमश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो, परन्तु जो जीव सूक्ष्म लोभका अनुभव करता है उसे सूक्ष्मसांपराय शुद्धि-संयत कहते हैं। यह संयत यथाख्यात संयमसे कुछ कम संयमको धारण करनेवाला होता है॥ १९०॥

अशुभ मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षय हो जाने पर ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ और तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन यथाख्यात शुद्धि-संयत होते हैं॥ १९१॥

जो पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंसे संयुक्त होते हुए असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत कहे जाते हैं॥ १९२॥

दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तविरत, ब्रह्मचारी, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये देशविरतके ग्यारह भेद हैं॥ १९३॥

जीवसमास चौदह प्रकारके होते हैं और इन्द्रिय तथा मनके विषय अट्ठाईस प्रकारके होते हैं। जो जीव इनसे विरत नहीं हैं उन्हें असंयत जानना चाहिये॥ १९४॥

पढम [illegible] समासो ॥ ३ ॥ परिहरिअ छम्माये अणागारेगारआ [illegible] छम्मासा । [illegible] छम्मासे तेण [illegible] ॥ ३९६ ॥ [illegible] छहिं मासेहिं [illegible] भवाने त । [illegible] ॥ ३९८ ॥ [illegible] मासहिं [illegible] भवाने त । [illegible] परिहार [illegible] ॥ ३९९ ॥ अट्ठारसहिं मासेहिं [illegible] होति समाणिया । [illegible] ॥ ४ ॥ मू. ६ उ. (अभि. रा. को. परिहारविसुद्धिय.)

१ गो. जी. ४७४

२ गो. जी. ४७५

३ गो. जी. ४७६

४ गाथेयं पूर्वमपि ७४ गाथाङ्केन आगता ।

५ गो. जी. ४७८

संयतानां गुणस्थानानां संख्यानिरूपणार्थमाह—

संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ १२४ ॥

अथ स्याद् बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः, अन्यथा काष्ठादिष्वपि संयमप्रसङ्गात्। न च केवलिषु तथाभूता निवृत्तिरस्ति ततस्तत्र संयमो दुर्घट इति नैष दोषः[1], अघातिचतुष्टयविनाशापेक्षया समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरापेक्षया च सकलपापक्रियानिरोधलक्षणपारिणामिकगुणाविर्भावापेक्षया वा तत्र संयमोपचारात्। अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्यसंयमोऽस्ति। न काष्ठेन व्यभिचारस्तत्र प्रवृत्त्यभावतस्तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः। सुगममन्यत्।

द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयनिबन्धनसंयमगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सामाइय-च्छेदोवट्ठावण-सुद्धि-संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १२५ ॥

अब संयतोंमें गुणस्थानोंकी संख्याके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२४ ॥

शंका— बुद्धिपूर्वक सावद्ययोगके त्यागको संयम कहना तो ठीक है। यदि ऐसा न माना जाय तो काष्ठ आदिमें भी संयमका प्रसंग आजायगा। किंतु केवलीमें बुद्धिपूर्वक सावद्य योगकी निवृत्ति तो पाई नहीं जाती है इसलिये उनमें संयमका होना दुर्घट ही है?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार अघातिया कर्मोंके विनाश करनेकी अपेक्षा और समय समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे कर्मनिर्जरा करनेकी अपेक्षा संपूर्ण पाप क्रियाके निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे वहां संयमका उपचार किया जाता है। अतः वहां पर संयमका होना दुर्घट नहीं है। अथवा प्रवृत्तिके अभावकी अपेक्षा वहां पर मुख्य संयम है। इसप्रकार जिनेन्द्रमें प्रवृत्त्यभावसे मुख्य संयमकी सिद्धि करने पर काष्ठसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ठमें प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है, तब उसकी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है। शेष कथन सुगम है।

अब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके निमित्तसे माने गये संयमके गुणस्थान प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

सामायिक और छेदोपस्थापनारूप शुद्धिको प्राप्त संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२५ ॥

१ [illegible]

२ [illegible]

सुगमत्वान्न किंचिद्वक्तव्यमस्ति ।

द्वितीयसंयमस्याध्वाननिरूपणार्थमाह—

परिहार-सुद्धि-संजदा दोसु ट्ठाणेसु पमत्तसंजद-ट्ठाणे अप्पमत्त-संजद-ट्ठाणे ॥ १२६ ॥

उपरिष्टादिति किमित्ययं संयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तर्निमग्नात्मनां वाचंयमानामुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः । प्रवृत्तः परिहरति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्टात्संयमोऽस्ति । परिहारशुद्धिसंयतः किमु एकयम उत पञ्चयम इति ? किं चातो यद्येकयमः सामायिकेऽन्तर्भवति । अथ यदि पञ्चयमः छेदोपस्थापनेऽन्तर्भवति ? न च संयममादधानस्य पुरुषस्य द्रव्यपर्यायार्थिकाभ्यां व्यतिरिक्तस्यास्ति सम्भवस्ततो न परिहारसंयमोऽस्तीति न, परिहारर्द्ध्यतिशयोत्पत्त्यपेक्षया ताभ्यामस्य कथञ्चिद्भेदात् । तद्रूपापरित्यागेनैव परिहारर्द्धिपर्यायेण परिणतत्वान्न ताभ्यामन्योऽयम्

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां कुछ विशेष कहने योग्य नहीं है ।

अब दूसरे संयमके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

परिहार शुद्धि संयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२६ ॥

शंका — ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें यह संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि जिनकी आत्माएं ध्यानरूपी अमृतके सागरमें निमग्न हैं, जो वचन-यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने जानेरूप संपूर्ण शरीरसम्बन्धी व्यापार संकुचित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है । क्योंकि, गमनागमन आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं । इसलिये ऊपरके आठवें आदि ध्यान अवस्थाको प्राप्त गुणस्थानोंमें परिहार शुद्धि संयम नहीं बन सकता है ।

शंका — परिहार शुद्धि-संयम क्या एक यमरूप है या पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो उसका सामायिकमें अन्तर्भाव होना चाहिये और यदि पांच यमरूप है तो छेदोपस्थापनामें अन्तर्भाव हो जाना चाहिये । संयमको धारण करनेवाले पुरुषके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इन दोनों संयमोंसे भिन्न तीसरे संयमकी संभावना तो है नहीं इसलिये परिहार शुद्धि संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि परिहार ऋद्धिरूप अतिशयकी उत्पत्तिकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थानासे परिहार शुद्धि संयमका कथंचित् भेद है ।

शंका — सामायिक और छेदोपस्थापनारूप अवस्थाका त्याग न करते हुए ही परिहार ऋद्धिरूप पर्यायसे यह जीव परिणत होता है इसलिये सामायिक और छेदोपस्थापनासे भिन्न

१ परिहारशुद्धिसंयताः प्रमत्ताप्रमत्ताश्च । स. सि. १, ८.

मयम इति चेन्न, प्रागविद्यमानपरिहारर्द्ध्यपेक्षया ताभ्यामस्य भेदात्। ततः स्थितमेतत् ताभ्यामन्यः परिहारसंयम इति। परिहारर्द्धेरुपरिष्टादपि सत्त्वात्तत्राप्यस्तु सत्त्वमिति चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात्।

तृतीयसंयमस्याध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा एक्कम्मि चेव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजद-ट्ठाणे ॥ १२७ ॥

सूक्ष्मसाम्परायः किमु एकयम उत पञ्चयम इति? किं चातो यद्येकयमः पञ्चयमाभ्युक्तिरुपशमश्रेण्यारोहणं वा सूक्ष्मसाम्परायगुणप्राप्तिमन्तरेण तदुभयाभावात्। अथ पञ्चयमः एकयमानां पूर्वोक्तदोषाः समापतन्तीति। अथोभययमः, एकयमपञ्चयमभेदेन सूक्ष्मसाम्परा

यह संयम नहीं हो सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले अविद्यमान परन्तु पीछेसे उत्पन्न हुई परिहार ऋद्धिकी अपेक्षा उन दोनों संयमोंसे इसका भेद है, अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहार शुद्धि-संयम भिन्न ही है।

शंका—परिहार ऋद्धिकी आगेके आठवें आदि गुणस्थानोंमें भी सत्ता पाई जाती है, अतएव वहां पर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिये?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार ऋद्धि पाई जाती है परन्तु वहां पर परिहार करनेरूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार शुद्धि संयमका अभाव कहा गया है।

अब तीसरे संयमके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्मसाम्पराय शुद्धि-संयत जीव एक सूक्ष्मसाम्पराय शुद्धि-संयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२७ ॥

शंका—सूक्ष्मसाम्परायसंयम क्या एक यमरूप है अथवा पांच यमरूप? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो पंचयमरूप छेदोपस्थापनासंयमसे मुक्ति अथवा उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानकी प्राप्तिके बिना मुक्तिकी प्राप्ति और उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता? यदि सूक्ष्मसाम्पराय पांच यमरूप है तो एक यमरूप सामायिक संयमको धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं? यदि छेदोपस्थापनाको उभय यमरूप मानते हैं तो एक यम और पंचयमके भेदसे सूक्ष्मसाम्परायके दो भेद हो जाते हैं?

१ सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायस्थाने। स. सि. १, ८.

[illegible] । [illegible] [illegible] । न ततीयविकल्पोक्तदोष [illegible] [illegible] । [illegible] संयमस्य न्यूनाधिक [illegible] [illegible] । न चैव संयमं प्रति द्वयोर्- [illegible] । [illegible] [illegible] । तद्द्वारेण संयमस्य [illegible] [illegible] पठिए । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] ।

[illegible]—

जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु ट्ठाणेसु उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति ॥ १२८ ॥

समाधान — [illegible] तो [illegible] है, क्योंकि, ऐसा हमने माना नहीं है। [illegible] संभव नहीं है, क्योंकि, पंचयम और एकयमके [illegible] । यदि [illegible] और पंचयम संयमके न्यूनाधिकभावके कारण [illegible] भी हो जाता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि संयमके प्रति दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। अतः [illegible] संयमके उन दोनोंकी अपेक्षा दो भेद नहीं हो सकते हैं।

शंका — जब कि उन दोनोंकी अपेक्षा संयमके दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पांच प्रकारके संयमका उपदेश [illegible] सकता है?

समाधान — यदि पांच प्रकारका संयम [illegible] नहीं होता है तो मत होओ।

शंका — तो संयम कितने प्रकारका है?

समाधान — संयम चार प्रकारका है, क्योंकि पांचवां संयम पाया ही नहीं जाता है। [illegible] है।

[illegible] — [illegible] संयममें विवक्षा भेदसे ही भेद है वास्तवमें नहीं। [illegible] इसप्रकार संयम चार प्रकारके होते हैं।

[illegible] सूत्र कहते हैं—

[illegible] उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग [illegible] [illegible] गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२८ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

देशविरतगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह —

संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदासंजदट्ठाणे ॥१२९॥

सुगममेतत् ।

असंयतगुणस्य गुणस्थानप्रमाणनिरूपणार्थमाह —

असंजदा एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥१३०॥

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्संयता दृश्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण संयमानुपपत्तेः । सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि । यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न संयतासंयता नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात् ।

संयमद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय साम्प्रतं दर्शनमुखेन जीवसत्त्वनिरूपणार्थमाह —

दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि[1] ॥ १३१ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां विशेष कुछ कहने योग्य नहीं है ।

अब देशविरत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

संयतासंयत जीव एक संयतासंयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब असंयतगुणके गुणस्थानोंके प्रमाणके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

असंयत जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३० ॥

शंका — कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव संयत देखे जाते हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

शंका — सिद्ध जीवोंके कौनसा संयम होता है ?

समाधान — एक भी संयम नहीं होता है । उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव होनेसे जिसलिये वे संयत नहीं हैं, इसलिये संयतासंयत नहीं है और असंयत भी नहीं है, क्योंकि, उनके संपूर्ण पापरूप क्रियाएं नष्ट हो चुकी हैं ।

संयममार्गणाके द्वारा जीव-पदार्थका कथन करके अब दर्शनमार्गणाके द्वारा जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शनको धारण करनेवाले जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

१ [illegible] । गो. जी. १ ८

२ [illegible] । गो. जी. १ ८

३ [illegible]

चक्षुषा सामान्यार्थस्य ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम्। अथ स्याद्विषयविषयिसम्पातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। न तेन बाह्यार्थगतविधिसामान्यं परिच्छिद्यते तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात्। अविषयीकृतप्रतिषेधस्य ज्ञानस्य विधौ प्रवृत्तिविरोधात्। विधेः प्रतिषेधाद् व्यावृत्तो गृह्यतेऽव्यावृत्तो वा? आद्ये न विधिसामान्यग्रहणं प्रतिषेधेन सह विध्युपादानात्। द्वितीये न तद्धि ग्रहणं विधिप्रतिषेधोभयग्रहणे तस्यान्तर्भावात्। न बाह्यार्थगतप्रतिषेधसामान्यमपि परिच्छिद्यते विधिपक्षोक्तदोषदूषितत्वात्। तस्माद्विधिनिषेधात्मकबाह्यार्थ-

चक्षुके द्वारा सामान्य पदार्थके ग्रहण करनेको चक्षुदर्शन कहते हैं।

शंका— विषय और विषयीके योग्य संबन्धके अनन्तर प्रथम ग्रहणको जो अवग्रह कहा है। सो उस अवग्रहके द्वारा बाह्य अर्थमें रहनेवाले विधि सामान्यका ज्ञान तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, बाह्य अर्थमें रहनेवाला विधि सामान्य अवस्तु है इसलिये वह कर्म अर्थात् ज्ञानका विषय नहीं हो सकता है। दूसरे जिस ज्ञानने प्रतिषेधको विषय नहीं किया है उसकी विधिमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। इसलिये विधिका प्रतिषेधसे व्यावृत्त होकर ग्रहण होता है या अव्यावृत्त होकर ग्रहण होता है? प्रथम विकल्पके मानने पर केवल विधि सामान्यका ग्रहण तो बन नहीं सकता है, क्योंकि, प्रतिषेधके साथ ही विधिका ग्रहण देखा जाता है। दूसरे विकल्पके मानने पर ऐसे ग्रहणका कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं, क्योंकि, विधि और प्रतिषेध इन दोनोंके ग्रहणमेंही प्रतिषेधसे अव्यावृत्त विधिका अन्तर्भाव हो जाता है। इसीप्रकार बाह्य अर्थमें रहनेवाले प्रतिषेधसामान्यका भी ग्रहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, विधि पक्षमें जो दोष दे आये हैं वे सब यहां पर भी लागू पड़ते हैं। इसलिये विधि निषेधात्मक

[illegible]

अनु. (अभि. रा. को. दंसणशब्दप्रमाण)

ग्रहणमवग्रहः। न स दर्शनं सामान्यग्रहणस्य दर्शनव्यपदेशात्। ततो न चक्षुर्दर्शनमिति।

अत्र प्रतिविधीयते, नैते दोषा दर्शनमाढौकन्ते तस्यान्तरङ्गार्थविषयत्वात्। अन्तरङ्गार्थोऽपि सामान्यविशेषात्मक इति। विधिप्रतिषेधसामान्ययोरुपयोगस्य क्रमात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेरक्रमेण तत्रोपयोगस्य प्रवृत्तिरङ्गीकर्तव्या। न ततश्च न सोऽन्तरङ्गोपयोगोऽपि दर्शनं तस्य सामान्यविशेषविषयत्वादिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात्। तस्य कथं सामान्यतेति चेदुच्यते। चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो हि नाम रूप एव नियमितस्ततो रूपविशिष्टस्यैवार्थग्रहणस्योपलम्भात्। तत्रापि रूपसामान्य एव नियमितस्ततो नीलादिष्वेकरूपेणैव विशिष्टवस्त्वनुपलम्भात्। तस्माच्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो रूपविशिष्टार्थं प्रति समानः आत्मव्यतिरिक्तक्षयोपशमाभावादात्मापि तद्द्वारेण समानः, तस्य भावः सामान्यं तद्दर्शनस्य विषय इति स्थितम्।

अथ स्याच्चक्षुषा यत्प्रकाशते तद्दर्शनम्। न चात्मा चक्षुषा प्रकाशते तथानुप-

---

बाह्य पदार्थके ग्रहणको अवग्रह मानना चाहिये। परन्तु यह अवग्रह दर्शनरूप तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, जो सामान्यको ग्रहण करता है उसे दर्शन कहा है। अतः चक्षुदर्शन नहीं बनता है?

समाधान—ऊपर दिये गये ये सब दोष दर्शनको नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि, वह अन्तरंग पदार्थको विषय करता है। और अन्तरंग पदार्थ भी सामान्य विशेषात्मक होता है। इसलिये विधिसामान्य और प्रतिषेधसामान्यमें उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं बनती है, अतः उनमें उपयोगकी अक्रमसे प्रवृत्ति स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् दोनोंका युगपत् ही ग्रहण होता है।

शंका—इस कथनको मान लेने पर भी वह अन्तरंग उपयोग दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, उस अन्तरंग उपयोगको सामान्यविशेषात्मक पदार्थ विषय मान लिया है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहांपर सामान्यविशेषात्मक आत्माका सामान्य शब्दके वाच्यरूपसे ग्रहण किया है।

शंका—उसको सामान्यपना कैसे है?

समाधान—चक्षु इन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपमें ही नियमित है। इसलिये उससे रूपविशिष्ट ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है। वहांपर भी चक्षुदर्शनमें रूपसामान्य ही नियमित है, इसलिये उससे नीलादिकमें किसी एक रूपके द्वारा ही विशिष्ट वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती है। अतः चक्षु इन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपविशिष्ट अर्थके प्रति समान है। और आत्माको छोड़कर क्षयोपशम पाया नहीं जाता है, इसलिये आत्मा भी क्षयोपशमकी अपेक्षा समान है। और उस समानके भावको सामान्य कहते हैं। वह दर्शनका विषय है।

शंका—चक्षु इन्द्रियसे जो प्रकाशित होता है उसे दर्शन कहते हैं। परन्तु आत्मा तो चक्षु इन्द्रियसे प्रकाशित होता नहीं, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियसे आत्माकी उपलब्धि होती हुई नहीं देखी जाती है। चक्षु इन्द्रियसे रूपसामान्य और रूपविशेषसे युक्त पदार्थ प्रकाशित

स्मात्। प्रकाशने च रूपसामान्यविशेषविशिष्टार्थे। न स दर्शनमर्थस्योपयोगरूपत्वविरोधात्। न तस्योपयोगोऽपि दर्शनं तस्य ज्ञानरूपत्वात्। ततो न चक्षुर्दर्शनमिति न, चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेराधार्याभावे आधारस्याप्यभावात्। तस्माच्चक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम्। किं च निद्रानिद्रादीनि कर्माणि न ज्ञानप्रतिबन्धकानि ज्ञानावरणाभ्यन्तरे तेषामपाठात्। नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोगद्वयप्रतिबन्धकानि एवमपि ज्ञानावरणस्यैवान्तर्भावात्। नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोगसामान्यप्रतिबन्धकानि जाग्रदवस्थायां छद्मस्थानां ज्ञानदर्शनोपयोगयोरक्रमेण वृत्तिप्रसङ्गात्। ततो दर्शनावरणीयकर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेरन्तरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं दर्शनावरणीयम्, बहिरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम्। आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषः स्यादिति चेन्नैष दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शन

होता है। परन्तु पदार्थ तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, पदार्थको उपयोगरूप माननेमें विरोध आता है। पदार्थका उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, वह उपयोग ज्ञानरूप पड़ता है। इसलिये चक्षुदर्शनका अस्तित्व नहीं बनता है।

समाधान — नहीं, क्योंकि, यदि चक्षुदर्शन नहीं होता तो चक्षुदर्शनावरण कर्म नहीं बन सकता है, क्योंकि, आधार्यके अभावमें आधारका भी अभाव हो जाता है। इसलिये अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाला चक्षुदर्शन है यह बात स्वीकार कर लेना चाहिये। दूसरे, निद्रानिद्रा आदि कर्म ज्ञानके प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ज्ञानावरण कर्मके भेदोंमें इन निद्रानिद्रा आदि कर्मोंका पाठ नहीं है। तथा निद्रानिद्रा आदि कर्म अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले दोनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा माननेपर भी निद्रानिद्रादिकका ज्ञानावरणके भीतर ही अन्तर्भाव होना चाहिये था। परंतु ऐसा नहीं है। अतः निद्रानिद्रादिक दोनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं। निद्रानिद्रादिक अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले उपयोग सामान्यके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर जाग्रत् अवस्थामें छद्मस्थके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगकी युगपत् प्रवृत्तिका प्रसंग आ जायगा। इसलिये दर्शन यदि न हो तो दर्शनावरण कर्मका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है और बहिरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है ऐसा जानना चाहिये।

शंका — आत्माको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार कर लेने पर आत्मामें कोई विशेषता नहीं होनेसे चारों दर्शनोंमें भी कोई भेद नहीं रह जाएगा?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो जिस ज्ञानका उत्पादक

व्यपदेशान्न दर्शनस्य चातुर्विध्यनियमः। यावन्तश्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमजनितज्ञानस्य विषयभावमापन्नाः पदार्थास्तावन्त एवात्मस्थक्षयोपशमास्तत्संज्ञामानस्तद्द्वारेणात्मापि तावद्विध एव। तच्छक्तिखचितात्मपरिच्छित्तिर्दर्शनम्। न चैतत्काल्पनिकं परमार्थत एव परोपदेशमन्तरेण शक्त्या सहात्मन उपलम्भात्। न दर्शनानामक्रमेण प्रवृत्तिर्ज्ञानानामक्रमेणोत्पत्त्यभावतस्तदभावात्। एवं शेषदर्शनानामपि वक्तव्यम्। ततो न दर्शनानामैक्यमिति। उक्तं च —

चक्खूण जं पयासदि दिस्सदि तं चक्खु-दंसणं बेंति।
सेसिंदिय-प्पयासो णादव्वो सो अचक्खु त्ति ॥ १९५ ॥[1]
परमाणु-आदियाइं अंतिम-खंधं ति मुत्ति-दव्वाइं।
तं ओहि-दंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं[2] ॥ १९६ ॥
बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्हि खेत्तम्हि।
लोगालोग-वितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोवो[3] ॥ १९७ ॥

स्वरूपसंवेदन है उसको उसी नामका दर्शन कहा जाता है। इसलिये दर्शनके चार प्रकारके होनेका कोई नियम नहीं है। चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए ज्ञानके विषयभावको प्राप्त जितने पदार्थ हैं उतने ही आत्मामें स्थित क्षयोपशम उन उन संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं। और उनके निमित्तसे आत्मा भी उतने ही प्रकारका हो जाता है। अतः इस प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त आत्माके संवेदन करनेको दर्शन कहते हैं। यह सब कथन काल्पनिक भी नहीं है, क्योंकि, परोपदेशके बिना अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्माकी परमार्थसे उपलब्धि होती है। सभी दर्शनोंकी अक्रमसे प्रवृत्ति होती है सो बात भी नहीं है, क्योंकि, ज्ञानोंकी एकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है, अतः संपूर्ण दर्शनोंकी भी एकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है। इसीप्रकार शेष दर्शनोंका भी कथन करना चाहिये। इसलिये दर्शनोंमें एकता अर्थात् अभेद सिद्ध नहीं हो सकता है। कहा भी है—

जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा प्रकाशित होता है अथवा दिखाई देता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। तथा शेष इन्द्रिय और मनसे जो प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं ॥१९५॥

परमाणुसे आदि लेकर अन्तिम स्कन्धपर्यन्त मूर्त पदार्थोंको जो प्रत्यक्ष देखता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं ॥१९६॥

अपने अपने अनेक प्रकारके भेदोंसे युक्त बहुत प्रकारके प्रकाश इस परिमित क्षेत्रमें ही पाये जाते हैं। परन्तु जो केवलदर्शनरूपी प्रकाश है वह लोक और अलोकको भी तिमिर रहित कर देता है ॥१९७॥

१ गो. जी. ४८४
२ गो. जी. ४८५
३ गो. जी. ४८६

चक्षुर्दर्शनाध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

चक्खु दंसणी चउरिंदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ १३२ ॥

सुगममेतत् ।

अचक्षुर्दर्शनस्वामिप्रतिपादनार्थमाह—

अचक्खु-दंसणी एइंदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ १३३ ॥

दृष्टान्तस्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति [illegible] एकेन्द्रियेषु चक्षु[illegible] भावतोऽचक्षुर्दर्शनस्याभावापत्तेः [illegible] । दृष्टशब्द उपलम्भवाचक इति चेत्, उपलम्भाथ [illegible] विषयस्मृतदर्शनतः [illegible] मनसा निर्विषयतापत्तेः । [illegible] दर्शन मित्यङ्गीकर्तव्यम् । ज्ञानमेव द्विस्वभावं किं न स्यादिति चेत्, [illegible]

अब च[क्षु]र्दर्शनसम्बन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान तक होते हैं ॥ १३२ ॥

इसका अर्थ सरल है ।

अब अचक्षुदर्शनके स्वामी बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

अचक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ॥ १३३ ॥

दृष्टान्त अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुदर्शन है ऐसा कितने ही कहते हैं । परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है क्योंकि ऐसा स्वीकार [illegible] जीवोंमें चक्षुइन्द्रियका अभाव होनेसे उनके अचक्षुदर्शनके अभावका प्रसंग आ जाएगा ।

शंका — दृष्टान्तमें दृष्ट शब्द उपलम्भवाचक ग्रहण करना चाहिए ।

समाधान — नहीं, क्योंकि उपलब्ध पदार्थ [illegible] विषय करनेवाले [illegible] पर [illegible] मनको [illegible] आपत्ति आजाती है । [illegible] ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए ।

[शंका] — ज्ञान ही दो स्वभाववाला [illegible] [illegible]

समाधान — नहीं, क्योंकि [illegible] [illegible] [illegible]

ज्ञानम्, स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्, ततो नानयोरेकत्वमिति । ज्ञानदर्शनयोरक्रमेण प्रवृत्तिः किन्न स्यादिति चेत् किमिति न भवति? भवत्येव क्षीणावरणे द्वयोरक्रमेण प्रवृत्त्युपलम्भात्। भवतु छद्मस्थावस्थायामप्यक्रमेण क्षीणावरणे इव तयोः प्रवृत्तिरिति चेन्न, आवरणनिरुद्धाक्रमयोरक्रमप्रवृत्तिविरोधात् । अस्वसंविद्रूपो न कदाचिदप्यात्मोपलभ्यत इति चेन्न, बहिरङ्गोपयोगावस्थायामन्तरङ्गोपयोगानुपलम्भात् । श्रुतदर्शनं किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य मतिपूर्वकस्य दर्शनपूर्वकत्वविरोधात् । यदि बहिरङ्गार्थसामान्यविषयं दर्शनमभविष्यत्तदा श्रुतज्ञानदर्शनमपि समभविष्यत् ।

अवधिदर्शनप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

ओधि-दंसणी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ १३४ ॥

शंका— ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

समाधान— कैसे नहीं होती, होती ही है, क्योंकि, जिनके आवरण कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे तेरहवें आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंमें ज्ञान और दर्शन इन दोनोंकी युगपत् प्रवृत्ति पाई जाती है।

शंका— आवरणकर्मसे रहित जीवोंमें जिसप्रकार ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति पाई जाती है, उसीप्रकार छद्मस्थ अवस्थामें भी उन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होओ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मके उदयसे जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करनेकी शक्ति रुक गई है ऐसे छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शनमें युगपत् प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है।

शंका— अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंकी उपयोगरूप अवस्थामें अंतरंग पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है।

शंका— श्रुत दर्शन क्यों नहीं कहा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको दर्शनपूर्वक माननेमें विरोध आता है। दूसरे यदि बहिरंग पदार्थको सामान्यरूपसे विषय करनेवाला दर्शन होता तो श्रुतज्ञानसंबन्धी दर्शनभी होता। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये श्रुतज्ञानके पहले दर्शन नहीं होता है।

अब अवधिज्ञानसंबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

अवधिदर्शनवाले जीव असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुण

१ अवधिदर्शनं असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि । स. सि. १. ८.

सुगममेतत्। विभङ्गदर्शनं किमिति पृथग् नोपदिष्टमिति चेन्न, तस्यावधिदर्शनेऽन्तर्भावात्। मनःपर्ययदर्शनं तर्हि वक्तव्यमिति चेन्न, मतिपूर्वकत्वात्तस्य दर्शनाभावात्।

केवलदर्शनस्वामिप्रतिपादनार्थमाह —

केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥ १३५ ॥

अनन्तत्रिकालगोचरबाह्येऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानं (स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं च दर्शनमिति) कथमनयोः समानतेति चेत्कथ्यते। ज्ञानप्रमाणमात्मा ज्ञानं च त्रिकालगोचरानन्तद्रव्यपर्यायपरिमाणं ततो ज्ञानदर्शनयोः समानत्वमिति। स्वजीवस्थपर्यायैर्ज्ञानाद्दर्शनमधिकमिति चेन्न, इष्टत्वात्। कथं पुनस्तेन तस्य समानत्वम्? न, अन्योन्यात्मकयोस्तदविरोधात्। उक्तं च —

स्थान तक होते हैं ॥१३४॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है।

शंका — विभंगदर्शनका पृथक् रूपसे उपदेश क्यों नहीं किया?

समाधान — नहीं, क्योंकि, उसका अवधिदर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका — तो मनःपर्ययदर्शनको भिन्न रूपसे कहना चाहिये?

समाधान — नहीं, क्योंकि, मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिये मनःपर्ययदर्शन नहीं होता है।

अब केवलदर्शनके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

केवलदर्शनके धारक जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ॥१३५॥

शंका — त्रिकालगोचर अनन्त बाह्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाला ज्ञान है और स्वरूपमात्रमें प्रवृत्ति करनेवाला दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें समानता कैसे हो सकती है?

समाधान — आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकालके विषयभूत द्रव्योंकी अनन्त पर्यायोंको जाननेवाला होनेसे तत्परिमाण है, इसलिये ज्ञान और दर्शनमें समानता है।

शंका — आत्मामें रहनेवाली स्वकीय पर्यायोंकी अपेक्षा ज्ञानसे दर्शन अधिक है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है।

शंका — फिर ज्ञानके साथ दर्शनकी समानता कैसे हो सकती है?

समाधान — समानता नहीं हो सकती यह बात नहीं है, क्योंकि, एक दूसरेकी अपेक्षा करनेवाले उन दोनोंमें समानता मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। कहा भी है —

१ [illegible]

[illegible] ॥ १९८ ॥
[illegible] ॥ २०० ॥

[illegible]—

लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि ॥ १३६ ॥

[illegible]

[illegible]

कषायस्यानुभागो वा ? किं चातो नाद्यौ विकल्पौ योगकषायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावात्। न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात्। न प्रथमद्वितीयविकल्पोक्तदोषावनभ्युपगमात्। न तृतीयविकल्पोक्तदोषो द्वयोरेकस्मिन्नन्तर्भावविरोधात्। न द्वित्वमपि कर्मलेपैककार्यकर्तृत्वेनैकत्वमापन्नयोर्योगकषाययोर्लेश्यात्वाभ्युपगमात्। नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति द्व्यात्मकस्यैकस्य जात्यन्तरमापन्नस्य केवलेनैकेन सहैकत्वसमानत्वयोर्विरोधात्। योगकषायकार्याद्व्यतिरिक्तलेश्याकार्यानुपलम्भान्न ताभ्यां पृथग्लेश्यास्तीति चेन्न, योगकषायाभ्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्बनाचार्यादिबाह्यार्थसन्निधानेनापन्नलेश्याभावाभ्यां संसारवृद्धिकार्यस्य

जाता है ' इस वचनका व्याघात हो जाता है।

शंका — लेश्या योगको कहते हैं, अथवा, कषायको कहते हैं, या योग और कषाय दोनोंको कहते हैं ? इनमेंसे आदिके दो विकल्प अर्थात् योग या कषायरूप लेश्या तो मान नहीं सकते क्योंकि, वैसा माननेपर योगमार्गणा और कषायमार्गणामें ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, तीसरा विकल्प भी आदिके दो विकल्पोंके समान है। अर्थात् तीसरे विकल्पके माननेपर भी लेश्याका उन दोनों मार्गणाओंमें अथवा किसी एक मार्गणामें अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये लेश्याकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है ?

समाधान — शंकाकारने जो ऊपर तीन विकल्प उठाये हैं उनमेंसे पहले और दूसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, लेश्याको केवल योग और केवल कषायरूप माना ही नहीं है। इसीप्रकार तीसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, योग और कषाय इन दोनोंका किसी एकमें अन्तर्भाव माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि लेश्याको दोरूप मान लिया जाय जिससे उसका योग और कषाय इन दोनों मार्गणाओंमें अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मलेपरूप एक कार्यको करनेवाले होनेकी अपेक्षा एकपनेको प्राप्त हुए योग और कषायको लेश्या माना है। यदि कहा जाय कि एकताको प्राप्त हुए योग और कषायरूप लेश्या होनेसे उन दोनोंमें लेश्याका अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि दो धर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए द्व्यात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल एकके साथ एकत्व अथवा समानता मान लेनेमें विरोध आता है।

शंका — योग और कषायके कार्यसे भिन्न लेश्याका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये उन दोनोंसे भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, विपरीतताको प्राप्त हुए मिथ्यात्व अविरति आदिके आलम्बनरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोंके संपर्कसे लेश्याभावको प्राप्त हुए योग और कषायोंसे, केवल योग और केवल कषायके कार्यसे भिन्न संसारकी वृद्धिरूप कार्यकी उपलब्धि होती

द्रव्यत्वकार्याद्व्यतिरिक्तत्वेनलम्भात्। समानबुद्धिहेतुत्वस्येति प्रतीयमाने लिङ्गे लेश्येत्यनेन विरोधेऽन्न, लेश्यात्वेनाभिधानेन तत्तद्व्यपदेशाविरोधात्। तामर्थं [illegible] लेश्याति नियम्। षड्विध [illegible]। तद्यथा, [illegible] इति। एतेषु [illegible] षड् लेश्या भवन्ति। कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या पीतलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति। उक्तं च —

[illegible] ।
[illegible] ॥ २०० ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २०१ ॥

[illegible] जाता है, [illegible]

प्रश्न — [illegible]

उत्तर — [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

णिद्दा-वंचण-बहुलो धण-धण्णे होदि तिव्व-सण्णा य ।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णील-लेस्सस्स ॥ २०२ ॥
रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसइ य अप्पयं बहुसो ॥ २०३ ॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पिव परं पि मण्णंतो ।
तूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणि-वड्ढीओ ॥ २०४ ॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुअं हि थुव्वमाणो हु ।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥ २०५ ॥
जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्व-सम-पासी ।
दय-दाण-रदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥ २०६ ॥

जो अतिनिद्रालु हो, दूसरोंको ठगनेमें अतिदक्ष हो, और धन-धान्यके विषयमें जिसकी अति तीव्र लालसा हो, ये सब नीललेश्यावालेके संक्षेपसे लक्षण कहे गये हैं ॥ २०२ ॥

जो दूसरोंके ऊपर रोष करता है, दूसरोंकी निन्दा करता है, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दुःख देता है, अथवा, दूसरोंको दोष लगाता है, अत्यधिक शोक और भयसे व्याप्त रहता है, दूसरोंको सहन नहीं करता है, दूसरोंका पराभव करता है, अपनी नाना प्रकारसे प्रशंसा करता है, दूसरेके ऊपर विश्वास नहीं करता है, अपने समान दूसरेको भी मानता है, स्तुति करनेवालेके ऊपर संतुष्ट हो जाता है, अपनी और दूसरेकी हानि और वृद्धिको नहीं जानता है, युद्धमें मरनेकी प्रार्थना करता है, स्तुति करनेवालेको बहुत धन दे डालता है, और कार्य अकार्यकी कुछ भी गणना नहीं करता है, ये सब कापोतलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०३-२०५ ॥

जो कार्य-अकार्य और सेव्य-असेव्यको जानता है, सबके विषयमें समदर्शी रहता है, दया और दानमें तत्पर रहता है और मन वचन कायसे कोमल परिणामी होता है, ये सब पीतलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०६ ॥

[illegible]

चागी भद्दो चोक्खो उज्जुव-कम्मो य खमइ बहुअं पि।
साहु-गुरु-पूजण-णिरदो लक्खणमेदं तु पम्मस्स[1] ॥ २०७ ॥
ण उ कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु।
णत्थि य राय-दोसो णेहो वि य सुक्क-लेस्सस्स[2] ॥ २०८ ॥

षड्लेश्यातीता अलेश्याः। उक्तं च—

किण्हादि-लेस्स-रहिदा संसार-विणिग्गया अणंत-सुहा।
सिद्धि-पुरं संपत्ता अलेसिया ते मुणेयव्वा[3] ॥ २०९ ॥

लेश्यानां गुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजद-सम्माइट्ठि त्ति[4] ॥ १३७ ॥

जो त्यागी है, भद्रपरिणामी है, निरन्तर कार्य करनेमें उद्यत रहता है, जो अनेक प्रकारके कष्टप्रद और अनिष्ट उपसर्गोंको क्षमा कर देता है, और साधु तथा गुरुजनोंकी पूजामें रत रहता है, ये सब पद्मलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०७ ॥

जो पक्षपात नहीं करता है, निदान नहीं बांधता है, सबके साथ समान व्यवहार करता है, इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंके विषयमें राग और द्वेषसे रहित है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदिमें स्नेहरहित है ये सब शुक्ललेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०८ ॥

जो छह लेश्याओंसे रहित हैं उन्हें लेश्यारहित जीव कहते हैं। कहा भी है—

जो कृष्णादि लेश्याओंसे रहित हैं, पंच परिवर्तनरूप संसारसे पार हो गये हैं, जो अतीन्द्रिय और अनन्त सुखको प्राप्त हैं और जो आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको प्राप्त हो गये हैं उन्हें लेश्यारहित जानना चाहिये ॥ २०९ ॥

अब लेश्याओंमें गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्यावाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३७ ॥

1 गो. जी. ५१५. [illegible] ३४ ११-१० [illegible]

2 गो. जी. ५१७. [illegible] ३४ ११-११ [illegible]

3 गो. जी. ५५६.

4 [illegible]

कथम्? त्रिविधतीव्रादिकषायाभ्युदयस्य सत्त्वात्। सुगममन्यत्।
तेजःपद्मलेश्यास्थानप्रतिपादनार्थमाह—

तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति ॥ १३८ ॥

कथम्? एतयोः तीव्रादिकषायाद्यभावात्। सुगममन्यत्।

सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ १३९ ॥

कथं क्षीणोपशान्तकषायाणां शुक्ललेश्येति चेन्न, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्ललेश्यास्तित्वाविरोधात्।

शंका—चौथे गुणस्थानतक ही आदिकी तीन लेश्याएं क्यों होती हैं?

समाधान—तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र कषायके उदयका सद्भाव चौथे गुणस्थानतक ही पाया जाता है, इसलिये वहांतक तीन लेश्याएं कहीं। शेष कथन सुगम है।

अब पीत और पद्मलेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

पीतलेश्या और पद्मलेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३८ ॥

शंका—ये दोनों लेश्याएं सातवें गुणस्थानतक कैसे पाई जाती हैं?

समाधान—क्योंकि, इन लेश्यावाले जीवोंके तीव्रतम आदि कषायोंका उदय नहीं पाया जाता है। शेष कथन सुगम है।

अब शुक्ललेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

शुक्ललेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३९ ॥

शंका—जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनके शुक्ललेश्याका होना कैसे संभव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनमें कर्मलेपका कारण योग पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे उनके शुक्ललेश्याके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

अब लेश्यारहित जीवोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१ [illegible]

२ [illegible]

तेण परमलेस्सिया ॥ १४० ॥

कथम्? बन्धहेतुयोगकषायाभावात्। सुगममन्यत्।

लेश्याद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय भव्याभव्यद्वारेण जीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह-

भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया ॥ १४१ ॥

भव्या भविष्यन्तीति सिद्धिर्येषां ते भव्यसिद्धयः। तथा च भव्यसन्ततिच्छेदः स्यादिति चेन्न, तेषामानन्त्यात्। न हि सान्तस्यानन्त्यं विरोधात्। सव्ययस्य निरायस्य राशेः कथमानन्त्यमिति चेन्न, अन्यथैकस्याप्यानन्त्यप्रसङ्गात्। सव्ययस्यानन्तस्य न क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति स्वसंख्येयासंख्येयभागव्ययस्य राशेरनन्तस्यापेक्षया तद्द्वित्र्यादिसंख्येयराशिव्ययतो न क्षयोऽपीत्यभ्युपगमात्[1]। अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालस्यानन्त्यस्यापि

तेरहवें गुणस्थानके आगे सभी जीव लेश्यारहित हैं ॥ १४० ॥

शंका — यह कैसे?

समाधान — क्योंकि, वहांपर बन्धके कारणभूत योग और कषायका अभाव है। शेष कथन सुगम है।

लेश्यामार्गणाके द्वारा जीवपदार्थका कथन करके अब भव्याभव्य मार्गणाके द्वारा जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

भव्यमार्गणाके अनुवादसे भवसिद्ध और अभवसिद्ध जीव होते हैं ॥ १४१ ॥

जो आगे सिद्धिको प्राप्त होंगे उन्हें भव्यसिद्ध जीव कहते हैं।

शंका — इसप्रकार तो भव्यजीवोंकी सन्ततिका उच्छेद हो जायगा?

समाधान — नहीं, क्योंकि, भव्यजीव अनन्त होते हैं। जो राशि सान्त होती है उसमें अनन्तपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, सान्तको अनन्त माननेमें विरोध आता है।

शंका — जिस राशिका निरन्तर व्यय चालू है, परंतु उसमें आय नहीं होती है तो उसके अनन्तपना कैसे बन सकता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, यदि सव्यय और निराय राशिको भी अनन्त न माना जाय तो एकको भी अनन्तके माननेका प्रसंग आ जायगा। व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय नहीं होता है यह एकान्त नियम है इसलिये जिसके संख्यातवें और असंख्यातवें भागका व्यय हो रहा है ऐसी राशिका, अनन्तकी अपेक्षा उसकी दो तीन आदि संख्यात राशिके व्यय होनेसे भी क्षय नहीं होता है, ऐसा स्वीकार किया है।

शंका — अर्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल अनन्त होते हुए भी उसका क्षय देखा जाता है,

[illegible]

[illegible]

क्षयदर्शनादनैकान्तिक आनन्त्यहेतुरिति चेन्न, उभयाभिन्ननिरूपणात् प्राप्तानन्त्ययोः साम्याभावतोऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनस्य वास्तवानन्त्याभावात्। तद्यथा, अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालः सक्षयोऽप्यनन्तः छद्मस्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात्। केवलमनन्तः केवलविषयत्वाद्वा। जीवराशिस्तु पुनः सङ्ख्येयराशिक्षयेऽपि निर्मूलप्रलयाभावादनन्त इति। अथवा छद्मस्थानुपलब्धपर्यन्तत्वापेक्षामन्तरेणानन्त्यादिति विरूपणाद्वा नानैकान्तिक इति। किं च भव्यस्य निरवद्यक्षयेऽभ्युपगम्यमाने कालस्यापि निरवशेषक्षयः प्राप्नोति भव्यत्वं प्रत्यविशेषात्। अस्तु चेन्न, सकलपर्यायप्रलयतोऽशेषस्य वस्तुनः प्रक्षीणस्वलक्षणस्याभावापत्तेः। मुक्तिमनुपगच्छतां कथं पुनर्भव्यत्वमिति चेन्न, मुक्तिगमनयोग्यतापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात्। न

इसलिये भव्य राशिके क्षय न होनेमें जो अनन्तरूप हेतु दिया है वह व्यभिचारित हो जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि भिन्न भिन्न कारणोंसे अनन्तपनेको प्राप्त भव्यराशि और अर्धपुद्गल परिवर्तनरूप काल इन दोनों राशियोंमें समानताका अभाव है। और इसलिये अर्धपुद्गल परिवर्तन काल वास्तवमें अनन्तरूप नहीं है। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल क्षयसहित होते हुए भी इसलिये अनन्त है कि छद्मस्थ जीवोंके द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है। किन्तु केवलज्ञान वास्तवमें अनन्त है। अथवा अनन्तको विषय करनेवाला होनेसे वह अनन्त है। परन्तु जीवराशि तो उसका संख्यातवें भाग रूप राशिके क्षय हो जाने पर भी निर्मूल नाश नहीं होनेसे अनन्त है। अथवा भव्य राशिके क्षय नहीं होनेमें अनन्तरूप हेतु दे आये हैं। उसका छद्मस्थ जीवोंके द्वारा अन्तकी उपलब्धि नहीं होना है इस अपेक्षाके बिना ही। यह निरूपण करनेसे इसमें अनैकान्तिक दोष नहीं आता है। दूसरे, क्षयसहित भव्यराशिका सर्वथा क्षय मान लेने पर कालका भी सर्वथा क्षय हो जायगा, क्योंकि, क्षयसहित होनेके प्रति दोनों समान हैं।

शंका—यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्या हानि है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मान लेने पर समस्त पर्यायोंके क्षय हो जानेसे दूसरे द्रव्योंकी स्वलक्षणरूप पर्यायोंका भी अभाव हो जायगा। और इसलिये समस्त वस्तुओंके अभावकी आपत्ति आ जायगी।

शंका—मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा बन जाती है। [illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]

च योग्या सन्तोऽपि नियमेन निष्कलङ्का भवन्ति सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात्। उक्तं च—

> एय णिगोद-सरीरे जीवा दव्व-प्पमाणदो दिट्ठा ।
> सिद्धेहि अणंत-गुणा सव्वेण वितीद-कालेण ॥ २१० ॥

तद्विपरीता अभव्याः । उक्तं च—

> भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते भवंति भव-सिद्धा ।
> तव्विवरीदाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति ॥ २११ ॥

भव्यगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

भवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥१४२॥

सुगममेतत् ।

अभव्यानां गुणस्थाननिरूपणायाह —

अभवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्ठि त्ति ॥ १४३ ॥

ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वथा ऐसा मान लेने पर स्वर्णपाषाणसे व्यभिचार आ जायगा। कहा भी है—

द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशिसे और संपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव एक निगोदशरीरमें देखे गये हैं ॥ २१० ॥

भव्योंसे विपरीत अर्थात् मुक्तिगमनकी योग्यता न रखनेवाले अभव्य जीव होते हैं। कहा भी है—

जिन जीवोंकी अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो, अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हों उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं। और इनसे विपरीत अभव्य होते हैं। जो संसारसे निकलकर कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २११ ॥

अब भव्यजीवोंके गुणस्थानोंका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

भव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

अब अभव्यजीवोंके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अभव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४३ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

एतदपि सुगमम् ।

सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी [illegible] सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मा[illegible] मिच्छाइट्ठी चेदि ॥ १४४ ॥

आम्रवनान्तस्थनिम्बानामाम्रवनव्यपदेशवन्मिथ्यात्वादीनां [illegible] व्यपदेशः । सुगममन्यत् । उक्तं च—

[illegible] [illegible] च [illegible] [illegible] ।
[illegible] अहिगमेण व सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ २१२ ॥
[illegible] दंसणमोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं हवइ ।
तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदू ॥ [illegible] ॥
वयणेहि वि हेऊहि वि इंदियभयआणएहि रूवेहि ।
[illegible] दुगुंछणिज्जेहि वि तेलोक्केण वि ण चालेज्ज ॥ [illegible] ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अब सम्यक्त्वमार्गणाके अनुवादसे जीवोंके अस्तित्व [illegible] सूत्र कहते हैं—

सम्यक्त्वमार्गणाके अनुवादसे सामान्यसे सम्यग्दृष्टि [illegible] क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादन[illegible] [illegible] और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं ॥ १४४ ॥

जिसप्रकार आम्रवनके भीतर रहनेवाले नीमके वृक्ष [illegible] जाती है उसीप्रकार मिथ्यात्व आदिको सम्यक्त्व यह संज्ञा [illegible] सुगम है । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदेश किए हुए छह द्रव्य [illegible] आज्ञासे अथवा अधिगमसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ।

दर्शनमोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय हो जाने पर [illegible] अर्थात् विशेषता सम्यक्त्व है [illegible] और कर्मोंके क्षपणका कारण [illegible]

श्रद्धानको भय करनेवाले वचन या हेतुओंसे [illegible] दुर्गुंछित [illegible]

[illegible] सम्यग्दर्शन [illegible] [illegible] क्षायिकसम्यक्त्व

[illegible] ॥ २१४ ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ २१६ ॥

[illegible] गुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह —

सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ १४५ ॥

[illegible] सामान्यम् । [illegible]

[illegible] होता है । [illegible] ॥ २१४ ॥

[illegible] होता है [illegible] ॥ २१५ ॥

[illegible] और निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशमसम्यग्दर्शन है ॥ २१६ ॥

अब सामान्य सम्यग्दर्शन और क्षायिकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

सामान्यसे सम्यग्दृष्टि और विशेषकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४५ ॥

शंका — सम्यक्त्वमें रहनेवाला वह सामान्य क्या वस्तु है ?

समाधान — तीनों ही सम्यग्दर्शनोंमें जो साधारण धर्म है वह सामान्य शब्दसे यहां विवक्षित है ।

शंका — क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनोंके परस्पर भिन्न भिन्न

---

१ गो जी ६४९ [illegible] स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते । अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् [illegible] यथा [illegible] ॥ [illegible] ॥ गो जी २५ जी प्र टी उद्धृता

२ गो जी ६५०

३ सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्यन्तानि सन्ति । स सि १, ८

तत्र यथार्थश्रद्धानं प्रति साम्योपलम्भात्। क्षयक्षयोपशमोपशमविशिष्टानां यथार्थश्रद्धानानां कथं समानतेति चेन्नैतद्, विशेषणानां भेदे न विशेष्यस्य यथार्थश्रद्धानस्य। सुगममेतद्।

वेदकसम्यग्दर्शनगुणसंख्याप्रतिपादनायाह—

वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति ॥ १४६ ॥

उपरितनगुणेषु किमिति वेदकसम्यक्त्वं नास्तीति चेन्न, अगाढसमलश्रद्धानेन सह क्षपकोपशमश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः। वेदकसम्यक्त्वादौपशमिकसम्यक्त्वस्य कथं साधिक्यमिति चेन्न, दर्शनमोहोदयजनितशैथिल्यादेस्तत्रासत्त्वतस्तदाधिक्योपलम्भात्।

होने पर समानता कैसे बन सकती है?

समाधान — नहीं, क्योंकि उन तीनों सम्यग्दर्शनोंमें यथार्थ श्रद्धानके प्रति समानता पाई जाती है।

शंका — क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषणसे युक्त यथार्थ श्रद्धानोंमें समानता कैसे हो सकती है?

समाधान — विशेषणोंमें भेद भले ही रहा आवे, परंतु इससे यथार्थ श्रद्धारूप विशेष्यमें भेद नहीं पड़ता है।

शेष सूत्रका अर्थ सुगम है।

अब वेदकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४६ ॥

शंका — ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है?

समाधान — नहीं होता, क्योंकि, अगाढ आदि मलसहित श्रद्धानके साथ क्षपक और उपशम श्रेणीका चढ़ना नहीं बनता है।

शंका — वेदकसम्यग्दर्शनसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी अधिकता अर्थात् विशेषता कैसे संभव है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके उदयसे उत्पन्न हुई शिथिलता आदि औपशमिक सम्यग्दर्शनमें नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदकसम्यग्दर्शनसे औपशमिकसम्यग्दर्शनमें विशेषता सिद्ध हो जाती है।

१ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽप्रमत्तान्ताः। स. सि. १. ८

दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थ-सद्दहणं ।
चल-मलिणमगाढं तं वेदय-सम्मत्तमिदि मुणसु ॥ २१५ ॥
दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थ-सद्दहणं ।
उवसम-सम्मत्तमिणं पसण्ण-मल-पंक-तोय-समं ॥ २१६ ॥

सम्यग्दर्शनस्य सामान्यस्य क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य च गुणनिरूपणार्थमाह —

सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति[1] ॥ १४५ ॥

किं तत्सम्यक्त्वगतसामान्यमिति चेत्त्रिष्वपि सम्यग्दर्शनेषु यः साधारणोंऽशस्तत्सामान्यम् । क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु परस्परतो भिन्नेषु किं सामान्यमिति चेत्,

---

आकारोंसे या बीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थोंके देखनेसे उत्पन्न हुई ग्लानिसे, किं बहुना तीन लोकसे भी वह क्षायिक सम्यग्दर्शन चलायमान नहीं होता है ॥ २१४ ॥

सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो चल, मलिन और अगाढरूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा हे शिष्य तू समझ ॥ २१५ ॥

दर्शनमोहनीयके उपशमसे कीचड़के नीचे बैठ जानेसे निर्मल जलके समान पदार्थोंका, जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशमसम्यग्दर्शन है ॥ २१६ ॥

अब सामान्य सम्यग्दर्शन और क्षायिकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यग्दृष्टि और विशेषकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४५ ॥

शंका—सम्यक्त्वमें रहनेवाला वह सामान्य क्या वस्तु है?

समाधान—तीनों ही सम्यग्दर्शनोंमें जो साधारण धर्म है वह सामान्य शब्दसे यहां पर विवक्षित है।

शंका—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनोंके परस्पर भिन्न भिन्न

---

१ गो. जी. ६४९. नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतम् । लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितम् ॥ स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते । अन्यस्यासाविति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ॥ तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः । मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढमिति कीर्त्यते । वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ॥ समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयम् । देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥ गो. जी. २५ जी. प्र. टी. उद्धृता।

२ गो. जी. ६५०.

३ सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्यन्तानि सन्ति । स. सि. १, ८.

तत्र यथार्थश्रद्धानं प्रति साम्योपलम्भात् । क्षयक्षयोपशमोपशमविशिष्टानां यथार्थश्रद्धानानां कथं समानतेति चेद्भवतु विशेषणानां भेदो न विशेष्यस्य यथार्थश्रद्धानस्य । सुगममन्यत् ।

वेदकसम्यग्दर्शनगुणसंख्याप्रतिपादनार्थमाह —

वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति ॥ १४६ ॥

उपरितनगुणेषु किमिति वेदकसम्यक्त्वं नास्तीति चेन्न, अगाढसमलश्रद्धानेन सह क्षपकोपशमश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः । वेदकसम्यक्त्वात्क्षायिकसम्यक्त्वस्य कथं साधिक्यमिति चेन्न, दर्शनमोहोदयजनितशैथिल्यादेस्तत्रासत्त्वतस्तदाधिक्योपलम्भात् ।

होने पर समानता कैसे हो सकती है?

समाधान— नहीं, क्योंकि उन तीनों सम्यग्दर्शनोंमें यथार्थ श्रद्धानके प्रति समानता पाई जाती है।

शंका— क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषणसे युक्त यथार्थ श्रद्धानोंमें समानता कैसे हो सकती है?

समाधान— विशेषणोंमें भेद भले ही रहा आवे, परन्तु इससे यथार्थ श्रद्धानरूप विशेष्यमें भेद नहीं पड़ता है।

शेष सूत्रका अर्थ सुगम है।

अब वेदकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४६ ॥

शंका— ऊपरके अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है?

समाधान— नहीं होता, क्योंकि अगाढ आदि मलसहित श्रद्धानके साथ क्षपक और उपशम श्रेणीका चढ़ना नहीं बनता है।

शंका— वेदकसम्यग्दर्शनसे क्षायिकसम्यग्दर्शनकी अधिकता अर्थात् विशेषता कैसे संभव है?

समाधान— नहीं, क्योंकि दर्शनमोहनीयके उदयसे उत्पन्न हुई शिथिलता आदि क्षायिक सम्यग्दर्शनमें नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदकसम्यग्दर्शनसे क्षायिकसम्यग्दर्शनमें विशेषता सिद्ध हो जाती है।

[illegible]

कथमस्य वेदकसम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेदुच्यते । दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदकसम्यग्दर्शनम् । कथं दर्शनमोहोदयवतां सम्यग्दर्शनस्य सम्भव इति चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशघातिन उदये सत्यपि जीवस्वभावश्रद्धानस्यैकदेशे सत्य विरोधात् । देशघातिनो दर्शनमोहनीयस्य कथं सम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनसाहचर्यात्तस्य तद्व्यपदेशाविरोधात् ।

औपशमिकसम्यग्दर्शनगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह —

उवसमसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ १४७ ॥

सुगममेतत् ।

सासणसम्माइट्ठी एक्कम्मि चेय सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे ॥ १४८ ॥

शंका — क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है?

समाधान — दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका वेदन करनेवाले जीवको वेदक कहते हैं। उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं।

शंका — जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जा सकता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिके उदय रहने पर भी जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके एकदेश रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका — दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिको सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे दी गई?

समाधान — नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके साथ सहचर सम्बन्ध होनेके कारण उसको सम्यग्दर्शन इस संज्ञाके देनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

अब औपशमिक सम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

उपशमसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४७ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है।

अब सासादनसम्यक्त्व आदि सम्बन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये तीन सूत्र कहते हैं —

सासादनसम्यग्दृष्टि जीव एक सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४८ ॥

१ औपशमिकस्य चतुर्षु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु उपशान्तकषायान्तेषु । स. सि. १, ८.

सम्मामिच्छाइट्ठी एक्कम्मि चेय सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे ॥ १४९ ॥

मिच्छाइट्ठी एइंदियप्पहुडि जाव सण्णि मिच्छाइट्ठि त्ति ॥ १५० ॥

सुगमत्वादनयोः सूत्रयोर्न वक्तव्यमस्ति ।

सम्यग्दर्शनादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ १५१ ॥

अथ स्याद्गतिनिरूपणायामस्यां गतौ इयन्ति गुणस्थानानि सन्ति, इयन्ति न सन्तीति निरूपितत्वान्न वक्तव्यमिदं सूत्रम्, सम्यक्त्वनिरूपणायां गुणस्थाननिरूपणस्यावसराभावाच्चेति न, विस्मृतपूर्वोक्तार्थस्य प्रतिपाद्यस्य समर्थ सम्यक्त्व अत्र अत्र गतौ सम्यग्दर्शनसत्त्वप्रतिपादनप्रवणत्वात् । सुगममन्यत् ।

एवं जाव सत्तसु पुढवीसु ॥ १५२ ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४९ ॥

मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टितक होते हैं ॥ १५० ॥

इन दोनों सूत्रोंका अर्थ सुगम है, अतएव इनके विषयमें अधिक कुछ भी नहीं कहना है।

अब सम्यग्दर्शनका मार्गणाओंमें निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती होते हैं ॥ १५१ ॥

शंका— गतिमार्गणाका निरूपण करते समय इस गतिमें इतने गुणस्थान होते हैं और इतने नहीं होते हैं, इस बातका निरूपण कर ही आये हैं, इसलिये इस सूत्रके कहनेकी आवश्यकता नहीं है। अथवा, सम्यग्दर्शनमार्गणामें निरूपण करते समय गुणस्थानोंके निरूपणका अवसर ही नहीं है, इसलिये भी सूत्रके कहनेकी आवश्यकता नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो शिष्य पूर्वोक्त अर्थको भूल गया है, उसके लिये अथवा पुनः स्मरण कराके इस इस गतिमें सम्यग्दर्शनके अस्तित्वके बतानेमें यह सूत्र समर्थ है, इसलिये इस सूत्रका अवतार हुआ है। शेष कथन सुगम है।

अब सातों पृथिवियोंमें सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार सातों पृथिवियोंमें प्रारम्भके चार गुणस्थान होते हैं ॥ १५२ ॥

कथमस्य वेदकसम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेदुच्यते। दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदकसम्यग्दर्शनम्। कथं दर्शनमोहोदयवतां सम्यग्दर्शनस्य सम्भव इति चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशघातिन उदये सत्यपि जीवस्वभावश्रद्धानस्यैकदेशे सत्यविरोधात्। देशघातिनो दर्शनमोहनीयस्य कथं सम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनसाहचर्यात्तस्य तद्व्यपदेशाविरोधात्।

औपशमिकसम्यग्दर्शनगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह —

उवसमसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ १४७ ॥

सुगममेतत्।

सासणसम्माइट्ठी एक्कम्मि चेय सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे ॥ १४८ ॥[1]

शंका — क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है?

समाधान — दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका वेदन करनेवाले जीवको वेदक कहते हैं। उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं।

शंका — जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जा सकता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिके उदय रहने पर भी जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके एकदेश रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका — दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिको सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे दी गई?

समाधान — नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके साथ सहचर सम्बन्ध होनेके कारण उसको सम्यग्दर्शन इस संज्ञाके देनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

अब औपशमिक सम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

उपशमसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४७ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है।

अब सासादनसम्यक्त्व आदि तीनों गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये तीन सूत्र कहते हैं —

सासादनसम्यग्दृष्टि जीव एक सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४८ ॥

१ [illegible]

सम्मामिच्छाइट्ठी एक्कम्मि चेय सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे ॥ १४९ ॥

मिच्छाइट्ठी एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्ठि त्ति ॥ १५० ॥

सुगमत्वान्निरूप्यैतेषु सूत्रेषु न वक्तव्यमस्ति।

सम्यग्दर्शनादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ १५१ ॥

अथ स्याद्गतिनिरूपणायामस्यां गतौ इयन्ति गुणस्थानानि सन्ति, इयन्ति न सन्तीति निरूपितत्वान्न वक्तव्यमिदं सूत्रम्, सम्यक्त्वनिरूपणायां गुणस्थाननिरूपणाव-सराभावाच्चेति न, विस्मृतपूर्वोक्तार्थस्य प्रतिपाद्यस्य तमर्थं सस्मार्य तत्र तत्र गतौ सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनप्रवणत्वात्। सुगममन्यत्।

एवं जाव सत्तसु पुढवीसु ॥ १५२ ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४९ ॥

मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टितक होते हैं ॥ १५० ॥

इन तीनों सूत्रोंका अर्थ सुगम है, अतएव इनके विषयमें अधिक कुछ भी नहीं कहना है।

अब सम्यग्दर्शनका मार्गणाओंमें निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती होते हैं ॥ १५१ ॥

शंका— गतिमार्गणाका निरूपण करते समय इस गतिमें इतने गुणस्थान होते हैं और इतने नहीं होते हैं, इस बातका निरूपण कर ही आये हैं, इसलिये इस सूत्रके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अथवा, सम्यग्दर्शनमार्गणाके निरूपण करते समय गुणस्थानोंके निरूपणका अवसर ही नहीं है, इसलिये भी सूत्रके कहनेकी आवश्यकता नहीं है?

समाधान— नहीं, क्योंकि जो शिष्य पूर्वोक्त अर्थको भूल गया है, उसके लिये उस अर्थका पुनः स्मरण कराके उन उन गतियोंमें सम्यग्दर्शनके भेदोंके प्रतिपादन करनेमें यह सूत्र समर्थ है, इसलिये इस सूत्रका अवतार हुआ है। शेष कथन सुगम है।

अब सातों पृथिवियोंमें सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार सातों पृथिवियोंमें प्रारम्भके चार गुणस्थान होते हैं ॥ १५२ ॥

[illegible]

कथं सामान्यवद्विशेषः स्यादिति चेन्न, विशेषव्यतिरिक्तसामान्यस्यासत्त्वात्। नाव्यतिरेकोऽपि द्वयोरभावासञ्जननात्। नोभयपक्षोऽपि पक्षद्वयोक्तदोषासञ्जननात्। नानुभयपक्षोऽपि निःस्वभावत्वप्रसङ्गात्। न च सामान्यविशेषयोरभाव एव प्राप्तजात्यन्तरत्वेनोपलम्भात्। ततः सूक्तमेतदिति स्थितम्।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह —

णेरइया असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि ॥ १५३ ॥

सुगममेतत्।

एवं पढमाए पुढवीए णेरइआ ॥ १५४ ॥

एतदपि सुबोध्यम्।

शंका — सामान्य कथनके समान ही विशेष कथन कैसे हो सकता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि, विशेषको छोड़कर सामान्य नहीं पाया जाता है, इसलिये सामान्य कथनसे विशेषका भी बोध हो जाता है। इससे सामान्य और विशेषमें सर्वथा अभेद भी नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, दोनोंमें सर्वथा अभेद मान लेने पर दोनोंका अभाव हो जायगा। इसीप्रकार इन दोनोंमें सर्वथा उभयपक्ष अर्थात् सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर दोनों पक्षमें दिये गये दोष प्राप्त हो जायगे। सामान्य और विशेषको सर्वथा अनुभयरूप भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर वस्तुके निःस्वभावताका प्रसंग आ जायगा। परन्तु इसप्रकार सामान्य और विशेषका अभाव भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जात्यन्तर अवस्थाको प्राप्त होने रूपसे उन दोनोंकी उपलब्धि होती है। इसलिये ऊपर जो कथन किया है वह सर्वथा ठीक है, यह बात निश्चित हो जाती है।

अब सम्यग्दर्शनका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५३ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है।

अब प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दर्शन बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं —

इसीप्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी जीव होते हैं ॥ १५४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध है।

अब शेष पृथिवियोंमें सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

बिदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १५५ ॥

सप्तप्रकृतीषु क्षीणासु किमिति तत्र नोत्पद्यन्त इति चेत्स्वभावात्। तत्रस्था स्त किमिति सप्तप्रकृतीर्न क्षपयन्तीति चेन्न, तत्र जिनानामभावात्।

तिर्यगादेशप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असजदसम्माइट्ठी सजदासजदा त्ति ॥ १५६ ॥

न्यस्तशरीरत्वात्त्यक्ताहाराणां तिरश्चां किमिति संयमा न भवन्तीति चेन्न, अन्तरङ्गायाः सकलनिवृत्तेरभावात्। किमिति तदभावश्चेज्जातिविशेषात्।

एव जाव सव्व-दीव-समुद्देसु ॥ १५७ ॥

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवीतक नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं। शेष दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १५५ ॥

शंका—सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंके क्षय हो जाने पर क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं?

समाधान—ऐसा स्वभाव ही है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें नहीं उत्पन्न होते हैं।

शंका—द्वितीयादि पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकी सम्यग्दृष्टि सात प्रकृतियोंका क्षय क्यों नहीं करते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहांपर जिनेन्द्रदेवका अभाव है।

अब तिर्यंच गतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत होते हैं ॥ १५६ ॥

शंका—जिन्होंने शरीरसे संबन्ध छोड़ दिया है और आहारका त्याग कर दिया है ऐसे तिर्यंचोंके संयम क्यों नहीं होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि उनके आभ्यन्तर सकल निवृत्तिका अभाव है।

शंका—उनके आभ्यन्तर सकल निवृत्तिका अभाव क्यों है?

समाधान—जिस जातिमें वे उत्पन्न हुए हैं उसमें संयम नहीं होता है ऐसा नियम है, इसलिये उनके संयम नहीं पाया जाता है।

अब तिर्यंचोंमें और विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार सम्पूर्ण द्वीप-समुद्रोंमें तिर्यंचोंके [illegible] समझना चाहिए ॥ १५७ ॥

स्वयम्प्रभादारान्मानुषोत्तरात्परतो भोगभूमिसमानत्वात्र तत्र देशव्रतिनः सन्ति तत एतत्सूत्रं न घटत इति न, वैरसम्बन्धेन देवैर्दानवैर्वोत्क्षिप्य क्षिप्तानां सर्वत्र सत्त्वाविरोधात्।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदग-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १५८ ॥

तिरिक्खा संजदासजद-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि ॥ १५९ ॥

तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताः किमिति न सन्तीति चेन्न, क्षायिक-सम्यग्दृष्टीनां भोगभूमिमन्तरेणोत्पत्तेरभावात्। न च भोगभूमावुत्पन्नानामणुव्रतोपादानं सम्भवति तत्र तद्विरोधात्। सुगममन्यत्।

शंका—स्वयंभूरमण द्वीपवर्ती स्वयंप्रभ पर्वतके इस ओर और मानुषोत्तर पर्वतके उस ओर असंख्यात द्वीपोंमें भोगभूमिके समान रचना होनेसे वहांपर देशव्रती नहीं पाये जाते हैं, इसलिये यह सूत्र घटित नहीं होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वैरके सम्बन्धसे देवों अथवा दानवोंके द्वारा कर्मभूमिसे उठाकर डाले गये कर्मभूमिज तिर्यंचोंका सब जगह सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये वहांपर तिर्यंचोंके पांचों गुणस्थान बन जाते हैं।

अब तिर्यंचोंमें सम्यग्दर्शनके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५८ ॥

अब तिर्यंचोंके पांचवें गुणस्थानमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच संयतासंयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं। शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १५९ ॥

शंका—तिर्यंचोंमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत क्यों नहीं होते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यंचोंमें यदि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो वे भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं, दूसरी जगह नहीं। परंतु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहांपर अणुव्रतके होनेमें आगमसे विरोध आता है। शेष कथन सुगम है।

अब तिर्यंच विशेषोंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ १६० ॥

एतदपि सुबोध्यम् ।

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १६१ ॥

तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्तत्र दर्शनमोहनीयस्य क्षपणाभावाच्च ।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा संजदा त्ति ॥ १६२ ॥

सुगममेतत् ।

एवमड्ढाइज्ज-दीव-समुद्देसु ॥ १६३ ॥

वैरसम्बन्धेन क्षिप्तानां संयतानां संयतासंयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु सम्भवो भवत्विति चेन्न, मानुषोत्तरात्परतो देवस्य प्रयोगतोऽपि मनुष्याणां गमनाभावात् ।

इसीप्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंच और पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच भी होते हैं ॥ १६० ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध्य है ।

अब योनिमती तिर्यंचोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

योनिमती-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंके असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १६१ ॥

योनिमती पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं और जो यहां उत्पन्न होते हैं उनके दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं होता है, अतः वहां क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता है ।

अब मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत होते हैं ॥ १६२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब इन्हींमें और विशेष कहनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें जानना चाहिये ॥ १६३ ॥

शंका—वैरके सम्बन्धसे डाले गये संयत और संयतासंयत आदि मनुष्योंका सम्पूर्ण द्वीप और समुद्रोंमें सद्भाव रहा आवे ऐसा मान लेनेमें क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवके प्रयोगसे भी मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता है । ऐसा न्याय भी है कि जो वचन असम्बद्ध होता है वह

न हि स्वतोऽसमर्थोऽन्यतः समर्थो भवत्यतिप्रसङ्गात्। अथ स्यादर्धतृतीयशब्देन किं द्वीपो विशिष्यते उत समुद्र उत द्वावपीति? नान्त्योपान्त्यविकल्पौ मानुषोत्तरात्परतोऽपि मनुष्याणामस्तित्वप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, द्वीपत्रये मनुष्याणां सत्त्वप्रसङ्गात्। न तदपि सूत्रविरोधात्। नादिविकल्पोऽपि समुद्राणां संख्यानियमाभावतः सर्वसमुद्रेषु तत्सत्त्वप्रसङ्गादिति।

अत्र प्रतिविधीयते। नान्त्योपान्त्यविकल्पोक्तदोषाः समाढौकन्ते, तयोरनभ्युपगमात्। न प्रथमविकल्पोक्तदोषोऽपि द्वीपेष्वर्धतृतीयसंख्येषु मनुष्याणामस्तित्वनियमे सति शेषद्वीपेषु मनुष्याभावसिद्धिवन्मानुषोत्तरत्वं प्रत्यविशेषतः शेषसमुद्रेषु तदभावसिद्धेः। नान्यसमुद्राणां मानुषोत्तरत्वमसिद्धमाराच्चनद्वीपभागस्याप्यन्यथा मानुषोत्तरत्वानुपपत्तेः। ततः सामर्थ्याद् द्वयोः समुद्रयोः सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते।

दूसरोंके सम्बन्धसे भी समर्थ नहीं हो सकता है। यदि ऐसा न माना जावे तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा। अतः मानुषोत्तरके उस ओर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं।

शंका — अर्धतृतीय शब्द द्वीपका विशेषण है या समुद्रका अथवा दोनोंका? इनमेंसे अन्तके दो विकल्प तो बराबर नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ भी मनुष्योंके अस्तित्वका प्रसंग आ जायगा। यदि यह कहा जावे कि अच्छी बात है मानुषोत्तरके परे भी मनुष्य पाये जावें सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इसप्रकार तो तीन द्वीपोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग आता है। और ऐसा माना नहीं जा सकता, क्योंकि सूत्रसे विरोध आता है। इसीप्रकार पहला विकल्प भी नहीं बन सकता है, क्योंकि इसप्रकार द्वीपोंकी संख्याका नियम होने पर भी समुद्रोंकी संख्याका कोई नियम नहीं बनता है, इसलिये समस्त समुद्रोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग प्राप्त होता है?

समाधान — दूसरे और तीसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि परमागममें ऐसा माना ही नहीं गया है। इसीप्रकार प्रथम विकल्पमें दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि ढाई द्वीपमें मनुष्योंके अस्तित्वका नियम हो जाने पर शेषके द्वीपोंमें जिसप्रकार मनुष्योंके अभावकी सिद्धि हो जाती है उसीप्रकार शेष समुद्रोंमें भी मनुष्योंका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि ढाई द्वीपोंको छोड़कर शेष द्वीपोंकी तरह ही दोके अतिरिक्त शेष समुद्र भी मानुषोत्तरके पर हैं, अतः शेष द्वीपोंकी तरह शेष समुद्रोंके भी मानुषोत्तरके पर होनेमें कोई विभिन्नता नहीं है। इसप्रकार शेष द्वीपोंके लिये जो नियम लागू है वही नियम समुद्रोंके लिये भी हो जाता है। इसलिये शेष समुद्रोंमें मनुष्योंका अभाव है यह बात सिद्ध हो जाती है। लवण और कालोदधि समुद्रोंका मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना असिद्ध भी नहीं है, अन्यथा अर्धपुष्करवर्ती द्वीपभागका भी मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना सिद्ध नहीं होगा। इसलिये लवणसमुद्र और कालोदधि इन दो समुद्रोंमें मनुष्य पाये जाते हैं यह बात बिना कहे ही जानी जाती है।

१ [illegible]

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह--

मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे अत्थि सम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १६४ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति।

एवं मणुस-पज्जत्त-मणुसिणीसु ॥ १६५ ॥

एतदपि सुगमम्।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह--

देवा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ १६६ ॥

एवं जाव उवरिम-उवरिम-गेवेज्ज-विमाण-वासिय-देवा त्ति ॥ १६७ ॥

देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठि त्ति ॥ १६८ ॥

अब मनुष्योंमें सम्यग्दर्शनके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६४ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां पर विशेष कहने योग्य नहीं है।

अब विशेष मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार पर्याप्त मनुष्य और पर्याप्त मनुष्यनियोंमें भी जानना चाहिए ॥ १६५ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है।

अब देवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६६ ॥

अब उक्त अर्थके देवविशेषोंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम पटल तकके देव जानना चाहिए ॥ १६७ ॥

अब देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम

सुगमत्वात्सूत्रत्रितये न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

भवणवासिय-वाणवेंतर जोइसिय देवा देवीओ च सोधम्मीसाण कप्पवासिय-देवीओ च असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि ॥ १६९ ॥

किमिति क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तत्र न सन्तीति चेन्न, देवेषु दर्शनमोहक्षपणाभावात्क्षपितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिनां भवनवास्यादिष्वधमदेवेषु सर्वदेवीषु चोत्पत्त्यभावाच्च । शेषसम्यक्त्वद्वयस्य तत्र कथं सम्भव इति चेन्न, तत्रोत्पन्नजीवानां पश्चात्पर्यायपरिणतेः सत्त्वात् ।

सोधम्मीसाणप्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम गेवज्ज विमाण वासिय देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १७० ॥

सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६८ ॥

ऊपरके तीनों सूत्रोंका अर्थ सुगम होनेसे इनके विषयमें अधिक कुछ भी नहीं कहना है।

अब भवनवासी आदि देवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा उनकी देवियां और सौधर्म तथा ऐशान कल्पवासी देवियां असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं या नहीं होती हैं। शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं या होती हैं ॥ १६९ ॥

शंका—क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उक्त स्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एक तो वहांपर दर्शनमोहनीयका क्षपण नहीं होता है। दूसरे जिन जीवोंने पूर्व पर्यायमें दर्शनमोहनीयका क्षय कर दिया है उनकी भवनवासी आदि अधम देवोंमें और सभी देवियोंमें उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका—शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका उक्त स्थानोंमें सद्भाव कैसे संभव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वहांपर उत्पन्न हुए जीवोंके अनन्तर सम्यग्दर्शनरूप पर्याय हो जाता है, इसलिये शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका वहांपर सद्भाव पाया जाता है।

अब शेष देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेद बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान कल्पसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भागतक रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १७० ॥

त्रिविधेन सम्यक्त्वेन सह तत्रोत्पत्तेर्दर्शनात् । तत्रोत्पद्य द्विविधसम्यग्दर्शनोपादानात्तत्र तेषां सत्त्वं सुघटमिति ।

शेषदेवानां सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनार्थमाह—

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजिद-सव्वट्ठसिद्धि-विमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १७१ ॥

कथं तत्रोपशमसम्यक्त्वस्य सत्त्वमिति चेत्कथं च न तत्सत्त्वम्? तत्रोत्पन्नस्य क्षायिकक्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनस्य सत्त्वमुपपन्नं । नापि मिथ्यादृष्टय उपात्तौपशमिकसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तत्रोत्पद्यन्ते तेषां तेन सह मरणाभावात् । न, उपशमश्रेण्यारूढानामारुह्यावतीर्णानां च तत्रोत्पत्तितस्तत्र तत्सत्त्वाविरोधात् । उपशमश्रेण्यां उपशमसम्यग्दृष्टयो न म्रियन्त औपशमिकसम्यग्दर्शनोपलक्षित[illegible] इति

उक्त देवोंमें तीनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शनके साथ जीवोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। अथवा वहांपर उत्पन्न होनेके पश्चात् वेदक और क्षायिक इन दो सम्यग्दर्शनोंका ग्रहण होता है, इसलिये उक्त देवोंमें तीनों सम्यग्दर्शनोंका सद्भाव बन जाता है।

अब शेष देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेद बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

नव अनुदिशोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा [illegible] इन पांच अनुत्तरोंमें रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक [illegible] और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १७१ ॥

शंका—वहांपर उपशम सम्यग्दर्शनका सद्भाव कैसे पाया जाता है?

प्रतिशंका—वहांपर उसका सद्भाव कैसे नहीं पाया जा सकता है?

शंका—वहांपर जो उत्पन्न होते हैं [illegible] पाया जाता है। [illegible] उपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं [illegible] मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करके वहांपर [illegible] उपशमसम्यग्दर्शन [illegible] उपशमसम्यक्त्वके साथ मरण नहीं होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि उपशम श्रेणीपर [illegible] और [illegible] उत्पत्ति होती है [illegible] सद्भाव रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—उपशम श्रेणीपर आरूढ हुए उपशमसम्यग्दृष्टि [illegible] उपशम सम्यग्दर्शनसे [illegible] नहीं होता है

[illegible] पश्चात्कृतमिथ्यात्वसम्यक्त्वाभ्यामनुपात्तमिश्रोपशमितसम्यक्त्वमाहात्म्यां [illegible] [illegible]।

सम्यग्दर्शनमुखेन जीवपदार्थमभिधाय समनस्कामनस्कभेदेन जीवपदार्थ[illegible] [illegible]माह—

सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ॥ १७२ ॥

सुगममेतत्सूत्रम्।

संज्ञिनां गुणस्थानाध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

सण्णी मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ १७३ ॥

समनस्कत्वात् [illegible] सन्ति इति चेन्न, तेषां क्षीणावरणानां मन[illegible] [illegible]। तर्हि भवन्तु केवलिनोऽसंज्ञिन इति चेन्न, [illegible]। अमनस्कः केवलिनो [illegible]

[illegible] पश्चात्कृत मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी अपेक्षा तथा अनु[illegible]

[illegible] होते हैं।

[illegible]

[illegible] संज्ञी और असंज्ञी जीव होते हैं ॥ १७२ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ग्रहणाद्विकलेन्द्रियवदिति चेद्भवत्येव यदि मनसोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासंज्ञित्वस्य निबन्धनमिति चेन्मनसोऽभावाद् बुद्ध्यतिशयाभाव, ततो नानन्तरोक्तदोष इति सुगममेतत्।

असण्णी एइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति ॥१७४॥

एतदपि सुगमं सूत्रम्।

आहारद्वारेण जीवप्रतिपादनार्थमाह —

आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा ॥ १७५ ॥

एतदपि सुगमम्।

आहारगुणप्रतिपादनार्थमाह —

आहारा एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ १७६ ॥

अत्र कवललेपोष्ममनःकर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथाहारकालविरहाभ्यां सह विरोधात्।

जीवोंकी तरह बाह्य पदार्थोंका ग्रहण करते हैं?

समाधान — यदि मनकी अपेक्षा न करके ज्ञानकी उत्पत्तिमात्रका आश्रय करके ज्ञाना रूपसे असंज्ञीपनेकी कारण होती तो ऐसा होता। परंतु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि कदाचित् मनके अभावसे विकलेन्द्रिय जीवोंकी तरह केवलीके बुद्धिके अतिशयका अभाव भी कहा जावेगा, इसलिये केवलीके पूर्वोक्त दोष लागू नहीं होता है। शेष कथन सुगम है।

अब असंज्ञी जीवोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं —

असंज्ञी जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियतक होते हैं ॥ १७४ ॥

यह सूत्र सुगम है।

अब आहारमार्गणाके द्वारा जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

आहारमार्गणाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीव होते हैं ॥ १७५ ॥

यह सूत्र भी सुगम है।

अब आहारमार्गणामें गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

आहारक जीव एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १७६ ॥

यहांपर आहार शब्दसे कवलाहार, लेपाहार, ऊष्माहार, मनआहार और कर्माहारको छोड़कर नोकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ विरोध आता है।

अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥ १७७ ॥

एते शरीरप्रायोग्यपुद्गलोपादानरहितत्वादनाहारिण उच्यन्ते ।

इदि संत सुत्त विवरणं समत्तं ।

अब अनाहारकोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि तथा समुद्घातगत केवलियोंके सयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव और अयोगिकेवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं ॥ १७७ ॥

ये जीव शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये अनाहारक होते हैं ।

इसप्रकार सत्प्ररूपणा सूत्र विवरण समाप्त हुआ ।

---

१ [illegible]

परिशिष्ट

सूत्र संख्या | सूत्र | पृष्ठ

२५ णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति।

२६ तिरिक्खा पंचसु ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति। २०४

२७ मणुस्सा चोद्दससु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासणसम्माइट्ठी, सम्मामिच्छाइट्ठी, असंजदसम्माइट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियट्टिबादरसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसायवीयरायछदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति। २०७

२८ देवा चदुसु ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति। [illegible]

२९ तिरिक्खा सुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति। [illegible]

पृष्ठ सूत्र

। ३० । ...
। ३...
।
३१ मणु...
एहु...
३२ णेर...
३३ इंदिया...
इंदि...
पंचिंदि...
३४ एइंदिया...
बादरा...
सुहुमा...
३५ बीइंदिया...
ज्जत्ता। तीइं...
अपज्जत्ता। ...
पज्जत्ता अपज...
दुविहा, सण्णी...
दिया पज्जत्त...
असण्णी दुविहा, ...
ज्जत्ता चेदि।
३६ एइंदिया ...
इंदिया अस...
प्पहुडि जाव मिच्छा...
३७ पंचिंदिया असण्णि...
हुडि जाव अजोगिके...
३८ तेण परमणिंदिया इदि...
३९ कायाणुवादेण अत्थि पु...
इया आउकाइया तेउ...

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
	पाउसकाइया वणप्फइकाइया तस काइया अकाइया चेदि ।	२६४
४०	पुढविकाइया दुविहा, बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । आउकाइया दुविहा, बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अप ज्जत्ता । तेउकाइया दुविहा, बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । वाउकाइया दुविहा, बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अप ज्जत्ता चेदि ।	२६७
४१	वणप्फइकाइया दुविहा, पत्तेय सरीरा साधारणसरीरा । पत्तेय सरीरा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता । साधारणसरीरा दुविहा बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ।	२६८
	तसकाइया दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता ।	२७२
	पुढविकाइया आउकाइया तेउ काइया वाउकाइया वणप्फइ काइया एक्कम्मि चेय मिच्छा इट्ठिट्ठाणे ।	२७४
४४	तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।	२७५
४५	बादरकाइया बादरइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।	२७६
४६	तेण परमकाइया चेदि ।	२७७
४७	जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि ।	२७८
४८	अजोगी चेदि ।	२८०
४९	मणजोगो चउव्विहो, सच्चमण जोगो मोसमणजोगो सच्चमोस मणजोगो असच्चमोसमणजोगो चेदि ।	२८०
५०	मणजोगो सच्चमणजोगो असच्च मोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।	२८२
५१	मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति ।	२८५
५२	वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचि जोगो मोसवचिजोगो सच्चमोस वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ।	२८६
५३	वचिजोगो असच्चमोसवचि जोगो बीइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।	२८७

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
५४	सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	२८८
५५	मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति।	२८९
५६	कायजोगो सत्तविहो, ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि।	२८९
५७	ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्खमणुस्साण।	२९५
५८	वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेरइयाण।	२९६
५९	आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो सजदाणमिड्ढिपत्ताण।	२९७
६०	कम्मइयकायजोगो विग्गहगइसमावण्णाण केवलिण वा समुग्घादगदाण।	२९८
६१	कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	३०५
६२	वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असजदसम्माइट्ठि त्ति।	३०
६३	आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कम्हि चेव पमत्तसजदट्ठाणे।	३०
६४	कम्मइयकायजोगो एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	३०७
६५	मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	३०८
६६	वचिजोगो कायजोगो बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपचिंदिया त्ति।	३०९
६७	कायजोगो एइंदियाण।	३०९
६८	मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताण अत्थि, अपज्जत्ताण णत्थि।	३१०
६९	कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि।	३१०
७०	छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ।	३११
७१	सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असजदसम्माइट्ठि त्ति।	३१२
७२	पच पज्जत्तीओ, पच अपज्जत्तीओ।	३ ३
७३	बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपचिंदिया त्ति।	३१३
७४	चत्तारि पज्जत्तीओ, चत्तारि अपज्जत्तीओ।	३१४

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
७५	सइंदियाण।	३१४
७६	ओरालियकायजोगो पज्जत्ताण, ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताण।	३१५
७७	वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताण, वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताण।	३१७
७८	आहारकायजोगो पज्जत्ताण, आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताण।	३१७
७९	णेरइया मिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	३१९
८०	सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।	३२०
८१	एवं पढमाए पुढवीए णेरइया।	३२२
८२	विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता।	३२३
८३	सासणसम्माइट्ठि सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।	३२३
८४	तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	३-
८५	सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।	३२६
८६	एवं पंचिंदियतिरिक्खा पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्ता।	३२७
८७	पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु मिच्छाइट्ठि सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ, सिया अपज्जत्तियाओ।	३२८
८८	सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।	३२८
८९	मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	३२९
९०	सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।	३२९
९१	एवं मणुस्सपज्जत्ता।	३३१
९२	मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।	३३२
९३	सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।	३३२
९४	देवा मिच्छाइट्ठि सासणसम्माइट्ठि असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	३३४
९५	सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।	३३५
९६	भवणवासिय वाणवेंतर जोइसिय देवा देवीओ सोधम्मीसाण कप्प	

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
	णामिय देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ।	३३५
९७	सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ।	३३६
९८	सोधम्मीसाणप्पहुडि जाव उवरिमउवरिमगेवज्ज त्ति विमाणवासिय देवेसु मिच्छाइट्ठि सासणसम्माइट्ठि असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।	३३७
९९	सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ।	३३९
१००	अणुदिस अणुत्तर विजय-वइजयंत जयंतावराजित सव्वट्ठसिद्धि विमाणवासियदेवा असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।	३३९
१०१	णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ।	३४०
१०२	इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णि मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ।	३४२
१०३	णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ।	३४३
१०४	तेण परमवगदवेदा चेदि ।	
१०५	णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ।	
१०६	तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ।	३४
१०७	तिरिक्खा तिवेदा असण्णि पंचिंदियप्पहुडि जाव संजदा-संजदा त्ति ।	३४६
१०८	मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ।	३४६
१०९	तेण परमवगदवेदा चेदि ।	३४७
११०	देवा चदुसु ट्ठाणेसु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ।	३४७
१११	कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि ।	३४८
११२	कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ।	३५१
११३	लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा त्ति ।	३५२
११४	अकसाई चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसायवीयरायछदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति ।	३ २

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
११५	णाणाणुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी विभंगणाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि ।	३५३
११६	मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी एइंदियप्पहुडि जाव सासणसम्माइट्ठि त्ति ।	३६१
११७	विभंगणाणं सण्णिमिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं ।	३६२
११८	पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ।	३६२
११९	सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि । आभिणिबोहियणाणं मदिअण्णाणेण मिस्सियं, सुदणाणं सुदअण्णाणेण मिस्सियं, ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सियं, तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा ।	३६३
१२०	आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीदरागछदुमत्था त्ति ।	३६४
१२१	मणपज्जवणाणी पमत्तसंजदप्पहुडि जाव खीणकसायवीदरागछदुमत्था त्ति ।	३६६
१२२	केवलणाणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि ।	३६७
१२३	संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइयच्छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा परिहारसुद्धिसंजदा सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ।	३६८
१२४	संजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति ।	३७४
१२५	सामाइयच्छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ।	३७४
१२६	परिहारसुद्धिसंजदा दोसु ट्ठाणेसु पमत्तसंजदट्ठाणे अप्पमत्तसंजदट्ठाणे ।	३७५
१२७	सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा एक्कम्हि चेव सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदट्ठाणे ।	[illegible]
१२८	जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा चदुसु ट्ठाणेसु उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसायवीयरायछदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति ।	३७७
१२९	संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदासंजदट्ठाणे ।	[illegible]

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
	वासिय देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।	३३५
९७	सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ।	३३६
९८	सोधम्मीसाणप्पहुडि जाव उवरिमउवरिमगेवज्ज त्ति विमाणवासिय देवेसु मिच्छाइट्ठि सासणसम्माइट्ठि असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	३३७
९९	सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।	३३९
१००	अणुदिस अणुत्तर विजय-वइजयंत जयंतावराजिद सव्वट्ठसिद्धि विमाणवासियदेवा असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता।	३३९
१०१	वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि।	३४०
१०२	इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णि मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति।	३४२
१०३	णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति।	३४३
१०४	तेण परमवगदवेदा चेदि।	३४
१०५	णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा।	३४
१०६	तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति।	३४५
१०७	तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति।	३४६
१०८	मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति।	३४६
१०९	तेण परमवगदवेदा चेदि।	३४७
११०	देवा चदुसु ट्ठाणेसु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा।	३४७
१११	कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि।	३४८
११२	कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति।	३५१
११३	लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा त्ति।	३५२
११४	अकसाई चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसायवीयरायछदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति।	३५२

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
५०	मिच्छाइट्ठी एइंदियप्पहुडि जाव सण्णिमिच्छाइट्ठि त्ति ।	३९९
५१	णेरइया अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।	३९९
५२	एवं जाव सत्तसु पुढवीसु	३९०
५३	णेरइया असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि ।	४००
५४	एवं पढमाए पुढवीए णेरइआ ।	४००
५५	विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि,-अवसेसा अत्थि ।	४०१
५६	तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति ।	४०१
५७	एवं जाव सव्वदीवसमुद्देसु ।	४०१
५८	तिरिक्खा असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ।	४०२
५९	तिरिक्खा संजदासंजदट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ।	४०२
१६०	एवं पंचिन्दियतिरिक्खा पंचिन्दियतिरिक्खपज्जत्ता ।	४०३
१६१	पंचिन्दियतिरिक्खजोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ।	४०३
१६२	मणुस्सा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा संजदा त्ति ।	४०३
१६३	एवमड्ढाइज्जदीवसमुद्देसु ।	४०३
१६४	मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजदट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ।	४०५
१६५	एवं मणुस पज्जत्तमणुसिणीसु ।	४०६
१६६	देवा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।	४०६
१६७	एवं जाव उवरिमउवरिमगेवज्जविमाणवासियदेवा त्ति ।	४०६
१६८	देवा असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठि त्ति ।	४०६
१६९	भवणवासियवाणवेंतरजोइसियदेवा देवीओ च सोधम्मीसाणकप्पवासियदेवीओ च असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी ...	४०६

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
१३०	असंजदा एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति।	३७८
१३१	दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि।	३७८
१३२	चक्खुदंसणी चउरिंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति।	३८३
१३३	अचक्खुदंसणी एइंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति।	३८३
१३४	ओधिदंसणी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति।	३८४
१३५	केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि।	३८५
१३६	लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि।	३८६
१३७	किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति।	३९०
१३८	तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति।	३९१
१३९	सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	३९१
१४०	तेण परमलेस्सिया।	३९२
१४१	भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया।	३९२
१४२	भवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।	३९४
१४३	अभवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव सण्णि मिच्छाइट्ठि त्ति।	३९४
१४४	सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि।	३९५
१४५	सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।	३९६
१४६	वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति।	३९७
१४७	उवसमसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था त्ति।	३९८
१४८	सासणसम्माइट्ठी एक्कम्मि चेय सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे।	३९८
१४९	सम्मामिच्छाइट्ठी एक्कम्मि चेय सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे।	४००

गा संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४	अत्थ वदु जाणिदा	३०	भगु द्रा १, ६ आचारा नि ४
७१	अहं णो अहं णिट्ठे	११	मूलाचा १०१३ इगारे ४ ८
१०४	अपणालिया मग्गो	२३६	मूलाचा १०११
१४	असमे णिव धम्मवदे	५	इगाव १ १३
१४४	अह चलणमणियाय	६६	गो जी २०३
८७	पढ भारयदो पुरिसो	१३०	गो जी २०८
११	आउअरा मरणभया	२०२	गो जी १ २
०६	आणद वज्झमज्झे	१८	गो जी १
०१	आणद णिबालमादिए	१४४	गो जी २०१
१३	आणादि परमादि	३०	
६७	आयादिया पदणपदा	८०	गो क ८४५ स त १, ४७
१०	"	१६२	"
८३	आदि य जागु य	१३२	गो जी १४१
०	जियमोदिंधणमल्लणो	५०	
८१	जीयो कत्ता य वत्ता	११८	गो जी जी, प्र जी ३३६
१५४	जीया पा.दमभेया	३७३	गो जी ४३८
१६२	जेसिं मउसमाई	३०४	मूलारा ८१०६
१	जेसिं ण सति जोगा	२८०	गो जी ४३
१०४	जद्दि दु रक्खिज्जते	१६१	गो जी ८
१ १	जो णय सच्चमोसो	२८६	गो जी २२१
११२	जो तसवहाउविरओ	१७	गो जी ३१
१३	ज सामण्ण गहण	१५०	गो जी ४८२ द्रव्यस ४३
११	ज्ञान प्रमाणमित्याहु	१७	लघीय ६, २

ण

गा संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
०२	ण उ कुणइ पक्ख	३९०	गो जी ५१७
११	णट्ठासेसपमाओ	१७९	गो जी ४६
६२	णत्थि णयेहि विहूण	९१	आ नि ६६१
४	णयदिसि णयो	११	
२०५	ण य पत्तियइ परं सो	३८९	गो जी ५१३
१ ७	ण य सच्चमोसजुत्तो	२८२	गो जी २१९
१२८	ण रमति जदो णिच्च	२०२	गो जी १४७
८०	णयमो य इक्कयाणं	११२	
१४०	ण वि इंदियकरण	२५८	गो जी १७४
९	णामं ठवणा दविए	१२	स त १, ६
२३	णिद्दयमोहतरुणो	४१	
०८	णिद्दायवणबहुलो	३८९	गो जी ५११
१२३	णिस्सेसखीणमोहो	१९०	गो जी ६२
२६	णिहयविविहट्ठकम्मा	४८	
१७२	णेविरथी णेव पुम	३४२	गो जी २७५
१११	णो इंदियेसु विरदो	१७३	गो जी २९

त

गा संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
४०	तत्तो चेव सुहाइं	५९	
	तदियो य णियइ	११२	
६१	तम्हा अहिगय सुत्तेण	९१	स त ३, ६४-६५
११२	तारिसपरिणामट्ठिय	१८३	गो जी ५४
४	तित्थयरगणहरत्तं	१८	
५	तित्थयरवयणसगह	१२	स त १, ३
२	तिरयणतिसूल	४१	
१२०	तिरियति कुडिल	२०२	गो जी १४८
६४	तिविहा य आणुपुव्वी	७२	
१०७	त मिच्छत्तं जहमस	१६३	

द

गा संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
२३	दलियमयणप्पयावा	४१	
६	दव्वट्ठियणयपयई	१२	स त १, ४
१९८	दसविह-सच्चे वयणे	२८६	गो जी २२०

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहां
१४७	एयणिगोदसरीरे	२७०	गो जी १९६ मूलाचा १२०४
२१०	,,	३९४	,,
१००	एयदवियम्मि जे	३८६	गो जी ५८२ स त १, ३३
६	एस करेमि य पणम	७३	मूलाचा १० (अर्धसमता)
	ओ		
१८१	ओरालियमुत्तत्थ	२०१	गो जी २३१
१९०	ओमा य हिमो धूम	२७३	मूलाचा २१० आ चा नि १०८
	क		
७२	कध चरे कध चिट्ठे	९९	मूलाचा १०१२ दशवै ४, ७
१६६	कम्मेव य कम्मभव	२९	गो जी २४१
१५२	कारिसतणिट्ठियाग	३४२	गो जी २७५
१०२	कालो त्ति य एयपदं		
२०१	किण्हादिलेस्सरहिदा	३९०	गो जी
१५५	किमिरायचक्कमलु	३१०	गो जी ५४५
१८	किं कस्स केण कत्थ	२४	मूलाचा ७०
१३६	कुंथुपिपीलिकमक्कुण	४४१	
१३७	कुयुक्खिलिकमक्कुण	४४२	
१२४	केवलणाणदिवायर	१९१	गो जी ६२
	ख		
४०	खम्मि दसण्णेइ	६४	जयध अ १
२११	,,	९१	,,

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ
	ग	
८३	गइकम्मविणिव्वत्ता	१३४
३८	गणरायमच्चतलवर	७
९६	गयगवलसजलजल	७३
९१	गोदेण गोदमो	
	च	
१०	चक्खूण जं पयास	३८२
१६१	चत्तारि वि छेत्ताइं	३८६
२०७	चागी भद्दो चोक्खो	३९०
७२	चारणवंसो तह पंच	११२
३२	चोद्दसपुव्वमहोयहि	
२००	चंडो ण मुयदि वेर	३८८
१८	चिंतियमचिंतियं वा	३९०
	छ	
७२	छक्कायक्कमजुत्तो	१००
२	छद्दव्वणवपयत्थे	
९६	छप्पंचणवविहाण	१
२१२	,,	२०
१६७	छम्मासाउवसेसे	२०३
१३२	छप्पु हरिमाणु पु	
१५०	छादेदि सयं दोसे	३४१
१८८	छेत्तूण य परियायं	३३८
	ज	
१४६	जत्थेक्कु मरइ	४३०

क्र० गाथा	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४ जम्य बहु आलमा		१७	अनु द्वा १ ६ आचारा नि ४
७१ जई घरे जई चिट्ठे		११	मूलाचा १०१३ दशवै ४, ८
१२४ जयणाजिया मागी		२१६	मूलाचा १०११
१७ जस्स निए धम्मवई		४	दशवै १३
१४४ जह कम्मलमणिगय		१६	गो. जी २०३
८३ जह भारपदो पुरिसो		१३०	गो जी २०२
१२ जाइजरा मरणभया		०४	गो जी १२८
०६ जाणइ कज्जमकज्जं		१२०	गो जी ५१
०१ जाणइ तिकालसहिए		१४३	गो जी २९९
१९ जाणहि एक्कंहि		२७०	
६३ जायदिया पयणयद्धा		८०	गो क ८१४ स त १, ४३
१०९	"	१६९	"
८२ जादि य जालु य		१३०	गो जी १४१
५० जियमेहिंपणमल्लो		५९	
८१ जायो वत्ता य पत्ता		११८	गो जी जी, प्र टी, ३२६
१०५ जीवा चाइमभेया		३७३	गो जी ४५८
१६८ जासि भाउममाई		३०५	मूलारा २१०६
१ जेसिं ण सति जागा		२८०	गो जी ४३
१०५ जेहि दु लक्खिज्जंते		१६१	गो जी ८
१०९ जो णव सच्चमोसो		२८६	गो जी २२१
११२ जो तसवहाउविरओ		१७	गो जी ३१
१२ जं सामण्णं गहणं		१५९	गो जी ४८२ द्रव्यस ४३
११ ज्ञान प्रमाणमित्याहु		१७	लघीय ६, २

ण

क्र० गाथा	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
२०८ ण उ कुणइ पक्खं		३९०	गो जी ५१७
११ णट्ठासेसपमाओ		१७९	गो जी ४६
६८ णत्थि णयेहि विहूण		९१	आ नि ६६१
४ णयरिसि णयो		११	
२०५ ण य पत्तियइ परं सो		३८९	गो जी ५१३
१७ ण य सच्चमोसजुत्तो		२८२	गो जी २१९
१२८ ण रमति जदो णिच्च		२०२	गो जी १४७
८० णयमो य इक्कपाणं		११२	
१४० ण वि इंदियकरण		२५८	गो जी १७४
१ णामं ठवणा दविए		१२	स त १, ६
२३ णिद्दसमोहणरणो		४९	
२०२ णिद्दावंचणबहुलो		३८९	गो जी ५११
१२३ णिस्सेसखीणमोहो		१९०	गो जी ६२
२६ णिहयविविहट्ठकम्मा		४८	
१७२ णेवित्थी णेव पुम		३४२	गो जी २७१
११२ णो इंदियेसु विरदो		१७३	गो जी २९

त

क्र० गाथा	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
४० तत्तो चेव सुहाई		५९	
तद्दियो य णियइ		११२	
६९ तम्हा अहिगय सुत्तेण		९१	स त ३, ६४-६५.
११८ तारिसपरिणामट्ठिय		१८३	गो जी २४
४ तित्थयरगणहरत्ते		५८	
५ तित्थयरवयणसंगह		१२	स त १, ३
२ तिरयणतिसूल		४१	
१२९ तिव्वतिव्वति कुडिल		२०८	गो जी १४८
६४ तिविहा य आणुपुव्वी		७२	
१०७ म मिच्छत्ते जहमस		१६३	

द

क्र० गाथा	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
२४ दलियमयणप्पयावा		४१	
६ दव्वट्ठियणयपयई		१२	स त १, ४
१२८ दसविह-सच्चे वयणे		२८६	गो जी २२०

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४७	पयणिगोदसरीरे	२७१	गो जी १९ मूलाचा १२०२
२१०	,,	३०४	,,
१००	एयदवियम्मि जे	३८१	गो जी ५८२ म त १, ३३
६०	एस करेमि य पणमं	७३	मूलाचा १०८ (अर्धसमता)

ओ

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१२१	ओरालियमुत्तत्थ	२०१	गो जी २३१
१००	ओसा य हिमो धूम	२७३	मूलाचा २१० आ चा नि १०८

क

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
७०	कध चरे कध चिट्ठे	९९	मूलाचा १०१२ दशवै ४, ७
१६६	कम्मेव च कम्मभव	२०१	गो जी २३१
१७३	कारिसतणिट्टिवाग	३४२	गो जी २७
१०३	कालो ट्ठिदि अवधरण		
२०२	किण्हादिलेस्सरहिदा	३९०	गो जी ५५
१७७	किमिरायचक्कतणु	३२०	गो जी २८७
१८	किं कस्स केण कत्थ	३४	मूलाचा ७०१
१३६	कुन्थिकिमिसिप्पि	२४१	
१३७	कुंथुपिपीलिकम	२४३	
१८३	केवलणाणदिवायर	१९१	गो जी ६३

ख

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१९	खीणे दंसणमोहे	६४	जयध अ ८
२१३	,,	३९	,,

ग

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
८३	गदकम्मविणिम्मला	१२	
३८	गणगयमज्झयारम्म	७	ति प १, ८२
११	गयगयरमनुराज	७३	
२१	गोसेण गोदमो		

च

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१०	चक्खूण ज पयासइ	२८२	गो जी ४८२
१६१	चत्तारि वि छेत्ताइं	३०८	गो जी ३ गो क २२१
२०३	चागी भद्दो चोक्खो	३९०	गो जी
७९	चारणरम्मो तह पउ	११८	
३८	चोद्दसपुव्वमहोयदि	१०	
२००	चंडो ण मुयदि वेर	३८८	गो जी ५०८
१८	चिंतियमचिंतिय वा	३६०	गो जी ४३८

छ

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
७३	छण्णवकमपुत्तो	१००	पञ्चा ७८
३	छद्दव्वणवपयत्थे	०	ति प १, ३४ (शब्दभेद)
९६	छापचवणवविहाण	१२	गो जी ६१
२१२	,,	३९६	,,
१६७	छम्मासाउवसेसे	३०३	मूलाचा २१० (शब्द भेद) वसु श्रा ५३०
१३३	छसु हेट्ठिमासु पुढ	२०९	
१५०	छादेदि सय दोसे	३४१	गो जी २७४
१८८	छेत्तूण य परियाय	३७२	गो जी ४७१

ज

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४६	जत्थेक्कु मरइ	२७०	गो जी १९३

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४	अत्थ बहु आणिज्जा	२०	अनु द्वा १, ६ आचारा नि ४
७१	जई चरे जई चिट्ठे	९९	मूलाचा १०१३ दशवै ४, ८
१२४	अयणालिया मसूरी	२३६	मूलाचा १०९१
२३	असरीर तिय धम्मवहे	५३	दशवै ९ १२
१५३	जह कंचणमग्गिगयं	२६६	गो जी २०३
८७	जह भारवहो पुरिसो	१३०	गो जी २०१
१२१	आइकरा मरणभया	२०७	गो जी १ २
०६	आणइ कज्जमकज्जं	३०९	गो जी ५११
९१	आणइ तिकालसहिए	१४४	गो जी ३००
१२	आणादि परमादि	२३०	
६७	आयरिया वयणवहा	८०	गो क ८०४ स त १, ४७
१०	"	१६२	"
८७	आदि य आसु य	१३८	गो जी १४१
५०	जियमोहिंधणजलणो	५९	
८१	जीवो कत्ता य वत्ता	११८	गो जी जी, प्र टी २३६
१२५	जीवा चोद्दसभेया	२७२	गो जी ४७८
१६८	जेसिं आउसमाई	२०५	मूलारा २१०६
११	जेसिं ण सति जोगा	२८०	गो जी २४३
१०४	जदि दु एक्किसमते	१६१	गा जी ८
१०	जो णेव सच्चमोसो	२२१	गा जी २ १
११८	जो तसवहाउविरओ	१७	गा जी १
९३	जं सामण्ण गहणं	१४०	गो जी ४ २ द्रव्यस ४३
११	ज्ञान प्रमाणमित्याहु	१७	लघीय ६

ण

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१०८	ण उ पुणाइ पवण	०	गा जा ७ १
११९	णट्ठासेसपमाओ	१७१	गा जी ४६
६८	णत्थि णयेहि विहूण	९१	आ नि ६६१
४	णयादिसि णयो	११	
२०७	ण य पत्तियइ परं सो	३०९	गो जी ५१२
१०७	ण य सच्चमोसजुत्तो	२०७	गो जी २१०
१२	ण रमंति जदो णिच्च	२०४	गो जी १४७
८०	णयमो य दुसमयाण	११८	
१४०	ण वि इंदियकरण	२४८	गो जी १७४
९	णाम ट्ठवणा दविए	१	स त १, ६
३	णिद्दसमोहतरणो	४	
२०२	णिद्दावंचणबहुलो	३८०	गा जी ५११
१२३	णिस्सेसखीणमोहो	१९०	गा जी ६२
२६	णिदयधियदुक्कमा	४८	
१७८	णेवित्थी णेव पुमं	२४	गो जी २७
१११	णो इंदियेसु विरदो	१७२	गो जी २९

त

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
४९	तत्ता खंव सुदाई	६०	
	तदियो य णियइ	११८	
६१	तम्हा अहिगयसुत्तेण	११	स त १ १४-१५
११८	तारिसपरिणामट्ठिय	१८३	गा जी ५४
४	तित्थयरवयणसंगह	६०	
	तित्थयरवयणसंगह	१	स त १, ३
२	तिरयणतिसूल	४	
१०	तिरियोण दुरिस		गा जी १४
६४	तिविहा य आणुपुव्वी	७	
१०७	त मिच्छत्त जदसम	११	

द

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
४	दाणलाभभोगपरिभोग	६	
१	दव्वाट्ठियवत्तव्वं		स त १ ६
	दव्वाइ कम्म वयणं	१	गो जी २

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४७	एयणिगोदसरीरे	२७१	गो जी १०० मूलाचा १२०४
२१०	,,	३०४	,,
१०१	एयदवियम्मि जे	२८	गो जी ५८० स स १, ३३
८	एस करेमि य पणम	७३	मूलाचा १०.. (अर्धसमता)

ओ

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१८१	ओरालियमुत्तत्थ	२०१	गो जी २३१
१२०	ओसा य हिमो धूम	२८३	मूलाचा २१० आ चा नि १०८

क

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
७०	कध चरे कध चिट्ठे	९९	मूलाचा १०१२ दशवै ४, ७
१६६	कम्मेव च कम्मभव	२९	गो जी २४१
१७३	कारिसतणिट्ठिवाग	३४२	गो जी २७
१०३	कालो हिदि अवधरण		
२०९	किण्हादिलेस्सरहिदा	३९०	गो जी ५५६
१७७	किमिरायचक्कतणु	३ ०	गो जी २८७
१८	किं कस्स केण कत्थ	३४	मूलाचा ७०१
१३६	कुक्खिकिमिसिप्पि	२४१	
१३७	कुथुपिपीलिक्कम	२४३	
१२४	केवलणाणदिवायर	१९१	गो जी ६३

ख

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१९	खीणे दसणमोहे	६४	जयध अ ८
२१३	,,	३९	,,

ग

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
८४	गइकम्मविणिव्वत्ता	१२	
३८	गणरायमच्चतलवर	७	ति प १, ४४
४६	गयगयम्मजज्ज	७२	
४१	गोत्तेण गोदमो		

च

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१२	चक्खूण ज पयास	२८२	गो जी ४८४
१९०	चत्तारि वि छेत्ताइं	३०९	गो जी ८३ गो क ३२२
२०७	चागी भद्दो चोक्खो	३९०	गो जी
७०	चारणवसो तह पत्र	११२	
३२	चोद्दसपुव्वमहोयहि	०	
२००	चट्टो ण मुयदि वेर	३८८	गो जी ०९
१८	चितियमचितिय वा	३९०	गो जी ४३८

छ

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
७३	छक्कापक्कमजुत्तो	१००	पञ्चा ७८
२	छद्दव्वणवपयत्थे		ति प १, ३४ (शब्दभेद)
९८	छप्पचणवविहाण	१ २	गो जी ५६१
२१२	,,	३९	,,
१६७	छम्मासाउवसेसे	३०३	मूलारा २१० (शब्दभेद) वसु श्रा ५३०
१३३	छसु हेट्ठिमासु पुढ	२०९	
१७०	छादेदि सय दोसे	३४१	गो जी २७४
१८८	छेत्तूण य परियाय	३७२	गो जी ४७१

ज

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४९	जत्थेक्कु मरइ	२७०	गो जी १९३

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१५	अप्प बहु आणाज्झा	१०	भ ु दा १, १ भागारा गि ४
७१	अर्ह घरे अर्ह चिट्ठ	११	मूलाचार १०१३ पुरुषार्थ ४ ८
१३५	अयणालिया मग्गे	२३६	मूलाचार १०११
५३	अरमे तिर धम्ममहं	४	पुरुषार्थ ० ३३
१६०	अह कषणमाणगय	२६६	गो जी २०३
८७	अह मारयदो पुरिसो	१३०	गो जी २०२
१३२	आइजरा मरणभया	२०८	गो जी १ ८
०६	आणाद सम्मसत्तं	३८०	गो जी ५१८
९१	आलर निपालमहिय	१५५	गो जी १९
१२	आणादि परमंदि	२२०	
६७	आयादिया पयणयदा	८०	गो जी ८०४ स त १, ४७
१०	"	१६२	"
८२	आदि य आदु य	१२२	गो जी १४१
०	भिणमोहिपणसरणो	५०	
८१	आयो वत्ता य वत्ता	११८	गो जी जी प्र टी, २२६
१९४	जेपा खादसमेवा	३७३	गो जी ४७८
१६८	जेसिं आउसमाई	३०५	मूलारा २१०६
१	जेसिं ण सति जोगा	२८०	गो जी २४३
१०५	जहि दु लविस्सजमे	१६१	गो जी ८
१ ९	जो णय सच्चमोसो	२८६	गो जी २२१
११८	जो तसवहाउविरओ	१७	गो जी ३१
९३	जं सामण्ण गहण	१४०	गो जी ४८२ द्रव्यस ४३
११	ज्ञान प्रमाणमित्याहु	१७	सर्वार्थ १ २

ण

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
०८	ण उ कुणइ पक्ख	३९०	गो जी ५१७
११	णट्ठासेसपमाओ	१७९	गो जी ४६
६८	णत्थि णयेहि विहूण	९१	आ नि ६६१
४	णयरित्ति णयो	११	
२०४	ण य पत्तियइ परंसो	३८०	गो जी ५१३
१ ७	ण य सच्चमोसजुत्तो	२८२	गो जी २१९
१२८	ण रमंति जदो णिच्च	२०२	गो जी १४७
८०	णयमो य दव्वत्थाणं	११२	
१४०	ण वि इंदियकरण	२४८	गो जी १७४
०	णामं ठवणा दविय	११	स त १, ६
२३	णिद्दड्ढमोहतरुणो	४९	
२०२	णिहयवयणबहुलो	३८९	गो जी ५११
१२३	णिस्सेसखीणमोहो	१९०	गो जी ६२
२६	णिहयविविहट्ठकम्मा	४८	
१७२	णेवित्थी णेव पुम	३४२	गो जी २७५
१११	णो इंदियेसु विरदो	१७३	गो जी २९

त

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
४०	तत्तो चेव सुहाइं	५९	
	तद्दियो य णियइ	११२	
६९	तम्हा अहिगयसुत्तेण	९१	स त ३, ६४-६५
११८	तारिसपरिणामट्ठिय	१८३	गो जी ५५
४	तित्थयरगणहरत्तं	५८	
१	तित्थयरवयणसंगह	१२	स त १, ३
२	तिरयणतिसूल	४९	
१२०	तिरियंति कुडिल	२०२	गो जी १४८
६४	तिविहा य आणुपुव्वी	७२	
१०७	त मिच्छत्त जहमस	१६३	

द

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
२४	दलियमयणप्पयावा	४९	
६	दव्वट्ठियणयपयई	१२	स त १, ४
१४८	दसविह-सच्चे वयणे	२८६	गो जी २२०

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४७	पयणिगोदसरीरे	२७१	गो जी १९० मूलाचा १२०४
२१०	,,	३०४	,,
१००	पयट्ठियम्मि जे	३८	गो जी ८० स त १, ३३
६	एस करेमि य पणमं	७३	मूलाचा १० (अर्धसमता)
	ओ		
१६१	ओरालियमुत्तत्थ	२०१	गो जी २३१
१०	ओसा य हिमो धूम	२०३	मूलाचा २१० आ चा नि १०८
	क		
७०	कध चरे कध चिट्ठे	९९	मूलाचा १०१२ दशवै ४, ७
१६६	कम्मेव च कम्मभव	०९	गो जी २४१
१७३	कारिसतणिट्ठिवाग	३४२	गो जी २७
१०३	काले द्विदि अवधरण		
२०२	किण्हादिलेस्सरहिदा	३९०	गो जी [illegible]
१७७	किमिरायचक्कतणु	३ ०	गो जी २८७
१८	किं कस्स केण कत्थ	३४	मूलाचा ७०
१२८	कुक्खिकिमिसिप्पि	२४१	
१२७	कुंथुपिपीलिकम	२४३	
१२४	केवलणाणदिवायर	१९१	गो जी ६३
	ख		
१०	खीणे दसणमोहे	६४	जयध अ ८
२१३	,,	३९	,,

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
	ग		
८३	गइकम्मविणिव्वत्ता	११	
३४	गणरायमहत्तरय	७	ति प १, ४१
६	गयणयव्वमजम्जल	७२	
६१	गोसाल गोदमा		
	च		
११	चक्खूण ज पयास	२८२	गो जी ४८४
१९१	चत्तारि वि छेत्ताइं	३०६	गो जी [illegible] गो क ३३४
२०३	चागी भद्दो चोक्खो	२००	गो जी
७१	चारणवसो तह पउ	११८	
३२	चोद्दसपुव्वमहोयहि	०	
२००	चडो ण मुयदि वेर	३८८	गो जी ५९
१८०	चिंतियमचिंतिय य	३ ०	गो जी ४३८
	छ		
७२	छक्कापक्कमजुत्तो	१००	पञ्चा ७८
३	छद्दव्वणवपयत्थे		ति प १, ३४ (शब्दभेद)
९६	छप्पंचणवविहाण	१ २	गो जी ५६१
२१२	,,	३९	,,
१६७	छम्मासाउवसेसे	३०३	मूलारा २१० (शब्द भेद) वसु श्रा ५३०
१३३	छसु हेट्ठिमासु पुढ	२०९	
१५०	छादेदि सय दोसे	३४१	गो जी २७४
१८८	छेत्तूण य परियाय	३७२	गो जी ४७१
	ज		
१४६	जत्थेक्कु मरइ	२५०	गो जी १९३

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
१४ अण्ण वहं जाणिहार	१०		अनु प्र १ ६ आचारांग नि ४
५१ अहं पर अहं चिट्ठ	७०		मूलाचार १०१३ दृष्टाष्ट ५ ८
१२५ अवणाणिया मग्गरि	२३१		मूलाचार १००१
३५ अरसं गिर धारयदे	४		दृष्टा ० १३
९५ जद जधणमणिणय	२६६		गो जी २०३
६७ जद मागयदो पुत्तिओ	१७०		गो जी २०८
आहअरा मरणभया	२०४		गो जी १८
६ आणए वज्झमवज्झं	२००		गो जी ५१
१ आणए णिवाणगदिए	१४८		गो जी २९९
आणादि पस्सदि	२३०		
आयरिया पयणयदा	८०		गो क ८०४ स त १, ४७
"	१६८		"
णाहि य आतु य	१३८		गो जी १५१
णेपमोहिधणमलणा	०		
णिया पत्ता य पत्ता	११८		गो जी जी, प्र नी ३३६
या मोहसमेया	३७३		गो जी ४७८
तें आउसमाए	३०४		मूलाचार २१०६
ं ण हसंति जोणा	२८०		गो जी ४३
दु एक्किय-अले	१६१		गो जी ८
ाय सच्चमोसा	८		गो जी २२१
सवद्दाउचिरमो	१७		गो जी ३१
मण्ण वाहण	१४०		गो जी ४८२ द्रव्यस ४३
माणमित्याइ	१७		रुचीय ६, ८

ण

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
णइ पदम	२९०		गो जी ५१७
११ णट्ठासेसपमाओ	१७९		गो जी ४६
१८ णत्थि णवेहि विहूण	९१		आ नि ६६१
४ णयपरिणि णयो	११		
२०४ ण य पत्तियइ परं सो	३८९		गो जी ५१३
१७ ण य सच्चमोसजुत्तो	२८२		गो जी २१९
१८ ण रमंति जदो णिच्चं	२०२		गो जी १४७
८० णयमो य दसणघाणं	११२		
१४० ण वि इंदियकरण	२५८		गो जी १७४
० णामं ठवणा दविए	११		स त १, ६
८३ णिद्दयमोहतरुणो	४९		
२०२ णिइ[illegible]वयणबहुलो	३८९		गो जी ५११
१८३ णिस्सेसखीणमोहो	१९०		गो जी ६२
२६ णिद्दयविविहदुक्खमा	४८		
१७२ णेविरथी णेव पुम	३४२		गो जी २७५
१११ णो इंदियसु विरदो	१७३		गो जी २९

त

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
४० तत्तो चेव सुहाई	५९		
तदियो य णियइ	११२		
६० तम्हा अहिगय सुत्तेण	९१		स त ३, ६४-६५
११८ तारिसपरिणामट्ठिय	१८३		गो जी ५७
४ तित्थयरगणहरत्तं	८		
तित्थयरवयणसगह	१२		स त १, ३
२ तिरयणतिसूल	४१		
१२९ तिरियंति कुडिल	२०२		गो जी १४८
६४ तिविहा य आणुपुव्वी	७२		
१०७ त मिच्छत्त जहमस	१६३		

द

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
२४ दव्वियमवणप्पयाया	४१		
६ दव्वट्ठियणयपयई	१०		स त १, ४
१०८ दसविह सच्चे वयणे	२८६		गो जी २२०

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	आधार ग्रन्थ
१०१	दहिगुडमिव वामिस्सं	७०	गो जी २२
१२	दाणे लाभे भोगे	१७	पंचा था १२०
१२१	दिव्वंति जदो णिच्चं	२००	गो जी १५१
४१	द्विसद्धराजनाथो	१७	ति प १, ४४ (प्राकृतरूप)
३० देसकुलजाइसुद्धो		४७	पंचा था ३४४ (प्रथमचरण)
२१	दंसणमोहुदयादो	३१	गो जी ६४७
२१६	दंसणमोहुवसमदो	,,	गो जी ६५०
७३	दंसणवदसामाइय	१०२	गो जी ४७७ पंचा था ८ या अ ६०
१९३	,, ,,	३७०	,, ,,

ध

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	आधार ग्रन्थ
६३	धदगारवपडिबद्धो	६८	
७३	धणुराकारदिछिन्नो	६२	जयध अ ९

प

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	आधार ग्रन्थ
७८	पढमो अरहन्ताणं	१०२	
१९६	परमाणु आदियाइं	३८२	गो जी ३८
२९	पउमणजलहिजलो	४९	
१७	पापं मलमिति प्रोक्तं	२५	ति प १, १७ (प्राकृतरूप)
१४९	पुढवी य सक्करा	२७२	मूलाचा २०६ आचा नि ७३
१७१	पुरुगुणभोगे सेदे	३३१	गो जी २७३
१६०	पुरुमहमुदाररालं	२९१	गो जी २३०
१२१	पुण्णापुण्णफल	१८०	
३९	पूतनाङ्कदण्डनायक	५७	
१०२	पंचतिचउविहेहिं	३०२	गो जी ४७६
१८९	पंचसमिदो तिगुत्तो	३५०	गो जी ४७२
७२	पंचसेलपुरे रम्मे	९१	जयध अ ९
७०	प-ाननय प्रतीता	३	ति प १ ४ (प्राकृतरूप)
१०	प्रमाणनयनिर्णीतं	११	ति प १, ८ ति सा ५५ (प्राकृतरूप) अ ब पृ ९१

ब

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	आधार ग्रन्थ
२२७	बहुविहबहुप्पयारा	३५०	गो जी ३११
७७	बारसविहं पुराणं	११२	
१४१	बादरसुहुमेइंदि जदा	२५१	गो जी १२२

भ

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	आधार ग्रन्थ
२११	भविया सिद्धि जेसिं	३९४	गो जी ५५७
४७	भावियसिद्धन्ताणं	७९	
११६	भिण्णसमयट्ठियहि दु	१८३	गो जी ५२

म

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	आधार ग्रन्थ
१३८	मक्कडउवममरमइ	२४९	
१३०	मणगति जदो णिच्चं	२०३	गो जी १४९
८८	मणसा वचसा काए	१४०	स्या मं पृ १०१
२००	मरणं पत्थेइ रणे	३८९	गो जी ५१४
	महावीरेणत्थो कहिदो	६१	
२८	माणुससठाणा वि हु	४८	
१०६	मिच्छत्तं वेयंतो	१६२	गो जी १७
१५३	मूलग्गपोरबीया	२७३	गो जी १८६ मूलाचा २१२
७	मूलणिमेणं पज्जव	१३	स त १, ५
४८	मेरुव्व णिप्पकंप	५९	
१	मंगलणिमित्तहेऊ	७	पखं अ से टी
२०१	मंदो बुद्धिविहीणो	३८८	गो जी ५१०
१६	मंहदान्दोऽप्यमुद्दिष्ट	३३	ति प १, १९ (प्राकृतरूप)

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
२०३	रुसदि णिंददि अण्णे	३८९	गो जी ५१२
	ल		
९५	लिंपदि अप्पीकीरदि	१५०	गो जी ४८९
	व		
११३	वत्तावत्तपमाए	१७८	गो जी ३३
२१४	वयणेहि वि हेऊहि	३०५	गो जी ६४७
९२	वयसमिदिकसायाण	१४१	गो जी ४७४
१५२	वाउब्भामो उक्कलि	२७३	मूलाचा २१२ आचा नि १६६ (अध समता)
५८	वासरस पढमनासे	६३	ति प १, ६९ (शब्दभेद)
११४	विकहा तहा कसाया	१७८	गो जी ३४
९९	विग्गहगइमावण्णा	१५३	गो जी ६६६
२१	विमा प्रणदयंति	४१	ति प १, ३० (प्राकृतरूप)
१८१	विवरीयमोहिणाण	३ ९	गो जी ३०
१६२	विविहगुणइद्धिजुत्त	२९१	गो जी २३२
१३१	विसजंतकूडपंजर	३ ८	गो जी ३०३
१२	विसवेयणरत्तक्खय	२३	गो क ५७
१ ४	विहाणिद्दाउदि	२५७	गो जी १९८
१६३	वेउव्वियमुत्तत्थं	२९२	गो जी २३४
८१	वेदस्सुदीरणाए	१४१	
१७८	वेदुयमूलोरब्भय	१ ०	गो जा २८६
	श		
२	शब्दात्पदप्रसिद्धि	१०	प्र शाक्टा सिद्ध हैम
	ष		
४१	षट्खण्डभरतनाथं	५८	ति प १ ४ (प्राकृतरूप)

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
	स		
१४२	सक्कयाणट्ट इलें धा	१००	गो चा ६१
४४	सकलभुवनैकनाथ	८	ति प १, ८- (प्राकृतरूप)
८२	सत्ता जत्तू य माणी	११०	गो जी, जी प्र, टी ३५५
१५६	सम्भावो सच्चमणो	२८१	गो जा २१९
१०८	सम्मत्तरयणपव्वय	१६	गो जी २०
११०	सम्माइट्ठी जावो	१७१	गो जी २७
१३९	सरसेहिमसम्मु	२४६	माचा ग ८०- (गूढरूप)
७	साधणबहुल्पपव्विदे	६१	ति प १ ३०
१४	साहारणमाहारो	२७०	गो जी १९२
९७	सिक्खाकिरियुव	१ २	गो जी १११
९१	सिद्धत्तणस्स जोग्गा	१ ०	गो जी
११	सिद्धत्थपुण्णकुंभो	७	पञ्चा टी
१५४	सिप्पुडिविभइ हुली	१ ०	गो जा ७४
३३	सोहम्मयंगमिय	१	
१४१	सुत्तादो त सम्मं	२६१	गो जा २७
९०	सुहदुक्खसुबहु	१४२	गो जा १८
१०१	सुहुमा सुहुमा पडिदा	१ ४	
६८	सेसणभयणयाभ्य है	६	प्र ब, गृ १ ४ आ नि ११९- (शब्दभेद)
१७	सेलट्ठिकट्ठवेत्त	१ ०	गो जी २८
१२६	सेलसिं सपत्तो	११९	गो जी १
३१	सत्ताइलिंगाइक्खमत्ता	४९	प्रवाचा १ - (शब्दभेद)
१८७	सव्वट्ठिदयत्तव्वसेसत्त	१७	गो जी ४३०
१८९	सहुणसु सहणा	१०	गो जी १
	ह		
८७	हम्मदि धरदाव्वेवो	८७	ति प १ ८ (शब्दभेद)
१७०	होति अणियट्टिणो ते	८	गो जी ५७

२ ऐतिहासिक नाम सूची

अ

[illegible] ९१
[illegible] (
[illegible]) १०५
[illegible] १०८
[illegible] १०७
[illegible] १०३

आ

[illegible] १०३

इ

[illegible]

ई

[illegible]

[illegible]

कलिंग १०८
कालेविद्धि १०७
कार्तिकेय १०४
किष्किन्धि १०३
कुगुमि १०८
[illegible] १०७
[illegible] १०७
[illegible] ९९
[illegible] ९९

ग

गार्गी १०८
[illegible] ९९
[illegible]

[illegible]

धरसेन(भट्टारक) ९, ११, १४, ३०
धर्मसेन ११
धुरसेन ११
धृतिषेण ११

न

नक्षत्राचार्य ११
[illegible] १०१
नन्दिमित्र ११
नमि १०३
नागाचार्य ११
नारायण १०

प

पाराशर १०
[illegible] १०३
पांडुस्वामी ११
पुष्पदन्त [illegible]

[illegible]

पृष्ठ

म

मतङ्ग १०३
महागिरि १०३
महावीर ११ १४
माठर १०८
माध्यंदिन १०६
माठरिक १०७
मुण्ड १०३
मोर १०६
मौद्गलायन १०६

य

यतिवृषभ ३८
यमलाक १०२
यशोबाहु ६६
यशोभद्र ६६

र

रामपुत्र १०३
रामण १०७
रोमहर्षी १०६

ल

लोहार्य ९१, ६६

व

वर्धमान ६४, ७२, १०३
वर्णिक १०३
वराह १०६
वशिष्ठ १०८
वसु १०८
वाद्वलि १०८
वाल्मीकि १०८
वारिषेण १०४
विजयाचार्य ६६
विशाखाचार्य ६६
विष्णु ६६
व्याघ्रभूति १०६
व्यास १०६

पृष्ठ

श

शाकल्य १०८
शालिभद्र १०५
शिवमाता ७२

स

सत्यदत्त १०६
सात्यमुग्रि १०६
सिद्धार्थदेव ६६
सुदर्शन १०३
सुनक्षत्र १०४
सुभद्र ६६
स्थेरदन् १०८
सोमिल १०३

ह

हरिश्मश्रु १०७
हारित १०७

४ भौगोलिक नाम सूची

अ

अंकलेश्वर ७१
अंध्र भाष विषय ६७ ७१

ऋ

ऋषिगिरि ६२

औ

औदीच्य ५८

ग

गङ्गा ९२
गिरिनगर ६७
गौड ७३

च

चन्द्रगुप्त ६७
छिन्न (गिरि) ६२

द

दक्षिणापथ ६७
दाक्षिणात्य ५८
द्रमिलदेश ७१, ७७

प

पचशैलपुर ६१
पाडुगिरि ६२

पृष्ठ

म

महिमा ७६
माथुर ७८

व

वनवास विषय ७१
वाल्भ ७८
विपुलगिरि ६१, ६२
वेण्यातट ६७
वैभार ६२

स

सौराष्ट्र

ह

हिमवान्

५ ग्रन्थ नामोल्लेख

क

कषाय प्राभृत २०७, २२१
कालसूत्र १४२

त

तत्वार्थभाष्य १०३
तत्वार्थसूत्र २३९, २००

व

वर्गणासूत्र २००
वेदनाक्षेत्रविधान २४१

स

सत्कर्मप्राभृत २१
सन्मतिसूत्र

६ वंश नामोल्लेख

इ

अर्हद् ११०
इक्ष्वाकु ११२

क

काश्यप ११२
कुरु ११८

च

चन्द्रवंशि ११८
चारण ११८

ज

जिनवंश ११२

न

नाथवंश ११०

प

प्रज्ञाश्रमण ११०

र

राजवंश

व

वादि
वासुदेव
विद्याधर

ह

हरि ५३, ११

७ प्रतियोंके पाठ-भेद

१ अ–अमरावतीकी प्रति, आ–आराकी, क–कारनाकी, स–सहारनपूरकी।

२ ,, चिह्नोंमें तात्पर्य यहां उपरके शब्दोंसे नहीं, किन्तु उसी पंक्तिके बाइं ओरके शब्दोंसे समझना चाहिये।

३ इन प्रतियोंके पाठभेदोंकी दिशा बतलानेके लिये यहां केवल थोडेसे पाठभेद दिये जाते हैं। यथार्थतः ऐसे पाठभेद हैं बहुत ही अधिक।

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
१	१	ॐ नम सिद्धेभ्य ॐ गणधरपरमेष्ठिने नम। ॐ द्वादशाङ्गाय नम। निर्विघ्नमस्तु	, अथ श्री धवल प्रारम्भ।	,,	ॐ नम सिद्धेभ्य।	
१	२	केवलि	,,	केवल	केवल	केवल
१	२	णमह	,,	,	णमह	णमह
६	१	-भग्गग्गिज्झा	अङ्गङ्गिज्झा	,	,,	भंगग्गिज्झा
,,	,,	-मल-मूल	मल गूढ	मल-मूल	-मल-मह	-मल-मल
७	६	धण्णाणिउ	,,		धणणाणउ	धण्णाणउ
८	५	परूवणय			परूवयं ण	परूवयं ? ण
,,	६	तालपल ब सुत्तत्थ	,	,	तालपल ब सुत्तं ब	तालपलंब सुत्तं ब
९	२	सयलच्छयच्छाण सच्छाणं	,	,,	सयलत्थधारणु ण महाय	,,
१२	१	-थायरत्ते	,,		,	-थायरत्ते
१३	१	-णिमोणं	-णिमाण	-णिमोण		-णिमेण
१३	२	सद्धारीया साहुपसाहु	सद्धारिया ,,	सद्धारीया	,,	सद्धाईया साहुपसाहु
१५	७	-सव्वलसं णाणो		,,	,,	[illegible]
१६	५	विवत्थत्थाणप	,,	,,	,,	विवत्थ [illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	ख	मुद्रित
९	१	यज्ञत्थ	"	"	"	यत्थ
९	१	जीवो वा जीवो या अजीवो वा जीवो च अजी वो च अजीवो च अजीवा च जीवा च जीवा च अजी वो च जीवा चेदि	जीवो वा जीवा वा अजीवो वा अजीवो वा जीवो च अजी वो च, अजीवो च जीवा च अ जीवा च जीवा च अजीवो च जीवा चेदि	"	"	जीवा वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजी वा य, जीवा य अजीवा य
२०	४	सुभाव	"	"	सम्भाव	सम्भाव
२१	२	तस्सत्थ	"	"	तस्सद्	तस्सत्थ
२९	१	अथाप्यारत्यादि	"	"	अर्थाधारत्यादि	"
३०	४	जाणिज्जो	"	"	"	जाणिज्जा
३१	७	विपर्ययो	"	"	"	विपर्यस्यतो
३२	३	असो व्यामोहेन	"	"	सोऽव्यामोहेन	"
३४	३	गच्छति कर्त्ता सिद्धि	गच्छति कर्त्ता कार्यसिद्धि	"	"	"
३०	६	सारस्थ स्तम्भ	"	"	"	सारे स्तम्भ
३९	५	नमो जिनानाम्	"	"	नमो जिणाणम्	'णमो जिणाण'
४०	४	कयकाउया	"	"	"	कयकोउय
४१	६	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमो क्कारो त णिबद्ध मगल। जो सुत्त स्सादी सुत्तकत्ता रेण णिबद्धो देव दाणमोक्कारो तम णिबद्ध मगल।	"	"	"	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णि बद्ध-देवदाण मोक्कारो तं णि बद्धमगल। जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय-देवदा णमोक्कारो तमणि बद्ध मगलं।
४३	७	विनष्टेरा	"	"	"	विनष्टेऽपि
४६	३	भूता दोषाम	"	"	"	भूतादोषाम्म

पृ	पंक्ति	अ	आ	क	ख	मुद्रित
४८	१	यज्जसिल्त्थ ससगय	यज्जसिलत्थ स्सग्गय	यज्जसिल्त्थ भग्गय	यज्जमिल्त्थ स्सग्गय	यज्जसिल्त्थ भग्गय
४९	४	सगभग्ग		भग्गसंग	संगभग्ग	संग भग
„	७	कार्यत्वाद्भेद सत्स्येय	„	„	„	कार्यत्वाद्भेद सत्स्येय
५३	३	रसैकदेशस्य	रसैकदेशस्य	रसैक		रसैकदेनस्य
५४	१	देशत्या	देयत्था	देशत्या		देयत्वा
„	२	संज्ञात	स ज्ञात	सज्ञात	संज्ञात	संज्ञात
„	३	गुणिभूतताद्धते	„	गुणिभूताद्वैते	„	गुणीभूताद्वैते
„	४	श्रद्धाधिक्य	„	,	,	भद्राधिक्य
६०	६	-स्थापनार्थं	स्थापनार्थं	-स्थापनार्थं	स्थापनार्थं	स्थापनार्थं
		कम्मं सुप्पज्जइय पुड सिद्धसुद्दं पि पयणासो।	कम्मं पुड सिद्धसुद्दं पि पयपणासो	कम्मं पुड सिद्धसुद्दं पि पयणसा		कम्मं पुड सिद्ध सुद्दं पि पयप णासो।
६०	३	-दिछसोसा	„	„	-दिछसो	
६४	४	नइयाइ ण होंति	„	,	नइयाई होंति	,
„	६	दिव्वज्झाणी	„	„	दिव्वज्झुणी	„
„	८	गोत्तम-गोत्तेण	गोत्तम-गोत्तेण	गोत्तम-गोत्तेण		गोदम-गोत्तेण
६	६	आरोति	„	,		आरोति
६६		पिरिसेणो	„	,	धिरिसेणा	„
६७	४	बंधयोच्छेरो		,		गधवच्छेरो
७३	१	-वच्छरे	„	„		-वच्छरो
८२	३	यत्थेर्	आथेर्	यथेर्		यन्थेर्
८४	३	समनस्य	,	,		समवनस्य
,	६	नैवगमो मय	,	,	नवगमा नैगम	
८९	१	सतिष्ठुति निष्ठति	सतिष्ठन निष्ठति			निष्ठुन
८९	५	कल्याल्येत				सर्वकृत
,	,	भिन्नपरामा				[illegible]
९०	६	नानार्थं			भिन्नपरामा	भिन्नपरा[illegible]
९१	३	मत्थोरथ			नानार्थ	
९०	४	संक्षेपासंक्षेपा स्मव	संक्षेपासंक्षेप सामान्यासव	संक्षेपासंक्षेपा स्मव	मत्था इव	„
						„
						संक्षेपासंक्षेप सामान्यरूप

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
९	१	नज्ञय	„	„	„	नम्रय
९	[illegible]	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा जीवो च अजीवो च अजीवा च जीवा च जीवा च अजी वो च जीवा चेदि	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा अजीवो वा जीवो च अजी वो च, अजीवो च जीवा च अ जीवा च जीवा च अजीवो च जीवा चेदि	„	„	जीवो वा, जावा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जावा य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजी वा य, जावा य अजीवा य
२०	४	सुमान	„	„	सन्माद्र	मन्मात
२१	२	तस्सत्य	„	„	तस्मद	तम्मय
२९	,	अयाद्यारत्यादि	„	,	अर्थाद्यारत्यादि	„
३०	८	जाणिज्जो	„	„	„	आणिज्जा
३१	५	विपर्ययो	,	„	„	विपर्यस्यतो
३२	३	असौ व्यामोहेन	„	„	सोऽव्यामोहेन	„
३८	३	गच्छवि कर्त्ता सिद्धि	गच्छति कर्त्ता कार्यसिद्धि	„	„	„
३०	६	सारम्य स्तम्भ	„	„	„	सारे स्तम्भ
३९	५	नमो जिनानाम्	,	„	नमो जिणाणम्	'णमो जिणाण'
४०	४	कयकाउया	„	„	,	कयकोउय
४१	६	जो सुत्तस्मादीप सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमो कारो तं णिबद्ध मगल। जो सुत्त स्मादी सुत्तकत्ता रेण णिबद्धो दय दाणमोकारो तम णिबद्ध मगलं।	„	„	„	जो सुत्तस्मादीए सुत्तकत्तारेण णि बद्धदेवदाण मोकारो तं णि बद्धमगल। जो सुत्तस्मादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदा णमोकारो तमणि बद्ध मगलं।
४३	,	विनष्टेरा	„	„	,	विनष्टेर्वा
४६	३	मूना दोशम	„	„	„	मूनादोशम्म

पत्र	पंक्ति	अ	आ	क	ख	मुद्रित
४८		पज्जसिलत्थ रसगाय	पज्जमिलत्थ रसगाय	पज्जसिलत्थ रसगाय	पज्जमिलत्थ रसगाय	पज्जमिलत्थ रसगाय
४९	४	संगभग्ग		भग्गसंग	संगभग्ग	संग भग्ग
५०	७	कार्येत्याद्वेद सत्स्येय	"	"	"	कायेत्याद्वेद सत्स्येय
५२	२	रसैकदेशस्य देवत्या	रसैकदेशस्य देवत्या	रसैक देवत्या		रसैकदेशस्य देवत्या
५३	१	संज्ञात	स ज्ञात	सज्ञात	संज्ञात	संज्ञात
"	-	गुणिभूतताद्धने	"	गुणिभूताद्धेने	"	गुणीभूताद्धने
"	३	शास्त्राधिक्य	"	"	"	[illegible]
"	४	स्थापनार्थं	स्थापनार्थ	स्थापनार्थं	स्थापनार्थ	स्थापनार्थं
५५	६	कम्मं मुण्पसुइय मुड सिद्धसुई पि पययणत्तो।	कम्मं मुण सिद्धसुई पि पययणत्तो	कम्मं मुड सिद्धसुई पि पयणत्तो		कम्मं मुड सिद्ध सुई पि पवयणत्तो।
६०	२	नदिसोदा	"	"	नैदसा	"
६४	४	लायाइ ण हाति	"	"	लायाई होंति	"
"	६	दिव्वउसाणी	"	"	दिव्वउसाणी	"
"	८	गोत्तम गोत्तेण	गोत्तम-गोत्तेण	गोत्तम-गोत्तेण		गोयम गोत्तेण
६५	६	आर्देति	"	"		आर्देति
६६		पिदिसेणा		"	पिदिसेणा	"
६७	४	बंधवोच्छेदो	"	"		[illegible]
७३	१	यच्छरे				[illegible]
८२	३	पायेर	आयेर	पपर		[illegible]
८४	३	सम्मत्तस्य	"			[illegible]
"	६	भिक्कमो मय		"	[illegible]	
८९	१	सम्मिट्टनि निट्टनि	सम्मिट्टन निर्ट्टनि	"		[illegible]
८९	५	बयाम्पत भिष्पपरासा			[illegible]	[illegible]
९०	६	मागार्थ			[illegible]	"
९१	३	अत्योध			[illegible]	"
९६	४	संकपेदानन्या सत्व	[illegible]	[illegible]		[illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	ख	मुद्रित
९	१	वज्जत्थ	,,	,,	,,	वग्गत्थ
९	१	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा जीवो च अजीवो च अजीवो च अजीवा च जीवा च जीवा च अजीवो च जीवा चेदि	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा अजीवो वा जीवो च अजीवो च, अजीवो च जीवा च अजीवा च जीवा च अजीवो च जीवा चेदि	,,	,,	जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य
२०	४	सुभाव	,,	,,	सम्भाव	सब्भाव
२१	२	तस्सत्थ	,,	,,	तस्सद्द	तस्सत्थ
२९	१	अथाष्टारत्न्यादि	,,	,	अर्थाष्टारत्न्यादि	,,
३०	४	जाणिज्जो	,,	,,	,,	जाणिज्जा
३१	५	विपर्ययो	,,	,,	,,	विपर्यस्यतो
३२	३	असौ व्यामोहेन	,,	,,	सोऽव्यामोहेन	,,
३४	३	गच्छति कर्त्ता सिद्धि	गच्छति कर्त्ता कार्यसिद्धि	,	,,	,,
३५	६	सारस्थ स्तम्भ	,,	,,	,,	सारे स्तम्भ
३९	५	नमो जिनानाम्	,,	,,	नमो जिणाणम्	'णमो जिणाण'
४०	४	कयकाउया	,,	,,	,,	कयकोउय
४१	६	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोकारो तं णिबद्ध मगल। जो सुत्तस्सादी सुत्तकत्तारेण णिबद्धो देवदाणमोकारो तम णिबद्ध मगल।	,,	,,	,,	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध देवदाणमोकारो तं णिबद्धमगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय-देवदाणमोकारो तमणिबद्ध मगलं।
४३	५	विनष्टैरा	,,	,,	,	विनष्टेऽरौ
४६	३	भूता शेषात्म	,,	,,	,,	भूताशेषात्म

पृ	पंक्ति	अ	आ	ब	स	मुद्रित
४८		य-नसिल्लत्थ रसगय	य-जमिल्लत्थ रसगाय	यज्जमिल्लत्थ भगगाय	यज्जमिल्लत्थ रसगाय	य-जसिल्लत्थ भगगाय
४९	४	सगभग्ग		भग्गभग्ग	संगभग्ग	संग भग
,,	७	कार्यत्वाद्वेर सत्स्येव	,,	,,	,,	-कार्यत्वाद्वेर [illegible]
५३	३	रसैकदेशास्य देशत्वा	रसैकदेशास्य देयत्वा	रसैक देशत्वा		रसैकदे[illegible] देयत्वा
५४	१	संज्ञात	स ज्ञात	सज्ञात	संज्ञात	संज्ञात
,,	[illegible]	गुणिभूतार्द्धेते	,,	गुणिभूतार्द्धेते	,,	[illegible]
,,	३	-प्याधिक्य	,,	,	,	[illegible]
,,	४	स्थापनार्थं	स्थापनार्थं	-स्थापनार्थं	स्थापनार्थं	[illegible]
,	६	कम्मं पुप्पज्जइय पुड मिळग्गुदं पि पयणासो।	कम्मं पु- मिळग्गुदं पि पयपणसो	कम्मं पु- मिळग्गुदं पि पयणसो		कम्मं पुर गिल गुदं पि पयण ासो।
६०	३	-दिछोसा	,,	,	-दिछ[illegible]	,,
६५	४	मायाइ ण होंति	,,		मायाई होंति	,,
,	६	दिव्वज्झाणी	,		दिव्व[illegible]	,,
,,	८	गौतम-गोसेण	गौतम-गोहेण	गातम-गारण		[illegible]
६[illegible]	६	जादेशि	,	,		[illegible]
६६	,	पिदिसेणो		,	पिदि[illegible]	,,
६७	४	बंधयोच्छेदो	,	,,		[illegible]
७३	,	-यच्छेदे	,			[illegible]
८०	१	यायेदं	आयेद	यधर्द		[illegible]
८४	३	समनस्य		,,		[illegible]
,,	६	निवगमो भव			[illegible]	
८९	१	सतिष्ठति निष्ठति	सतिष्ठति निष्ठति			[illegible]
८९	५	कथान्वेन भिन्नपदाना			[illegible]	[illegible]
९०	६	नानार्थ		,,	[illegible]	,,
९१	३	आघ्नौरभ			[illegible]	
९२	४	सकवेदानम्ना [illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	
९	१	वञ्चत्थ	आ	क
९	,,	जीवो वा जीवो या अजीवो वा वा अजीवो वा जीवो च अजी वो च अजीवो च अजीवा च जीवा च जीवा च अजी वो च जीवा चेदि	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा जीवो च अजीवो च जीवो च अजीवो च जीवा च अजीवा च जीवा च अजीवो च जीवा चेदि	,,
२०	४	सुमार		
२१	८	तस्सत्थ	,,	
२९	१	अथाष्टरत्न्यादि	,,	स भ
३०	८	जाणिज्जो	,,	तस्म
३१	८	विपर्ययो	,,	अर्थाद्
३२	३	असा व्यामोहेन	,	
३४	२	गच्छति कर्त्ता सिद्धि	गच्छति कर्त्ता कार्यसिद्धि	सोऽव्या
३०	६	सारस्थ स्तम्भ		,,
३९	८	नमो जिनानाम्	,,	
४०	४	कयकाउया	,	,,
४१	६	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारा तं णिबद्ध मगल। जो सुत्तस्सादी सुत्तकत्तारेण णिबद्धो देवदाणमोक्कारो तम णिबद्ध मगलं।	,,	नमा जिणाण
४३	०	विनष्टेरा		म ब मु मु कय णमो बद्ध म विनष्टे
४६	३	मूता दोराम	,,	मूनां

पृ	पंक्ति	अ	आ	क	ख	मुद्रित
०	४	स्यानाुत्पत्तेः	,	,,	स्यानोत्पत्ते	,
	५	क्षयोपशमोप नामन	क्षयोपशमन	,,		क्षयोपशमोप शमज
१	३	करणनाम	,,	,,		करणानाम
,		-ह्रेनी	,,	,,	-ह्रेन	,,
२	०	शाह्य	राये	शाह्य	,,	,,
४	६	तासु	,,	,,	तान्	तेषु
६	६	-स्यात्पा	,,	,,	-स्यापा	,,
०	६	क्षेयर्मभावि	,,	,,	क्षेयसमावि	,
०	१	-माक्षिए	,,	,,		मक्षिए
१	८	-स्यापत्य	,,	,,		-स्यापत्यानि
०		तनु भ्रान्ति तर्द्भ्राति	,,	,,	तद्भ्रान्ति	,,
०	४	दाष्पु	-दष्पादिषु	,,		-दष्पिषु
,,	९	तद्गत्य	तद्गत्य	तद्गत्य	तद्गता	,,
१०	१०	मयुसमुत्तमुर	,,	,,		मयुत्तमुर
१	४	तद्दो	तद्दो ण	तत्य तद्दो		तद्दो
,,	६	आहारियकादि याण	आहयादि रियकमाणं	आहारियाय कद्दियाण		आहारियकादि याण
३	९	अप्पणो	तद्दो अप्पणो	अप्पणो		,
,,	७	गमियमिद्द	,,	,	गमिय	,
,	३	-सयतास्ना	,,	,		सयतासयतास्ना
२०	-	-स्याद्देशा	,,		-स्योद्देशा	-स्याद्देशा
,	९	-यामजनन	,		-यामअना	,
३	२	माघ	-आद्य	-माघ	,	-माघ
९	७	क्विट्टूण	,		,,	क्विट्टेण
७	११	-दाक्त्याविभावित धृतय	-दाक्त्युपवृद्धि तवृत्त	-नक्त्याविभा वितवृत्तय		,
७	७	समनिघात	,	,	,	सप्रनिघात
७	६	स्याद्प्रयत्नो	,,	,	स्यात् प्रयत्नो	
२८	४	समनरत्वे	,,	,	समनरत्वेषु	
९८		सारूरूप		,	तत्स्वरूप	,,
,		मुसमप्युतपमाद	,	,	-मुसम्युनमाद	

पृ॰	पंक्ति	अ	आ	इ	ब	म॰
९३	४	गिद्ध	,	,	मद्द	मग
,,	,	घिमग्गयो	,,	,,		गिमयाओ
९४	४	मुह्मण	मणण	मुणण	मगण	,
,,	६	पुग्यत्त	पुग्युन	पुन्वा	पुग्रत्त	,,
९९	२	गिहाय	यियाह	गियाह	रियाह	,
१०३	२	गंधहस्तिणत्ता संभाणये	णत्ता संभाणये	,	,,	,,
१०९	२	मुद्धिमक्कंति	,,	,,		मुद्धि कंता
,,	३	धावत्ती	,	,		थावत्ती
,,	७	उत्त च भाणे	,,	,,	उत्त च	,
१०८	३	मन्यानिक	,	,,	ममानिक	,
११०	८	पन्वयद्दह	,,	,	पन्वद्दह	,,
११८	२	यल्लोक		,,		यहोक
,,	१२	सरीर	,,	,		सरीरी
११९	६	न्हेमोहि	,,	,,	न्हेहेहि	,,
१२०	१	सरीरो	,,	,,		सरारी
१२३	२	धारणा	,		वारणा	,
१२७	१०	भावो	भावादो भावो	भावो		भावा
१२८	२	दोण्णि एकाणि	,,	,,	दोण्णि	,,
१३०	११	पुत्त	उत्त	पुउत्त	उत्त	पुन्वुत्त
१३३	६	रीक्तत्वा	,	,		रीक्त तत्वा
१४१	१	रूढिव्यप			रूढिवशा	,,
,,	८	मेयो	,	,,	मेओ	वेओ
१४७	५	तद्दा भावाण	,	,,	भावाण	भावाण
१५१	३	मुक्तता	,	,		मनुरक्तता
१ ३	७		इमाणयणो		इमाणि अट्ट	,
१५८	१	परूवणा ण	,	,,	परूवणा	,
१६४	१	ततोऽसत्येपु	ततो सत्येप	सत्येप	ततोऽसन्	,,
१६८	३	सतोऽपि		,	सतापि	
	५	द्विवत		,		दिवान
१७१	१०	अट्ठि		,		ट्ठि
१७४	५	सद्दभावो	,	,	सद्दभुवो	,
१७७	२	वुत	,	,	घ तद्	,

पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
४	स्थानानुत्पत्तेः	„	„	स्थानोत्पत्ते	
५	क्षयोपशमोपशमन	क्षयोपशमन			क्षयोपशमोपशमन
३	करणनाम	„	„		करणानाम
'	-देशी	„	„	-देशा	„
॰	राइय	राये	राइय	„	„
६	तासु	„	„	तान्	तेषु
६	-स्यात्पो	„	„	स्यापा	,
६	ज्ञेयमंभावि	„	„	ज्ञेयममावि	,
१	माक्षिए	„	„		मक्षिए
८	-स्यापत्य	„	„		स्यापत्यानि
	तसु अगति तद्दंश्यानि	„	„	तद्-अंति	„
८	दंष्णिषु	दष्टयादिषु	„		दंष्टिषु
९	तद्वत्थ	तद्वत्य	तद्वत्य	तद्वता	„
१०	मयुसमुत्तमुर	„	„		मयुममुर
४	तद्दो	तद्दो ण	तत्थ तद्दो		मद्दो
६	आहरियकाद्दियाण	आइयारिदरियकम्माणं	थाहरियाइयकद्दियाण		आहरियकाद्दियाण
‹	अप्पणो	तद्दो अप्पणो	अप्पणो		,
७	गमियमिदं	„	,	गमिय	,
३	-समयतास्ता	„	,		समयतामयमान्त
॰	-स्योद्देशा	,		-स्याद्देशा	-स्योद्देशा
५	-यामजननः	,	,	-याम जनः	
॰	मान्य	-माघ	-मान्य		मान्य
७	शिट्टूण				शिट्टूण
११	शाक्याधिभाषित वृत्तयः	शाक्युपवृद्दि तपूत्त	शाक्याधिर्भावितवृत्तयः		
७	समनिपात		,	,	सम नपात
६	स्यात्प्रयत्नो	,	,	स्यात् प्रयत्ना	
४	समवसरके	,	,	समवसरणेषु	
	सरसरूप		,	तत्स्वरूप	„
	गुणस्थानद्वयमाह	,	„	-गुणस्थानमाह	„

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	ब	मुद्रित
,,	७	सजोगिकेवलि	अजोगिकेवलि	,	सजोगिकेवलि	,,
२८०	७	तत्रानार्जवस्य	तत्रानार्जवस्य तत्रानार्जं तत्रार्यनार्जं वस्य वस्य		,	,,
२९२	२	मिस्सकायजोगो	,,	,,		मिस्सकाजो
२९३	५	पून शरीर	,,	,	पूर्व शरीर	,
२९८	३	ततश्च द्विहेतु	,,	,		ततश्चाद्विहेतु
३०२	३	सर्वघाति	,,	,		सर्वाघाति
,,	१०	र्येतेषु	,,	,,	र्येते	,
३०५	३	धारणाभावात्	धारणात्	धारणाभावात्	,,	,
३०६	१	ऽन्यथा न	,,	,,		ऽन्यथा
३१६	२	यत्नेनोपन्न	,,	,,	यत्नेनोपन्न	,,
३१९	२	प्रवृत्यसूत्र	,,	,,	प्रवृत्तसूत्र	,,
,,	३	कुतो भवन्	,,	,,	कुतो भवेन्	,,
३२०	६	तत्र तु न	,,	,,	तत्रतन	,,
,,	७	सन्त्येताभ्या	,,	,,	सन्त ताभ्या	,,
३२१	७	प्राप्तो यौ	,,	,,	प्राप्तयौ	,,
३२४	७	नियमात्र	नियमान	नियमात्	विद्यमान	,,
३२५	८	सजदासजद ट्ठाणे	सजदासजद सजदट्ठाणे	,,		,,
३२६	१०	महव्वदो सु य ण अहह दो या	,,	,,		महव्वदाइ ण ल्हइ देता
३३४	६	नन्वनारम्भस्य	,,	,,		न चारम्भकस्य
३३७	७	उवरिम	उवरिम उवरिम	,,		उवरिम उवरिम
३३८	३	नुपशान्तास्त	,,	,,		नुपशान्तन
,,	७	ततु न	तत्र तुन	,,		तत्रतन
३४२	१	पुम्द	,,	,,	पुमं	,,
,,	२	समाणा	,,	,,		समाणग
३५७	३	शब्दस्य	,,	,,		शब्दस्य च
,,	४	नि सृतासु	,,	,,		अनि सृतासु
३५८	८	आभेयमासु	,,	,,		आभीयमासु
३६३	११	नामिश्रण	,,	,,		न मिश्रण
३६५	१	तद्यानि	,,	,,		तद्यानि

पृ०	पंक्ति	अ	आ	ब	स	मु…
३१६	,	सयमादेश				मयमं सु…
३१६	१०	सयममयत	”	”		
			मयमसयमस्य सय अप्रयस्य	मयत		सयमासयम
३१७	,	नामभविष्यन्	”			सयमत
३१९		शेष सामेई	शेष समिद्द	,		नामभविष्य
३२०	१	सुद्दिसयम	”	,	शेष रूपमिद्द	,
”	७	सूत्रे	विदिप्पसूत्रे	सूत्रे		सुद्दिसयम
३२१	१०	यारे	यारे	यारेन		
३२३	४	सजमो	सजमो	,	सजदो	
३२५		निमग्रासाना	निवग्रान्ताना	निमग्रात्मना		
३२५	२	निबन्धनायेव भावि	निबन्धनार भावि	निबन्धनायेन		—
३२८	४	गुणस्य गुणस्थान प्रमाणानिरू	गुणस्य गुण स्थान निरू	गुणस्थान प्रमाणानिरू		निबन्धनायेवा भावि
३२०	६	नियम	,	”		गुणस्य गुणस्थान प्रमाणनिरू
”	९	न दर्शनस्य विषय	,	न दर्शनविषय तद्दर्शनस्य विषय		नियमित
३८१	६	-रूपद्रय	द्रव्य	द्रव्य		
३८८	८	ज्ञानदर्शन	”			
३८८	८	णाणात्थि	,	,		द्रव्य
३८९	,	द्रव्य	द्रव्य	द्रव्य		ज्ञानदर्शन
३९०	८	पेसया ने	,	,		-वर्णी व
३९३	७	गच्छेना	,			निरव
३९४	,	निरुपन्नो भयति	”			-पश्या मद गच्छन्
३९९	६	स्यान्य	,			निरुत्रेण
४०२	७	निरिवस्स				भवन्ति
४०३	८	समदार्मजदा	समजदासंजदा संजदा	”		स्याद
४०३	९					निरवक्ष
४०४	,	धर्मास्य समर्थ	अन्यत्	अन्यत्		—
४०५	२	-संजद	संजद-संजद		”	-अन्य
४०	५	-परजता	—		”	-अन्यत्र अवर्ण
					”	—
						-अन्यत्र

प्रतियोंमें छूटे हुए पाठ

[illegible]

विशेष टिप्पण

सूचना—प्रथम [illegible] पृष्ठ [illegible] देखिये [illegible] ।

पृ. ५ 'बारह अंगगिज्झा' में 'गिज्झा' पाठ भी प्रतियोंमें मिलता है। इस गाथासे कुछ [illegible] मिलती जुलती एक गाथा [illegible] निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

बारह अंगंगी जो [illegible] ।
सो हम [illegible] ॥ [illegible] ॥

३० १० 'दहितो एय' इसका पाठ आगरेकी प्रतिमें नहीं है, और इस पाठके न रहनेसे अर्थ [illegible] भी ठीक बैठता है, किन्तु [illegible] समय आगरेकी प्रति हमारे सामने न होनेसे हम उक्त छोड़ नहीं सके और किसी प्रकार अर्थ-संगति बिठाना [illegible]। पर आगे पड़ता है कि अ और क प्रतियोंमें यह आगरेकी गाथा में [illegible] '(जिणि) देहि तो एय' पाठ [illegible] आगया है। [illegible] इन सभी प्रतियोंमें [illegible] है। (देखिये प्रतियोंके पाठ भेद)

[illegible] – 'महिमाए मिलियाण' से यह स्पष्ट नहीं होता कि महिमा एक नगरीका नाम था जहां यह मुनि सम्मेलन हुआ। [illegible] भी महिमा [illegible] है। यथा [illegible] महामहिमा [illegible] ॥ इस पद्यमें '[illegible]' '[illegible]' का [illegible] होता है। 'महामहिमा [illegible]' का '[illegible] मुनि' भी हो सकता है। प्रस्तुत ग्रंथके पृ. [illegible] पर 'जिणमहिम [illegible]' में 'महिम' का अर्थ उत्सव होता है। [illegible] 'महिम' शब्द [illegible] उत्सवके अर्थमें आया है यथा—

[illegible] महिम [illegible] ॥ [illegible] ॥

इसके अनुसार 'महिमाए मिलियाणं' का अर्थ [illegible] सम्मिलित भी हो सकता है। किन्तु पं. [illegible] (अ. [illegible]) [illegible] नगरीका [illegible] किया है। [illegible] अनुवादमें उक्त नगरीका [illegible] किया गया है। किन्तु [illegible] भी विचारणीय।

[illegible] – जिणवाणि [illegible] । [illegible] अनुवादमें '[illegible]' ([illegible]) किया गया है। किन्तु इसका अर्थ [illegible] ([illegible]) भी हो सकता है। (देखो भूमिका पृ. [illegible])